

प्रसाद-साहित्य की दार्शनिक
तथा
मनोवैज्ञानिक भाव-भूमि

प्रस्तुतकर्ता
अर्जुनराम, एम० ए०

•

हिन्दी-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग
दिसम्बर १९६६

प्राक्कथन

कामायनी और प्रसाद के अध्येता के लिए यह अनुभव करना स्वाभाविक है, कि जीवन का अन्तरंग आस्थाभूलक होता है, और आस्था का आधार आशा है । इसी आस्था और आशा के सहयोग से व्यक्ति अपनी का सबल लेकर जीवन-पथ पर अग्रसर होता है । जिस प्रकार बिन्दु का विस्तार रेखा, और रेखा की परिधि वृत्त बन जाती है, उसी प्रकार शैशव-स्वप्नों का बीज वृहत्तर होता हुआ समुचे जीवन को अपने धेर में समेट लेता है । वह अपने-आप में भावी जीवन की सागी संभावनाओं को उसी प्रकार छिपाए रहता है, जिस प्रकार बीज वृद्ध के सभी अवयवों को । मेरे शैशव ने भी अपने हृदय के किसी कोने में एक बीज छिपा रखा था -- विद्यामन्दिर के पुनीत प्रांगण में प्रवेश कर साहित्य-साधना करने और मां भारतो के चरणों में उस साधना का श्रेष्ठतम अंश समर्पित करने का । इसी लालसा से प्रेरित होकर, अपने जमावों की अतिशयता में भी मैं साधना-पथ पर अग्रसर होने का यत्न करता रहा हूँ ।

मेरी साहित्यिक अभिरुचि बढ़ाने और उसे स्थायित्व प्रदान करने का बहुत बड़ा श्रेय मेरे पूज्यपाद धर्म-पिता -- श्री विश्राम यादव, एम०ए०, उप जिला-विद्यालय निरीक्षक को है, जो स्वयं एक कुशल चित्रकार के साथ-साथ सच्चे साहित्य प्रेमी भी हैं । जिस समय मैंने प्रारम्भिक पाठशाला के धरौंदे ने बाहर माध्यमिक विद्यालय के बड़े धेर में प्रवेश किया, उस समय मुझे एक नया वातावरण मिला, जिसमें सब कुछ नया था-- भवन नया, साथी नए, आचार्य नए । उन्होंने नए आचार्यों

में से एक पूज्यपाद धर्म-पिता जी भी थे, जो उस समय उसी गवर्नमेंट माडल स्कूल के प्रधानाध्यापक थे, और मैं सातवीं कक्षा का विद्यार्थी । उनकी सहज शान्ति, सरल स्वभाव और स्नेह-सहानुभूति ने मुझे बहुत प्रभावित किया, और मुझ पर उनकी विशेष अनुकम्पा भी रही । अन्त में उनकी उदारता ने मुझे सदा के लिए अपना बना लिया और वे मेरे पूज्य आचार्य से, पूज्यपाद धर्म-पिता हो गए । उन्होंने एक कुशल चित्रकार की भांति मेरे शैशव की संस्कार सम्पृक्त रेखाओं को संवार-सुधार तथा निखार कर, और उसमें अपनी गहरी अनुभूतियों की छाया उभार कर, उसे एक सुन्दर चित्र बनाने का अथक प्रयास किया । इस प्रकार उन्होंने अपने अटूट स्नेह का सम्बल देकर मेरे साहित्यिक जीवन का पथ-प्रशस्त किया । मेरी बाल-रचनाओं का संग्रह--'किशोर काकली' उन्होंने की सत्प्रेरणाओं का परिणाम है ।

पूज्यपाद धर्म-पिता जी के सान्निध्य में ही मुझे प्रसाद-साहित्य के निकट सम्पर्क में आने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ । इसका भी एक रोचक प्रसंग है । पूज्यपिता जी अपने अवकाश के क्षणों में विद्यार्थियों की अध्ययन विषयक कठिनाइयों को दूर किया करते थे । विद्या-व्यसनी विद्यार्थियों का कुण्ठ उन्हें सदा घेरे रहता था, जिसमें ऊंची कक्षाओं के विद्यार्थियों की बहुलता रहती थी । एक दिन एक विद्यार्थी ने पूज्यपिता जी के सामने प्रसाद की 'पुरस्कार' नामक कहानी रखी । पिता जी सोत्साह उसकी समीक्षा करने लगे । जिस समय कहानी चल रही थी, उस समय, अरुण के साथ मिल कर कोशल के प्रति मधुलिका के 'षडयन्त्र का प्रसंग आने पर मेरी 'जिज्ञासा' सहसा पुछ बैठी, 'क्या मधुलिका अपनी मातृभूमि के प्रति इतना बड़ा विश्वास-घात करेगी ?' मेरे प्रश्न पर पिता जी ने थोड़ा हंस कर कहा 'नहीं, प्रसाद जी मूलतः एक मनोवैज्ञानिक कलाकार हैं, वे मानव-मन की सहज प्रवृत्तियों को उभार कर उसे एक नया मोड़ दे देते हैं । उनकी कहानियों का अन्त एक फंफावात की तरह होता है । जिस प्रकार फंफावात अपने प्रभाव-क्षेत्र में आने वाले वातावरण को फंकफोर देता है, और बाद में उसकी समाप्ति पर नीरव शान्ति छा जाती है, उसकी प्रकृति लोगों के विचार का केन्द्र बन जाती है, उसी प्रकार प्रसाद की कहानियां हमारी आन्तरिक अनुभूतियों

‘पुरस्कार’ नामक कहानी की मनोवैज्ञानिक व्याख्या ने मेरे हृदय में प्रसाद-साहित्य के प्रति एक गहरी अभिरुचि उत्पन्न कर दी ।

प्रसाद-साहित्य के प्रति मेरी अभिरुचि के विकास का अवसर उस समय मिला जब मैंने प्रयाग के ख्याति लब्ध विश्वविद्यालय की बी०ए० कक्षा में प्रवेश पाने का सुअवसर प्राप्त किया । श्रेय डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय, डा० धर्मवीर भारती (धर्मयुग के वर्तमान सम्पादक) जैसे लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों के शिष्यत्व में प्रसाद-साहित्य के अध्ययन का अवसर मिला और हायावाद के गम्य आलोचक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० केशरी नारायण शुक्ल, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डा० शम्भुनाथ सिंह आदि के आलोचना-साहित्य ने मेरी अभिरुचि की पुष्टि में विशेष योगदान दिया । मेरी प्रसाद-साहित्य विषयक अभिरुचि में और गहराई उस समय आई जब मैंने स्म०ए० उत्तरार्द्ध में ‘प्रसाद’ को अपने विशेष अध्ययन के लिए चुना और परम आदरणीय डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शिष्यत्व में प्रसाद-साहित्य की गहराई में उतरने का अवसर प्राप्त हुआ । एक बार प्रसाद-साहित्य को दार्शनिक विवेचना के प्रसंग में डाक्टर साहब ने इस तथ्य की ओर संकेत किया कि ‘प्रसाद का दर्शन जीवन से पूर्णतया सम्पृक्त है, जीवन से भिन्न उसे नहीं रखा जा सकता । प्रसाद की दार्शनिक चेतना का सैद्धान्तिक पक्ष जितना प्रौढ़ है, उतने अधिक पुष्ट उसका व्यावहारिक पक्ष है, जिसकी ओर विद्वानों का ध्यान प्रायः कम गया है ।’ डाक्टर साहब का यही संकेत मेरे शोध का प्रेरणा स्रोत बन गया और मैंने अपने शोध के लिए ‘प्रसाद- साहित्य को दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक भाव-भूमि’ को चुन लिया । सौभाग्यवश मुझे इस विषय-विवेचन के लिए डा० साहब का निर्देशन भी मिला ।

साहित्य की विविध विधाओं और प्रौढ़ रचनाओं की दृष्टि से यदि आधुनिक काल को हिन्दी-साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी । हिन्दी साहित्य का आदिकाल, भक्तिकाल, और रीतिकाल अपने सीमित सन्दर्भों में स्कांगी था । आधुनिक काल में हिन्दी-साहित्य का सर्वतोमुखी विकास हुआ है, जिसमें हायावाद युग का अपना एक विशिष्ट स्थान है, और प्रसाद-साहित्य उसकी श्रेष्ठतम उपलब्धि है ।

प्रसाद-साहित्य के दो प्रमुख पक्ष हैं -- पहला है उसका दार्शनिक चेतना, और दूसरा है मनोवैज्ञानिक संवेदना । प्रसाद-साहित्य में ये दोनों पक्ष एक-दूसरे

के पूरक बनकर आए हैं । इन दोनों की अन्विति में ही जीवन-साधना की चरम परिणति दिखाई गई है । इस प्रकार प्रसाद की दार्शनिक दृष्टि और मनोवैज्ञानिक दृष्टि दोनों की संगति जीवन से सम्पृक्त हो गई है । लेकिन अब तक ^{प्रसाद-}साहित्य को इस रूप में देखने का बहुत कम प्रयत्न हुआ है । प्रायः विद्वानों की दृष्टि प्रसाद की दार्शनिक चेतना के सैद्धान्तिक पक्ष तक ही सीमित रह गई है, और उसमें भी अधिकतर कामायनी को ही विशेष अध्ययन का आधार बनाया गया है । प्रसाद की दार्शनिक चेतना के व्यावहारिक पक्ष के परिप्रेक्ष्य में उनके समूचे साहित्य को परखने का प्रयास प्रायः बिल्कुल नहीं हुआ है, यदि किसी ने इसे उठाया भी है तो केवल संकेत भर कर दिया है वह भी सैद्धान्तिक पक्ष की व्याख्या के प्रसंग में स्वतन्त्ररूप में नहीं । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के स्मरसत्ता सिद्धान्त और आनन्दवाद नामक परिच्छेदों तथा शोध के द्वितीय खण्ड में इस समस्या को स्वतन्त्ररूप में उठा कर, तीन परिच्छेदों में उसकी विवेचना की गई है, जिसमें प्रसाद की दार्शनिक चेतना के व्यावहारिक पक्ष के सन्दर्भ में उनके समूचे साहित्य का मूल्यांकन किया गया है ।

प्रसाद-साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी प्रायः कामायनी तक ही सीमित रहा है, शेष साहित्य को या तो लिया ही नहीं गया, या लिया भी गया तो साहित्य की सभी विधाओं को न लेकर केवल विधा विशेष को ही लिया गया । प्रस्तुत प्रबन्ध में इस अभाव को दूर करने का प्रयास किया गया है । तृतीय खण्ड के तीन परिच्छेदों में प्रसाद-साहित्य की काव्य, नाटक, कहानी तथा उपन्यास की विधाओं का मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत है । इस प्रकार प्रसाद के समूचे साहित्य को मैंने उनकी दार्शनिक चेतना के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक परिवेश में परखने और उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने का प्रयास किया है । इस प्रयास में मुझे कहां तक सफलता मिली है, इसका निर्णय सुधो पाठक करेंगे ।

आज अपने यज्ञ-अनुष्ठान की पूर्णाहुति के अवसर पर स्वर्गीय पुण्य पिता जी को अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता हूं, जिनके अजग्न प्यार और डुलार को वर्षों से मेरे संकल्प और साहस की बेलि बढ़ती रही, काश ! आज वे होते । इस अवसर पर अभिनन्दन करता हूं देवता स्वरूप पुण्य भय्या जी का, जिन्होंने गारो कठिनाइयों को फलते हुए मुझे सुखी रखने का हर सम्भव प्रयास किया है ।

प्रियलालता, जयप्रकाश, प्रताप, मागीरथी, सत्येन्द्र तथा तुलसी प्रसाद का आभार मानता हूँ जो समय-समय पर धीरे-धीरे कर मेरे साहस को बढ़ाते रहे हैं। साथी वीरेन्द्र बहादुर सिंह, श्री शिवमूर्ति मिश्र, प्रिय कृष्णमुरारी, पं० रामउजागर मिश्र, श्री मनराज यादव तथा सालिग्राम यादव का मैं विशेष ऋणी हूँ जिन्होंने मेरे गाढ़े समय में उदारता पूर्वक आर्थिक सहयोग देकर मेरे अनुष्ठान की पूर्णाहुति में अपना अमूल्य योग-दान दिया है जिसका मूल्य कभी चुकाया नहीं जा सकता। पं० रामहित त्रिपाठी का भी मैं विशेष कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने पूरे परिश्रम और लगन से इस प्रबन्ध को टाइप कर समय पर देने का कष्ट किया है। प्रयाग विश्वविद्यालय पब्लिक लाइब्रेरी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के पुस्तकाध्यक्षों के प्रति भी मैं आभारी हूँ, जहाँ से मुझे समय-समय पर पुस्तकें प्राप्त करने का सुअवसर मिलता रहा है।

अजुवराम, १७-१२-६६

द्वितीय अध्याय-- ब्रह्म और जीव की समस्या	१५ - ४१
तृतीय अध्याय-- जगत, माया, मोक्ष आदि की समस्या	४२ - ६६
चतुर्थ अध्याय-- स्मरसता सिद्धान्त :--	६७ - ८६
(क) व्यक्तिगत जीवन की स्मरसता ।	
(ख) पारिवारिक स्मरसता ।	
(ग) समाज की स्मरसता ।	
(घ) प्रकृति और पुरुष की स्मरसता ।	
पंचम अध्याय -- आनन्दवाद :--	८७ - १२५
(१) दार्शनिक पक्ष	
(अ) कोश क्रम ।	
(आ) जीवावस्था ।	
(२) मनोवैज्ञानिक पक्ष ।	
(क) गुणसम्भूत वृत्तियों का समन्वय ।	
(ख) बुद्धि और हृदय का समन्वय ।	
(ग) जड़-चेतन का समन्वय ।	
(३) व्यावहारिक पक्ष	

(द्वितीय खण्ड)

प्रसाद की दार्शनिक चेतना : व्यावहारिक पक्ष (जीवन-दर्शन)

षष्ठम् अध्याय -- प्रसाद साहित्य में मानवीय संस्कृति की व्याख्या	१२६-१७८
सप्तम अध्याय -- दाम्पत्य जीवन	१७६-२२३
अष्टम अध्याय -- पारिवारिक जीवन	२२४-२४६
नवम अध्याय -- सामाजिक जीवन :-	२४९-२७४
(क) व्यक्ति और समाज की समस्या ।	
(ख) नारी जाति की समस्या ।	
(ग) राजा-प्रजा की समस्या ।	

(तृतीय खण्ड)

प्रसाद साहित्य का मनोवैज्ञानिक पक्ष

दशम अध्याय -- काव्य :-	२७५-३४९
(क) कामायनी ।	
(ख) स्फुट रचनाएं ।	
(ग) नाटकों के गीत	
(घ) आंसू	
एकादश अध्याय-- नाटक :-	३४२-३६६
(क) अजातशत्रु ।	
(ख) कामना तथा जनमेजय का नागयज्ञ ।	
(ग) स्कन्दगुप्त ।	
(घ) चन्द्रगुप्त ।	
(ङ०) ध्रुवस्वामिनी ।	
द्वादश अध्याय -- कहानी तथा उपन्यास साहित्य :-	३६६-४४४
(क) प्रेम प्रसंग से सम्बद्ध कहानियां ।	
(ख) दाम्पत्य जीवन से सम्बद्ध कहानियां ।	
(ग) कंकाल ।	
(घ) तितली ।	

त्रयोदश अध्याय --दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में
कामायनी का अध्ययन ।
सहायक पुस्तकों की सूची

४४८-४६४

क - ठ

प्रथम खण्ड

प्रसाद की दार्शनिक चेतना : सैद्धान्तिक पदा (तत्त्व चिन्तन)

(प्रथम खण्ड)

प्रथम - अध्याय

-0-

दर्शनिक और कवि : सर्जनात्मक व्यक्तित्व के रूप और उनका अन्तर्सम्बन्ध

प्रथम अध्याय

-0-

दार्शनिक और कवि

भाव और विचार हमारे जीवन के दो अभिन्न अंग हैं -- भाव साहित्य का स्रोत है और विचार दर्शन का आधार । दार्शनिक और कवि की चिन्तन-सीमा के सन्दर्भ में दर्शन और साहित्य के स्वरूप-भेद का सिंहावलोकन अधिक समीचीन होगा ।

‘दर्शन’ हमारे जीवन का एक अनिवार्य पक्ष है । परिस्थितिजन्य अनुभवतियों और अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति अपनी एक दार्शनिक दृष्टि लेकर जीवन में प्रवेश करता है ।

‘दर्शन’ शब्द विविध सम्भावनाओं एवं वृहत् अर्थबोधों का एक समुच्चय है । वह ज्ञाता और ज्ञेय के मिलन-बिन्दु की विवृति है । जिस बिन्दु पर द्रष्टा और दृश्य मिलते हैं, अस्मत् और युस्मत् का जहाँ संस्पर्श होता है, उसको ज्ञान या ‘दर्शन’ कहते हैं^१ ।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से ‘दर्शन’ शब्द दृश् (देखना) धातु के करण अर्थ में ‘ल्युट’ प्रत्यय लगा कर बनता है । इसका अर्थ है जिसके द्वारा देखा जाय^३ ।

१- Men live in accordance with their philosophy of life,
their conception of the world. x x x it is impossible
to live without a metaphysic "

--- Aldous Huxley, Ends and Means, P. 252

२- डा० सम्पूर्णानन्द : चिद्विलास, पृ० ११

३- डा० उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, पृ० ५

देखने की इस प्रक्रिया के पीछे दृश्यवस्तु (चट्टा या प्रज्ञाचट्टा के विषयवस्तु) के तात्त्विक स्वरूप से परिचित होने की एक उत्सुकता काम किया करती है। यही उत्सुकता तत्त्व दर्शन की प्रेरक शक्ति है। इस प्रकार दर्शन के मूल में हमें दो प्रेरक तत्त्व मिलते हैं --

(१) जिज्ञासा वृत्ति ।

(२) तर्कना शक्ति ।

‘जिज्ञासा वृत्ति’ का सम्बन्ध चट्टा (बाह्यदृष्टि) तथा तर्कना शक्ति का सम्बन्ध प्रज्ञाचट्टा (अन्तर्दृष्टि) से है। जब दर्शक नाना रूपात्मक सृष्टि को देखता है, तब उसके मस्तिष्क में उस वस्तु के विषय में जानने की एक ललक पैदा होती है, यही उसकी ‘जिज्ञासावृत्ति’ है। जब दर्शक के भीतर वस्तुस्थिति से अवगत होने की जिज्ञासा आविर्भूत होती है, तब वह इस वृत्ति की सन्तुष्टि के लिए बौद्धिक-बल का आश्रय लेता है। यहीं से दर्शन और काव्य की सीमायें पृथक् हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप चिन्तन के दो पक्ष हो जाते हैं --

(१) भावुक पक्ष (भाव प्रधान) ।

(२) बौद्धिक पक्ष (तर्क प्रधान) ।

एक का प्रतिनिधित्व कवि करता है और दूसरे का दार्शनिक ।

आधुनिक विचारक डा० देवराज ने चिन्तन-स्तर पर दार्शनिक समस्याओं को दो क्रमों में रखा है-- प्रथम क्रम में उन्होंने उन दार्शनिक समस्याओं को रखा है, जिनका सम्बन्ध उन विषयों से है जो सैद्धान्तिक स्तर पर सार्वभौमिक दृष्टि से दर्शनीय और भोग्य हैं, कलात्मक कृतियाँ और साहित्यिक उपलब्धियाँ इसी क्रम में आती हैं। इनका विशेष सम्बन्ध हमारी अनुभूतियों और सांस्कृतिक विधाओं से होता है। दूसरे क्रम में उन्होंने दर्शन की उस विवेचनात्मक पद्धति को रखा है, जिसमें जीवनगत

देखने की इस प्रक्रिया के पीछे दृश्यवस्तु (चट्टा या प्रज्ञाचट्टा के विषयभूत) के तात्त्विक स्वरूप से परिचित होने की एक उत्सुकता काम किया करती है । यही उत्सुकता तत्त्व दर्शन की प्रेरक शक्ति है । इस प्रकार दर्शन के मूल में हमें दो प्रेरक तत्त्व मिलते हैं --

(१) जिज्ञासा वृत्ति ।

(२) तर्कना शक्ति ।

‘जिज्ञासा वृत्ति’ का सम्बन्ध चट्टा (वाह्यदृष्टि) तथा तर्कना शक्ति का सम्बन्ध प्रज्ञाचट्टा (अन्तर्दृष्टि) से है । जब दर्शक नाना रूपात्मक सृष्टि को देखता है तब उसके मस्तिष्क में उस वस्तु के विषय में जानने की एक ललक पैदा होती है, यही उसकी ‘जिज्ञासावृत्ति’ है । जब दर्शक के भीतर वस्तुस्थिति से अवगत होने की जिज्ञासा आविर्भूत होती है, तब वह इस वृत्ति की सन्तुष्टि के लिए बौद्धिक-बल का आश्रय लेता है । यही से दर्शन और काव्य की सीमायें पृथक् हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप चिन्तन के दो पक्ष हो जाते हैं --

(१) भावुक पक्ष (भाव प्रधान) ।

(२) बौद्धिक पक्ष (तर्क प्रधान) ।

एक का प्रतिनिधित्व कवि करता है और दूसरे का दार्शनिक ।

आधुनिक विचारक डा० देवराज ने चिन्तन-स्तर पर दार्शनिक समस्याओं को दो क्रमों में रखा है-- प्रथम क्रम में उन्होंने उन दार्शनिक समस्याओं को रखा है, जिनका सम्बन्ध उन विषयों से है जो सैद्धान्तिक स्तर पर सार्वभौमिक दृष्टि से दर्शनीय और भोग्य हैं, कलात्मक कृतियाँ और साहित्यिक उपलब्धियाँ इसी क्रम में आती हैं । इनका विशेष सम्बन्ध हमारी अनुभूतियों और सांस्कृतिक विधाओं से होता है । दूसरे क्रम में उन्होंने दर्शन की उस विवेचनात्मक पद्धति को रखा है, जिसमें जीवनगत

अनुभूतियों का विश्लेषण कर सत्य का स्वरूप स्थिर किया जाता है^१।

इस प्रकार चिन्तन का एक पक्ष हृदय की रागात्मक अनुभूतियों को लेकर चलता है और दूसरा पक्ष तर्कना शक्ति को। जीवन में ये दोनों शक्तियाँ सक्रिय रहा करती हैं। कभी एक की प्रधानता हो जाती है तो कभी दूसरे की। यही कारण है कि

1." I would begin my analysis of the nature of philosophical questions by distinguishing two types of philosophical problems. These types may be designated as first order philosophical problems and second order philosophical problems. Problems of the first have direct reference to what may be called the universally visible or observable subject matter of philosophy. In the present context the expression, 'Universally observable' simply means, 'universally sharable in principle.' Thus the aesthetic experience embodied in a work of art is not visible like leaves and flowers to the physical eyes, and yet it is intended by the artist to be shared and enjoyed by all properly trained - persons. The experience exists or subsists in the peculiar arrangement of words or other symbol, produced by the artists. The philosopher contemplates this sort of experience and raises and discusses certain questions about it. For instance, he asks : what is the nature of art, or experience ? What are the essential ingredients or constituents of that experience ? and finally, what are the factors pertaining to the experience in question or its expression that contribute to the greatness of the art work embodying it."

चिन्तन के प्रारम्भिक स्तर पर व्यक्ति कभी अधिक भावुक हो जाता है और कभी बौद्धिक । दोनों में सन्तुलन न बैठ पावे के कारण उसकी मानसिक स्थिति अव्यवस्थित हो जाया करती है । वह किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाता । भावों एवं विचारों के इसी स्तर पर कवि एवं दार्शनिक एक-दूसरे को सीमाओं में प्रवेश करते हुए पाये जाते हैं । लेकिन वय-विकास के साथ-साथ ज्यों-ज्यों अनुभूतियों में गंभीरता तथा चिन्तन में प्रौढ़ता आती जाती है, त्यों-त्यों उनमें पदा-विशेष की प्रधानता तथा स्तर पदा की गौणता होती जाती है । इस प्रकार दोनों की सीमा-रेखाएँ स्पष्ट होती जाती हैं । कवि भावुक पदा का संरक्षक बन जाता है, दार्शनिक बौद्धिक पदा का प्रहरी । पहला हृदय को अपना लेता है, दूसरा मस्तिष्क को । इसका आशय यह नहीं कि कवि हृदय को अपना कर मस्तिष्क की बिल्कुल उपेक्षा कर देता है और दार्शनिक मस्तिष्क को अपना कर हृदय की अवहेलना । साधना के ऊँचे घरातल पर पहुँच कर प्रायः सभी चिन्तन धाराएँ अनुभूति-विशेष की परिधि में आ जाती हैं, जहाँ उनकी दूरी बहुत कम हो जाती है^१ । कवि और दार्शनिक भी एक-दूसरे की सीमाओं का सीमित उपयोग करते हुए अपने गन्तव्य की ओर बढ़ते हैं^२ । कवि उसी सीमा तक मस्तिष्क का सहारा लेता है, जहाँ तक उसे अनुभूत सत्तों में गहराई लाने की आवश्यकता प्रतीत होती है और दार्शनिक उसी सीमा तक हृदय का साथ देता है, जहाँ तक हृदय उसके अनुभूत सत्तों को सरसता प्रदान कर उसे ग्रहणीय बनाने में सहायक सिद्ध होता है। काव्य में बुद्धि हृदय द्वारा शासित होती है और दर्शन में मस्तिष्क द्वारा । इस प्रकार बुद्धि, हृदय (रागात्मिका वृत्ति) तथा मस्तिष्क (तर्कना-शक्ति) के दोनों क्षेत्रों को मिलाती हुई जीवन-वृत्त को घेर कर उसे पूर्णता प्रदान करती है, -- हमारी बुद्धि-वृत्ति बाहर के स्थूलतम विन्दु से लेकर भीतर के सूक्ष्मतम विन्दु तक जीवन को एक अर्द्धवृत्त में घेर सकती है, परन्तु ^{दूसरा} ~~हम~~ अर्द्धवृत्त बनाने के लिए हमारी रागात्मिका वृत्ति ही अपेक्षित रहेगी + + बुद्धि अन्तर का बोध कराकर स्वप्न का निर्देश करती है और हृदय स्वप्न की अनुभूति देकर अन्तर की ओर संकेत करता है । + + + ज्ञान-क्षेत्र और काव्य-जगत के दर्शन में उतना ही अन्तर रहेगा, जितना दिशा की शून्य सीधी रेखा और अनन्त रंग-रूपों से बसे हुए आकाश में मिलता है^२ ।

१- N.K. Deva Raja : 'An approach to Philosophy and History of Philosophy'. P. 12

२- श्रीमती महादेवी वर्मा : साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३२, ४१, ४२।

मस्तिष्क तर्क प्रधान होता है और तर्क अपने-आप में स्वयं अपूर्ण है ,क्योंकि वह बुद्धि का व्यापार है, और प्रत्येक व्यक्ति का बुद्धि-स्तर भिन्न-भिन्न होता है । वह अपने ही परिवेश में समस्याओं का समाधान खोजता है, जिसे उसकी मान्यतायें सार्वभौमिक नहीं हो पातीं । एक तार्किक व्यक्ति आता है, और अपने तर्कों द्वारा पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का खण्डन कर अपना मत प्रतिपादित करता है । इसके बाद उससे अधिक कोई तार्किक व्यक्ति आता है और अपने अकादय तर्कों द्वारा पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं को काट कर अपनी मान्यताओं की स्थापना करता है । तीसरा आता है जो उसे भी काट देता है । इस प्रकार खण्डन-मण्डन की शृंखला का एक सूत्रपात हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप विविध मत-मतान्तरों एवं सम्प्रदायों की सृष्टि का एक क्रम चल पड़ता है । तत्त्वचिन्तन केवल बुद्धि-विलास बन कर रह जाता है ।

चिन्तक वर्ग व्यक्तिगत धारणाओं के अनुरूप तथ्यों का विवेचन करता है, जिसके फलस्वरूप दर्शन का क्षेत्र बौद्धिकता से अनुप्राणित तर्कनाओं एवं विविध विधाओं का एक समवाय बन जाता है ।

ब्रह्म,जीव,जगत,माया,मोक्ष तथा विश्व की नियामक शक्ति का स्वरूप-बोध और इनके पारस्परिक सम्बन्धों का शोध ही दर्शन(तत्त्व चिन्तन) का मूल विषय है । चूंकि दर्शन चिन्तन पर आधारित है, और चिन्तन का परुष पदा एक विचार-प्रधान मानसिक प्रक्रिया है । अतः देश,काल,परिस्थिति तथा संस्कृत संस्कार-गत विशिष्टताओं के अनुसार तर्क-वितर्क के कूलों से टकराती हुई विचारधारा विविध उपधाराओं में विभक्त होकर प्रवाहित होने लगती है । जिसके परिणामस्वरूप दार्शनिक दृष्टिकोण की विविध दिशाएं हो जाती हैं । उसके चिन्तन-पदा के विविध स्तर हो जाते हैं ।

काव्य और दर्शन की विकास-पीठिका में भी स्पष्ट भिन्नता पाई जाती है । दोनों के प्रेरणा स्रोत अपनी अलग इकाई रखते हैं । दोनों का जन्म भी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हुआ करता है । जहां तक काव्य की उत्पत्ति का प्रश्न है, इसका

जन्म जीवन की रागमूलक वियोगजन्य (संवेदनशोल) परिस्थितियों में होता है^१।

वियोग संयोग का अभाव है, और संयोग-सुख का पोषक तत्व आसक्ति (अनुरक्ति) है। चूंकि आसक्ति एक रागात्मिका वृत्ति है, अतः उसका सम्बन्ध सौन्दर्य से है जो काव्य की मूल संवेदना है। सौन्दर्य की सरसता एवं भावों की विह्वलता ही काव्य में प्राणशक्ति का संचार करती है। सौन्दर्य के उद्दीपन से जब जीवन में संचित अभाव अभिव्यक्ति के लिए फूट पड़ते हैं, तभी कविता का जन्म होता है। कविता के उद्ग्रेक के लिए सौन्दर्य का उद्दीपन, अर्थात् आनन्द और अभाव की पीड़ा दोनों का संयोग अनिवार्य है। अभाव की पीड़ा में जब माधुर्य की अनुभूति होने लगती है, तभी मानस से कविता उद्बुद्ध होती है^३।

जयशंकर प्रसाद ने काव्य को श्रेय एवं प्रेय को अपने चारुत्व के रूप में ग्रहण कर लेने वाली आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति माना है--^२ काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह श्रेयमयी रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण-- प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है। + + + आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा मग्न ग्रहण कर लेती है। काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है^४।

१- वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों में चुप चाप,
बही होगी कविता अनजान ॥

--प० सुमित्रानन्दन पंत : 'आधुनिक कवि संग्रह'
२- आत्मा की गूढ़ और क्षिपी हुई सौन्दर्यराशि का भावना के आलोक में प्रकाशित हो उठना ही कविता है। जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है, उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। -- डा० रामकुमार वर्मा : 'आधुनिक कवि' ३

३- डा० नगेन्द्र : 'विचार और अनुभूति'

४- श्री जयशंकर प्रसाद : 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'।

संकल्पात्मक अनुभूति

आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति प्रेय और श्रेय का समुच्चय --भावों-विचारों का सन्तुलित समीकरण है । इसके ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है । संकल्प शक्ति मानसिक वृत्तियों की एक समष्टि है । यह मूल प्रवृत्तियों भोगेच्छाओं तथा वातावरण-जन्य संघर्षों के बीच की वह उपज है, जिसमें क्रियात्मक मनोवृत्ति का प्राबल्य रहा करता है । मानव-जीवन अपने-आप में मनोवृत्तियों, इच्छाओं का एक समवाय है । ये इच्छायें परस्पर विरोधी भी होती हैं । एक ओर भोगेच्छाओं की बलवती स्पृहा और दूसरी ओर सामाजिकता से अनुशासित नैतिकता दोनों के बीच अन्तर्द्वन्द्वों का एक मंफावात उठ खड़ा होता है । ऐसी स्थिति में संकल्पशक्ति एक निर्णायक का काम करती है । वह विखरे विचारों के वांछित तत्वों को सँभट कर उसमें दृढ़ता का आधान कर देती है । जिस प्रकार अनेक रूपों में विखरी हुई जल-धारायें सम्मिलित होकर अतला पयस्विनी को जन्म देती हैं, उसी प्रकार जब विखरी भाव-वृत्तियाँ किसी भाव विशेष में जाकर सन्निहित हो जाती हैं, तब उसमें एक दृढ़ता आ जाती है । दृढ़ता का यही स्वरूप संकल्पशक्ति की रास है ।

शिक्षा, संस्कार तथा सामाजिक वातावरण के सन्दर्भ में संकल्प-शक्ति के कई स्तर हो जाते हैं, जिन्हें हम तीन कोटियों में रख सकते हैं --

- (१) ज्ञानात्मक संकल्पात्मक शक्ति ।
- (२) संवेगात्मक संकल्पात्मक शक्ति ।
- (३) क्रियात्मक संकल्पात्मक शक्ति ।

यद्यपि उपर्युक्त संकल्प शक्ति के तीनों स्वरूप सर्वथा एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं, पर कविता का विशेष सम्बन्ध संवेगात्मक संकल्पशक्ति से हुआ करता है, जिसमें भावुकता की प्रधानता रहती है । संवेग का सीधा सम्बन्ध मूल प्रवृत्तियों, तज्जन्य मानसिक अवस्थाओं से होता है और यह मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रियाओं का आधार हुआ करता है । वैयक्तिकता तथा अस्थिरता इसकी मूलभूत विशेषतायें हैं । मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित संवेग की वैयक्तिक अतिशयता अनेक अवांछित इच्छाओं का कारण बन जाती है । अतः स्वस्थ जीवन-दर्शन और सामाजिक संगठन के लिए इसका नियमन तथा उदात्तीकरण आवश्यक हो जाता है । संकल्पशक्ति इन विखरी भाव-वृत्तियों को सन्तुलित कर उनका उदात्तीकरण कर देती है । भावों का यही उदात्तीकरण कविता का सिद्धपीठ बन जाता है । इसमें आकर अन्तर्द्वन्द्वों का

समाहार हो जाता है । कवि अपनी पृथक् सत्ता छोड़कर 'भाव-योग' में लीन हो जाता है । उसका अहं 'इदं' में पर्यवसित होकर उस मुक्तावस्था को पहुँच जाता है, जहाँ सम्पूर्ण सत्तायें एक ही परम सत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव में अन्तर्भूत हो जाते हैं, पार्थक्य बुद्धि का परिहार्य हो जाता है, वृत्तियाँ शान्त और गम्भीर हो जाती हैं, और जीवन का सम्पूर्ण सत्य कविता के सहज प्रोत में फूट पड़ता है । जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था, ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है । हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं । इस साधना को हम भाव-योग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं । + + + भाव-योग को सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव-सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है । उसकी अश्रु-धारा में जगत की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत के आनन्द नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है ।^१

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रागात्मक वृत्तियों का भाव-बोध ही काव्य का प्रेरणा स्रोत है । पार्श्वार्थ विद्वानों ने भी काव्य को सत्य, सौन्दर्य और शक्ति का एक समुच्चय माना है तथा उस तथ्य को स्वीकार किया है कि "कविता कल्पना एवं मनोवेगों के माध्यम से जीवनगत तथ्यों की अभिव्यक्ति है ।"^२

'दर्शन' का जन्म इससे भिन्न विराग-वृत्ति के माध्यम से होता है । जीवन की विषमता ज्ञानमंगुरता एवं संसार की अनित्यता आदि से उद्भूत विरक्तिमूलक विचारधाराओं से इसका पोषण होता रहता है । काव्य जिन भाव-वृत्तियों से

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, प्रथम भाग : कविता क्या है ?

२- "The utterance of passion for truth, beauty, and power -- embodying and illustrating its conception by imagination and fancy and modulating its language on principles of variety in unity."

-- Ley Herat.

३- "Poetry is an interpretation of life through imagination and emotion."

-- Hudson : 'Introduction to the study of poetry.'

अपना पोषक तत्व प्राप्त करता है, 'दर्शन' उन्हीं को मानवीय दुर्बलतायें कहकर ठुकरा देता है । हंसते फूलों की पंखुड़ियों पर फिलमिलाती ओस की विन्दुओं में दार्शनिक नश्वरता की फलक पा कर विरक्ति-भावना से भर जाता है, कवि उसी में अनिर्घ सौन्दर्य की फांकी पाकर प्रेम-विह्वल हो उठता है । वह फूल का खिलना और मुरझाना देखकर हर्ष और शोक की सहज अनुभूतियों में खो जाता है^१ ।

जो काम-भावना (रागात्मक वृत्ति) काव्य की प्रेरक शक्ति हुआ करती है, उसी काम-भावना को 'दार्शनिक' अधोगति का मूल कारण मानते हुए उसे ज्ञान तथा विज्ञान-- अध्यात्म ज्ञान तथा विशेष ज्ञान का विनाशक कह कर उसकी मर्त्सना करता है --

(१) काम एष, क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(२) तस्मात्तुव मिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञान-विज्ञान नाशनम् ॥^२

(अर्थात् रजोगुण से उत्पन्न होने वाले ये काम और क्रोध कभी तृप्त न होने वाले पापाशयी शत्रु के समान हैं, अतः हे भरतश्रेष्ठ (अर्जुन) पहले इन्द्रियों का नियमन कर, ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी--काम को तु मार डाल ।)

'दर्शन' अन्तर्वृत्तियों के नियमन पर विशेष बल देता है और काव्य उन वृत्तियों के उन्नयन पर । कवि ममता, मोह, आसक्ति, अनुरक्ति, ईर्ष्या-द्वेष, द्विधा-द्वन्द्व, काम, क्रोधादि भावों को उसी प्रकार अपनाता है, जिस प्रकार तप-त्याग, विरक्ति-विराग, प्रेमादि भाव-वृत्तियों को^३ । वह हमारी भौतिक आकांक्षाओं को

१- "To me the meanest flower that blows, can give thoughts:
that do often lie too deep for tears."

-- Wordsworth.

२- गीता, तृतीय अध्याय, श्लोक ३७, ४१ ।

३-(क) भले और बुरे, पुण्य और पाप, देवता और दानव, दुःख और सुख--एक सिक्के के दो पहलू हैं, दोनों इस काव्य-जगत् के लिए समान रूप से आवश्यक हैं। बिना एक-दूसरे की सत्ता ही नहीं । कविन्तो देवता का मत्त है, न दानव का दुश्मन । उसके लिए तो दोनों उपयोगी हैं, दोनों बराबर हैं ।

--आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकरप्रसाद

(ख) नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाषाण ड है । इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है, जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते, बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के

सहला-सहला कर उसके स्वरूप का निखार और परिष्कार किया करता है। आत्म-बोध के साथ-साथ वह सौन्दर्य-बोध का भी सम्बन्ध चाहता है। वह न तो इस बात पर बल देता है कि जीवन-वीणा के तार इतने कस दिये जायं कि वे टूट जायं और न इस बात का समर्थन करता है कि उन्हें इतना ढीला कर दिया जाय कि उनके स्वाभाविक स्वर ही विकृत हो जायं। वह लोकोत्तर सौन्दर्य-बोध के साथ-साथ नैतिक पक्ष की भी पुष्टि करता चलता है। नैतिकता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वह उस शाश्वत सत्य को ओर संकेत करता है, जो जीवन का एकमात्र आदर्श है, साध्य है, लक्ष्य है। वह सहज वृत्तियों पर आधारित आन्तरिक यथार्थ की उदात्त अभिव्यक्तियों के माध्यम से जीवन के नये-नये द्वाितिज खोलता चलता है * तथा उनके परिप्रेक्ष्य में अपने आवेष्टन के उन पहलुओं को समझने का प्रयत्न करता है, जो उसके सुख-दुःख राग-द्वेष से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं।

काव्यानुभूति का यह सत्स्वरूप आत्म-परिष्कार का सर्वसुलभ साधन है जो मनुष्य के मानसिक उत्साहों एवं कुंठाओं को अपने निर्मल भाव-प्रोतों से धोता हुआ उसे निर्मलता और स्वस्थता प्रदान करता रहता है। यह अपने-आप में एक ऐसा अनुपम आदर्श है जो विकृत को सुन्दर और सुन्दर को सुन्दरतर बना देने की शक्ति रखता है। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का यही समष्टिगत स्वरूप कवि की साधना का केन्द्र-विन्दु बन जाता है। उसकी यह साधना जहां एक ओर प्रज्ञा के सत्स्वरूप की मार्ग दर्शन करती हुई हृदय में प्रणय-पयस्विनी की प्रवाहित होती रहती है, वहीं दूसरी ओर समस्त सौन्दर्य-सत्ता को अपने-आप में समेट कर लोक-सेवा में शिव स्वरूप बन जाती है --

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,

हृदय में बनता प्रणय अपार।

लोचनों में लावण्य अनूप,

लोक-सेवा में शिव अविकार ॥

-- सुमित्रानन्दन पन्त

(पिछले पृष्ठ की अवशिष्ट पाद टिप्पणी)
न हो तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिल्कुल जड़ है।

-- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, प्रथम भाग, 'करुण' नामक लेख
१- जिन मनोवृत्तियों का अधिकार बुरा रूप हम समझ में देना करते हैं, उनका भी सुन्दर रूप कविता बूझ कर दिखाती है। + + + जो कविता समझी रूप माधुर्य से हमें तृप्त करती है, वही उसकी अन्तर्वृत्ति की सुन्दरता का आभास देकर हमें मुग्ध भी करती है। -- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, प्रथम भाग, कविता क्या है ?

‘दार्शनिक’ और ‘कवि’ दोनों ही अपने-अपने ढंग से जीवन की व्याख्या करते हैं। कवि जीवन के बीच ‘दर्शन’ देखता है और दार्शनिक दर्शन के बीच ‘जीवन’ देखना चाहता है। दार्शनिक जिस समस्या को मस्तिष्क द्वारा सुलझाना चाहता है कवि उसी को हृदय द्वारा। एक विचारों में पैठ कर चरम सत्ता का साक्षात्कार करना चाहता है, दूसरा भावों में डूब कर उसके सान्निध्य-सुख में खो जाना चाहता है। एक विचारों में पलता है, दूसरा भावों में जीता है। एक तर्क प्रधान होता है दूसरा अनुभूति प्रधान। लेकिन कवि को यह अनुभूति कोरी भावुकता पर आधारित न होकर विचारों की स्निग्धता से अनुप्राणित रहा करती है। कवि ज्यों-ज्यों भावों में डूब कर अनुभूतियों की गहराई में पैठता जाता है, त्यों-त्यों उसके भाव विचारों में घुलघुल कर ‘दर्शन’ के कौमल पार्श्व को अपने-आपमें डुबोते चले हैं। कवि के भावों स्व विचारों के इस सम्मिश्रण से जो एक घोल तैयार होता है, उसमें काव्य की स्निग्धता और ‘दर्शन’ की उष्णता का अपूर्व संगम हो जाता है।

कवि का ‘दर्शन’ जीवन-सापेक्ष हुआ करता है। वह समग्र जीवन का व्याख्याता होता है और दार्शनिक पक्ष-विशेष का विश्लेषक। दार्शनिक जिन तत्त्वों का विश्लेषण और विवेचन किया करता है, कवि जीवन में उन्हीं तत्त्वों का समायोजन करता चलता है। कवि का साध्य कोरा परमार्थ-चिन्तन नहीं है। वह जीवन के तीनों पक्ष -- स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ -- को समेट कर चलता है। दार्शनिक अपेक्षाकृत परमार्थ पक्ष पर ही विशेष बल देता है। वह चिन्तन के समय एक निर्णायक की भांति अपने व्यक्तित्व को अपने-आप से अलग रखकर तटस्थ भाव से जीवन की समस्याओं पर विचार करता है। लेकिन कवि अपने व्यक्तित्व के साथ साथ भाव-लोक की समूची अनुभूतियों को एक साथ समेट लेता है। अतः उसकी साधना व्यष्टि मूलक न होकर समष्टिमूलक हो जाती है। उसका अहं ‘इदं’ में पर्यवसित हो जाता है। जिस प्रकार एक पुष्प अपने वृक्ष के समस्त रस को खींच कर नवीन, उज्ज्वल और आह्लादमय रूप में प्रस्फुटित हो उठता है, उसी प्रकार कवि भी जीवन के समस्त रसों को अपने-आप में समेट कर अनेक सम्भावनाओं के साथ विकसित हो उठता है, जिसमें गत, आगत और अनागत के अनेक छाया-चित्र फिल-मिला उठते हैं।

कवि चिन्तन द्वारा जिस सत्य की सृष्टि होती है, वह सार्वभौमिक होती है, स्कन्दशीय नहीं। वह देश, काल तथा परिस्थितियों से परे हुआ करती है

क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध अनुभूति प्रधान रागात्मक वृत्तियों से हुआ करता है, और हृदय की ये वृत्तियाँ अनादि काल से स्फुरत चली आ रही हैं। दया, माया, ममता, ईर्ष्या-द्वेष, काम-क्रोध, प्रेम आदि भाव-वृत्तियों का जैसा अनुभव आदिमानव के अन्तःस्तर ने किया था, वैसा ही अनुभव आज का मानव भी करता है। अभिव्यक्ति प्रणाली में मले ही भिन्नता आ गयी हो, पर सौन्दर्य-बोध में आज भी कोई अन्तर नहीं आ पाया है। जीवन का यही शाश्वत सत्य (अन्तर्वृत्तियों का भाव-बोध) कवि की संजीवनी शक्ति हुआ करता है। कवि की लेखनी द्वारा प्रसूत इस शाश्वत सत्य का स्रोत अक्षुण्ण बना रहता है। इसको दिशायें मले ही बदलती रहें, पर उसकी मूल धारा में कोई अन्तर नहीं आता। कभी वह वीर भाव से अपना हाथ मिला लेता है तो कभी शृंगार-साहचर्य से विलास-लीला में डूब जाता है, कभी करुणा की हस्तिता में खो जाता है तो कभी भक्ति-भावना से गठबन्धन कर देश-प्रेम की गुंज में से मर उठता है।

कवि का सत्य सौन्दर्यमूलक हुआ करता है^१। दार्शनिक जिस सत्य को अनावृत कर उसकी विकृति को भी स्पष्ट कर देता है, कवि उसी पर सौन्दर्य का आवरण डाल कर उसे अरुचिकर होने में बचा लेता है। "सच्चे कलाकार के पास दुःख और भी चीज़ होती है। सबसे पहले वह अपने दिवा स्वप्नों को इस तरह विशद करना जानता है कि उनमें से वह व्यक्तिगत अंश निकल जाय तो अपरिचित कानों को खटकता है और दूरारों के लिए दिवा स्वप्न रसनीय और स्मणीय बन जाते हैं"^२। प्रसादः कविता की आत्मा की मनन शक्ति की वह साधारण अवस्था माना है जो श्रेयससत्य को उसके मूल चारुत्व में ग्रहण कर लेती है^३। वह अपने इसी सौन्दर्यमूलक सत्य के बल पर

१- (क) "Beauty is truth, truth beauty that is all
ye know on earth, and all ye need to know."
-- Keats

(ख) "सत्य की पूजा सौन्दर्य में है।" -- कवीन्द्र रवीन्द्र

(ग) "काव्य-कला का सत्य, जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है।"

-- श्रीमती महादेवी वर्मा : "साहित्यकार की अवस्था तथा अन्य निबंध"

२- फ्रायड : मनोविश्लेषण, पृ० ३४३-- अनुवादक देवेंद्र कुमार

३- प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३८।

दर्शन के शुष्क तथ्यों को भी प्रेक्षणीय बना देता है । तर्क-वितर्क की शुष्कता से अग्राह्य हो जाने वाले दार्शनिक तथ्य कवि को र सरस उक्तियों एवं मधुर संकेतों द्वारा सहज संवेद्य हो जाते हैं । इसी सौन्दर्य-चेतना के बल पर कवि नोरस विषयवस्तु को भी कवि सरस और स्पृहणीय बना देता है । यहाँ पर साहित्य दर्शन का पुरक बन जाता है । दर्शन बुद्धि के आधार पर जो बात निश्चित करते हुए घबड़ाता है, शंका करता है, साहित्यिक आगे बढ़कर अपनी भावना से उसमें निश्चितता ला देता है ।^१ दार्शनिक को सारी तर्कना-शक्ति भक्ति के जिस स्वल्प का सर्वग्राही निरूपण नहीं कर सकी, भाव-प्रवण कवि की भावुब्बना ने अपनी सरस उक्तियों से उसी का जो सहज ग्राह्य स्वरूप प्रस्तुत किया वह हृदय पर अपनी स्क अमिट छाप छोड़ जाता है । कवि का तर्क देखिये -- ' प्रभु की दो स्त्रियाँ हैं-- स्क भक्ति , दूसरी माया । भक्ति उनकी प्रधान महिषी है, और माया नर्तकी । प्रभु 'भक्ति' के अनुकूल रहा करते हैं इसलिए 'माया' भक्ति से भयभीत रहा करती है । वह (माया) उस (भक्ति) पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल पाता । क्योंकि स्त्री को स्त्री का आकर्षण अभिभूत नहीं कर पाता । चूंकि ज्ञान 'पुरुष' है, अतः उस पर स्त्री (माया) का जादू चल जाता है । वह (ज्ञान) अपने आप को उस मायारूपी स्त्री से बचा नहीं पाता ।^२

१- हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ०३

२- ग्यान विराग जोग विग्याना ।

र सब पुरुष सुनहु हरि जाना ।

+ + +

सौउ मुनि ग्यान निधान मृगनयनी विष्टु मुख निरखि ।

विवश होई हरिजान, नारि विष्टु माया प्रबल ।

+ + + + +

मोह न नारि नारि के रूपा ।

पन्नगारि। यह रीति अनुपा ॥

माया, भगति, सुनहु तुम दोऊ ।

नारि का जानइ सब कौऊ ॥

पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी ।

माया सलु नर्तकी विचारी ॥

भगतिहि सानुबूल रघुराया ।

ताते तेहि डरपति अति माया ॥

राम-भगति निरुपम निरुपाधी ।

बसइ जासु उर सदा अवाधी ॥

तेहि विलोकि माया सकुचाई ।

करि न सकै कहु निज क प्रगुताई ॥

--गोस्वामी तुलसीदासः 'रामचरित मानस' (उत्तरकाण्ड)

कवि अपनी इस सौन्दर्य विधायिनी शक्ति द्वारा उस अलौकिक सृष्टि की सर्जना किया करता है, जिसका एक-एक दृश्य दर्शक को लोकोत्तर आनन्द लोक तक पहुंचाने में पूर्णतया समर्थ होता है । इसी लिए हमारे यहां कवि को माताव प्रजम्पति प्रजापति (ब्रह्मा) के रूप में स्मार्त किया गया है --

अपारे काव्य संसारे कविरंकः प्रजापतिः ।

यथा सै रौचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

-- अग्निपुराण

(अर्थात् इस असीम काव्य-संसार के बीच कवि ही एक प्रजापति है । उसे जैसा रुचता है, वह उसी के अनुरूप विश्व की रचना--(काव्य सृष्टि) किया करता है ।)

कवि की इस सृष्टि में सभी आकर सहज सुन्दर और मनोज्ञ बन जाते हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दार्शनिक और कवि की चिन्तन-परम्परा में मौलिक अन्तर है । दोनों की अपनी-अपनी दिशाएँ हैं । एक हृदय की स्निग्ध धारा को तर्क-वितर्क की मरु मरीचिका में सुखा डालता है, दूसरा चिन्तन को शुष्कता में भी सरसता का झ्रोत बहा कर उसे सर्व सामान्य के लिए ग्राह्य बना देता है । दार्शनिक चिन्तन एक ऐसी संकरी गली है, जहाँ विशिष्ट वर्ग का प्रवेश ही सम्भव है और कवि का चिन्तन एक ऐसा राजपथ है, जो सब के लिए समानरूप में ही खुला हुआ है ।

इस प्रकार दर्शन अपने सीमित सन्दर्भ में एक कोण के समान है, जो एक विशिष्ट दृष्टि को लेकर विषय वस्तु का विवेचन करता है, और साहित्य एक वृत्त के समान है जो अनेक कोणों को अपने में समेट लेता है । दर्शन मानव-मूल्यों को व्याख्या करता है और साहित्य उसका पुनर्स्थापन ।

-0-

१- रम्यं जुगुप्सित मुदार मथापि नोचं उग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।

यद् वा डाय वस्तु कवि-भावक भावनीयं तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥

-- दशरूपक

(प्रथम खण्ड)

द्वितीय - अध्याय

-0-

मृत और जीव की समस्या

द्वितीय अध्याय

-०-

कला और जीव की समस्या

वस्तुतः कवि मूलतः दार्शनिक नहीं होता । वह किसी स्वतन्त्र दर्शन का जन्मदाता न होकर गृहीत दर्शन के आधारभूत तत्त्वों का व्याख्याता होता है और उन्हीं के बीच से उसकी रचना-दृष्टि विकसित होती है । कवि का यह चिन्तन कोई दार्शनिक का चिन्तन न होकर, एक कलाकार का चिन्तन होता है । जिस प्रकार एक कुशल चित्रकार जन समूह के विविध शारीरिक अवयवों में से, रुचिकर अवयवों का चयन कर, उनका सुन्दर समायोजन (व्यवस्थितअंकन) कर लेता है, और उन्हें संवार-सुधार कर, अपनी कल्पना तथा तुलिका के सहयोग से उनमें रंगों का पुट देकर उन्हें एक आकर्षक चित्र का स्वरूप प्रदान कर देता है, उसी प्रकार एक चिन्तनशील कवि संस्कारगत विशिष्टताओं के अनुरूप विभिन्न दर्शनों का मन्थन कर, अपनी आस्थाओं एवं मान्यताओं के अनुकूल पड़ने वाले उनके मौलिक तत्त्वों को ग्रहण कर, और उनमें अपनी अनुभूतियों का गहरा पुट देकर, एक नवीन जीवनदर्शन को सर्जना कर डालता है, जो उसकी अपनी जाती हो जाती है^१ । प्रसाद का दार्शनिक चिन्तन भी इसका अपवाद नहीं ।

१- साहित्यिक कलाकार अपनी विधायक कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना करता है जीवन की यह पुनर्रचना ही कलाकृति बनती है । कला में जीवन की जो पुनर्रचना होती है, वह सारतः उस जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, जो जीवन इस जगत में वस्तुतः जिया और भोगा जाता है-- स्वयं द्वारा तथा अन्योः द्वारा ।

-- गजानन माधव मुक्तिबोध : कामायनी एक पुनर्विचार, पृ० ५

‘प्रसाद’ ने उपनिषद् बौद्ध, वेदान्त, गीता, शैवागम आदि दर्शनों का मंथन तथा उनके जीवन-सापेक्ष तत्वों को ग्रहण कर उन्हें व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया है^१। जिस प्रकार प्रसाद का सूत्र साहित्य भारतीयता से ओत-प्रोत है, उसी प्रकार उनका तत्त्व-चिन्तन भी भारतीय दर्शन से अनुप्राणित है। इस सन्दर्भ में भारतीय दर्शन के तत्त्व-चिन्तन का सिंहावलोकन अप्रासंगिक न होगा।

भारतीय दर्शन का बीज रूप हमें ‘ऋग्वेद’ में मिल जाता है^२। प्राकृतिक शक्तियों के स्वरूप-बोध की जिज्ञासा, तथा जीवन की बलवती स्पृहा के फलस्वरूप प्रारम्भ में प्रकृति-प्रेमी आर्यजनों ने जिन-जिन प्राकृतिक शक्तियों का अवलोकन किया, उनमें उन्होंने किसी-न-किसी देवी शक्ति का आरोप कर उन्हें अपना आराध्य बना लिया, जिसके परिणामस्वरूप वैदिक चिन्तन के पूर्वपक्ष में ‘बहुदेववाद’ का प्राचुर्य बना रहा, जिसे तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है --

(१) आकाश या बु ध्रुलोक के देवता --

(क) धी ।

(ख) वरुण ।

(ग) सौरमंडल के देवता (सूर्य, सविता, ऊषा, विष्णु)

(२) अन्तरिक्ष या वायुमंडल के देवता --

(क) इन्द्र ।

(ख) मरुत ।

(ग) रुद्र ।

(३) पृथ्वी के देवता --

(क) अग्नि ।

(ख) सौम ।

१- कामायनीकार का लक्ष्य एक ऐसे जीवनदर्शन की प्रतिष्ठा करना है, जो एक साथ समकालीन और सर्वकालीन समस्याओं का समाधान कर सके क क + कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि के निर्माण में एक ओर इस युग की अनेक दार्शनिक-वैज्ञानिक विचारधाराओं--विकासवाद, सापेक्षवाद, द्वन्द्वात्मक मौक्तिकवाद आदि का और उधर प्राचीन विचारधाराओं--वैदिक कर्मवाद औपनिषदिक एवं शैव आनन्दवाद, बौद्ध शून्यवाद, आदि का योगदान है।

--डा० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन को समस्याएं, पृ० १०, ११

२- ऋग्वेद में ही ईश्वरवाद को क्या शुद्ध दार्शनिक विचारों तथा आत्मातत्त्व की भी फलक दिखायी देती है।

यद्यपि वैदिक दर्शन के पूर्वपक्ष में 'बहुदेववाद' का बाहुल्य था, फिर भी उनकी मूलभूत सत्ता की एकता में कोई भेद नहीं माना जाता था। ऋषि-विशेष की आस्था के फलस्वरूप देवता-विशेष सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया करता था, लेकिन शेष देवताओं के साथ उसका अमेदभाव बना रहता था। इस प्रकार एक ही सत्ता को ऋषि-विविध रूपों में देखा करते थे^१। बाद में वैदिक चिन्तन का यह 'बहुदेववाद' क्रमशः 'एक देववाद' की ओर उन्मुख होता गया^२। आगे चलकर इसी 'एकदेववाद' ने स्केश्वरवाद का रूप ले लिया। जो कालान्तर में विकसित होकर 'अद्वैतवाद' का आधार बन गया।

वैदिक देवताओं में वरुण देवता का स्थान विशेष महत्वपूर्ण था। वे आकाश की सर्वप्रधान शक्ति के रूप में पूज्य थे। प्रसाद ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हुए वरुणको आकाशी-- देवताओं का 'एकाधिपति' माना है^३ उस प्राचीन वैदिक काल अथवा वर्तमान संसार के प्रागैतिहासिक काल में आर्यावर्त के आर्यों में आकाशी देवताओं की उपासना प्रचलित थी। भौतिक शक्तियों में उनकी प्रबल उपास्य-बुद्धि थी, और इन सब देवताओं के राजा अथवा एकाधिपति वरुण माने जाते थे। वरुण के राजत्व के विषय में वैदिक मंत्रों में कई बार उल्लेख मिलता है। वरुण को उपासना आकाश की सर्वप्रधान शक्ति के रूप में चन्द्रमा की उपासना के सम्बद्ध थी^४। 'करुणालय' में भी कवि ने 'वरुण' को समुद्र और आकाश का देवता माना है --

हे समुद्र के देव, देव आकाश के,
शान्त हूजिये, कामा कीजिए दीन को^५ ॥

१- 'एकं सद्ब्रह्म बहुधा बदन्ति,

अग्नि, यम, मातरिश्वा नमाहुः ।' -- ऋग्वेद १।१६४।४६

२- 'जब हम ऋग्वेद के सबसे पिछले मंत्रों (दशम मण्डल) पर पहुँचते हैं तो वहाँ 'बहुदेववाद' से 'एकदेववाद' की ओर प्रगति देखते हैं ।'

-- राहुल सांकृत्यायन: दर्शन-दिग्दर्शन)

३- प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट नामक लेख
(कोशीत्सव स्मारक संग्रह से गृहीत)

४- करुणालय, पृ० १५

‘कामायनी’ में भी प्रसाद जी ने वैदिक देवताओं का उल्लेख करते हुए उन्हें प्राकृतिक शक्तियों का प्रतीक माना है, और उनकी संचालिका शक्ति परमसत्ता-- के प्रति अपनी जिज्ञासा प्रकट की है--

‘विश्व देव, सविता, या पूषा,
सोम, मरुत चंचल पवमान;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं,
किसके शासन में अम्लान ?
किसका था भ्रमण प्रलय सा,
जिसमें ये सब विकल रहे;
अरे प्रकृति के शक्ति-चिह्न ये,
फिर भी कितने निबल रहे ।

+ + +
महानील इस परम व्योम में,
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान ;
ग्रह, नक्षत्र, और विद्युत्क्षण
किसका करते से सन्धान ?

+ + +
हे अनंत, स्मणीय ! कौन तू ?
यह मैं कैसे कह सकता ?
कैसे हो? क्या हो? इसका तो
भार विचार न सह सकता ।
हे विराट ! हे विश्वदेव ! तू
कुछ हो ऐसा होता मान^१,

‘जिज्ञासा’ दार्शनिक चिन्तन का मूल प्रेरणास्रोत है । चिन्तन प्रणाली के सन्दर्भ में इसके दो स्वरूप हो जाते हैं --

(१) बुद्धि प्रधान ।

(२) हृदय प्रधान ।

बुद्धिप्रधान जिज्ञासा में तर्क भावना की प्रधानता, तथा हृदय प्रधान जिज्ञासा में भावप्रवणता की बहुलता रहा करती है। पहली दर्शन के सूक्ष्म स्कान्त चिन्तन को जन्म देती है, दूसरी प्रकृति और जीवन को स्मेट कर उदात्त सौन्दर्यानुभूति को। प्रसाद की 'जिज्ञासा' दूसरे प्रकार की है, जिसने उनके चिन्तन को सौन्दर्यमूलक अनुभूति प्रदान की है और जिसके माध्यम से उन्होंने दार्शनिक समस्याओं का सुलभ हुआ हल प्रस्तुत किया है। कभी-कभी दर्शन की प्रधानता का व्यात्मकता को नष्ट कर उसके रसात्मक भाव-बोध में एक व्यवधान डाल देती है, लेकिन प्रसाद में दर्शन का व्यंग्य का अभिन्न होकर भी उसकी काव्यात्मकता को कोई क्षति नहीं पहुँचा सकता है, यह प्रसाद की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। अब हम दार्शनिक समस्याओं के सन्दर्भ में प्रसाद साहित्य का सिंहावलोकन करेंगे, इस प्रसंग में मैं सर्वप्रथम 'ब्रह्म' की समस्या को ले रहा हूँ।

ब्रह्म की समस्या दार्शनिक समस्याओं में सबसे प्रमुख समस्या रही है। 'ऋग्वेद' में सर्वप्रथम इस समस्या को उठाते हुए कहा गया है-- 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपनी शक्ति से सांस लेती थी। तदनन्तर परवर्ती दर्शनों में 'मुण्डे मुण्डे मतिभिर्भिन्नाः' के अनुसार इस समस्या के विविध समाधान प्रस्तुत किये गये।

यद्यपि बाह्य दृष्टि से भारतीय दर्शन की चिन्तन प्रणाली में पार्थक्य पाया जाता है, लेकिन तात्त्विक दृष्टि से उनकी चिन्तनधारा में कोई भिन्नता नहीं है। भिन्न-भिन्न मार्गों का अवलम्बन लेने पर भी इन सब का लक्ष्य एक ही है जिस प्रकार गंगा के विभिन्न प्रवाहों का चरम लक्ष्य समुद्र की प्राप्ति ही है, वे सब वहाँ पहुँच कर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार ईश्वर प्राप्ति के लिए शास्त्रों एवं दर्शनों के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग भले ही एक-दूसरे से पृथक् हों, किन्तु उन सब का लक्ष्य एक ही ईश्वर प्राप्ति है। सभी दर्शनों ने किसी न किसी रूप में नाम-भेद से इस परमसत्ता की पारमार्थिक वा व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया है।

१- ऋग्वेद, १०।११६।२

२- (क) 'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव' -- पुष्प दन्ताचार्यः शिवमहिम्न

(ख) 'बहुधाऽप्यागमेभिर्भिन्नाः पन्थानाः सिद्धि हेतवः।

त्वय्येव निपतन्त्योधा जाद्वीया इवाणवे ॥

--कालिदास : रघुवंश

हमारे यहां चूंकि चार्वाक दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाणों पर आधारित पूर्णतया भौतिकवादी दर्शन है, अतः इसमें स्पष्टरूप से 'ब्रह्म' की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। लेकिन भूत चतुष्टय (वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) के अन्तर्निहित 'स्वभावतत्त्व' का जो निरूपण किया गया है, वह 'ब्रह्मस्वरूप' के अधिक समीप है। चार्वाक दर्शन में इसी भूत चतुष्टय को ही सृष्टि का उपादान कारण माना गया है। जो अपने 'स्वभावतत्त्व' से संयुक्त होकर सृष्टि-रचना करता है। -- प्रत्येक जड़ पदार्थ में जड़ तत्वों का स्वयं अपना 'स्वभाव' है, अपने स्वभाव के अनुसार ही वे संयुक्त होते हैं, उनके स्वतः सम्मिश्रण से संसार की सृष्टि होती है चार्वाक के अनुसार जड़ भूतों के अन्तर्निहित स्वभाव से ही जगत की उत्पत्ति हो जाती है।^१

जैन दर्शन में भी स्पष्टरूप से परम सत्ता (ब्रह्म) को स्वीकार नहीं किया गया है। लेकिन जैनियों के आराध्य -- 'तीर्थङ्करों' का निरूपण बहुत कुछ ईश्वर जैसा ही है।^२ ईश्वर के लिए जो-जो गुण आवश्यक समझे जाते हैं, वे सभी तीर्थङ्करों में ही पाये जाते हैं अतः जैन धर्म में तीर्थङ्कर ही मानो ईश्वर हैं।^२

'बौद्ध दर्शन' का पूर्व पदा जीवन के व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित है। इसमें चार आर्यसत्त्यों (दुःख स्मुदय, दुःख का कारण, दुःख निवारण, उपाय) के आधार पर जीवनगत समस्याओं का सन्तुलित समाधान प्रस्तुत किया गया है। चूंकि बुद्ध भगवान एक व्यावहारिक चिन्तक थे, अतः उन्होंने दर्शन की जटिल समस्याओं को विशेष प्रश्रय नहीं दिया। अपने 'दशनिषेध' के अन्तर्गत 'ब्रह्म' तथा 'जीव' को रख कर उन्होंने इसकी अव्यावहारिकता पर बल दिया है। लेकिन बौद्ध धर्म के परवर्ती सम्प्रदायों ने दार्शनिक समस्याओं को उठाकर उनके परिप्रेक्ष्य में 'बुद्ध' को विशिष्ट स्थान प्रदान किया है। इन सम्प्रदायों में पहले बुद्ध को उपास्यदेव मान कर उनकी पूजा को प्रश्रय दिया गया और कालान्तर में जाकर स्वयं बुद्ध को ही 'पारमार्थिक सत्ता' के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार बुद्ध जगत-नियन्ता ईश्वर के रूप में मान लिए गए, और उन्हें 'अमितामबुद्ध' की संज्ञा दे दी गई।

१- भारतीय दर्शन : चटर्जी-दत्त, हिन्दी रूपकार फा-मिश्र, पृ० ६६, ६७

२- वही, पृ० ११६

न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को षडैश्वर्य सम्पन्न (आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य से युक्त) निराकार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अनादि, अनंत, अविकारी सच्चिदानन्द स्वरूप, परमाणु सत्ता का नियामक, नित्य, निराशय तथा सृष्टि, स्थित लय का हेतु माना गया है^१।

सांख्य की सनातनी पूर्ववर्ती शाखा ने ईश्वर के स्थान पर प्रकृति और पुरुष को सृष्टि का आदि कारण माना है। इसके अनुसार 'प्रकृति' सृष्टि का उपादान कारण है, और 'पुरुष' निमित्त कारण। 'पुरुष' चेतन स्वरूप निष्क्रिय है, और 'प्रकृति' जडस्वरूप सक्रिय। 'प्रकृति' में यह सक्रियता 'पुरुष' की चेतनता के आकर्षण से आती है, जैसे चुम्बक के आकर्षण से लोहे में सक्रियता आ जाती है। जिस प्रकार अन्धा और लंगड़ा दोनों एक-दूसरे की सहायता से अपनी मंजिल तय कर लेते हैं, उसी प्रकार 'प्रकृति' और 'पुरुष' भी एक-दूसरे के सापेक्षिक सहयोग से सृष्टि-रचना में समर्थ होते हैं। आगे चलकर सांख्य की परवर्ती शाखा में, जिसका प्रतिनिधित्व विज्ञानभिड्डा ने किया है, ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए, उसे 'परम पुरुष' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इस पक्ष के अनुसार 'ईश्वर' अपने आप में पूर्ण और नित्य साक्षी स्वरूप है।

योग में, क्लेश, कर्म, विपाक, आदि से निर्लिप्त 'पुरुषविशेष' को 'ईश्वर' की संज्ञा दी गई है और उसे सर्वज्ञ माना गया है^२।

बेदान्त में ब्रह्म को एक ऐसी सर्वव्यापी सत्ता माना गया है, जो जगत के अणु अणु में व्याप्त है। जो निराकार, निर्विकार, अविनाशी, अनादि चैतन्य तथा आनन्दमय है। वह अनन्त और अद्वितीय नाम-रूप आदि से रहित, निरपेक्ष, स्वतंत्र शुद्ध तथा अतीन्द्रिय सत्ता है^३।

१- ईश्वरो यं निराकारः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ।

अनादिरविकारी चानन्त सर्वगतो विभुः ॥

सच्चिदानन्द रूपो ऽपि दयालुन्याय तत्परः ।

सर्गे स्थितौ लये हेतुः नित्य तृप्तो निराशयः ॥ (उदयनाचार्य न्यायकुसुमांजलिपरिशिष्ट

२- क्लेश कर्म विपाकाश्रयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः

तत्र निरति शय सर्वज्ञ बीजम् । -- पातञ्जलयोग दर्शनः समाधिपाद १ (२४, २५)

३- एकमेवाद्वितीयं सन्नाम रूप विवर्जितम् ।

सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृकत्वं तदि तीर्यते ॥

अतः परं ब्रह्म सद द्वितीयं विशुद्ध विज्ञानधनं निरंजनम् ।

प्रशान्तमायन्त विहीनमक्रिय निरन्तरानन्द रस स्वरूपम् ॥ (विवेश ब्रह्मसिद्धि)

शैव-दर्शन में शिव को परम सत्ता (ब्रह्म) माना गया है, जो शक्ति-समुच्चय का आदि स्रोत है, जिसके उन्मीलन और निमीलन के फलस्वरूप सृष्टि का आविर्भाव तथा तिरोभाव हुआ करता है । बाह्य सृष्टि उसी में स्थित है, और सम्पूर्ण क्रियायें उसी से उद्भूत होती हैं, उसके स्वतः प्रकाश-स्वभाव में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आने पाता ।

वह परमशिव स्वशक्ति के माध्यम से अपने स्वरूप को व्यक्त करता है । यह शक्ति शिव का ही अभिन्न रूप है । इन दोनों में वही अविच्छिन्न संबंध है जो अग्नि का दाहकता से, शक्तिशाली का शक्ति से और चन्द्रमा का चन्द्रिका से है ।

शिव अपनी जिस विमर्श शक्ति के माध्यम से स्वरूप-बोध, तथा आत्माभिव्यक्ति में समर्थ हुआ करता है, उस शक्ति के प्रमुखतः पांच स्वरूप हैं --

- (१) चितशक्ति ।
- (२) आनन्दशक्ति ।
- (३) इच्छाशक्ति ।
- (४) ज्ञानशक्ति ।
- (५) क्रिया शक्ति ।

उक्त शक्तियों के सान्निध्य से शिव के अनेक स्वरूप हो जाते हैं -- 'चितशक्ति' का प्राधान्य होने से वह शिवतत्त्व कहलाता है, आनन्द शक्ति की प्रधानता से 'शक्तितत्त्व', 'इच्छाशक्ति' की प्रधानता होने से 'सदाशिव' तत्त्व, 'ज्ञानशक्ति' की प्रधानता से 'ईश्वर तत्त्व' और 'क्रियाशक्ति' की प्रधानता से 'विद्यातत्त्व' कहलाता है ।

१- यस्योन्मेष निमेषाभ्यां,
जगतः प्रलयोदयो ।
तं शक्तिं च विभवं --
प्रभव शकरं स्तुभः ॥१॥
यत्र स्थितमिदं सर्वं
कार्यं यस्मान्च निर्गतम् ।
तस्या नावृत रूपत्वा-

न निरोधो ऽस्ति कुत्रचित् ॥२॥ --दामराजः स्पन्दनिर्णय

२- (क) शक्तिश्च शक्तिमद्रूपादव्यतिरेकेन वाक्यति ।

तादात्म्यमनयोनित्ये वह्निः दाहकयोरिव ॥१॥ --अभिनवगुप्तः तन्त्रालोक

(ख) न शिवेन बिना देवा न देव्या च विना शिवः ।

नानयो ऽरन्तर किंचित् चन्द्रचन्द्रिकयोः ॥

३- चित् प्राधान्ये शिवतत्त्वम्, आनन्दप्राधान्ये शक्तितत्त्वम्, इच्छाप्राधान्ये सदाशिवतत्त्वम्

शैवागमों में परमतत्त्व-शिव-के दो स्वरूप माने गये हैं--

- (१) विश्वोत्तीर्ण रूप ।
(२) विश्वात्मक रूप ।

विश्वोत्तीर्ण रूप से शिवतत्त्व सबसे पर रहता है, जिसे परमशिव कहा जाता है, इसमें शिव-शक्ति तत्त्व साम्यावस्था में रहा करते हैं । दूसरे रूप में से शिव तत्त्व सब में व्याप्त रहता है । शिवतत्त्व का विविध स्वरूप 'परमशिव' का ही अभिन्न रूप है । शिव-शक्ति का आन्तरिक रूप ही 'सदाशिव' और बाहरीरूप ईश्वर तत्त्व है ।

'प्रसाद' का ब्रह्मचिन्तन शैवदर्शन की काश्मीरी शाखा-- प्रत्यभिज्ञादर्शन से विशेष प्रभावित है । प्रत्यभिज्ञा दर्शन वस्तुतः सांख्य और वेदान्त का ही उदात्त संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण है जिसमें वेदान्त(शांकर) की असंगतियों का परिहार हो गया है । शांकर वेदान्त में ब्रह्म को अनादि, अनंत, सत्य तथा सर्वशक्तिमान मानते हुए भी उसे कर्तृत्व शक्ति से हीन तटस्थ साक्षी स्वरूप माना गया है, जो माया शक्ति

१- (क) उक्तं च कामिके देवः सर्वकृतिर्निराकृतिः ।

जल-दर्पण वत तेन सर्वं व्याप्तं चराचरम् ॥ -- तंत्रालोक (१।१।६६)

(ख) 'श्री मत्परम् शिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दमय, प्रकाशक घनस्य एवं विधमेव शिवादि धरणयन्त्रम अखिलं अमेदेनैव स्फुरति अमेदेनैव स्फुरति । न तु वस्तुतः अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा, अपितु श्रीपरमशिव भट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्य सहस्रेः स्फुरति ।' -- प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, पृ० ८ ।

२- 'ईश्वरो वहिरुन्मेषो निमेषो न्तः सदाशिवः' -- ईश्वर प्रत्यभिज्ञा

३- (क) 'प्रसाद' जी के परिवार की मुख्य दार्शनिक विचार-धारा प्रतिभिज्ञादर्शन की परम्परा में ही थी, क्योंकि ये लोग शैवदर्शन में से काश्मीर के प्रतिभिज्ञा दर्शन को ही अत्यन्त पुष्ट और प्रबल मानते थे ।

-- राय कृष्णदास (हिमालय दीपावली अंक सं० २००३ पृ० ६)

(ख) 'यह सर्वथा निर्विवाद है कि कामायनी का आधारभूत दर्शन शैवाद्वैतकाश्मीरी शैव दर्शन-- प्रतिभिज्ञा दर्शन ही है ।'

-- डा० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएं, पृष्ठ ६०

की सहायता से सृष्टि रचना में समर्थ होता है^१। शांकर वेदान्त में इस मायाशक्ति का स्वरूप सद सद्विलक्षण तथा अनिर्वचनीय माना गया है। इस प्रकार ब्रह्म को सत्य और माया को मिथ्या मान लेने से, प्रकारान्तर से इसमें 'द्वैतभाव' आ जाता है।

यद्यपि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी 'परमशिव' अपनी 'विमर्शशक्ति' द्वारा अपने स्वरूप को अनेक रूपों में अभिव्यक्त करता है, लेकिन 'शिव' की यह 'विमर्शशक्ति' शिव से सर्वथा अभिन्न सत्यस्वरूपा है और इसमें कर्तृत्व स्वभाव का प्राधान्य है।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन की चिन्तन-प्रणाली अपने आप में पूर्ण 'अद्वैत' मूलक है। इसमें जड़ और चेतन एक ही सत्ता के 'दो रूप' माने गये हैं^२। प्रसाद जी ने इसी द्विचार-धारा को मान्यता देते हुए सर्वत्र शुद्ध चेतन सत्ता को स्वीकार किया है -- 'जिन पदार्थों की शक्ति अप्रकाशित रहती है, उन्हें लोग जड़ कहते हैं। किन्तु देखो, जिन्हें हम जड़ कहते हैं वे जब किसी विशेष मात्रा में मिलते हैं, तब उनमें एक शक्ति उत्पन्न होती है, स्पन्दन होता है जिसे जड़ता नहीं कह सकते। वास्तव में सर्वत्र शुद्ध चेतन है, जड़ता कहाँ? यह तो एक प्रमात्मक कल्पना है। यदि तुम कहो कि इनका तो नाश होता है और चेतन की सदैव स्फूर्ति रहती है तो यह भी भ्रम है। सत्ता कभी लुप्त मले ही हो जाय, किन्तु उसका नाश नहीं होता। + + + उस चेतन के अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं जाती और न उसका चेतनमय स्वभाव उसमें भिन्न होता है.... वही एक 'अद्वैत' है। यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में चेतन प्रकाशित होता है'^३।

१- 'परमात्मनः (ईश्वरस्य) स्वरूपाश्रयम् ओदासीन्यम् । मायाव्यपाश्रयं प्रवर्तकत्वम् ।'

-- शांकर भाष्य

२- 'तत्र आभास रूपा एव जड़-चेतनपदार्थाः'

-- प्रत्यभिज्ञादर्शन

३- जनमेजय का नागयज्ञ, पृ०५, सं० १६८३

‘कामायनी’ का प्रतिपाद्य भी ‘शैवाद्वैत’ की साधना ही है^१। इस महाकाव्य का प्रारम्भ इसी तथ्य के स्मरण से होता है --

नीचे जल था, ऊपर हिम था,

स्क तरल था, स्क सघन ।

‘स्क तत्त्व’ की ही प्रधानता,

कहो उसे जड़ या चेतन ।।^२

‘प्रसाद’ का ब्रह्म (ईश्वर) विश्वोत्तीर्ण, सदनंत, ज्ञान-विज्ञान का आधारभूत अणु अणु का संचालक, अपनों चेतन-सत्ता के स्वरूप में सर्वत्र व्याप्त है --

‘पराप्रकृति’ से परे, नहीं जो हिलामिला है,

मन्मानस के बीच कमल सा नित्य खिला है ।

चेतन की चित्कला विश्व में जिसकी सत्ता,

जिसकी ओत-प्रोत व्योम में पूर्ण महत्ता ।

स्वानुभूति का साक्षी है जो जड़ का चेतन,

विश्व शरीरी परमात्मा प्रभुता का केतन ।

अणु अणु में जो स्वभाव वश गति-विधि निर्धारक,

नित्य नवल सम्बन्ध सूत्र का अद्भुत कारक ।

जो विज्ञानाकार है, ज्ञानों का आधार है,^३

नमस्कार सदनंत को ऐसे बारम्बार है ।।’

वह सर्वाधार, सर्वेश्वर, शिवस्वरूप जगत के कण-कण में समाया हुआ है और सर्वत्र उसी के अमल, अनूप रूप की छाया विद्यमान है --

१- (क) ‘कामायनी’ में अन्तिम लक्ष्य अद्वैत सत्ता ही है * + + परन्तु यह अद्वैतवाद सीधे वेदों से न आकर शैवागम से आया है, जैसा कि ‘त्रिपुर’, ‘नर्तित नटेश’ तथा ‘शक्तिशरीरी’ आदि के प्रयोग से स्पष्ट है ।’

-- डा० फतेहसिंह : कामायनी सौन्दर्य, पृ० १२४

(ख) ‘कामायनी’ का आधारभूत दर्शन आनन्दवादी शैवाद्वैत ही है ।’

-- डा० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृ० ६०

२- कामायनी, पृ० ३

३- कानन कुसुम, पृ०

‘अहो ! लखो यह विश्वेश्वर की सृष्टि अनुपम
शिव-स्वरूप तिनमांहि विराजत लख सबही सम’^१

+ + +

‘मरा नयनों में मन में रूप,
किसी कलिया का अमल अनुप-
जल-थल, मारुत, व्योम में,
छाया है सब ओर ॥’^२

‘विमल इन्दु की विशाल किरणों’ में उसी का प्रकाश है, ‘तरंगमालायें’
उसी का यशोगान गा रही हैं --

‘विमल इन्दु की विशाल किरणें,
प्रकाश तेरा बता रही हैं ।
अनादि तेरी अनंत माया,
जगत की लीला दिखा रही हैं ।

+ + + +

तेरी प्रशंसा का राग प्यारे,
तरंग मालायें गा रही हैं’^३ ।

शैवाग्र्यों में शिव को प्रेम-स्वरूप माना गया है । प्रसाद का आराध्य भी
निर्विकार , लीलामय, प्रेम का प्रकाश है --

‘प्रभो ! प्रेममय प्रकाश तुम हो,
प्रकृति-पद्मिनी के अंश माली,
असीम उपवन के तुम हो माली,
घरा बराबर जता रही है ।

+ + +

१- चित्राधार, पृ०

२- स्कन्दगुप्त, पृ० ४७

३- कानन कुसुम, पृ०

जयति प्रेमनिधि जिसकी करुणा,
 नौका पार लगाती है ।
 निर्विकार, लीलामय, तेरी,
 शक्ति न जानी जाती है ।

+ + +

उस प्रेममय सर्वेश का सारा जगत और जाति है^१ ।

‘प्रेम’ पूर्णता का प्रतीक है, और पूर्णता आत्म-विस्तार की उपलब्धि ।
 उपनिषद् के स्को हं बहुस्यामि के मूल में आत्मविस्तार की इसी भावना की गुंज
 है । शैवागम का ‘परमशिव’ भी आत्मविस्तार की ‘इच्छा शक्ति’ से प्रेरित होकर
 अपनी ‘विमर्शशक्ति’ को स्फुरित करता है, जो उसके सामरस्य से नानारूपात्मक
 जगत की सृष्टि करती है ।

यह शक्ति शिव से सर्वथा अभिन्न उसके आनंदस्वरूप का स्फुरण है ।
 वह आनंद-सागर स्वरूप शम्भु से बहर की भांति अविच्छिन्न है^३ ।

‘प्रसाद’ ने भी शिव-शक्ति के इस अविच्छिन्न सम्बन्ध को स्वीकार
 करते हुए शिव को आनंदमय चेतन स्वरूप पुरुष पुरातन माना है --

‘उस शक्ति शरीरी का प्रकाश,
 सब शाप-पाप का कर विनाश--

नर्तन में निरत, प्रकृति गल कर,
 उस क्रान्ति-सिन्धु में घुल मिल कर,
 अपना स्वरूप धरती सुन्दर,
 कमनीय बना था भीषण ऋर

१- कानन कुसुम, पृ०

२- (क) ‘विमर्श शक्तिः प्रकाशात्मा परम शिवेन सामरस्य विश्वं सृजति न तु केवला’
 -- शैवागम ग्रन्थ

(ख) ‘चिति स्वतंत्र विश्वसिद्ध हेतुः ,
 स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।’

-- प्रतिभिला हृदयम्

३- ‘आनंद सागरः शम्भुस्तच्छक्तिर्द्रव उच्यते ।
 शीकरा इव सामुद्रास्तदानंद कणाः गणाः ।’ -- बोधसारण

हीरक-गिरि पर विद्युत-विलास
उल्लसित महा हिम धवल हास ।।^१

+ + +

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन
निज शक्ति तरंगायितथा,
आनंद-अम्बु-निधि शोभन ।^२

प्रत्यभिज्ञादर्शन में 'शिव' तत्त्व अपनी इसी महाचिति शक्ति द्वारा सृष्टि स्थिति, ध्वंस, तिरोभाव और अनुग्रह नामक पांच क्रीडाओं में निमग्न रहा करता है । 'शिव' की इसी आनन्दमयी क्रीडा के फलस्वरूप जगत की सृष्टि होती है ।^३

'प्रसाद' जो है भी महाचिति के लीलामय आनंद से ही सृष्टि का विकास माना है --

कर रही लीलामय आनंद,
महाचिति सजग हुई सो व्यक्त,
विश्व का उन्मोलन अभिराम,
इसी में सब होते अनुरक्त ।^४

सम्पूर्ण सृष्टि उसी की इच्छा का परिणाम है --

काम मंगल से मंडित श्रेय,
सर्ग इच्छा का है परिणाम,^५

१- कामायनी, पृ० २५४

२- वही, पृ० २८६

३- 'इत्थं सृष्टि स्थिति ध्वंस तिरोभाव मनु ग्रह ।

इति पंचसु कर्तव्यं शिवत्वं संविदात्मनः ।।' -- तंत्रालोक ७।४।२४

४- 'भोक्तैव भोग्य भावेन सदा सर्वत्र संस्थितः

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनसिद्धं जगत ।' -- स्पन्द कारिका ३।२।३

५- कामायनी, पृ० ५३

६- वही (श्रद्धा) , पृ० ५३

‘प्रसाद’ ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार ही शिव को सृजन और संहार दोनों कार्यों को करने वाला माना है ---

‘लीला का स्पन्दित वाह्लाद,
वह प्रभापुंज चित्तिमय प्रसाद,
आनंद पूर्ण ताण्डव सुन्दर,
फरते थे उज्ज्वल असीकर,
बनते तारा, छिम्कर, दिनकर,
उड़ रहे धूलि-कण थे भूधर,

संहार-सृजन से युगल पाद--

गतिशील अनाहत हुआ नाद ॥

विखरे असण्ड ब्रह्माण्ड गोल,

युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल,

विद्युत कटाक्ष चल गया जिघर,

कंपित संसृति बन रही उधर,

चेतन परमाणा अनंत विखर,

बनते विलीन होते जाण भर,

यह विश्व मूलता महादोल,

परिवर्तन का पट रहा सोल ॥^१

इस प्रकार प्रसाद ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुरूप ही अपने ‘ब्रह्म’ का स्वरूप रक्खा है उन्होंने प्रत्यभिज्ञा दर्शन में निरूपित आत्मा को महाचिति की संज्ञा दी है जो सर्वथा लीलामय आनंद करती रहती है वह ब्रह्मचित्तिमय, आनंद स्वरूप, तथा अनंत आलोक की अक्षयनिधि है । वह मलों और कंचुकों के अवगुण्ठन को हटाकर , ज्योत्स्ना की लहरों में मस्ती से विचरता हुआ अनंत सागर के समान दिखाई पड़ता है ---

'चांदनी सदृश खुल ग जाय कहों,
 अवगुंठन आज खरता सा,
 जिसमें अनंत कल्लोल मरा,
 लहरों में मस्त विचरता सा --
 अपना फेनिल फन पटक रहा,
 मणियों का जाल छुटाता सा,
 उन्मिद्र दिखाई देता हो,
 उन्मत्त हुआ कुछ गाता गा ?^१

जीव

ब्रह्म समस्या से सम्बद्ध जीव की समस्या भी दर्शन की एक प्रमुख समस्या है । इसके स्वरूप का निर्धारण भी विभिन्न कौटियों में हुआ है ।

'चार्वाक' दर्शन में चैतन्यविशिष्ट देह को ही 'आत्मा' माना गया है^२ । इस दर्शन के अनुसार देह की चेतनता भिन्न भिन्न जड़ पदार्थों के संघात का परिणाम है । जिस प्रकार दो चार वस्तुओं के मिला देने से प्रत्येक में मादक शक्ति न होने पर भी उनके सम्मिश्रित त्वत्त्व में मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार जड़भूतों के विशेष विन्यास से उसमें चैतन्य उत्पन्न हो जाता है^३ । इस दर्शन में जीवात्मा को नश्वर माना गया है । जैसे जल के ऊपर बूले देल पड़ते हैं और शीघ्र ही स्वयं नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव भी क्षणभंगुर है ।

'जैन दर्शन' में भी 'चेतना' को ही जीव का लक्षण माना गया है^४ । लेकिन चार्वाक दर्शन की भांति यह चैतन्य आकस्मिक नहीं है । यह द्रव्य में निहित उसका शाश्वत स्वरूप धर्म है । जैनदर्शन में 'जीव' को नित्य परिणामी तथा संकोच

१- कामायनी, पृ० ६८

२- 'चैतन्य विशिष्टः कायः पुरुषः' ---- बृहस्पति सूत्र

३- 'किण्वादिम्योमदशक्तिवद विज्ञानम्' -- बृहस्पति सूत्र

४- 'जल बुद बुद्धिजीवाः' -- बृहस्पति सूत्र

५- 'चेतना लक्षणो जीवः' -- षण्दर्शन समुच्चय -- गुण रत्न की टीका

और विस्तार शील माना गया है । एक ही जीव जब हाथी के शरीर में प्रवेश करता है तो वह हाथी के बराबर (विशाल-विस्ताररूप) हो जाता है और जब वही एक चींटी के शरीर में प्रवेश करता है तो चींटी के अनुरूप सीमित आकार का हो जाता है । इसीलिए इसे अस्तिकाय (विस्तार युक्त) भी कहा जाता है । यह नित्य और चेतन द्रव्य है । यह निर्विकल्प और सविकल्प ज्ञान से युक्त, शारीरिक मानसिक, तथा इन्द्रिय जन्य शक्ति से संयुक्त रहा करता है । जैन दर्शन में साधना स्तर की दृष्टि से जीव की दो कोटियां मानी गई हैं --

(१) बद्धजीव या संसारी जीव (कर्म पुद्गल से युक्त बंधन ग्रस्त)

(२) मुक्त जीव (कर्मपुद्गल से शुन्य 'लोकाकाश' के ऊपर स्थित)

स्थूल शरीर का नाश होने पर बन्धन-ग्रस्त जीव कर्मपुद्गल से बनी हुई एक सूक्ष्मदेह में रहता है, और इसके सहारे एक नये स्थूल शरीर में प्रवेश कर जाता है । मुक्त जीव कर्म से बनी हुई देह का परित्याग कर ऊपर की ओर जाता है और मदा के लिए 'लोकाकाश' के ऊपर स्थिर हो जाता है । इस प्रकार मुक्त जीव बिल्कुल 'निर्बन्ध' हो जाते हैं । ^{संसारि जीव} कर्म-पुद्गल से युक्त होते हैं ।

बौद्ध दर्शन में चेतना के अविच्छिन्न प्रवाह को आत्मा (जीव) माना गया है । इसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है । यह पंचस्कन्धों के संघात से उत्पन्न होने वाली शक्ति है ^१ । इस प्रकार बौद्ध दर्शन में आत्मा को शरीर और मन का योग माना गया है । इसमें परिवर्तनशील नाम-रूप मय आत्मा की सत्ता स्वीकार की गई है । पुनर्जन्म की संधि बैठाने के लिये बौद्ध दार्शनिकों ने आत्मा की नित्यता का निषेध करते हुए भी उसकी अविच्छिन्नता को स्वीकार किया है । कर्म को जन्म जन्मान्तरों को जोड़ने वाली कड़ी माना गया है । 'बुद्ध' ने दीपक की लौ का उदाहरण देकर पुनर्जन्म की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है । दीपक की लौ में एक अविच्छिन्नता पाई जाती है । उसी प्रकार जीवन के चैतन्य में भी अविच्छिन्नता पाई जाती है । चैतन्य की अन्तिम लौ अगले जीवन के चैतन्य की प्रथम लौ को जन्म दे देती है ।

१- भारतीय तत्त्व विन्तन -- जगदीशचन्द्र जैन

न्याय-वैशेषिक में आत्मा को अनादि, अनन्त, अविच्छिन्न, नित्य तथा विमु माना गया है^१। यह शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे है^२। न्याय वैशेषिक में आत्म तत्त्व के दो रूप माने गये हैं --

१- परमात्मा

२- आत्मा ।

‘आत्मा’ का प्रयोग ‘जीवात्मा’ के रूप में हुआ है जो अनेक है। परमात्मा को ‘अत्मन्-क-प्रयोम्-जिबन्-जगत्कर्ता’ के रूप में माना गया है जो अनेक न होकर एक है। सांख्य दर्शन में आत्मा को ‘पुरुष’ की संज्ञा दी गयी है, जो शरीर इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न नित्य तथा सर्वव्यापी चैतन्य स्वरूप है। यह पुरुष तत्त्व एक न होकर अनेक है। इस प्रकार इस दर्शन में अनेक आत्माओं (पुरुषों) के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। जब यही आत्मा (पुरुष) शरीर और ज्ञानेन्द्रियों से युक्त हो जाता है तब उसकी ‘जीव’ संज्ञा हो जाती है। आत्मा (पुरुष) स्वयं कर्ता या मोक्ता नहीं है, क्योंकि वह अपरिणामी है। ‘जीव’ कर्ता और मोक्ता है। अनिरुद्ध ने ‘जीव’ को शरीर, ज्ञानेन्द्रियों, मन, अहंकार और बुद्धि से परिच्छिन्न ‘पुरुष’ कहा है^३। जब योग-बल से शरीर आदि उपाधियां नष्ट हो जाती हैं, तब ‘जीवात्मा’ ‘पुरुष’ हो जाता है।

‘योग’ में आत्मा को नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त माना गया है। बुद्धि-प्रभाव से यह बन्धन में पड़ जाता है। ब जब बुद्धि को वृत्तियों का आरोप आत्मा पर न हो कर कारणभूत प्रकृति में हो जाता है तब आत्मा मुक्त हो जाता है।

शांकर वेदान्त के अनुसार कर्म-फल का भोग करने वाला आत्म चैतन्य ही ‘जीव’ है जो इन्द्रिय-समूह का अधिष्ठाता है^४। यह चैतन-तत्त्व आत्मा का ही अभिन्न रूप है जो निर्विशेष, चैतन्य तथा ज्ञानस्वरूप है। जब यही आत्मा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अविद्यादि उपाधियों से परिच्छिन्न हो जाता है तब उसकी

१- ‘अविच्छिन्न सद्मावं वस्तु यदेश कालतः ।

तन्मित्य विमुचेच्छन्तीत्यात्मनो विमु नित्यता ।’ -- सर्वदर्शन संग्रह

२- ‘शरेन्द्रिय बुद्धिम्यः पृथगात्मा विमुर्ध्वः’ -- सर्वदर्शन संग्रह

३- ‘सांख्य प्रवचन सूत्र, सांख्य सूत्र वृत्ति’ -- वेदान्ती महादेव

४- अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रिय पंचराध्यक्षः कर्मफल सम्बन्धी ।’ -- शां०भा०

संज्ञा जीव' हो जाती है^१। इस देहस्थ जीवात्मा के तीन शरीर होते हैं --

(१) स्थूल शरीर ।

(२) सूक्ष्म शरीर ।

(३) कारण शरीर ।

स्थूल शरीर पंचभूतों से निर्मित है, सूक्ष्मशरीर पंचप्राण, मन, बुद्धि तथा दशेन्द्रियों से कारण शरीर अविद्या जनित आवरण से बनता है। जब 'जीव' इन तीनों शरीरों से मुक्त, अविद्यादि उपाधियों से रहित हो जाता है तब वह पुनः अपने मूल रूप-- आत्मा -- को प्राप्त कर लेता है^२। इस प्रकार वेदान्त में 'जीव' और 'ब्रह्म' को एक ही माना गया है^३।

'शैव दर्शन' में 'जीव' का ब्रह्म(शिव) के साथ भेदाभेद सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार अग्नि-पिण्ड से प्रस्फुटित होने वाले स्फुलिंग अग्नि पिण्ड से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं, उसी प्रकार 'जीव' भी ब्रह्म(शिव) से भिन्न होता हुआ भी अभिन्न है। इस प्रकार 'जीव' और ब्रह्म (शिव) में 'भेदाभेद' संबंध है।

शैवागमों में 'ब्रह्म' (शिव) को 'स्थूल ब्रह्म' भी कहा गया है। जब ब्रह्म(शिव) को उपासक और उपास्य रूप में क्रीड़ा करने की इच्छा होती है तो वह अपने आप में इच्छाशक्ति से दामोदर उत्पन्न करता है जिसके फलस्वरूप शिव और शक्ति की स्मरसता भंग हो जाती है, उनकी साम्यावस्था में व्यतिक्रम आ जाता है तथा 'स्थूल ब्रह्म' के दो रूप हो जाते हैं --

१- शिव (विश्वोत्तीर्ण रूप)

२- जीवात्मा (विश्वात्मकरूप)

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में 'जीव' को 'पशु' भी कहा गया है। जब 'शिव' का 'वह' अंश पुरुष रूप जीवात्मा में परिवर्तित होकर षट् कंबुकों (माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति) तथा तीन मलों (आणव, कर्म, मायीय) पाशों में बाँध हो जाता है तब उसकी संज्ञा 'पशु' हो जाती है^४। पाश-बद्ध 'जीव' की चार कोटियाँ हो

१- पर एव आत्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यायुपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्यु पचर्यते ॥ --- शा० मा०

२- मायानिर्मितस्य जीवस्य अविद्याप्रत्युपस्थापितस्य--
अविद्यानाशे स्वभावरूपत्वात् ॥ --- शा० मा०

३- ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः --- शा० मा०

४- तंत्रा लौक, भाग १, पृ० २१६

जाती हैं --

- (१) सकल -- (आणव+कर्मण+मायीय)
- (२) प्रलया कल -- (आणव + कर्मण मल)
- (३) विज्ञानाकल -- (आणवमल-युक्त)
- (४) शुद्ध -- इसमें जीव समस्त ज्ञान, क्रिया आदि से स्वतंत्र होकर परम शिवत्व को प्राप्त कर लेता है ।

‘सकल’ जीव आणव , कर्मण और मायीय तीनों मलों से संवलित रहता है । जब साधना द्वारा वह अपने को ऊंचा उठा कर ‘प्रलयाकल’ की कोटि में चला जाता है, तब उसका मायीय मल समाप्त हो जाता है, आणव तथा कर्मण मल शेष रह जाते हैं । जब प्रलयाकल जीव और ऊंचे उठ कर विज्ञानकल जीव की कोटि में प्रवेश कर जाता है तब उसके मायीय और कर्मण मल समाप्त हो जाते हैं, केवल आणवमल शेष रह जाता है । जब ‘विज्ञानाकल’ जीव का आणवमल भी समाप्त हो जाता है, तब वह शुद्ध स्वरूप हो ‘शिवस्वरूप’ को प्राप्त कर लेता है । उसे ‘शिवो ह’ की प्रतीति होने लगती है । ‘शिवोऽह’ की इस प्रतीति तक पहुँचने में ‘जीव’ को तीन अवस्थाओं से हो कर गुजरना पड़ता है —

- (१) आणव स्थिति (भेद बुद्धिमुलक)
- (२) शाक्त स्थिति (भेदाभेद बुद्धि मुलक)
- (३) शंभव स्थिति (अभेदानुभूति मुलक)

‘आणव स्थिति’ में जीव अवसाद , अकर्मण्यता, निराशा तथा अहंमुलक स्वार्थलिप्सा आदि तामसिक वृत्तियों से पराभूत रहता है । वह सारे सुखों को अपने आप में समेट कर उसका स्कान्त भोग चाहता है । ‘शाक्त स्थिति’ ‘जीव’ की रजोमयी स्थिति है जिसमें दुःख जीव राग और विराग के आवर्त में चक्कर लगाया करता है । शंभव स्थिति जीव की सात्त्विकी स्थिति है, जिसमें वह अभेद अनुभूति में निमग्न होता हुआ , ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित कर स्वयं शिव स्वरूप हो जाता है ।

‘प्रसाद’ जी ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुरूप जीवों का स्वरूप रखा है । कामायनी में जीव या पुरुष के प्रतीक मनु हैं, जिन्होंने उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण करते हुए आनन्दस्वरूप शिव से तादात्म्य स्थापित किया है । ‘चिन्ता’ से निर्वेद तक मनु की आणवस्थिति है, जिसमें वे चिन्ताग्रस्त, निष्क्रिय, अहंवादी तथा ‘स्वार्थोलोभ’ ‘जीव’ के रूप में चित्रित किये गये हैं ।

जीवन के प्रारम्भिक दिनों में चिन्ताकुल मनु जीवनगत अमावों^१ से के दर्शन की पीड़ा से व्याकुल हो अवसाद की छाया में सो कर निष्क्रिय हो जाना चाहते हैं --

‘विस्मृति आ अवसाद धेर ले,
नीरवते बस चुप कर दे,
चेतनता ! चल जा, जड़ता से,
आज शून्य मेरा मर दे^१ ।’

जीवन से हताश मनु का जब समूचा मनोबल टूट जाता है, तब वे अलस विषाद तथा अभावमूलक अवसाद को ही जीवन का शाश्वत सत्य मान बैठते हैं--

‘मौन, नाश, विध्वंस, अंधेरा,
शून्य बना जा प्रकट अभाव ।
वही सत्य है अरी अमरते
तुमको यहां कहां अब ठांव^२ ।’

यहां आकर मनु परिस्थितियों की मार से बिल्कुल जर्जर हो चुके हैं और उनकी आशा का समूचा प्रकाश निराशा की घनीभूत नीहारिका में सो चुका है --

किन्तु जीवन कितना निरुपाय
लिया है देख नहीं सन्देह,
निराशा है जिसका परिणाम,
सफलता का वह कल्पित गेह ।

+ + + + +

१- कामायनी, पृ० ६

२- वही, पृ० १८

पहेली सा जीवन है व्यस्त,
 उसे सुलझाने का अभिमान,
 बताता है विस्मृति का मार्ग,
 चल रहा हूँ बनकर अनजान ।

+ + +
 क्या कहूँ, क्या कहूँ, मैं उद्भ्रान्त
 विवर में नील गगन के आज,
 वायु की मटकी एक तरंग,
 शून्यता का उजड़ा सा राज्य ।^१

अवसाद मूलक निष्क्रियता की कुहा समाप्त होने पर जब मनु का प्रसाद
 दूर होता है, तब उनमें वासनाजन्य स्वार्थप्रधान अहंभाव का प्रादुर्भाव होने लगता है ।
 उनकी गह्रित वासना फूटकार कर उठती है --

(क) पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ, यह स्पर्श, रूप, रस, गन्ध मरा ।
 मधु लहरों के टकराने से ध्वनि में है क्या गुंजार मरा ।

+ + +
 प्यासा हूँ, मैं अब भी प्यासा, सन्तुष्ट ओष से मैं न हुआ ।
 आया फिर^{भी} वह चला गया, तृष्णा को तनिक न बैन हुआ ।^२

(ख) देवों को अर्पित मधु-मिश्रित,
 सोम अघर से छु लो,
 मादकता-दोला पर प्रेयसि,
 आजो मिल कर मू लो ।

+ + +

१- कामायनी, पृ० ४६, ५३

२- वही, पृ० ६६, ७१

इन्द्रिय की अमिलाषा जितनी,
 सतत सफलता पावे,
 जहाँ हृदय की तृप्ति विलासिनि,
 मधुर मधुर झुल गावे ।

+ + +

विश्व माधुरी जिसके सम्मुख,
 मुकुर बनी रहती हो,
 वह अपना सुख स्वर्ग नहीं है ।
 यह तुम क्या कहती हो ।

+ + +

श्रद्धे, होगी चन्द्रशालिनी,
 यह भव-रजनी मीमा,
 तुम बन जाओ इस जीवन के
 मेरे सुख की सीमा^१ ।

उनका अतृप्ते उन्हें सम्पूर्ण सुखों को अपने आप में समेट कर जीने के लिए
 वधीर हो उठता है --

(क) विश्व में जो सरल, सुन्दर हो विभूति महान,
 सभी भरी है, सभी करती रहे प्रतिदान ।
 यही तो मैं ज्वलित वाङ्मय-वहिन नित्य अशान्त,
 सिन्धु लहरों सा करें शीतल मुझे सब शान्त^२ ॥

+ + + +

(ख) यह जीवन का वरदान मुझे
 दे दो रानी अपना झुलार,
 केवल मेरी ही चिन्ता का,
 तब चित्त वहन कर रहे भार ।

१- कामायनी, पृ० १२८, १३०, १३१, १३६ ।

२- वही, पृ० ८५

मेरा सुन्दर विश्राम बना
 सृजता हो मधुमय विश्व स्क,
 जिसमें बहती हो मधु धारा,
 लहरें उठती हों एक एक ।
 यह जलन नहीं सह सकता मैं,
 चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
 इस पंक्थित की रचना में
 मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व^१ ॥
 (ग)^२ इहे मुझे वह वस्तु चाहिये जो मैं चाहूँ,
 तुम पर हों अधिकार, प्रजापाति न तो वृथा हूँ ।

+ + +

क्रन्दन का निज अलग एक आकाश बना हूँ,
 उस रोदन में अट्टहास हों, तुमको पाऊँ ॥^२

अहं का आवेग विवेकजन्य अनुभूतियों का सहज स्पर्श पा कर अन्तर्मुखी हो जाता है, और वहाँ से आत्म-निरीक्षण को प्रेरणा प्राप्त कर जीवन की गहराई में पैठने लगता है । ज्यों-ज्यों व्यक्ति जीवन की गहराई में पैठता जाता है, त्यों-त्यों उसके संकुचित 'स्व' की सीमा समष्टि सीमा में संक्रमित होती जाती है । यहीं से जीव आणवस्थिति से शाक्तस्थिति में प्रवेश करता है । परिस्थितियों की ठोकर खाकर मनु का जीवन निर्वेद की दिशा में मुड़ जाता है । दोग, ग्लानि और पश्चात्ताप के मंफकावात में वे अपनी राह भूल जाते हैं । जीवन की ठेस उन्हें भावुक विचारक बना देती है, वे आकर्षण-विकर्षण के बीच व्याकुल हो उठते हैं । भेदाभेद (अपने-पराये का भाव) को लेकर उनके अन्तर्मन में गहरा अन्तर्द्वन्द्व छिड़ जाता है । एक ओर उनके हृदय में 'श्रद्धा' और 'मानव' को लेकर आसक्तिमूलक अमेद भावना (आत्मीयता) का स्नेहिल दीपक जल उठता है, दूसरी ओर 'इड़ा' और सारस्वत निवासियों के प्रति प्रतिशोध मूलक भेद-भावना (परायापन) की ज्वाला घथक उठती है --

१- कामायनी, पृ० १४८, १५३

२- वही, पृ० १६४, १६५

श्रद्धा । तू जा गई मला तो ।

+ + +

आंस बन्द कर लिया जोम से,

दूर दूर ले चल मुझको;

इस मयावने अन्धकार में,

खो दूँ कहीं न फिर तुझको ।

+ + +

हृदय बन रहा था सीपी सा,

तुम स्वाती की बूँद बनी,

मानस शतदल झूम उठा, जब,

तुम उसमें मकरन्द बनी ।

तुमने इस सूने पतझड़ में

मर दी हरियाली कितनी ;

मैंने समझा मादकता है

तृप्ति बन गयी वह इतनी ।

+ + +

कितना है उपकार तुम्हारा

आश्रित मेरा प्रणय हुआ;

कितना आभारी हूँ, इतना

सवेदनमय हृदय हुआ ॥

यह कुमार मेरे जीवन का

उच्च अंश कल्याण कला;

कितना बड़ा प्रलौभन मेरा

हृदय सौह बन जहाँ ढला^१ ॥

१- कामायनी, पृ० २१८, २२३, २२६, २२८

ये श्वापद मे से हिंसक अधीर,

कोमल शावक वह बाल धीर,

सुनता था वह वाणो शीतल

कितना डुलार, कितना निर्मल

कैसा कठोर है तव हृत्तल,

वह इड़ा कर गई फिर भी क्ल

तुम बर्बा रही हो अभी धीर,

छुट गया हाथ से आह ! तीर^१ ।।

जब 'मनु' 'अहंवृत्ति' की संकुचित सीमा को पार कर व्यापक भाव-भूमि में प्रवेश करते हैं, तब उनका सारा 'स्वत्व' ,परत्व' में पर्यवसित हो जाता है । उनका मेदभेद (अपने-पराये का) भाव समाप्त होने लगता है, और उनका आकुल हृदय पुकार उठता है --

'मेरे ! हां वे सब मेरे थे,

जिनसे छूट चला आया हूँ;

वे नीचे छूटे समुद्र पर

मूल नहीं उनको पाया हूँ ।'^२

उस विराट सत्ता के रहस्य से अवगत हो जाने पर मनु की सारी द्वयता समाप्त हो जाती है, वे अपने को चेतन-समुद्र तथा ज्योत्सना-जलनिधि स्वरूपे शिव का अभिन्न अंश समझने लगते हैं --

'चेतन समुद्र में जीवन

लहरों सा बिखर पड़ा है;

कुछ छाप व्यक्तिगत अपना

निर्मित आकार सड़ा है ।

इस ज्योत्सना के जलनिधि में,

बुद बुद सा रूप बनाये;

नकात्र दिखायी देते,

अपनी आभा चमकाये ।'^३

१- कामावली, पृ० २४८

२- वही, पृ० २५६

३- वही, पृ० २८८

वे अमेद अनुमति से ओत-प्रोत हो जाते हैं --

हम अन्य न और कुटुम्बी

हम केवल एक हमों हैं,

तुम सब मेरे अवयव हो,

जिसमें कुछ नहीं कमी है^१ ।

इस प्रकार पुरुष (जीव) प्रतीक मनु आणव तथा शाक्त की अवस्थाओं को पार कर, शान्त स्थिति में पहुँच कर स्वयं शिवमय हो जाते हैं ।

-०-

१- कामायनी, पृ० २८७

(प्रथम खण्ड)

तृतीय - अध्याय

-०-

जग,माया,मोक्ष आदि की समस्या

तृतीय अध्याय

-०-

जगत, माया, मोक्ष आदि की समस्या

दार्शनिक समस्याओं में जगत की समस्या भी ब्रह्म और जीव की समस्याओं के समान ही एक महत्वपूर्ण समस्या रही है। जगत-सत्ता के सन्दर्भ में मुख्यरूप से दो प्रश्न उठते हैं -- पहला है उसको उत्पत्ति (विकास-क्रम) का प्रश्न और दूसरा है, उसकी स्थिति (नित्यस्वरूप) का प्रश्न। जहाँ तक अस्तित्व का प्रश्न है, उसके विषय में मुख्यरूप से तीन विचार-धारायें प्रचलित हैं-- चिन्तकों का एक वर्ग जगत को सत्य मानता है, दूसरा वर्ग उसे अगत्य मानता है और तीसरा वर्ग जगत को सत्य तथा अगत्य दोनों मानता है^१।

‘प्रसाद’ की जगत सम्बन्धी मान्यताओं की विवेचना के पूर्व जगत की ‘उत्पत्ति’ (विकास) और ‘स्थिति’ के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन की मान्यताओं का सिंहावलोकन अधिक समीचीन होगा।

‘चार्वाक’ दर्शन में जगत को नित्य तथा चार भूतों-- (वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी) का आकस्मिक संघात माना गया है। ‘जैन’ दर्शन में जगत का निर्माण विभिन्न प्रकार के द्रव्यों के संयोग से माना गया है, ^{जिनके} दो धर्म माने गये हैं--

(१) स्वरूप या नित्य धर्म -- गुण

(२) आगन्तुक तथा परिवर्तनशील धर्म--पर्याय।

स्वरूप या नित्य धर्म ‘द्रव्य’ के शाश्वत स्वरूप का निर्धारण करते हैं। वे ‘द्रव्य’ में सदा सन्निहित रहने वाले नित्य गुण हैं, जैसे चैतन्य, आत्मा का नित्य गुण है

१- ‘कोऊ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोऊ माने।’

आगन्तुक धर्म परिवर्तनशील हुआ करते हैं, वे द्रव्य में नित्य निविष्ट नहीं रहते, बल्कि आते-जाते रहते हैं। इसीलिए इन्हें 'पर्याय' कहते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन का द्रव्य गुण और 'पर्याय' का एक संघात है^१। चूंकि द्रव्यों के संयोग से सृष्टि होती है और 'द्रव्यों' में गुण नित्य तथा पर्याय परिवर्तनशील होते हैं। अतः सृष्टि भी गुण की दृष्टि से नित्य तथा पर्याय की दृष्टि से परिवर्तनशील है।

बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों ने अपना-अपनी दृष्टि से जगत-सत्ता पर विचार किया है। जगत-सत्ता के रूप महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर बौद्ध धर्म मुख्यतः चार दार्शनिक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया है --

- (१) वैभाषिक -- वाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद।
- (२) सौत्रान्तिक -- वाह्यार्थानुमेयवाद।
- (३) योगाचार -- विज्ञानवाद।
- (४) माध्यमिक -- शून्यवाद।

वैभाषिक दर्शन में वाह्य जगत की सत्ता को स्वीकार करते हुए उसे धर्मों का एक संघात माना गया है^२।

सौत्रान्तिक मत में चित्त तथा वाह्य जगत दोनों की सत्ता को स्वीकार किया गया है। इस दर्शन के अनुसार वाह्य जगत की प्रतीति ज्ञानमूलक अनुमेय पर आधारित है, अतः इसे वाह्यानुमेयवाद भी कहते हैं। विज्ञानवादी योगाचार दर्शन के अन्तर्गत भौतिक जगत को नितान्त मिथ्या मानकर चित्त को ही सत्य पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। माध्यमिक शून्यवादियों ने चित्त को भी स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी है। इनके अनुसार न वाह्यार्थ है, न विज्ञान, केवल शून्य ही परमार्थ सत्य है, और जगत की सत्ता प्रातिभाषिक सत्ता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में जगत को परमाणुओं से युक्त भूत द्रव्यों का संघात माना गया है, जिनकी संख्या चार है -- धातु, जल, पावक और स्मीर। वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थ माने गये हैं -- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा भाव। इन सातों पदार्थों में द्रव्य का स्थान सर्वप्रमुख है। जिसकी संख्या नव

१- 'गुण पर्याय वद् द्रव्यम्' -- तत्त्वार्थधिगम सूत्र ५।३८

२- महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ० १५२

३- 'द्रव्यगुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषं कम्'।

समवायस्तथाभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥

मानी गई है-- पृथ्वी, अग्नि, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिश, जीव और मनस् । इन्हीं नित्य द्रव्यों द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति होती है । इनके मूल परमाणु नित्य तथा अविनाशी हैं ।

सांख्य-योग दर्शन में जगत् को कार्य-कारण सिद्धान्त पर आधारित कतिपय उपादानों का संयोग माना गया है । इस दर्शन के अनुसार संसार का मूल कारण प्रकृति है जो पुरुष के सहयोग से सृष्टि करती है । इस प्रकृति के तीन गुण हैं --

(१) सत्त्व

(२) रज

(३) ताम्र

इन गुणों का द्योम ही सृष्टि और साम्यावस्था ही प्रलय है । सृष्टि के पूर्व प्रकृति के ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं । पुरुष के संयोग से प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था में विदार(गुण-द्योम) होता है । इसी गुण-द्योम के परिणामस्वरूप महत्(बुद्धि) से लेकर पंचभूतों तक २४ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है जो सृष्टि के उपादान कारण होते हैं । प्रलयावस्था में सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति में समाविष्ट हो जाती है । इस प्रकार प्रकृति के संकोच और विस्तार-क्रम से सृष्टि का आविर्भाव तथा तिरोभाव हुआ करता है ।

'मीमांसा' दर्शन में जगत् को शाश्वत सत्य माना गया है । इस दर्शन के अनुसार संसार सदा वर्तमान रहता है, उसका नाश नहीं होता^१ ।

'शंकरवेदान्त' में ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या माना गया है^२ । तत्त्व-विवेचन के मन्दर्म में श्री शंकराचार्य ने तीन प्रकार की सत्तायें मानी हैं --

(१) पारमार्थिक सत्ता ।

(२) प्रातिभासिक सत्ता ।

(३) व्यावहारिक सत्ता ।

'जगत्' को उन्होंने व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत रखा है जिसके अनुसार हमारी स्थूल इन्द्रियों के लिए तो 'जगत्' की सत्ता सत्य है, लेकिन तत्त्व ज्ञान हो जाने पर उसका अस्तित्व असत्य सिद्ध हो जाता है, जिस प्रकार अज्ञान दूर होने पर

१- 'श्लोक वार्तिक' -- बोधम्भा संस्करण

२- 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' -- शं०भा०

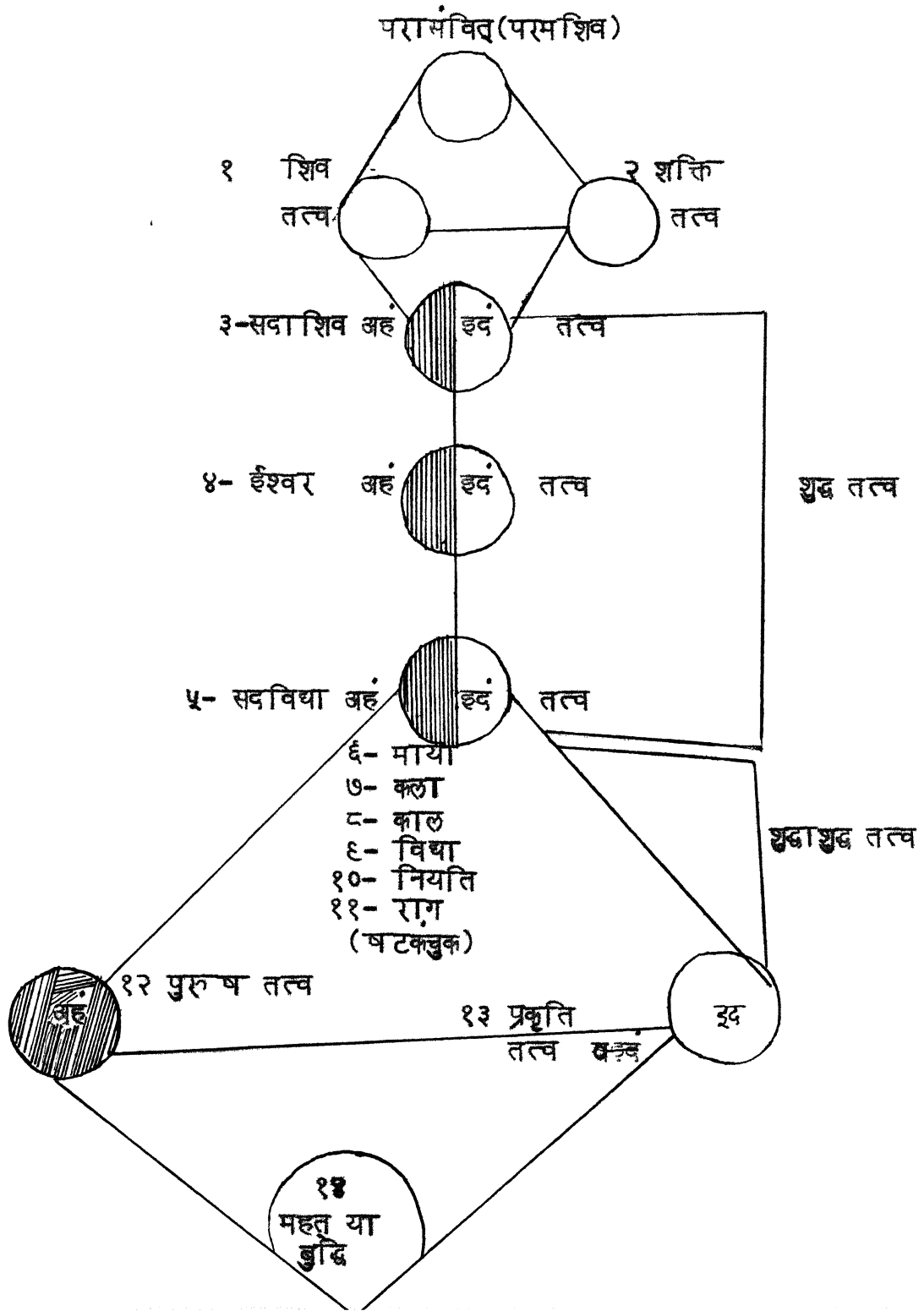
रज्जु में सर्प या सीपी में चांदी के भ्रम का निवारण हो जाता है । वेदान्त सार में विकास-क्रम की दृष्टि से तमप्रधान विक्षेप शक्ति संयुक्त अज्ञानोपहित चैतन्य को उत्पत्ति मानी गई है , पुनः चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति मानी गई है^१ । ईश्वर अपने लीला के लिए इस जगत् की सृष्टि करता है । इसकी उत्पत्ति और विकास का क्रम शरीर में होने वाली श्वास-प्रश्वास की क्रिया की भांति है ।

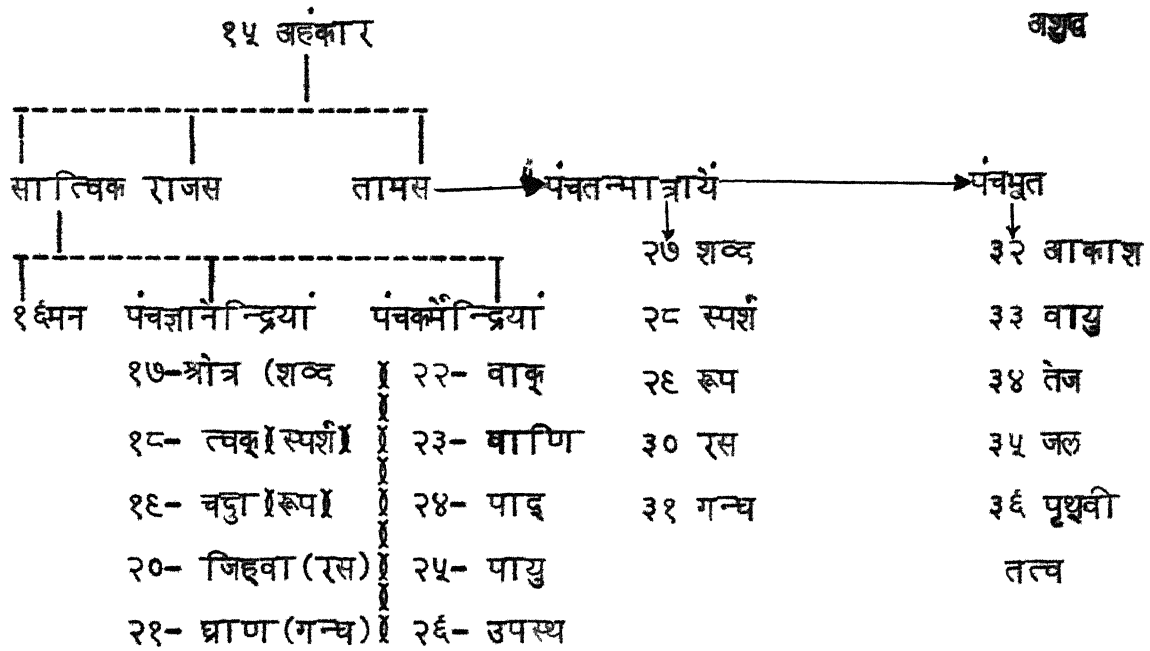
तैत्तिरीयोपनिषद् में भी आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष को उत्पत्ति मानी गई है^३ । विशिष्टाद्वैतवादी श्रीरामानुजाचार्य ने सृष्टि को वास्तविक और सत्य माना है । उनके अनुसार यह जगत् उतना ही सत्य है, जितना ब्रह्म । शैव-दर्शन में सृष्टि को शिव-शक्ति के स्वरूप का प्रसार माना गया है । परमशिव अपने विमर्शिनो शक्ति द्वारा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त किया करता है । उसका यह व्यक्त स्वरूप ही सृष्टि है । शैव दर्शन की प्रमुख शाखा प्रत्यभिज्ञादर्शन में विश्व-प्रपञ्च के विकास-क्रम को लेकर निम्नांकित छत्तीस तत्त्वों का निरूपण किया गया है --

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या (सद्विद्या), माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, महत् या बुद्धि, अहंकार (सात्त्विक, राजस, तामस) मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ) श्रोत्र जिसका स्वभाव शब्द ग्रहण करना है, त्वक्-स्पर्शगुण, चक्षु रूपग्रहण, जिह्वा- रस, घ्राण-गन्ध, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ (त्वक्, पाणि, पाय, पायु, उपस्थ) पञ्च तन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) पञ्चमहाभूत (आकाश--शब्द नामक तन्मात्रा से उद्भूत, वायु--(स्पर्श + शब्द तन्मात्रा से आविर्भूत), तेज या अग्नि--(शब्द + स्पर्श + रूप), जल--(शब्द + स्पर्श + रूप + रस), पृथ्वी--(शब्द + स्पर्श + रूप + रस + गन्ध) ।

- १- तमः प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहित चैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते । -- श्रीसदानन्दः वेदान्त सार
- २- यथा चोच्छ्वास प्रश्वासादयोऽनभिसंधाय बाह्यं किञ्चित् प्रयोजनानन्तरं स्वभावादेव भवन्ति, एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनानन्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपं प्रवृत्तिर्भविष्यति । -- शांभा ०२।१-३३
- ३- स्तस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अपोऽद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या औषधयः । औषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । --तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्द बल्ली, प्रथम अनुवाक)

प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक जिन कुल छत्तीस तत्त्वों का निरूपण किया गया है, उनमें प्रथम शिव से लेकर सद्बिद्या या शुद्धबिद्या तक 'शुद्ध तत्त्व' माया तत्त्व से लेकर पुरुष और प्रकृति तक 'शुद्धाशुद्ध तत्त्व' और महत् (बुद्धि) से पृथ्वी तक 'अशुद्ध तत्त्व' माने गये हैं। प्रकृति-पुरुष से लेकर पंचभूत तक पच्चीस तत्त्वों का निरूपण सांख्यदर्शन के बिल्कुल अनुरूप ही हुआ है। उपर्युक्त तत्त्वों की तालिका इस प्रकार दी जा सकती है --





प्रत्यभिज्ञादर्शन में निरूपित उपर्युक्त सम्पूर्ण तत्त्वों की सन्निहित शक्ति के अन्तर्गत ही मानी गई है जो शिव का स्फुरित स्वरूप है। 'परमशिव' स्वयं हो कृतीस तत्त्वों के रूप में जगत रूप में आभासित होता है। वह अपने आत्म-विस्तार का यह काम स्वशक्ति के सहयोग से किया करता है। यह सम्पूर्ण सृष्टि उसकी शक्ति का ही विस्तृत रूप है। शिव अकेला सृष्टि-रचना में समर्थ नहीं होता, अतः वह शक्ति का सहयोग लेता है। शक्ति स्फूर्ति (विमर्श) बन कर विन्दु का रूप धारण करती है। 'शिव' प्रकाश या तेजस के रूप में उसके भीतर प्रवेश करता है। शिव-शक्ति के इस सम्मिलन से विन्दु को वृद्धि होने लगती है, जिससे 'नाद' नामक तत्त्व उत्पन्न होता है। 'नाद' और 'विन्दु' की इस ऐक्यावस्था -- संयुक्त विन्दु -- को स्त्री और पुरुष के बीच आकर्षण (आमक्ति) का हेतु होने के कारण इसे 'काम' भी कहा गया है। इस संयुक्त विन्दु के अतिरिक्त दो विन्दु और माने गये हैं --

१- श्वेत विन्दु ।

२- रक्त विन्दु ।

इन दोनों के संयोग से 'कला' नामक तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसी काम (नाद+विन्दु) और कला (श्वेतविन्दु+ रक्तविन्दु) के सहयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार शिव की यह विमर्शित शक्ति जिसे आगम ग्रन्थों में 'परावाक्' या 'वामा' भी कहा गया है, इस नाना रूपात्मक सृष्टि को अपने में से

वमन कर देती है^१। शिव की इस विमर्शिनी (स्पन्द) शक्ति के मुख्यतः दो कार्य होते हैं --

(१) उन्मेष (उन्मीलन)

(२) निमेष (निमीलन)

शक्ति की उन्मीलन और निमीलन को ये प्रक्रियायें साथ-साथ चला करती हैं।

जब बाह्य जगत का उन्मीलन होता है, तब अन्तर्जगत का निमीलन होता है। जब अन्तर्जगत का उन्मेष होता है, तब बाह्य जगत का निमेष होता है। इस प्रकार शक्ति की इस उन्मेष और निमेष की प्रक्रिया द्वारा सृष्टि का उदय और विलय हुआ करता है। शिव की यह स्फुरता शक्ति पांच प्रकार की होती है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है --

शक्ति नाम	लक्षण
१- चित् शक्ति	प्रकाश रूपता ^३
२- आनन्द शक्ति	स्वातन्त्र्य ^४
३- इच्छा शक्ति	कर्मकार अर्थात् इच्छानुसार रूप बदलना ^५
४- ज्ञान शक्ति	सर्वज्ञता (आमर्श रूपता) ^६
५- क्रियाशक्ति	सर्व कर्तृत्व ^७

१- आत्मनः स्फुरणं पश्येत् यदा सा परमा कला ।

अम्बिका रूपमापन्ना 'परावाक्' सुदीरिता ॥

बीजमावस्थितं विश्वं स्फुटी कर्तुं यदोन्मुखी ।

बामा विश्वस्य वमनादं कुरुता गता ॥ -- योगिनी हृदयम् (१, ३६-३७)

२- तदेवमेकैवोभयरूपापि शक्तिः कदाचिदुन्मेषप्रधानतया व्यवहियते कदाचिन्निमेषप्रधानतया ।

ततश्च यस्य संबन्धिन्याः स्वरूपनिमेषात्मनः कार्योन्मेष प्रधानायाः शक्तेर्होतोजगतो विश्वस्य शिवादेर्धरायन्तस्योदयोऽभेदसारतानिमज्जनसत्त्वो नानावैचित्र्यशाली भेदरूपः सर्गः स्वरूपो-
न्मेषात्मनश्च बाह्यतानिमेषप्रधानायाः शक्तेर्जगतः प्रलयोऽभेदमयतौदयात्मा विचित्रमेद रूपता-
संहार इति प्रलयोऽप्युदय रूप उदयोऽपि च प्रलयरूप इति व्याख्येयम् -- दामराजः स्पन्दनि-
र्णय

३- प्रकाशरूपता चिच्छक्तिरीति -- तन्त्र सार

४- स्वातन्त्र्यमानन्दशक्तिरिति -- तन्त्रसार

५- तत्त्वबत्कार इच्छाशक्तिः कर्मकारस्तु इत्थम्बुध्बालक्षणः -- तन्त्रसार

६- आमर्शात्मिकता ज्ञानशक्तिः । ईषत्तया वेद्योन्मुखता आमर्श इति । -- तन्त्र सार

७- सर्वाकारयोगित्वं क्रिया शक्तिरिति -- तन्त्र सार

शक्ति का यह स्वरूप शिव से भिन्न नहीं है । दोनों का एक-दूसरे के साथ अभेद सम्बन्ध है^१ । उपर्युक्त शक्तियों के माध्यम से निर्विकार शिव जगत के रूप में परिणत हो जाता है । जब उसकी इच्छा एक से अनेक होने की होती है, तब वह अपनी शक्ति को स्पन्दित करता है । शक्ति का यह 'स्पन्दन तत्त्व' हो जगत की सत्ता का मूल कारण है और इसी की सहायता से अद्वैतशिव अनेकरूपों में आभासित हो उठता है ।

व्यावहारिकता की दृष्टि से इस स्पन्दतत्त्व (विमर्शिनी शक्ति) के दो रूप माने गये हैं --

१- सामान्य रूप ।

२- विशेष (गुणसम्भूत) रूप ।

'स्पन्दतत्त्व' अपने सामान्यस्वरूप द्वारा सभी तत्त्वों--भावजगत में अविच्छिन्न रूप से स्फुरस होकर विद्यमान रहता है । यह अहं का बोधक तथा आन्तरिक ज्ञान और पूर्णत्व का परिचायक है । इसके द्वारा जगत के परमकारणभूत सत्य(शिव) इस तथ्य से अवगत हो जाते हैं कि -- मेरा स्वरूप यह है, यह मैं हूँ, इसी से सब प्रभूत होता है, इसी में सब प्रलोन हो जाता है । 'स्पन्दतत्त्व' का विशेषरूप--सत्त्व, रज, तम, गुणों से सम्भूत मायिक जगत का कारण होता है । इससे देहादि अभिमान तथा पार्थक्य -- भावना की उद्भावना होती है ।^४

१- न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी । शिवः शक्तस्तथाभावानिच्छया-
कर्तुमीहते । शक्तिः शक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वण्यते । इति । --शिवदृष्टि

२- गुणादिस्पन्दनिष्पन्दाः

सामान्यस्पन्दः सञ्ज्ञात् ।

लब्धात्मलाभाः सतत

स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ।। --स्पन्दकारिका (दामराजकृतनिर्णयोपेताः)

३- परमकारणभूतस्य सत्यस्य आत्मस्वरूपस्य अयमहमस्मि, अतः सर्वं प्रभवति, अत्रैव च प्रलीयते इति प्रत्यक्मर्शात्मको निजो धर्मः सामान्य स्पन्दः इति ।

--स्पन्दकारिकाविवृति २।५

४- विशेष स्पन्दाः अनात्मभूतेषु देहादिषु आत्माभिमानमुद्भावयन्तः
परस्परभिन्नमायीम प्रमातृविषयाः सुखितोऽहं दुःखितोऽहम् इत्यादयो
गुणमयाः प्रत्ययप्रवाहाः संसार हेतवः इति ।

--स्पन्दकारिका विवृति २।५

शक्ति का यह स्पन्द स्वरूप विमर्श तत्त्व ही शक्ति के स्वरूप, स्वभाव और धर्म, व्यापार का स्फुरण तथा दृश्यमान जगत के वैचित्र्य का मूल कारण है । इसी की सहायता से शक्ति शिव को अनेक रूपों में आभासित करती है^१ । शिव की यह विमर्शिनी शक्ति एक दर्पण के समान है, जिसमें शिव 'स्व' को उसी प्रकार प्रतिबिम्बित करता है, जिस प्रकार दर्पण में किसी नगर आदि का प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित हुआ करता है । यह जगत उसी शिव या चित् शक्ति का प्रतिबिम्ब है । जिस प्रकार मुख से भिन्न मुख का कोई प्रतिबिम्ब नहीं होता, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण सृष्टि भी उसी सर्वात्मा शिव (चित्शक्ति) से किसी प्रकार भिन्न नहीं है ।

जब दर्पण एक रहता है तब शिव का 'स्व' अपना एक ही प्रतिबिम्ब डालता है । लेकिन जब इसी दर्पण के अनेक रूप हो जाते हैं तो शिव का 'स्व' अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित होने लगता है । इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन के अनुसार यह जगत शाश्वत, सत्य और परमशिव का उन्मोलन मात्र है^३ । यह उतना ही सत्य है, जितना शिव या चित् का स्वरूप सत्य है ।

१-(क) 'पराशक्ति रूपा चित्तिरेव भगवती शक्तिः शिव भट्टारकामिन्न तत्तदनन्त-जगदात्मना स्फुरति, इति ।' -- प्रत्यभिज्ञा हृदयम्

(ख) 'आत्मैव सर्व भावेष्ट स्फुरन्निवृत्तिमद्भिः ।

अनिरुद्धेच्छा प्रसरः प्रसरददृक् क्रियाः शिवः ॥' -- शिवदृष्टि

२-(क) 'स्वतंत्रचित्तिः स्वमितौ, नतु अन्यत्र कापि, प्राक् निणीते विश्वं दर्पणे स्मारयत अभिन्नमपिभिन्नमिव उन्मीलयति ।' -- प्रत्यभिज्ञा हृदयम्

(ख) 'निर्मले मुकुरे यद्वदमान्ति भूमि जलादयः ।

अभिश्चास्तद्वदेकस्मिन्निवृत्तये विवृत्तयः ॥

तदेवमुभया कास्मवमासं प्रकाशयत ।

विभाति वरदोविम्बप्रतिबिम्ब दृष्ट्वाखिले ॥

तेन संविद्धि मुकुरे विश्वमात्मानम पर्यत् ।

नाथस्य वदते ऽमुष्य विमलां विश्वरूपताम् ॥

-- तन्त्रलोक : अभिनवगुप्त ३।४।११, १४

३-(क) 'अन्तः स्थितवतामेव घटते वहिरात्मना ।'

-- ईश्वर प्रत्यभिज्ञा

(ख) उन्मीलनम् अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्

-- ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, सूत्र १ पृ० २

‘प्रसाद’ ने अपने जगत सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुरूप ही किया है । जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शिव की महाचिति शक्ति को परम स्वतंत्र तथा सृष्टि का कारण रूप माना गया है,^१ उसी प्रकार प्रसाद ने भी महाचिति की सहज लीला को ही सृष्टि का कारण माना है :--

‘कर रहो लीलामय आनंद
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त;
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त ।
काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम’^२;

इसी महाचिति मूल शक्ति की कृत्र-ह्याया में परमाणुओं के पारस्परिक आकर्षण एवं सम्मिलन के फलस्वरूप इस मादक सृष्टि का विकास होता है --

‘वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई,
अपने आलस का त्याग किये;
परमाणु वाल सब दौड़ पड़े,
जिसका सुन्दर अनुराग लिये ।
वह आकर्षण वह मिलन हुआ
प्रारम्भ माधुरी ह्याया में;
जिसको कहते सब सृष्टि, बनो
मतवाली अपनी माया में ।
प्रत्येक नाश विश्लेषण भी
संश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही;
ऋतु पति के घर कुसुमोत्सव था,
मादक मरंद की वृष्टि रहो’^३ ।

१- ‘चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्ध हेतुः स्वच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।’ इति

-- प्रत्यभिज्ञा हृदयम्

२- कामायनी, पृ० ५३

३- वही, प० ७२, ७३ ।

शैवांगमों में शिव-शक्ति को 'काम-कला' की संज्ञा दी गई है । जो शिव-शक्ति के प्रतीक -- सित-शोण विन्दु के सम्मिलन का प्रतिफल है ।^{११}

इसमें 'शिव' को 'काम' तथा 'शक्ति' को 'कला' का प्रतीक मान कर उनके पारस्परिक संयोग से सृष्टि का विकास माना गया है ।^२ 'प्रसाद' ने भी इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है --

मैं काम रहा सहचर उनका
 उनके विनोद का साधन था;
 हंसता था और हंसाता था,
 उनका मैं कृतिमय जीवन था ।
 जो आकर्षण बन हंसती थी
 रति थी अनादि वासना वही;
 अव्यक्त प्रकृति उन्मोलन के
 अन्तर में उसकी चाह रही ।
 हम दोनों का अस्तित्व रहा,
 उस आरम्भिक आवर्तन सा;
 जिसे संसृति का बनना है
 आकार रूप के नर्तन सा ।

+ + +

यह लीला जिसकी विकस चली
 वह मूलशक्ति थी 'प्रेम-कला'
 उसका सन्देश सुनाने को
 संसृति में आई वह कमला ।^३

'सृष्टि' की उत्पत्ति के विषय में जहाँ एक ओर 'प्रसाद' ने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से प्रेरणा प्राप्त की है, वहीं दूसरी ओर उन पर सांख्य तथा न्यायवैशेषिक

१- 'सित-शोण विन्दु युगलं विविक्त शिव-शक्ति संकुचितप्रसरम्'

-- पुण्यानन्दः काम-कला विलास

२- 'इति कामकला विद्यादेवी चक्रमात्मिका सेयम् ।

विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरारसुन्दरी रूपः ।

स्फुटितादरुणाद्विन्दोर्नाद ब्रह्माकुरो सो व्यक्तः ।

तस्याद् गगन समीरण दहनोदक भूमि वर्ण संसृतिः ।' -- काम-कला विलास

३- कामायनी, पृ० ७१, ७२, ७६ ।

दर्शन का प्रभाव भी स्पष्ट है । लेकिन 'प्रसाद' ने इनका समन्वय बड़ी कुशलता से किया है । सांख्य में प्रकृति-पुरुष के संयोग से तथा न्याय-वैशेषिक में परमाणुओं के संयोग से सृष्टि-रचना सम्भव होती है । 'प्रसाद' ने जहाँ एक ओर, पदार्थों को मूल शक्ति -- महाचिति -- के अधीन कर दोनों का समन्वय किया है, वहीं दूसरी ओर प्रत्यभिज्ञा दर्शन की मान्यता को ही वरेण्यता प्रदान की है । ' जिस समय वह आद्याशक्ति -- महाचिति -- इस सृष्टि का निर्माण करने के लिए उभर आई उस समय सारे परमाणु बाल एकत्र होकर उनके चतुर्दिक् चक्कर लगाने और उसकी कृपाशायी में एक-दूसरे से मिल कर सृष्टि का निर्माण करने लगे ।'

'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन में जिस प्रकार जगत की स्थिति को नित्य, शाश्वत, सत्य तथा सतत चिर सुन्दर, चिति का ही स्वरूप माना गया है, उसी प्रकार 'प्रसाद' जी ने भी जगत को नित्य, तथा चिति का स्वरूप, सतत चिर सुन्दर माना है

१- (क) ' वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई

अपने आलस का त्याग किये,

परमाणु बाल सब दौड़ पड़े

जिसका सुन्दर अनुराग लिये ।

कुंकुम का बूर्ण उड़ाते से

मिलने को गले ललकते से,

अन्तरिक्ष के मधु उत्सव के --

विद्युत्कण मिले मारकते से ।

वह आकर्षण, वह मिलन हुआ-

प्रारम्भ माधुरी छाया ह में,

जिसको कहते सब सृष्टि बनी,

मतवाली अपनी माया में ।'

--- कामायनी, पृ० ७२, ७३

(ख) वे थे पुनीत परमाणु दया ने जिनसे सृष्टि बनाई थी ।'

--- लहर, पृ० ३३

२- ' ननु जगदपि चितोभिन्नं नैव किञ्चित् अभेदे च कथं हेतु हेतुमद्भावः ? उच्यते ।

चिदेव भगवती स्वच्छस्वतंत्र ह्या तत्तदनन्त जगदात्मना स्फुरति इति ।'

--- प्रत्यभिज्ञा हृदयम्

(क)^१ अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है । असत्य का भ्रम दूर करना होगा,
मानवता की घोषणा करनी होगी, सब को अपनी समता में ले आना होगा ।^२

(ख)^३ अपने दुःख-सुख से पुलकित

यह मूर्त विश्व सचराचर,

चिति का विराट वपु मंगल--

यह सत्य, सतत, चिर सुन्दर^४ ।^५

(ग)^६ चिति का स्वरूप यह नित्य जगत

वह रूप बदलता है शत शत,

कषा विरह निलिन मय नृत्य निरत

उत्लासपूर्ण आनन्द सतत^७ ।।

कवि ने जगत को नित्य आनन्दपूर्ण मानते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है --

(क)^८ कौन कहता है, जगत है दुःख मय,

यह सरस संसार सुख का सिन्धु है ।^९

(ख)^{१०} जीवन-वारा सुन्दर प्रवाह,

सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह ।^{११}

(ग)^{१२} एक क्षण, यह विस्तृत मुखण्ड,

प्रकृति-वैभव से मरा अमंद ।^{१३}

यह जड़ चेतन प्रधान संसार उसी महाचिति के अन्तर्गत अमंद भाव से स्थित है, और परमशिव तत्त्व सब में एकरस होकर घुला-मिला है --

१- जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० ५

२- कामायनी, पृ० २८८

३- वही, पृ० २४२

४- करना, पृ० १७०

५- कामायनी, पृ० २४१

६- वही, पृ० ५६

(क) 'वैसे अमेद सागर में,
प्राणों का सृष्टि क्रम है ।
सब में घुलमिल कर रसमय,
रहता यह भाव चरम है ^१ ।'

यह जगत और दुःख नहीं, उसी परमसत्ता का प्रतिबिम्ब मात्र है --

(ख) 'नयमुकुर नीलिमणि पलक अनल,
ओ पारदर्शिता विरचंचल--
यह विशय बना है परकाई ^२ ।'

(ग) 'उस शक्ति शरीरी का प्रकाश,
सब शाप-पाप का कर विनाश--
नर्तन में निरत, प्रकृति गलकर,
उस कान्ति सिन्धु में घुल-मिल कर,
अपना स्वरूप धरती सुन्दर
कमनीय बना था भीषण तर ^३ ।'

(ग) 'आत्मसमर्पण करो उसी --

विश्वात्मा को पुलकित हो कर,
प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में
विश्व स्वयं ही ईश्वर है ^४ ।'

श्री जयशंकर प्रसाद ने अपने सृष्टि विषयक विचारों के सन्दर्भ में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मूलभूत तत्त्वों के साथ-साथ उसके प्रमुख प्रतीकों को भी अपनाया है । प्रत्यभिज्ञादर्शन में मुख्यरूप से तीन प्रतीकों को प्रमुखता दी गयी है --

(१) शिव का ताण्डव नृत्य ।

(२) त्रिपुर ।

(३) त्रिपुर सुन्दरी या चित शक्ति ।

१- कामायनी, पृ० २८८

२- लहर, पृ० ४३

३- कामायनी, पृ० २५४

४- बिना शक्ति प्रेमप्रभिक, पृ० ३०

शैव दर्शन में नटराज के नृत्य से ही सृष्टि का उदय और विलय माना गया है -- 'क्रीडात्वेनखिलं जगत्' इति । प्रसाद ने भी शिव के ताण्डव नृत्य का सजीव चित्र खींचते हुए उसे सृष्टि और विनाश के प्रतीक रूप में माना है --

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,

आवरण पटल की ग्रन्थि खोल,

तम-जलनिधि का बन मधु मंथन,

ज्योत्सना सरिता का आलिंगन,

वह रजत अ गौर, उज्ज्वल जीवन

आलोक पुरुष । मंगल चेतन ,

केवल प्रकाश का था कलोल,

मधु किरनों की थी लहर लोल ।

बन गया तमस था अलक जाल,

सर्वांग ज्योतिर्मय था विशाल,

अंतर्निनाद ध्वनि से पुरित,

थी शून्य मेदिनी मत्ता चित्,

नटराज स्वयं थे नृत्य निरत,

था अन्तरिक्षा प्रहसित मुखरित,

स्वर लय होकर दे रहे ताल,

थे लुप्त हो रहे दिशा काल ।

+ + + +

आनन्द पूर्ण ताण्डव सुन्दर

फरते थे उज्ज्वल अ सीकर,

+ + + +

संहार-सृजन से युगल पाद ।।^१

१- कामायनी, पृ० २५२, २५३

‘प्रसाद’ ने हम मंगलमय नटराज नृत्य को महाकाल की उपासना का वाह्य स्वरूप मानते हुए उसे कला और सौन्दर्य की अभिवृद्धि माना है -- ‘जिसकी दुःखज्वाला में मनुष्य व्याकुल हो जाता है, उस विश्वचिन्ता में मंगलमय नटराज नृत्य का अनुकरण, आनन्द की भावना, महाकाल की उपासना का वाह्य स्वरूप है, और साथ ही कला की, सौन्दर्य की अभिवृद्धि है, जिससे हम वाह्य में, विश्व में सौन्दर्य - भावना को सजीव रख सकें हैं ।’

शैव तंत्रों में तीन लोकों की मा कल्पना की गयी है --

- (१) ज्ञान-लोक (ज्ञानमूलक) सतीगुण प्रधान (धवल अर्थात् उज्ज्वल)
- (२) इच्छालोक -- इच्छामूलक (भाव-प्रधान रजोगुण प्रधान अरुण)
- (३) कर्म लोक -- क्रियामूलक (तमोगुण प्रधान -- श्यामल)

उपर्युक्त तीनों लोकों को संवालिखा शक्ति को ‘त्रिपुर सुन्दरी’ कहा गया है, जो चित्ति स्वरूपा है । यही चित्ति स्वरूपा पारमेश्वरी शक्ति, अपने विविध स्वरूपों (विमर्श, आनन्द, ज्ञान, इच्छा, क्रिया) द्वारा सदाशिव आदि के रूप में स्फुरित होकर उन्मीलन-निमीलन द्वारा मत, रज, तम (त्रिपुर) के रूप में अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करती रहती है ।^२

१- इरावती, पृ० २२

२- (क) ‘स्वांगरूपेण भावेण पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।

मायातृतीयेतस्व पशोः सत्त्वं रजस्तमः’ -- ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ३।३।४

(ख) ‘चितिशक्तिरेव पारमेश्वरी ज्ञान-क्रियामायाशक्ति-त्रितयतया श्री सदाशिवादि पदे स्फुरित्वा संकोचप्रकर्षात्सत्त्वं रजस्तमोरूपं क्रीडा शरीरं श्रयति ।’

-- स्पन्द निर्णय , पृ० ३७

(ग) मनस्त्वं व्योमत्वं मरुदस्मिन्सारथिरसि,
त्वमापस्त्वंभूमिस्त्वयि परिणतायां नहि परम् ।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा,
चिदानंदाकारं शिवयुवति भावेन विमृषे ॥१॥१२५॥

-- सौन्दर्य लहरी, ३५

इस प्रकार यह 'त्रिपुरसुन्दरी' या महाचितिशक्ति एक ओर अपने 'विशेषरूप' द्वारा गुणसम्भूत 'त्रिपुर' का पृथक्-पृथक् निर्माण और नियमन करती है और दूसरी ओर अपने सामान्य स्वरूप द्वारा उसके पार्थक्य को मिटा कर उसमें स्मरगता का संचार करती रहती है । स्मरगता की स्थिति जा जाने पर 'त्रिपुर' की पृथक् सत्ता नहीं रह जाती । वे अपनी-अपनी उपाधियों से शून्य होकर आनंदरूप में परिणत हो जाते हैं^१ --

'प्रसाद' ने त्रिपुर का जो स्वप्न रचा है, वह 'शैवदर्शन' के बहुत समीप है। उन्होंने इच्छालोक को 'उषा' के कन्दुक सा रागारुण 'कर्म' लोक को श्यामल, और ज्ञान लोक को बुद्धिप्रमान माना है । कामायनी में प्रसाद ने त्रिपुर की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की है --

१- भावलोक (इच्छा लोक)

वह देखो रागारुण है जो,
उषा के कन्दुक सा सुन्दर,
छायाभय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मन्दिर ।
शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध की
पारदर्शिनो सुधर पुतलियां,
चारों ओर नृत्य करती ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियां ।
+ + +
भाव-भूमिका इसी लोक की
जननी है सब पुण्य-पाप की ।
ढलते सब, स्वभाव प्रतिकृति जन
गल ज्वाला से मधुर ताप को^२

१- 'इच्छाज्ञानश्रिया वेति, यत्प्रवृत्तान्ज्यौ ।

तदेव शक्तिमत्स्वैः स्वरिष्यमाणादिकैः स्फुटम् ।

एत्मित्यस्येन यदा तु प्रस्फुरेत्तदा ।

न केचिदुपाधेयं स्व स्वविप्रतिषेधतः । --तंत्रालोक ३।१०६-१०८

२- कामायनी, पृ० २६२, २६४

(२) कर्मलोक (तमोगुण प्रधान)

मनु यह श्यामल कर्मलोक है
 घुंघुला कुह कुह अन्धकार सा,
 सधन हो रहा अविज्ञात यह
 देश मलिन है धूमधार सा ।
 यहाँ सतत संघर्ष, विफलता,
 कोलाहल का यहाँ राज है,
 अन्धकार में दौड़ लग रही
 मतवाला यह सब समाज है^१ ।

(३) ज्ञान-लोक (सत्त्वप्रधान)

प्रियतम यह तो ज्ञान-क्षेत्र है
 सुख-दुःख से है उदासीनता,
 यहाँ न्याय निर्मम चलता है
 बुद्धि-चक्र, जिसमें न दीनता ।
 अस्ति नास्ति का भेद, निरंकुश
 करते थे अणु तर्क युक्ति में,
 ये निःसंग किन्तु कर लेते
 छद्म सम्बन्ध विधान युक्ति से ।
 + + +
 सामंजस्य चले करने थे
 किन्तु विषमता फैलाते हैं ।
 मूल सत्त्व कुह और बताते,
 इच्छाओं को फुटलाते हैं^२ ।

पौराणिक आस्थानों में शंकर द्वारा त्रिपुर-दाह कराया गया है, य
 हसीलिय शिव को 'त्रिपुरारि' भी कहते हैं । कामायनीकार ने श्रद्धा की मुस्कान
 द्वारा इस कार्य को सम्पन्न कराया है --

१- कामायनी, पृ० २६६, २६७

२- वही, पृ० २६६, २७०, २७२

‘महाज्योति रेखा सी का कर,
 श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें,
 वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
 जाग उठी थी ज्वालाउनमें ।

+ + +

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
 इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे^१ ।।’

‘श्रद्धा’ ने यहां ‘त्रिपुर सुन्दरी’ का पूर्ण प्रतिनिधित्व किया है । ‘श्रद्धा’ में हमें ‘त्रिपुर सुन्दरी’ के चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि सभी स्वरूपों को भागिकियां मिल जातो हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसाद के जगत सम्बन्धी विचार प्रत्यभिज्ञादर्शन से अनुप्राणित हैं । उन्होंने जगत^{को} नित्य, शाश्वत, सत्य तथा आनन्दपूर्ण माना है । उनके अनुसार प्रलय भी एक सृष्टि ही है --

‘सर्ग प्रलय के लिए होता है, यह निःसन्देह कहा जायेगा, क्योंकि प्रलय भी एक सृष्टि है^२ ।’

‘माया’ तत्त्व भी दर्शन का एक विवेच्य विषय रहा है । प्रायः सभी दर्शनों में किसी-न-किसी रूप में माया के स्वरूप का निरूपण हुआ है । प्रसाद ने भारतीय दर्शन में वैदिक दर्शन से लेकर शैवागम तक इसकी अविच्छिन्न परम्परा को स्वीकार किया है -- ‘पौराणिक धर्म का दार्शनिक स्वरूप हुआ मायावाद । मायावाद बौद्ध अनात्मवाद और वैदिक आत्मवाद के मिश्र उपकरणों से संगठित हुआ था । इसीलिए जगत को मिथ्या दुःखमय मानकर, सच्चिदानन्द की, जगत से परे कल्पना हुई । विश्वात्मवाली शिवाद्वैत की भी कुछ बातें इसमें ली गयीं । आनंद और माया उन्हीं की देन थी । + + + + मायातत्त्व को आगम से लेकर उसे रूप ही दूसरा दिया गया^३ ।’

१- कामायनी, पृ० २७३

२- प्रतिध्वनि कहानी-संग्रह (प्रलय नामक कहानी)

३- काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ६०

‘ऋग्वेद’ में माया की चर्चा करते हुए कहा गया है,^१ इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपैर्^२ यते^३ जैन दर्शन में काष्ठाययुक्त कर्म-प्रद्वगल-- आप्रव सम्भूत बन्धन का जो स्वरूप निरूपित किया गया है, वह माया के स्वरूप से बहुत मेल खाता है। बौद्ध दर्शन में माया का स्थान ‘अविद्या’ ने ले लिया है। जो दुःख का मूल कारण है और जिसकी अद्भुत शक्ति से ‘कारणों’ की एक परम्परा सुनिश्चित हो जाती है। इस कारण परम्परा को ‘प्रतीत्य समुत्पाद’ कहते हैं। ‘अविद्या’ के दूर हुए बिना ‘निर्वाण’ की प्राप्ति नहीं होती।

श्री शंकराचार्य ने माया को सत् ब्रह्म और असत् जगत को मिलाने वाली एक कड़ी के रूप में माना है जो न सत् है और न असत्। यह ब्रह्म की शक्ति है, इसी के कारण ब्रह्म अनेक रूपों में अवमासित होता है^२। ‘वेदान्तसार’ में इसे सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक ज्ञान-विरोधी तथा भाव-रूप माना गया है। जगत का कारणभूत होने के कारण शंकराचार्य ने इसे त्रिगुणात्मिका कहा है^४।

इस माया की प्रधानतः दो शक्तियाँ मानी गयी हैं --

(१) आवरण शक्ति (ब्रह्म के स्वरूप को आवृत कर लेना) -- तमोरूपा।

(२) विदापशक्ति (आरोप या अध्यास करना) -- रजोरूपा।

१- ऋग्वेद

२- एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो नामधातुः अविध्यया मायाविवदनेकधा विभाव्यते
-- शां०भा०

३- ‘अज्ञानं तु सदसदभ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किंचिदिति वदन्ति ‘अहमज्ञ’ इत्याद्युभवात् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्’ इत्यादितेश्च ।
-- सदानन्द : वेदान्त सार ।

४- अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः,

अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।

कार्यानुमेया सुधियैव माया,

यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥^१

जिस प्रकार एक छोटा मेघ-सण्ड बृहद् सूर्यमण्डल को कृपा लेता है, उसी प्रकार माया अपनी आवरण शक्तिद्वारा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को छिपा कर विदोप शक्ति द्वारा उस पर नाना रूपात्मक संसार का आरोप या अध्यास कर देती है । जैसे सर्प का अध्यास रज्जु में हो जाता है^१ ।

‘माया’ का ही एक भेद ‘अविद्या’ है । ‘माया’ ईश्वर की उपाधि है । ‘अविद्या’ जीव की । माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ईश्वर है, और अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव^२ । इस प्रकार वेदान्त की ‘माया’ ब्रह्म की अनादि शक्ति है, और जगत रूपी सभी कार्यों की कारण शक्तियों का सामूहिक रूप है । इसी के सहयोग से मायावी ईश्वर अपनी क्रीड़ा के लिए सम्पूर्ण जगत की सृष्टि करता है^३ ।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में ‘माया’ को कृतीस तत्त्वों में से एक तत्त्व माना गया है, जिसके पांच कंचुक (कला, विद्या, राग, काल, नियति) होते हैं । इसमें माया का अर्थ ‘परम शिव’ के तिरोभूत हो जाने की शक्ति है । माया-विष्ट हो जाने पर परमशिव के वास्तविक स्वरूप का तिरोभाव हो जाता है और वह अपने आप को काल, कला, नियति, राग और विद्या के पंचविध बन्धन में सीमित कर लेता है, और एक से अनेक हो जाता है ।

१- (क) ‘आवरणशक्तिस्तावद् अल्पोऽपि मेघोऽनेक योजनायतमादित्यमण्डलम्, अवलोकार्यतूनयनपथपिधायकतया यथा आच्छादयतीव तथा ऽज्ञानं परिच्छिन्नमपि आत्मानम् अपरिच्छिन्नम् असंसारिणम् अवलोकयितुः बुद्धिपिधायकतया आच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम् ।’ विदोप शक्तिस्तु यथा रज्ज्वन्नानं स्वावृत्त रज्जो स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भवावयति एवम् अज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विदोपशक्त्या आकाशादि प्रपञ्चमुद्भवावयति तादृशं सामर्थ्यम् ।’

-- वेदान्त सार

(ख) ‘शक्तिद्वयं हि मायायाः विदोपावृत्ति रूपम् ।

विदोपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत ।

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं वहिश्च ब्रह्मसर्गयोः ।

आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ।’

-- दृग्दृश्यविवेक

२- ‘कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।

कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥ --विद्यारण्य स्वामी (पंचदशी)

३- मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया

४- परमेश्वरस्य मायानाम शक्तिः माया तत्त्वात् विश्व प्रसवः

-- तंत्रसार

‘प्रसाद’ ने अपने साहित्य में ‘माया’ तत्त्व की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की है, उसे दो पदों में रखा जा सकता है --

(१) व्यावहारिक पद ।

(२) सैद्धान्तिक पद ।

व्यावहारिक दृष्टि से प्रसाद ने ‘माया’ शब्द का प्रयोग कई सन्दर्भों में किया है । कहीं उसे उन्होंने मोह के रूप में चित्रित किया है तो कहीं ममत्वमूलक आसक्ति के रूप में । कहीं उसे उन्होंने उदात्तवृत्तियों की कोटि में रखा है, तो कहीं कलना और प्रवचना की कोटि में । यथा--

मोह के रूप में

‘जब जीवन में साध मरी थी
उच्छ्वसल अनुरोध मरा ,
अमिलाषायें मरी हृदय में
अपने पन का बोध मरा ।
में था, सुन्दर कुसुमों की वह,
मधन सुनहली छाया थी,
मलयानिल की लहर उठ रही,
उल्लासों की माया थी^१ ।

ममत्वमूलक आसक्ति के रूप में

‘प्रिय को ठुकरा कर भी मन की माया उलझा देती ,
प्रणय शिला प्रत्यावर्तन में, उसको लौटा देती^२ ।’

हास्य-भाव मूलक व्यवहार के अर्थ में

‘अनुनय वाणी में , आंखों में
उपालम्भ की छाया ,
कहने लगे ‘और यह कैसी
मानवती की माया^३ ।’

१- कामायनी, पृ० २२०

२- वही, पृ० १२७

३- वही, पृ० १२७

खलना के रूप में

(क) 'मायाविनि] बस पा ली तुमने ऐसे छुटी,
लड़कै जैसे खेलों में कर लेते खुटी ।'^१

(ख) 'मूँल से कमी निहारोगी,
कर आकर्षणमय हास एक ,
मायाविनि । मैं न उसे लूंगा
वरदान समझ कर जानु टेक ।'^२

हृदय की उदात्तवृत्ति के रूप में

'दया माया , ममता लौ आज
मधुरिमा लो अगाध विश्वास ।'^३

सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रसाद ने 'माया' को शिव की सर्जनात्मिका तथा
नियामिका शक्ति के रूप में माना है । यथा--

'किन्तु अद्यम में समझ न पाया
उस मंगल की माया को,
और आज भी पकड़ रहा हूँ
हर्ष-शोक की छाया को ।'^४

'प्रसर विनाशशील नर्तन में
विपुल विश्व की माया,
जाण जाण होती प्रकट नबीना,
बनकर उसकी काया ।'^५

'धूम रही है यहां चतुर्दिक
चलचित्रों सी संसृति-काया,
जिस आलोकबिन्दु को घेर
वह बैठी मुसक्याती माया ।

१- कामायनी, पृ० १६६

२- वही, पृ० १५३

३- वही, पृ० ५७

४- वही, पृ० २२७

५- वही, पृ० १२३

भाव चक्र यह चला रही है
 इच्छा की रथनाभि घूमती,
 नव रस मरी अराधं अविरल
 चक्रवाल को चक्ति घूमती ।
 यहां मनोमय विश्व कर रहा,
 रागारुण चेतन उपासना ,
 मायारूप यही परिपाटी

 पाश बिछा कर जीव फाँसता^१ ।

मोक्ष

‘मोक्ष’ की समस्या भी दार्शनिक समस्याओं से जुड़ी हुई है । यही कारण है कि प्रायः सभी दर्शनों में मोक्षप्राप्ति का विधान किया गया है । मोक्षप्राप्ति के मूल में दो बातें पाई जाती हैं --

(१) दुःख निवृत्ति ।

(२) आनन्द-प्राप्ति ।

आनन्द की प्राप्ति दुःखों की समाप्ति पर सम्भव है, और दुःखों का कारण आसक्तिमूलक ममत्व है, जिसे अविद्या, माया, बन्धन, आदि नामों से अभिहित किया गया है । इसीलिए सभी दर्शनों में इस आसक्तिमूलक ममत्व की सीमा से ऊँचे उठकर अमेद अनुभूति की प्राप्ति पर विशेष बल दिया गया है, और तज्जन्य आनन्द को मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, कैवल्य तथा अपवर्ग आदि नामों से पुकारा गया है । ‘चार्वाक दर्शन’ में मरण को ही मोक्ष माना गया है । जैन दर्शन में बन्धन स्वरूप कर्म-पुद्गल की समाप्ति को मोक्ष की संज्ञा दी गयी है । जीव और पुद्गल के संयोग को बन्धन कहते हैं, अतः जीव का पुद्गल से वियोग होना ‘मोक्ष’ है^२ । बौद्ध दर्शन में ‘मोक्ष’ को ‘निर्वाण’ की संज्ञा दी गयी है । इसकी अवस्था पूर्णतया शान्त, स्थिर, तथा तृष्णाविहीन होती है, जो जीवन-काल में ही सम्भव है ।

१- कामायनी, पृ० २६४

२- भारतीय दर्शन : चटर्जी-दत्त हिन्दी रूपकार का -- मिश्र, पृ० ११०

नैयामिकों के अनुसार दुःख को पूर्ण निरोधावस्था ही मोक्षा (अपवर्ग) है । सांख्यदर्शन में मोक्षा को 'कैवल्य' की संज्ञा दी गई है, जिसकी प्राप्ति त्रय-तापों (आध्यात्मिक, आबिदैविक, आधिभौतिक) की समाप्ति का तथा आत्मस्वरूप की उपलब्धि के पश्चात् ही सम्भव है^१ । रामानुजीय वैष्णवों, महेश्वरों एवं नकुलीश, पाशुपति आदि दर्शनों में सारूप्य एवं सायुज्य भाव को प्राप्ति को मोक्षा माना गया है । शांकर वेदान्त में सायुज्यमुक्ति को मोक्षा कहते हैं ।

'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन में अखण्ड आनंद स्वरूप शिव के साक्षात्कार तथा आनन्दमय स्थिति की प्राप्ति को मोक्षा कहा गया है । जब साधक आनन्दावस्था में लीन हो जाता है, तब उसकी अवस्था उपाधि रहित 'निरंजन' की अवस्था हो जाती है, जिसमें इच्छा, क्रिया और ज्ञान नाम की तीनों शक्तियाँ समन्वित होकर स्मरसत्ता को प्राप्त हो जाती हैं और योगी उपाधियों से शून्य होकर शिव स्वरूप को प्राप्त करता हुआ 'निरंजन' हो जाता है^२ ।

'प्रसाद' द्वारा प्रतिपादित मोक्षा का स्वरूप 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन के अधिक समीप है । 'प्रसाद' ने स्मरसत्ता पर आधारित आनन्द की प्राप्ति को ही सिद्धि माना है । आनन्द लीन मनु की स्थिति मोक्षा प्राप्त साधक की ही स्थिति है जिसमें स्वप्न, पुष्यप्ति, और जागरण के साथ इच्छा, क्रिया और ज्ञान का विलय अखण्ड आनन्द में हो जाता है --

स्वप्न, स्वाप, जागरण मस्य हो,

इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे;

दिव्य अनाहत पर निनाद में,

श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे^३ ।

-०-

१- मुक्ति या मोक्षा का अर्थ है, इस तत्त्व का साक्षात्कार की आत्मा, देश-काल से परे, शरीर और मन से भिन्न, स्वभावतः मुक्त, नित्य और अमर है ।

--सांख्यसूत्र और वृत्ति ५, ७८-८३ ।

२- लीलीभूत मतः शक्ति त्रितयं तत् त्रिशूलकम् ।

यस्मिन्नाशु समावेशाद् भवेद् योगी निरंजनः । -- च तन्त्रालोक ३।१०८

३- कामायनी, पृ० २७३

(प्रथम खण्ड)

चतुर्थ - अध्याय

- 0 -

समरसता-सिद्धान्त

चतुर्थ अध्याय

-०-

स्मरस्ता-सिद्धान्त

दो विरोधी वस्तुओं के बीच समीकरण की उस अवस्था को 'स्मरस्ता' कहते हैं, जो अनेकता में एकता लाकर, समन्वय और सामन्जस्य के आधार पर भौतिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक कामताओं को सन्तुलित बनाये रखती है। सीमागत स्वरूप की दृष्टि से 'स्मरस्ता' का प्रयोग प्रायः दो अर्थों में होता रहा है :--

(१) पारिभाषिक अर्थ में (दार्शनिक पदा)

(२) व्यावहारिक अर्थ में (व्यावहारिक पदा)

'प्रसाद-साहित्य' में स्मरस्ता की विशेष चर्चा व्यावहारिक पदा के सन्दर्भ में ही हुई है, जिसके अन्तर्गत आनन्दवाद के विविध पदार्थों का समाहार हो गया है। 'प्रसाद' जी ने 'स्मरस्ता' की प्रेरणा प्रत्यभिज्ञा दर्शन से लेकर उसके स्वरूप का गठन स्वानुभूतियों के आधार पर किया है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में स्मरस्ता-सिद्धान्त को दार्शनिक समस्याओं के सन्दर्भ में उठा कर, उसमें शिव-शक्ति के सामरस्य को सृष्टि-विकास का मूल मान कर, दार्शनिक प्रश्नों का हल प्रस्तुत किया गया है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में साधना-स्तर पर साधक जीव की तीन अवस्थाएं मानी गई हैं, पहली आणव-स्थिति की वह अवस्था है, जो भेद-प्रधान हुआ करती है। दूसरी अवस्था शक्तावस्था है, जो भेदाभेद की अवस्था मानी जाती है। तीसरी अमेदानुभूति प्रधान शान्तिवस्थिति की वह अवस्था है, जहां पहुंच कर सारा नानात्व समाप्त हो जाता है, और शेष रह जाता है केवल एक तत्त्व- 'शिव' ।

ज्यों-ज्यों साधक भेदावस्था से अमेदावस्था की ओर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसे शिव और शक्ति के प्रकार-भेदों के अमेद स्वरूप की प्रतीति होती जाती है। शिव-शक्ति के विस्तार का संहार होने लगता है। पुरुष माया तत्त्व से निकल कर सद्विद्या में, सद्विद्या ईश्वरत्व में, ईश्वरतत्त्व सदाशिव तत्त्व में, सदाशिव तत्त्व शक्तितत्त्व में तथा शक्तितत्त्व परमशिव तत्त्व में पर्यवसित हो जाता है और वहाँ पहुँच कर 'शिव-शक्ति' में पूर्ण सामरस्य की स्थिति आ जाती है।

'परम शिव' के शक्ति-संकौचन का कारण पंच कंदुकों का आवरण होता है। इन्हीं आवरणों में आबद्ध हो कर 'परमशिव' की शक्ति सीमित हो जाती है।

ज्यों-ज्यों साधक स्थूल तत्त्वों से ऊपर उठ कर सूक्ष्मतत्त्वों में प्रवेश करता जाता है, त्यों-त्यों उसे सूक्ष्म प्रपंचों की स्थिति स्पष्ट होती जाती है, और उस समय उसे यह बोध होने लगता है कि 'मैं यह हूँ' यह स्थिति भेदावस्था की स्थिति है। इसमें 'मैं' चैतन्य का बोधक है और 'यह' प्रकृति का। इस स्थिति तक दोनों समान महत्त्व के होते हैं और उनमें द्वैतभाव की स्थिति बनी रहती है। इस स्तर से ऊपर उठने पर वह 'पुरुष' सूक्ष्म प्रपंचों के साथ तादात्म्य-बोध का अनुभव करने लगता है, तथा अपनी विमर्श शक्ति के सन्दर्भ में उसे यह अनुभूति होने लगती है कि 'यह मैं हूँ'। इस अवस्था में आ कर 'यह' प्रधान हो जाता है। इसी को 'ईश्वर तत्त्व' कहते हैं। धीरे धीरे 'यह' अंश में 'मैं' लीन हो जाता है और उस समय केवल 'मैं हूँ' इतनी ही प्रतीति रह जाती है। अभी भी द्वैतभाव स्पष्ट बना रहता है, क्योंकि विमर्शशक्ति में 'मैं' और 'हूँ' इन दोनों का अस्तित्व सुरक्षित रहता है, इस अवस्था को 'सदाशिव तत्त्व' कहते हैं। जब साधक इससे भी सूक्ष्मभूमि में प्रवेश करता है, तब उसे केवल 'वह' (मैं) की प्रतीति होती है, इसे 'शक्तितत्त्व' कहते हैं। यही परमशिव की उन्मीलनावस्था है, इसी अवस्था में साधक 'परमशिव' के स्वरूप को समझने में समर्थ हो पाता है। यही 'शक्ति' और शक्तिमान' का सामरस्य है, जहाँ पहुँच कर साधक अपने अस्तित्व को 'परमशिव' में लीन कर देता है। साधक

और साध्य की इसी अमेदावस्था को स्मरसता कहते हैं ।

स्वच्छन्द तंत्र में इस विषय का विवेचन करते हुए कहा गया है कि, 'जिस प्रकार एक नदी समुद्र में मिल कर स्वरूपता को प्राप्त कर लेती है और समुद्र तथा नदी में कोई भेद नहीं रह जाता, उसी प्रकार जब आत्मा परमात्मभाव को प्राप्त कर पूर्णतः शिवस्वरूप हो जाता है, उसी स्थिति को 'स्मरसता' कहते हैं^१। स्मरसता की इस अवस्था को प्राप्त कर साधक अमेदावस्था के उस स्तर पर पहुँच जाता है, जहाँ केवल एक रस 'शिव' ही शेष रह जाता है । नेत्र तंत्र में इस प्रसंग को उठाते हुए कहा गया है कि -- 'जब योगी को यह प्रतीति होने लगती है कि न तो मैं हूँ, और न कोई ध्येय है, अपितु सर्वत्र स्वरूप शिव ही विद्यमान है, तब उसका मन आनन्द-पद में संलीन हो जाता है, योगी की इसी स्थिति को 'स्मरसता' कहते हैं^२।' आचार्य अभिनव गुप्त ने आनन्दशक्ति में विश्रान्ति पाने की अवस्था को ही 'स्मरसता' की संज्ञा दी है । उत्पलदेव ने निर्वाणावस्था में परमेश्वर के स्पर्श से सभी पदार्थों की अभिन्नावस्था को 'स्मरसता' माना है^४ ।

यहाँ हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञा का यह अद्वैतवाद शांकर अद्वैतवाद से सर्वथा भिन्न, अपना पृथक् अस्तित्व रखता है । शांकर वेदान्त में 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' के अनुसार केवल 'ब्रह्म' की सत्ता स्वीकार की गई है, लेकिन प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव और उसकी सृष्टि दोनों की ही सत्ता को स्वीकार करते हुए, उनमें सामरस्य द्वारा अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की गई है । प्रत्यभिज्ञादर्शन के इस अद्वैतवाद में कोई तत्त्व अपने स्वरूप को नष्ट नहीं करता, सभी तत्त्व 'परमशिव' में लीन हो कर चिन्मय हो जाते हैं । यही अवस्था शिव और शक्ति के सामरस्य की अवस्था है । 'जिस प्रकार प्रेमी दम्पति

१- स्वच्छन्द तंत्र भाग २ (पृ० २७६, २७७)

२- 'नाहस्मि, न चान्योस्ति, ध्येयं चात्र न विद्यते ।

आनन्द पद संलीन मनः स्मरसी गतम् ।'

-- नेत्र तंत्र भाग १, पृ० १६८

३- 'आनन्दशक्ति विश्रान्ते योगी स्मरसो भवेत् ।'

-- तंत्रालोक भाग १, पृ० २६

४- 'भावनामैकैकस्य निर्वाणोऽपि परमेश्वरस्पर्श रसो खण्डितस्त्विति सामरस्यम्'

-- शिवदर्पण, पृ० १६

का द्वैतभाव दोनों के स्मरण हो जाने पर अत्यन्त आनन्द दायक हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा तथा परमात्मा के स्मरण हो जाने पर अखण्ड आनन्द की जो अवस्था प्राप्त होती है, उसी अवस्था को 'स्मरसता' कहते हैं^१।

इस प्रकार शैवाग्र्यों की 'स्मरसता' परमार्थ सत्ता की वह स्थिति है जहाँ सारे द्वन्द्वों का समाहार हो कर, सुख-दुःख, ग्राह्य-ग्राहक, की विलोम भाव-वृत्तियों का सर्वथा अभाव हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में 'स्मरसता' सिद्धान्त का अपना एक विशिष्ट स्थान है, और दार्शनिक तथ्यों के सन्दर्भ में ही उसके स्वरूप की व्याख्या हुई है। 'प्रसाद' जी ने इस दार्शनिक इकाई को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान कर, उसे जीवन के अधिक निकट ला दिया है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रसाद जी ने स्मरसता-सिद्धान्त के जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया है, मुख्य रूप से उसके निम्नांकित रूप मिलते हैं --

- (१) व्यक्ति की स्मरसता।
- (२) पारिवारिक या दाम्पत्य जीवन की स्मरसता।
- (३) समाज की स्मरसता।
- (४) प्रकृति तथा पुरुष की स्मरसता।

१- व्यक्ति की स्मरसता

व्यक्ति का अन्तश्चेतन विविध भाव-बोधों का एक संकलन है, जिन भाव-बोधों की अपनी-अपनी विधायें और दिशायें होती हैं। इन भाव-बोधों के स्वरूप-साम्य के आधार पर जीवन को तीन पक्ष हो जाते हैं --

- (१) ज्ञान पक्ष।
- (२) भाव पक्ष।
- (३) क्रिया पक्ष।

मनोवैज्ञानिक शब्दावली में इनको ज्ञानात्मक (Knowing),

१- 'जाते स्मरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोष्मम्'।

मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्म परमात्मयोः ।

-- बोधसार, पृ० १०७

भाव-आत्मक (*Feeling*) और क्रिया-आत्मक (*Willing*) की संज्ञा दी गई है, गीता में इनका नामकरण, 'ज्ञानयोग', 'भक्तियोग', 'कर्मयोग' किया गया है, जो क्रमशः सतोगुण, रजोगुण, और तमोगुण से युक्त माने गये हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शन में इन्हें 'त्रिपुर' कहा गया है। ये तीनों पक्ष एक-दूसरे के पूरक हैं -- एक के अभाव में दूसरा पूरा हो जाता है। ज्यों-ज्यों ये पक्ष एक-दूसरे से दूर हो जाते हैं, त्यों-त्यों जीवन में विषमता आती जाती है, जिसके फलस्वरूप जीवन का प्राप्य बहुत दूर छूट जाता है, मनोवांछा की पूर्ति नहीं हो पाती। प्रसाद के शब्दों में जीवन की यही सबसे बड़ी विडम्बना है--

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की^१।

प्राप्य की प्राप्ति और आनन्द की उपलब्धि के लिये तथाकथित जीवन के तीनों पक्षों का समन्वय आवश्यक है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर भारतीय चिन्तन में बाह्याभ्यन्तर (स्थूल और सूक्ष्म जगत) के समन्वय पर विशेष बल दिया गया है। षट्दर्शनों का युग्मविधान इसी तथ्य का परिचायक है-- सांख्य स्थूल जगत की व्याख्या करता है तो योग सूक्ष्मवृत्तियों का, न्याय बाह्य-तथ्यों का विवेचन करता है तो वैशेषिक विशेष तत्त्वों का, पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्डों का विधान है, तो उत्तरमीमांसा में आध्यात्मिक तथ्यों का निरूपण। इसी प्रकार इतर चिन्तन-परम्पराओं में भी किसी न किसी रूप में समन्वय को ही प्राथमिकता दी गई है।

'प्रसाद' जी ने उपर्युक्त तीनों लोकों में समन्वय लाने के लिए 'श्रद्धा' को अपना माध्यम बनाया है। 'श्रद्धा' कहो इन तीनों लोकों की विषमता का परिहार कर, उनमें स्मरसत्ता का संचार करती है --

‘महा ज्योति रेखा सी बन कर
 श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें,
 वे सम्बद्ध हुए फिर सहगा
 जाग उठी थी ज्वाला जिनमें ।’^१

+ + +

‘स्वप्न, स्वाप, जागरण मस्म हो
 इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे,
 दिव्य अनाहत पर निनाद में
 श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे ।’^२

‘श्रद्धा’ सरलता और उदारता की प्रतीक है । वह कोलाहल कलह को शान्त करने वाली ‘हृदय की वह बात’ है जो स्क और सरस बरसात सी उमड़ कर अमावासी की ज्वाला में जलते हुए जीवन को शान्ति प्रदान करती है और दूसरी और निराश प्राणियों में आशा का संचार कर, उन्हें कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देती है ।^३

इस प्रकार श्रद्धा का सीधासम्बन्ध हृदय की उन रागात्मक वृत्तियों से है जो माव-लोक का संचालन करती है । रागारुण चेतन उपासना में लीन ‘मावलोक’ को प्रसाद जी ने जीवन की मध्य भूमि माना है --

१- कामायनी, पृ० २७३

२- वही० पृ० २७३

३- ‘सुल कोलाहल कलह में

में हृदय की बात रे मन ।

+ + +

जहाँ मरु ज्वाला धधक्ती
 चातकी कन की तरसती,
 उन्हीं जीवन-घाटियों की,
 मैं सरस बरसात रे मन ।’

+ + +

चिर निराशा, नीर घर से प्रतिच्छादित अक्षर में,
 मधुप मुखर मरुद मुकुलित, मैं सुल जलजात रे मन ।’

--कामायनी : निवेद, पृ० २१६, २१७

‘यह जीवन की मध्यभूमि है
 रस-धारा से सिंचित होती,
 मधुर लालसा की लहरों से
 यह प्रवाहिका सन्वित होती^१।’

चूंकि भाव-लोक इच्छाओं का संघात है और इच्छाशक्ति भावरूपा होती है, इच्छमाण होने के कारण इसी में ज्ञानशक्ति का प्रादुर्भाव होता है तथा इसके बाहरी स्फुरण के रूप में क्रियाशक्ति की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार मुद्रा में सारी वस्तुएं समाहित रहती हैं, उसी प्रकार भावलोक में शेष दोनों लोक भी निविष्ट रहते हैं। यही भावलोक पाप-पुण्य की सृष्टि करने वाला, सुख और दुःख का सूत्रधार है --

‘भाव-भूमिका इसी लोक की
 जननी है सब पुण्य-पाप की,
 ढलते सब स्वभाव प्रतिकृति का
 गल ज्वाला से मधुर ताप की^२।’

+ + +
 चिर वसन्त का यह उद्गम है
 पतझर होता स्क और है,
 अमृत हलाहल यहां मिले हैं
 सुख-दुःख बंधते स्क डोर हैं^३।’

जीवन में सन्तुलन तभी आ सकता है, जब भाव-लोक का वैषम्य दूर हो, भाव लोक का वैषम्य तभी दूर हो सकता है जब दोनों लोकों में सामरस्य की स्थिति आ जाय और यह सामरस्य की स्थिति तभी आ सकती है, जब उनका घरातल स्क हो --

 १- कामायनी : रहस्य, पृ० २६३

२- वही० : रहस्य, पृ० २६४

३- वही० : रहस्य, पृ० २६५

जीवन वसुधा समतल है
 स्मरस है जी कि जहाँ है^१।

धरातल को समतल बनाने के लिए दो मार्ग अपनाये जा सकते हैं--
 पहला मार्ग तो यह हो सकता है कि ऊँचे-ऊँचे टीलों की तुलना में नीची भूमि को उठा कर ऊँचे टीलों के बराबर कर दिया जाय, और दूसरा मार्ग यह भी हो सकता है कि ऊँचे टीलों को कुह उतार कर नीचे कर दिया जाय और नीची भूमि को उठा कर ऊँची करते हुए एक समान धरातल पर ला दिया जाय । सुगमता की दृष्टि से दूसरा मार्ग अधिक उपयुक्त और व्यावहारिक है । कामायनी-कार ने तीनों लोकों में स्मरस्ता लाने के लिए इसी दूसरे मार्ग को अपनाने की ओर संकेत किया है । भावलोक को जीवन की मध्यभूमि में रख कर उन्होंने इस बात का स्पष्ट संकेत कर दिया है कि तीनों लोकों में सामन्जस्य लाने के लिए उनकी स्थितियों (Status) में संशोधन आवश्यक होगा और यह संशोधन उपर्युक्त दूसरे मार्ग से ही सम्भव है । ज्ञानलोक को उतार कर और कर्मलोक को उठाकर भावलोक के समकक्ष लाने पर ही 'स्मरस्ता' की सिद्धि हो सकती है । इसके विपरीत यदि भावलोक को उठाकर ज्ञान लोक में मिला दिया जाय या उसे उतार कर कर्मलोक के समकक्ष रख दिया जाय तो जीवन विवर्तुल हो जायेगा । 'मनु' का जीवन स्वतः इसका प्रमाण है । पहले वे भावलोक को उतार कर कर्म लोक के स्तर पर ले आये, जिसके फलस्वरूप उनका कर्तव्य-पथ द्विविधा के तृण-संकुल में खो गया, और वे एक भ्रान्त पथिक की भाँति गलत दिशा में चल पड़े जिसका परिणाम यह हुआ कि 'श्रद्धा' के साहचर्य में भी वे 'पूर्णकाम' नहीं हो सके । इसके पश्चात् उन्होंने इस पक्ष को उठा कर ज्ञानलोक में मिला दिया, वहाँ भी उन्हें तृप्ति नहीं मिल सकी, तर्क-वृद्धि से सारा शान्ति-जल बहता रहा और अन्ततः उन्हें 'निर्वेद' ही हाथ लगा । बाद में जब उन्होंने रागात्मिक भाव-बोध की अधिष्ठात्रि देवी-- श्रद्धा के सहयोग से शीर्षस्थ ज्ञानलोक और अधोस्थित कर्मलोक को भावलोक के समकक्ष ला कर उसमें सामन्जस्य स्थापित

किया, तब उन्हें सच्चे आनन्द की प्राप्ति हुई ।

‘प्रसाद’ की स्मरस्ता निष्पन्द जड़ता का परिणाम नहीं वरन् विषमता का वरदान है । जिस प्रकार जात कार्य-कारण से परिवालित होता है, उसी प्रकार स्मरस्ता सब के मूल में स्थित हो के उनका संचालन करती है । जैसे ज्वाल्य सागर की उमड़ती हुई लहरों में खेलती हुई मणियाँ, तट पर बिखर जाती हैं, उसी प्रकार जीवन की विषमता के मन्थन से स्मरस्ता का अमृत उत्पन्न होता है --

‘नित्य स्मरस्ता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि स्मान,
व्यथा से नीली लहरों बीच,
बिखरते सुख-मणिगण धुतिमान् ।’^१

विषमता ही विश्व को स्पन्दित और सुख-दुःख की सीमा निर्धारित करती है :--

‘विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान,
यहो सुख-दुःख विकास का सत्य
यही ‘भ्रमा’ का मधुमय दान ।’^२

वस्तुतः दो वस्तुओं के बीच का वैषम्य ही उनका सीमांकन और मूल्यांकन करता है । अभावों में ही भावों का बोध होता है और अन्धकार से ही प्रकाश की प्रतीति, मूल से ही प्यास की अनुभूति होती है और विकास से ही ह्रास का अनुमान । देवसेना के शब्दों में, ‘पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का बालोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप ।’^३

सुख और दुःख का अपना अलग अस्तित्व नहीं है । ये दोनों मानसिक स्थितियों के परिचायक--एक ही सिक्के के दो पहलू हैं :--

१- कामायनी : श्रद्धा (पृ० ५४)

२- वही० : श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ५४

३- स्कन्दगुप्त : पृ० ५०

‘लिपटे सोते थे मन में
 सुख दुःख दोनों ही हैं,
 चन्द्रिका अंधेरी मिलती
 मालती कुंजन में जैसे^१।’

व्यापकता के अभाव में ही विषमता का व्यापार दुःख का कारण बन जाता है। जब तक व्यक्ति तटस्थ द्रष्टा और अनासक्त भोक्ता बनकर जीवन-भोगों को भोगता है, तब तक उसे मानसिक उद्वेग नहीं होता, लेकिन जब वह पद्मविशेष में आसक्त होकर अपने स्वरूप को सीमित कर लेता है, तब उसका जीवन त्रयतापों में फुलसने लगता है और उसके लिए विषमता वरदान के स्थान पर अभिशाप बन जाती है। वह ‘मनु’ के शब्दों में चीख पड़ता है --

‘किन्तु जीवन कितना निरुपाय
 लिया है देख नहीं सन्देह,
 निराशा है जिसका परिणाम
 सफलता का वह कल्पित गेह^२’

निराशाजन्य कुण्ठाओं से अभिशप्त होकर वह इस तथ्य को बिल्कुल भूल जाता है--

‘दुःख की पिछली रजनी बीच
 विकसता सुख का नवल प्रभात,
 एक परदा यह फीना नील
 छिपाये है जिसमें सुख गाव^३।’

जीवन में विषमता के इस पीड़क पक्ष का परिहार तभी सम्भव हो पाता है, जब व्यक्ति उसके उस उज्ज्वल पक्ष का साक्षात्कार कर लेता है जो ‘भूमा’ की महान देन है। ‘भूमा’ शब्द स्मृष्टि स्वरूप का पर्याय है। यह संसार को सम्पूर्ण इकाई के रूप में देखने का प्रयास है। इसकी चर्चा छान्दोग्योपनिषद् में नारद सनत्कुमार के संवाद-प्रसंग में हुई है। यहां कहा गया है कि -- ‘निश्चय

१- आंसू, पृ० ४८

२- कामायनी : श्रद्धा, पृ० ५४

३- वही० : श्रद्धा, पृ० ५३

हो जो 'भूमा' है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है । सुख भूमा ही है । 'भूमा' की ही विशेषरूप से जिज्ञासा करनी चाहिए + + जहां कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता वह भूमा है । किन्तु जहां कुछ और देखता है एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है । जो भूमा है वही अमृत है, और जो अल्प है वही मर्त्य है^१ ।

इस भूमा के तीन पर्याय हैं -- महान, निरतिशय और बहु-अर्थात्-निरतिशयता, महानता और बहुलता की समष्टि ही 'भूमा' है । इसके नीचे के पदार्थ सातिशय होने के कारण अल्प हैं, अतः उस अल्प में सुख नहीं, क्योंकि अल्पता तृष्णा को जन्म देती है और तृष्णा की आसक्ति ही दुःख का बीजरूप है । 'भूमा' में दुःख के बीजभूत संकीर्ण विचारों का सर्वथा अभाव होता है, इसलिए भूमा ही सुख स्वरूप है । इस भूमा की स्थिति अनुकूल वेदनीय तथा व्यक्तिगत सुख की संकीर्णता के ऊपर की स्थिति है । हमें संकुचित स्वार्थ का तिरस्कार किया गया है, क्योंकि इससे सुख की सीमा संकुचित हो जाती है । जब हम व्यक्तिगत सुख की कारा में बन्द रहते हैं तो हमारी दृष्टि अनुकूल वेदनीय तक ही रहती है, तथा हमें अपने अहं का ज्ञान रहने के कारण 'स्व' और 'पर' का भेद स्पष्ट लक्षित होता रहता है, परन्तु जब हमारी समष्टिगत चेतना का प्रादुर्भाव होता है, उस समय हमें जिस आनन्द की उपलब्धि होती है, उसमें 'अहं' के सुख का पर्यवसान हो जाता है-- यही 'भूमा' की स्थिति है । यह मधु से पूर्ण और आनन्दमय है । इस प्रकार अनुकूल वेदनीय तथा प्रतिकूल वेदनीय को समान अनुभव करते हुए दोनों में आनन्द की उपलब्धि करना ही 'भूमा' है । और 'समरसता' का यही प्रकृत स्वभाव है, जिसकी प्राण प्रतिष्ठा समन्वय तथा समायोजन से हुई है । हृदय और बुद्धि का समन्वय भी वृत्ति-वैषम्य के समायोजन पर आधारित है जो संयम, शान्ति और सन्तोष का मधुदान प्रदान कर जीवन को अधिक स्पृहणीय

१- 'यो वै भूमा तत्सुखं नात्ये सुखमस्ति भूमेव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य-
इति + + + यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति -
नान्यं द्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति -
तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।'

-- छान्दो योपनिषद्, अध्याय ७ खण्ड २४ ।

बना देता है । प्रसाद साहित्य के प्रमुख आदर्श यात्र भगवान ^१कृष्ण, ^२गौतम, ^३मल्लिका, ^४चाणक्य, ^५दाण्ड्यायन, ^६देवसेना, तथा ^७श्रद्धा आदि का जीवन इसी व्यक्तिगत सामरस्य का प्रतीक है । योगिराज कृष्ण की स्थितिप्रज्ञता, गौतम की मध्यम प्रतिपदा, मल्लिका की कामाशीलता, चाणक्य की निष्काम कर्मठता, दाण्ड्यायन की निर्लिप्त गवना, देवसेना की सरलता, और श्रद्धा की स्वानुभूति सभी सामरस्य मिति पर ही बड़े हैं ।

२- दाम्पत्य तथा पारिवारिक जीवन की स्मरता

युग्म-साहचर्य (Pairing instinct) की भावना दाम्पत्य तथा पारिवारिक जीवन को जन्म देती है, जो सामाजिक जीवन की पीठिका बनकर आता है । दाम्पत्य जीवन जिन मूलभूत तत्वों से परिचालित होता है, उनमें तीन तत्व प्रमुख हैं --

- (१) सौन्दर्य
- (२) संयम और
- (३) प्रेम

व्यक्ति स्वभाव से ही सौन्दर्य-प्रिय हुआ करता है, और इस सौन्दर्य-प्रियता का सीधा सम्बन्ध उसकी रागात्मक वृत्तियों से है । रागात्मक अनुभूतियों का भाव-बोध ही अशिव को शिवत्व प्रदान कर उसे अधिक आकर्षक बना देता है । यही कारण है कि व्यक्ति युग-युग से 'सत्य', 'शिव' के साथ-साथ 'सुन्दर' का भी पुजारी होता आया है । स्तरमेद से इस सौन्दर्य के दो स्वरूप हो जाते हैं--

- (१) बाह्य स्वरूप (रूपगत)
- (२) आन्तरिक स्वरूप (गुणगत)

१- 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' ।

२- 'अज्ञात शत्रु' ।

३- वही०

४- चाणक्य (चन्द्रगुप्त)

५- 'चन्द्रगुप्त'

६- 'स्कन्दगुप्त'

७- कामायनी

सौन्दर्य के वाह्यस्वरूप का सम्बन्ध शारीरिक अवयवों के वाह्य आकार-प्रकार से होता है, और आन्तरिक पक्ष का सम्बन्ध अन्तःवृत्तियों के संस्कृत स्वरूप से। सौन्दर्य के ये दोनों पक्ष एक-दूसरे के पूरक तथा पोषक हैं। दोनों के सामन्जस्य से ही व्यक्तित्व को पूर्णता प्राप्त होती है और पूर्ण व्यक्तित्व ही अधिक अनुरंजक तथा ग्राह्य होता है। यही कारण है कि वैवाहिक जीवन में सौन्दर्य का अपना एक विशिष्ट स्थान है।

दाम्पत्य-सुख के लिए सौन्दर्य का सन्तुलित उपयोग आवश्यक होता है। इसके विपरीत इसका अनियंत्रित भोग विषाद का कारण बन जाता है। सौन्दर्य-भोग को मर्यादित रखने के लिए संयम की आवश्यकता होती है। संयम जीवन के लिए मनुष्य का काम करता है। संयम के अभाव में व्यक्ति असंयत और उच्छ्वसल हो जाता है। उसके जीवन की स्मरसता समाप्त हो जाती है और वह चंचल चित्तवृत्तियों का शिकार हो जाता है। जिसके फलस्वरूप न तो वह सौन्दर्य का समुचित मूल्यांकन हो कर पाता है, और न अपने जीवन-पथ का निर्धारण। ऐसा व्यक्ति प्रेम करने के सर्वथा अयोग्य होता है। उसका प्रेम वासना की लहरों पर तैरने वाला 'बुल्ला' बन कर रह जाता है, वह अनुभूतियों की गहराई में पैठ कर मोती नहीं बन पाता। चूंकि प्रेम ही दाम्पत्य जीवन का सर्वस्व है, अतः अव्यवस्थित चित्त वाला ^{व्यक्ति} प्रेम के अभाव में दाम्पत्य जीवन से वंचित रह जाता है। वासना के पीछे भाग-दौड़ करते हुए, यथार्थ की ठोकर लगने पर जब उसके हृदय को ठस पहुँचाती है, तब वह निर्वेद जन्य व्याकुलता के फंफावात में माग खड़ा होता है। उसकी पिपासा कभी शान्त नहीं हो पाती। प्रसाद साहित्य में मागन्धी (श्यामा),— विजया, (स्कन्दगुप्त) किशोरी, (कंकाल) तथा मनु (कामायनी) जैसे चंचल चित्त वाले पात्रों के दुःखद जीवन-प्रसंगों से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। संयम के अभाव में ही इन पात्रों को दाम्पत्य-सुख की प्राप्ति नहीं हो सकी।

मागन्धी (श्यामा) का जीवन उसके लिए पहली इसलिये बन जाता है कि वह अपने भावों का नियमन नहीं कर पाती। उसकी अतृप्त वासना उसके जीवन में एक घुटन पैदा कर देती है। वास्तविक स्वरूप के परिवर्तन की इच्छा

उसके जीवन में इतनी विषमता ला देती है कि उसमें उसकी स्त्री सुलभ सरलता की बलि हो जाती है^१, परिणामस्वरूप वह कठोरता की प्रतिभूर्ति बन कर फूलों की धूल से अंगराग बनाना चाहती है, चाहे उसमें कितनी ही कलियों को क्यों न कुचलना पड़े^२। भोग-लिप्सा की बुभुक्षा से विजया का जीवन भी उसके लिए एक पहेली बन जाता है। तृष्णा की अतिशयता उसके जीवन को इतना अस्थिर बना देती है कि वह स्वयं किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाती है। पवनाघोन फताका-पी कभी वह एक दिशा में मागती है, कभी दूसरी दिशा में। कभी 'स्कन्द' को देखकर उसका मन ढीला हो जाता है तो कभी वह चक्रपालित के वीर हृदय, प्रशस्त वज्र और उदार मुखमण्डल पर मुग्ध हो जाती है^३। अन्त में वह बिना सोचे-समझे वास्तनाभिभूत होकर अपने आप को मटार्क के चरणों में डाल देती है, जहां उसे दाम्पत्य-सुख के स्थान पर मिलता है फूलों का तोत्र दंशन और आत्मग्लानि का गहरा क्षोभ। अन्ततः उसके जीवन का अन्त होता है, आत्म-हत्या के दुःखद प्रसंग में। मनु का दाम्पत्य-जीवन भी इसीलिए अपूर्ण रहा कि उन्होंने श्रद्धा के केवल वाह्यस्वरूप को ही अपनाया था^४, और अपने पौरुष के मिथ्या दम्प में

क्या

- १- 'इस बुद्धिमत्ता का ठिकाना ? वास्तविक रूप में परिवर्तन की इच्छा मुझे इतनी विषमता में ल आई। अपने परिणियति को सत्य न रखकर व्यर्थ महत्त्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख-लिप्सा ही में पड़ी -- उसी का यह परिणाम है। स्त्री-सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गये। जो अब केवल एक संकोच दायिनी स्मृति के रूप में अवशिष्ट रह गये।' -- अजातशत्रु, पृ० १६४
- २- 'फूल की तरह आयी हूँ, परिमल की तरह चली जाऊंगी। स्वप्न की चन्द्रिका में मलयानिल की सेज पर सेलूंगी। फूलों की धूल से अंगराग बनाऊँगं चाहे उसमें कितनी ही कलियाँ क्यों न कुचलना पड़े। चाहे कितनी ही के प्राण जाय, मुझे कुछ चिन्ता नहीं। कुम्हला कर फूलों को कुचल देने में ही सुख है।' -- अजातशत्रु, पृ० ६३।
- ३- 'इस उदार दृष्टि से तो चक्रपालित क्या पुरुष नहीं है? हे अवश्य। वीर हृदय है, प्रशस्त वज्र है, उदार मुख-मण्डल है।' -- स्कन्दगुप्त, पृ० ५३।
- ४- 'मनु! उसने तो कर दिया दान वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमें जीवन का भरा मान। जिसमें चेतनता ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान। पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र। सौन्दर्य जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र। तुम अति अबोध, अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके। परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रुके।' -- कामायनी : इडा, पृ० १६३

उस विश्वासमयी मातृमूर्ति को ठुकरा कर उसके प्रणय-प्रकाश से वंचित रह गये थे^१।
जिसके लिए उनके काम ने स्वयं उन्हें फटकारते हुए कहा था --

मनु तुम श्रद्धा को गये मूल ।

उस पूर्ण आत्म विश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तुल।

+ + +

तुम मूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की ।

स्मरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की^२ ।

इस प्रकार मौन्दर्यप्रियता, संयम और प्रेम-निष्ठा के सामन्तस्य पर ही दाम्पत्य-सुख की प्राप्ति होती है, इनके समरस्य के अभाव में दाम्पत्य-सुख विषमता की काल-कोठरी में घुट-घुट कर अपना दम तोड़ देता है ।

दाम्पत्य-जीवन का विस्तार ही पारिवारिक जीवन का आधार होता है, जिसका नियमन भी संयम द्वारा ही सम्भव है । यह संयम तीन प्रकार का होता है, इसकी तीन विधायें होती हैं --

(१) मानसिक संयम

(२) वाचिक ,,

(३) कायिक ,,

मानसिक संयम का विशेष सम्बन्ध हमारे व्यक्तिगत जीवन से रहता है तथा शेष वाचिक तथा कायिक संयम पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के लिए विशेष उपादेय माने गये हैं । इनके अभाव में व्यावहारिक जीवन नीरस हो जाता है, और उससे बड़े-बड़े अनर्थ सँझहो जाते हैं । महाभारत का दुःखद प्रसंग द्रौपदी के कठोर व्यंग्य का ही परिणाम था , और सीता की कटुति ही उनके अपहरण की भूमिका बन गयी थी । जुमते हुए व्यंग्य दो हृदयों के बीच ऊँची दीवार सँझो कर देते हैं । जिस परिवार में इस संक्रामक रोग का प्रवेश हो जाता है, वह परिवार धीरे-धीरे टूटने लगता है , उसकी सारी सुख-शान्ति गृह-कलह का हविष्य बन

१- तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया

हा जलन वासना को जीवन-भ्रम तम में पहला स्थान दिया ।

--कामायनी, पृ० १६३

२- कामायनी : उड़ा सर्ग, पृ० १६२

जाती है । प्रपाद-कृत अज्ञातशत्रु में , मगध, कौशाम्बी का गृह-कलह वाक् - संयम के अभाव का ही प्रतिफलन है जिसकी ओर श्रेष्ठ करते हुए गौतम ने कहा था --
राजन् । संसार के उपद्रवों का मूल व्यंग्य है । हृदय में जितना वह घुसता है,
उतनी कटार नहीं । वाक्-संयम विश्व-मैत्री की पहली सीढ़ी है^१ ।

वाक्-संयम का अभाव धानसिक आन्तुलन का परिचायक है । जब ज्यक्ति के विचारों में सामरस्य नहीं रह जाता, तब वह छोटी-छोटी बातों पर आत्म-नियंत्रण खो बैठता है । जिस प्रकार वर्नन में रहे हुए पानी में एक छोटी-सी कंकड़ी डाल देने पर उसके नीचे तह में पैठी हुई भारी गन्दगी ऊपर आ जाती है, उसी प्रकार जीवन का सामान्य से सामान्य प्रसंग भी अव्यवस्थित चित्त वाले व्यक्ति की शान्ति-भंग कर देता है और उस व्यक्ति का सारा क्लृप्त बाहर फूट पड़ता है-- कट्टकियों, व्यंग्यों तथा अशोभन व्यवहारों के रूप में । फलतः उसका पारिवारिक जीवन कटु हो जाता है । इस कटुता को मिटाने के लिए आन्तरिक वृत्तियों का विनियोजन आवश्यक है, और यह विनियोजन तभी सम्भव है, जब उन वृत्तियों में स्मरसता की ही स्थिति लायी जाय ।

व्यक्ति और समाज की स्मरसता

'प्रसाद साहित्य' में व्यक्ति और समाज की स्मरसता का विशेष प्रतिपादन सारस्वत सभ्यता के अन्तर्गत किया गया है जिसमें व्यष्टि और समष्टि के समन्वय पर बल देने हुए स्वस्थ समाज निर्माण की प्रेरणा दी गयी है । समाज व्यष्टिगत इकाई का एक समष्टिगत रूप है । इन दोनों के बीच अधिकार और कर्तव्य की सीमायें सम्बन्ध-सूत्र का काम किया करती हैं । व्यक्ति समाज से अपने अधिकारों की मांग करता है, और समाज व्यक्ति से उसके कर्तव्य-पालन की अपेक्षा रखता है । इस अधिकार और कर्तव्य के बीच स्मरसता की स्थिति आने पर ही व्यक्ति और समाज के निकट सम्बन्धों में सन्तुलन बना रहता है । इसके विपरीत

जब इन दोनों के बीच वैषम्य की स्थिति आ जाती है, तब व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध भी कटु हो जाता है। इस वैषम्य का मुख्य कारण जीवन का स्कांगी दृष्टिकोण हुआ करता है। जब व्यक्ति अपने कर्तव्यों की अवहेलना करता हुआ, केवल अधिकारों की चर्चा को ही प्रसुता देने लगता है, अथवा समाज अधिकारों के औचित्य की उपेक्षा करता हुआ केवल व्यक्ति के कर्तव्य-पालन की आवश्यकता पर ही विशेष बल देने लगता है, तब व्यक्ति और समाज के बीच विषमता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसका विस्फोट सामाजिक व्यवस्थाओं को हिन्न-भिन्न कर देता है। इस संकुचित स्कपक्षीय दृष्टिकोण की अवतारणा प्रायः दो कारणों से हुआ करती है --

(१) मोगलिप्सा

(२) गहिँत, संकीर्ण स्वार्थ-वृत्ति।

व्यक्ति स्वभाव से ही सुख-प्राप्ति का इच्छुक होता है। इसीलिए वह अपनी मोग-वृत्तियों की तृप्ति के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न किया करता है।

चूंकि व्यष्टि और समष्टि (व्यक्ति-समाज) एक-दूसरे के पूरक हुआ करते हैं, अतः इन्हें सन्तुलित रखने के लिए इन दोनों के बीच 'मोग' की एक सीमा होनी चाहिए, क्योंकि मोगलिप्सा अपनी सीमा का अतिक्रमण करने पर व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक बन जाती है --

‘अपना हो या ओरों का सुख ॥ बढ़ा कि बस दुःख बना वही,
कौन विन्दु है रुक जाने का, यह जैसे कुछ ज्ञात नहीं ।’^१

व्यक्ति की इस स्कान्त मोगलिप्सा के मूल में उसकी संकीर्ण स्वार्थ वृत्ति काम करती रहती है। विचारों की यह संकीर्णता ही उसे सारी सुख-सुविधाओं को अपने-आप में ही समेट लेने की प्रेरणा प्रदान करती है। इसीलिए वह उत्पादन के साधन-- श्रम, पूँजी तथा धरती पर एकाधिकार पाने के लिए अधीर हो उठता है। व्यक्ति का यही स्कान्त स्वार्थ सामाजिक क्रान्ति का कारण बन जाता है।

‘सारस्वत प्रदेश’ में जो सामाजिक क्रान्ति हुई है, उसके दो कारण थे --

हह-----

१- कामायनी : निर्वेद, पृष्ठ २१०

(१) पहला कारण तो यह था कि उसमें शासक और शासित के बीच 'स्मरस्ता' का अभाव हो गया था । मनु की स्कान्त मोगलिप्सा ने उसे इतना अंधा बना दिया था, कि उसने अपने सारे दायित्वों को तिलांजलि देकर एक निरंकुश शासक की नृशंसता अपना ली थी ।

(२) दूसरा कारण यह था कि सारस्वत प्रदेश का सामाजिक संगठन पूंजीवादी व्यवस्था के अनुरूप संव्यशील प्रणाली पर हुआ था, जिसके उत्पादन और वितरण में यमन्जस्य की कमी थी । उत्पादन के सभी साधन कुछ हाथों में केन्द्रित हो गये थे, और शेष स्मुदाय का जीवन जर्जर हो गया था । फलतः शोषण से पीड़ित होकर सारस्वत प्रदेश की प्रजा पुकार उठी थी --

‘तुमने योग दैम से अधिक संवय वाला,
लोम सिखा कर इस विचार-संकट में डाला ।
हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बना कर निज कृत्रिम दुःख ।
प्रकृतिशक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर मनीनी^१ ।।’

अन्ततः ऋद्धा ने इस वैषम्य का समाधान, मानव में बुद्धि, हृदय और मननशील के समन्वय द्वारा 'स्मरस्ता' के प्रचार-रूप में प्रस्तुत किया --

हे सौम्य ! इहा का झुचि डुलार
हर लेगा तेरा व्यथा-- मार ।

यह तर्कमयी तू 'ऋद्धामय'
तू मननशील कर कर्म अमय,
इसका तू सब सन्ताप-निचय
हर ले, मानव हो भाग्य उदय ।

सब की स्मरस्ता कर प्रचार ।
मेरे सुत सुन मां की पुकार^२ ।

१- कामायनी : संघर्ष, पृष्ठ १६६

२- वही० : दर्शन, पृ० २४४ ।

प्रकृति और पुरुष की समस्या

प्रकृति और पुरुष के सम्बन्धों की विशेष चर्चा दार्शनिक चिन्तन के सन्दर्भों में हुई है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में इस समस्या को उठाकर शिवशक्ति के सामरस्य से उद्भूत सृष्टि (प्रकृति का व्यक्तरूप) को सत्य माना गया है और जगत तथा ब्रह्म के सामरस्य पर विशेष बल देते हुए अमेदवाद को जीवन के साध्यरूप में स्वीकार किया गया है। 'प्रसाद' जी ने इस दार्शनिक चिन्तन को व्यावहारिक स्तर पर ला कर भ्रान्त जीवन को प्रकृति के पुनीत प्रांगण में लौटने की प्रेरणा दी है। इसे उन्होंने दो रूपों में रखा है --

- (१) एक तो उन्होंने अपने साध्य-- आनन्दवाद की प्राप्ति प्रकृति के पुनीत प्रांगण में कराई है, जहाँ प्रकृति का मनोरम वातावरण फैला हुआ है। श्रद्धा के सहयोग से मनु कैलाश पर्वत पर जाकर 'आनन्द' के रहस्य से परिचित होते हैं और अन्त में उन्हें अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है।
- (२) दूसरे प्रकृति और मानव को पास-पास रखकर प्रकृति के विविध रूपों की मांकी प्रस्तुत की है। यहाँ पर प्रकृति हमारे जीवन का अभिन्न अंग होकर उसके सभी पदार्थों से घुल-मिल जाती है। क्या दुःख, क्या सुख, सभी प्रसंगों से उसका गहरा सम्बन्ध हो जाता है। मनु का चिन्तन हिमालय के उज्जुं शिखर पर शिला की शीतल छाँह से प्रारम्भ होता है, और प्रकृति के उल्लासपूर्ण वातावरण से उन्हें 'आशा' की प्रेरणा मिलती है। अपनी मधुरिमा में मौन प्रकृति का सौया सन्देश ही 'श्रद्धा' में ललित कला की अभिरुचि उत्पन्न करता है, और दाम्पत्य-जीवन की उदास बेला में भी उसे प्रकृति की ही याद आती है --

ढह गया दिवस पीला पीला

तुम रक्तारुण बन रहे घुम,

देखी नीझों में विहग युगल

अपने शिशुओं को रहे घुम ।

उनके घर में कोलाहल है

भरी सुनी है गुफा द्वार । १

१- कामायनी : इच्छा, पृ० १४४

अन्त में आनन्द की प्राप्ति भी कलह-कोलाहल से दूर प्रकृति के शान्त वातावरण में होती है, जहाँ जड़ और चेतन सभी स्मरस हो जाते हैं^१। यही प्रसाद का समन्वयवाद है।^२ कामायनी काव्य में यह समन्वयात्मक दर्शन 'स्मरसता' के नाम से अभिहित है + + + इसे नवीन विज्ञान और चिर नवीन भारतीय दर्शन की संगमभूमि भी कहा जा सकता है^३।

इस प्रकार प्रसाद-जीवन में मध्यम मार्ग का अनुगमन करने वाले अतिवाद से ऊँचे उठे हुए व्यक्ति थे। वे अपनी साधना में जीवन के ऐसे मिलन-विन्दु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर अतिबौद्धिकता का मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर अतिभौतिकता का, एक ओर अति आसक्ति की राह छूट जाती है, दूसरी ओर अति विरक्ति की। समन्वय-साधना के इस चतुष्पथ पर खड़े होकर इस महान कलाकार ने जिस 'स्मरसता' का सन्देश दिया है, वह गहरी अनुभूतियों का ऐसा अनाय मधुकोश है, जिसमें जीवन के विविध पक्षों का पुष्प-रस घुल-मिल कर आनन्द की सौरभ-सिक्त मधुधारा के रूप में फूट पड़ा है, जिसमें त्रयतापों को हर लेने की पूर्ण क्षमता है।

-0-

१- 'स्मरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक बिलसती
आनन्द अखण्ड घना था।'

-- कामायनी : (आनन्द पृ० २६४)

२- आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी : आधुनिक साहित्य (पृ० ६०, ६३)

(प्रथम खण्ड)

पंचम - अध्याय

-०-

आनन्दवाद
~~~~~

## पंचम अध्याय

-0-

### आनन्दवाद

\*\*\*\*\*

दुःख-निवृत्ति तथा सुख-प्राप्ति की बलवती स्पृहा सृष्टि का एक शाश्वत सत्य है । सृष्टि के आदिकाल से ही प्राणिमात्र में चली आती हुई , सुख-प्राप्ति की यह सहज लालसा युग-युग से अपनी चिरन्तनता में अज्ञाप्ता बनो हुई है । प्रत्येक कार्य के मूल में सुख-प्राप्ति की यही 'ईहा' काम किया करती है । सूक्ष्म स्तर पर इस सुखात्मक भाव-बोध के दो घरातल हो जाते हैं :--

(१) संवेदन पदा ।

(२) अनुभूति पदा ।

सुख का संवेदन पदा स्पृहा मूलक हुआ करता है । 'स्पृहा' आकांक्षा का वह तरल रूप है जिसमें लालसा और ललक की भावना अनुस्यूत रहती है । सुख-लालसा द्वारा प्रेरित हमारी अन्तश्चेतना, जहाँ एक ओर प्रतिकूल पड़ने वाले पीड़क पदार्थों से दूर होना चाहती है, वहीं दूसरी ओर अनुकूल पड़ने वाले सुखद पदार्थों की प्राप्ति के लिये उत्सुक भी रहा करती है । यही उत्सुकता सुख-प्राप्ति के लिये विविध विधानों का आयोजन कर, दृष्टिकोण के अनेक स्तरों को खोलती चलती है, जिसके माध्यम से हमारी अन्तश्चेतना अभीप्सित वस्तु को प्राप्त कर, अपनी भोग-वृत्तियों की तृप्ति किया करती है । जहाँ तक सुख-संवेदना का प्रश्न है, उसका उद्भव - स्तर देश,काल तथा परिस्थिति से परे 'एक रूप' हुआ करता है । सभी प्राणियों में सुख-प्राप्ति की स्पृहा का उद्भव समान रूप से होता है, उसमें कोई मौलिक अन्तर नहीं हुआ करता । लेकिन विकास-क्रम की परम्परा में देश,काल तथा परिस्थितिजन्य रुचि-वैमिन्य के फलस्वरूप सुख-प्राप्ति के साधन-उपायों में दृष्टि-भेद हो जाता है । लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल उपकरणों का चयन कर, उनके द्वारा भोग्य पदार्थों की प्राप्ति करते हैं । सुख-प्राप्ति के माध्यमस्वरूप उपकरणों में ज्यों-ज्यों

अन्तर आता-जाता है, त्यों-त्यों अनुभूति की भी अनेक विधायें होती हैं जाती हैं । कोई अनैतिकता पूर्वक दूसरों की सम्पत्ति-हरण द्वारा सुखानुभूति की प्राप्ति करता है, और कोई राजनीतिक दाव-पेंचों से अधिकार-सत्ता की प्राप्ति द्वारा । कोई स्वच्छन्द और यौन-व्यापार में सुख को खोज करता है, तो कोई इन्द्रिय दमन और वृत्तियों के उन्मयन में । कोई योग को जीवन का सत्य मानता है, तो कोई भोग को । कोई मौक्तिक उपलब्धियों के माध्यम से सुख-प्राप्ति के लिये लालायित रहता है, तो कोई आध्यात्मिक अनुभूतियों के माध्यम से उसे पाने का इच्छुक । वृत्तियों के इसी आधार पर गीता में सुख की तीन विधायें मानी गयी हैं --१- सात्त्विक सुख, २- राजसी सुख और ३- तामसिक सुख ।

अनुभूति पदा के इसी स्तर-मेद को दृष्टि में रख कर जीवन के दो पदा माने गये हैं :--

(१) मौक्तिक पदा ।

(२) आध्यात्मिक पदा ।

मौक्तिक पदा हमारी सुख-सुविधाओं का पूरक है और आध्यात्मिक पदा आनन्द प्राप्ति का सिद्ध पीठ । यद्यपि स्थूल दृष्टि से 'सुख' और 'आनन्द' में कोई मेद नहीं किया जाता, बल्कि दोनों को ही एक-दूसरे का पर्याय मान लिया जाता है, पर भावों के सूक्ष्म घरातल पर दोनों की सीमायें एक-दूसरे से पृथक् हो जाती हैं । उनके स्वरूप-बोध में मौक्तिक अन्तर आ जाता है ।

सुख का सम्बन्ध पृथुलता से है और आनन्द का सूक्ष्मता से । सुख में विलास-भावना की बहुलता रहती है, और आनन्द में अखण्ड उत्साह का आधिक्य । एक की परिणति विषाद में होती है, दूसरे की 'आह्लाद' में । इस प्रकार आनन्द हमारे उदात्त भाव-बोधों की वह समष्टि है, जिसमें हमारे व्यवस्थित व्यक्तित्व के सभी भाव अपनी समन्वयात्मक प्रक्रिया द्वारा हमें स्थायी मानसिक

१- गीता, अध्याय १८, श्लोक ३७, ३८, ३९ ।

२- 'सुख स्थूल शरीर का धर्म है इसलिए वह हमारा साध्य नहीं, हमारा साध्य आनन्द होना चाहिए, क्योंकि इसकी प्राप्ति करना आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानना है ।'

रामलाल सिंह -- काभायनी-अनुशीलन, पृ० १७८

शान्ति प्रदान करते हैं<sup>१</sup>।

सुख-भावना ऐन्द्रिकता पर आधारित अभावों की पूर्ति का परिणाम है। भौतिक उपलब्धियाँ इसकी पोषिका बन कर आती हैं। चूंकि सुख-भावना वर्द्धिमुखी हुआ करती है, अतः अभाव-पूरक पदार्थों की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति के अनुरूप इसकी 'मात्रा' में भी वृद्धि और ह्रास की प्रक्रिया हुआ करती है। चूंकि सुख-भावना अभाव-पूर्ति पर आधारित रहती है, अतः इसका अस्तित्व भी क्षाणिक होता है, जिसमें एक रस स्थिरता नहीं पायी जाती। क्योंकि अभावों का कभी अन्त नहीं होता। एक अभाव की पूर्ति होती है, तब तक दूसरा अभाव मुंह खोले खड़ा हो जाता है, जिसके फलस्वरूप सुख-भावना की स्थायी तृप्ति नहीं हो पाती। मानव-हृदय प्यासा का प्यासा रह जाता है। इस स्थायी तृप्ति का आधार अबाध भोगवाद नहीं, बल्कि आनन्द का वह उदात्त रूप है जो वर्द्धिमुखी होने की अपेक्षा अन्तर्मुखी अधिक हुआ करता है। 'आनन्द' का यह सत्स्वरूप शान्ति, संकम और संतोष का वह संगम है, जिसका समागम पाकर व्यक्ति त्रय तापों से मुक्ति पा जाता है। इसका मुकाबल भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता की ओर अधिक होता है। भारतीय चिन्तन-परम्परा में इसी आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य घोषित किया गया है। विभिन्न दर्शनों में निरूपित अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष, निर्वाण, मुक्ति, अपवर्ग आदि उसी आनन्दावस्था के द्योतक हैं। भारतीय संस्कृति का मौलिक स्वरूप आनन्दे मूलक रहा है। सत्य, सौन्दर्य के उपासक आर्यों ने आनन्द को ही अपनी साधना का साध्य स्वीकार कर दार्शनिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में उसका अनुशीलन किया था। यही कारण है कि भारतीय दर्शन और साहित्य की अन्तिम परिणति आनन्द-भावना में होती आयी है। दार्शनिक चेतना के विकास-क्रम में प्रकृति, जीव और ब्रह्म को क्रमशः सत्, सत्+चित्,

१- "Happiness arises from the harmonious operation of all the sentiments of a well organised and unified personality and in which the principal sentiments support one another, in a succession of actions all of which tend towards the the same or closely allied and harmonious ends."

--W. Mc Dougall, Social Psychology. P. 134.

स्त+चित्त+आनन्द, में युक्त मान कर, ब्रह्म को अपने चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु बनाना और पंचकोषों में आनन्दमयकोष को सर्वोच्च स्थान प्रदान कर उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करना आर्यों की आनन्द भावना और आनन्दमूलक साधना-पद्धति के प्रति उनकी आस्था का परिचायक है । प्रसाद ने अपने निबन्धों में बड़े सुव्यवस्थित ढंग से आनन्द मूलक साधना-पद्धति की विकास-परम्परा को रूप-रेखा प्रस्तुत की है । प्रसंगानुसार उसपर एक विहंगम दृष्टिपात कर लेना अधिक उपयुक्त होगा ।

प्रसाद ने वैदिक काल से चली आता हुई आनन्द को अङ्गुष्ठा परम्परा को स्वीकार किया है । प्राचीन आर्य लोग... सदैव से अपने क्रिया-कलाप में आनन्द, उल्लास और प्रमोद के उपासक रहे और आज के भी अन्य देशीय तरुण आर्य-संघ आनन्द के मूल संस्कार से संस्कृत और दीक्षित हैं । आनन्द-भावना, प्रिय-कल्पना, और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी<sup>१</sup> ।

वैदिक काल के उषाकाल में ही हमें भारतीय चिन्तन की दो धाराओं का आदि स्रोत मिल जाता है । उस काल में जहाँ एक ओर 'सकेश्वरवाद' की धारा का विकास हो रहा था, वहीं दूसरी ओर 'आत्मवाद' की स्रोतस्विनी भी फूट रही थी । एक का प्रेरक तत्त्व विवेकमूलक बुद्धिवाद था और दूसरी का 'आनन्दवाद' । दोनों के दो प्रतीक थे -- वरुण और इन्द्र । वरुण विवेक मूलक बुद्धिवाद के प्रतिनिधि देवता थे और इन्द्र आत्ममूलक आनन्दवाद के । विकास की प्रारम्भिक अवस्था में चिन्तन की ये दोनों धारायें समानान्तर गति से प्रवाहित होती रहीं, पर कालान्तर में 'आनन्दवाद' की विचारधारा अधिक समादृत तथा तरुण आर्यों

१- प्रसाद : काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४६ ।

२- पांचालों में अनेक अश्वमेध यज्ञ हुए, किन्तु प्रवाहणजैवल्लि नामक पांचाल राजा ने सोचा कि क्या इन क्रियाओं में लीन रहना ही सर्वस्व है, उसने विद्रोह किया और क्रिया काण्ड के विरुद्ध ज्ञानवाद का प्रचार किया । अनेक ब्राह्मणों ने उससे 'आत्मवाद' की शिक्षा ली ।

--विश्वम्भरनाथ उपाध्याय--हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ११

३- 'सकेश्वरवाद' के वरुण और 'आत्मवाद' के इन्द्र प्रतिनिधि माने गए । वरुण न्याय पति राजा और विवेक पक्ष के आदर्श थे । महावीर इन्द्र आत्मवाद और आनन्द के प्रचारक थे । --काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४६-५० ।



द्वारा गृहीत होती गई और इन्द्र को उन्होंने अपना अधिनायक स्वीकार कर लिया । वरुण को देवताओं के अधिपति पद से हटना पड़ा, इन्द्र के आत्मवाद की प्रेरणा ने आर्यों में आनन्दवाद की विचार-धारा उत्पन्न की । फिर तो इन्द्र ही देवराज पद पर प्रतिष्ठित हुए + + + सप्तसिन्धु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनन्द-वादी धारा का अधिक स्वागत किया, क्योंकि वे स्वत्व के उपासक थे<sup>१</sup> । उत्तर वैदिक काल में आ कर यज्ञमूलक कर्मकाण्डों पर विशेष बल दिया जाने लगा, जिसके फलस्वरूप 'यज्ञ' के स्वरूप में भी पर्याप्त परिवर्तन होने लगा । जहाँ पूर्व वैदिक काल में निरामिष यज्ञों का प्रचार था, वहाँ उत्तर वैदिक काल में सामिष यज्ञों की एक परम्परा चल पड़ी । जिस समय यज्ञ के स्वरूप का इस प्रकार विस्तार हो रहा था उस समय आर्यों का एक वर्ग अपने दार्शनिक विचारों की उपयोगिता के संघर्ष में उलझा हुआ था । उसे यज्ञ के इस विकृत स्वरूप के प्रति घृणा तथा कर्मकाण्डों के प्रति अरुचि हो चली थी । जब आत्मवाद के समर्थक वैदिक आर्यों की विचार-धारा इस यज्ञमूलक विचार-धारा को स्मेट कर चिन्तन की नयी दिशा में प्रवहमान होने लगी, और उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञों की आयोजना में उल्लासपूर्ण आनन्द के दृश्यों को देखना प्रारम्भ कर दिया, तब आर्यों का यह असन्तुष्ट वर्ग यज्ञमूलक आत्मवाद के समर्थक आर्य-संघ से पृथक् हो गया और उसने अपना अलग चिन्तन प्रारम्भ किया जो विवेकमूलक मान्यताओं पर आधारित था । वैदिक आर्यों ने इस नये वर्ग को 'ब्राह्मण' की संज्ञा दी । ऋजु का वृष्णि-संघ और मगध का 'ब्राह्मण' वर्ग तथा जैन बौद्ध दर्शन की चिन्तन धारायें इसी वर्ग की परम्परा में जाती हैं । उत्तर वैदिक काल के अन्तिम चरण तक आते आते भारतीय चिन्तन-धारा तीन वर्गों में विभक्त होकर बहने लगी । पहली धारा वैदिक धारा थी जिसका प्रतिनिधित्व ब्राह्मण अनुयायी वैदिक आर्यों के वर्ग ने किया था, यह वर्ग यज्ञमूलक आत्मवादी विचारधारा का पोषक था । दूसरी विचार-धारा ब्राह्मणों से स्वतन्त्र ब्राह्मण आर्य वर्ग की धारा थी, जो यज्ञ तथा कर्मकाण्ड में अनास्था रखते थे । तीसरी धारा वैदिक परम्परा से पृथक् उन स्वतन्त्र नेताओं की विचारधारा थी जिसे आर्यों ने 'अनार्यवर्ग' के अन्तर्गत रखा था । यह तीसरी धारा वस्तुतः वरुणोपासकों की अवशेष परम्परा थी, जिन्हें

असुरों की संज्ञा दी गई थी<sup>१</sup>।

इस प्रकार उत्तर वैदिक युग के परवर्तीकाल में ५००ई०पू० के आस-पास वैदिक धर्म का स्वरूप कर्मकाण्ड की संकुचित सीमा में सिमट कर अधिक विकृत और रूढ़िग्रस्त हो चुका था, जिसकी घोर प्रतिक्रिया बौद्धकाल में हुई और इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप तीन सुधार आन्दोलनों का आविर्भाव हुआ --

१- जैन-सुधार आन्दोलन

२- बौद्ध सुधार आन्दोलन

३- वासुदेव सुधार आन्दोलन<sup>२</sup>

जैन और बौद्ध-सुधार आन्दोलन अवैदिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाले परम्परागत रूढ़ियों के घोर विरोधी आन्दोलन थे। इन आन्दोलनों ने वैदिक (ब्राह्मणानुयायी) आर्यों द्वारा मान्यता प्राप्त जातिवाद, यज्ञपूजा, कर्मकाण्ड बेर्हि वेदादि का खल कर सण्डन किया और बौद्धिक विवेचना के आधार पर अपने दर्शन की प्रतिष्ठा की। वासुदेव-सुधार आन्दोलन वैदिक परम्परा का एक शोधक रूप था जिसका सम्बन्ध 'सात्वत धर्म' से माना जाता है। यद्यपि इस आन्दोलन का सूत्रपात ब्राह्मणकाल में ही हो चुका था, लेकिन विकास बौद्धकाल में आ कर हुआ। इसके प्रवर्तक 'वासुदेव' नामक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। बाद में इनका नाम कृष्ण से जोड़कर इन्हें 'वासुदेवकृष्ण' की उपाधि से विभूषित कर दिया गया। आगे चलकर

१- उस प्राचीन काल में जब विचार-धारा का आकस्मिक परिवर्तन हुआ और ज्ञान की विभिन्नता से सामाजिक और धार्मिक संघर्ष चला तब उन अग्रजन्माओं में दो प्रधान भेद हुए, एक प्राचीन वरुण के अनुयायी 'असुर' और दूसरे इन्द्र के अनुयायी 'सुर'। -- प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट (कोषात्सव स्मारक संग्रह से संग्रहीत)

२- डा० धीरेन्द्र वर्मा: मध्यदेश, पृ० ७३।

३- ब्राह्मणकाल के बाद सात्वतधर्म का प्रचार हुआ। इसके आराध्यक थे वासुदेव कृष्ण। वासुदेव व कृष्ण भी भिन्न-भिन्न देवता थे, जो बाद में एक हो गए, यही नहीं वासुदेव कृष्ण को आगे नारायण और विष्णु से मिला दिया गया।

-- श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय: हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि,

पृष्ठ १२५।

पौराणिक काल चिन्तन-प्रणालियों का एक संक्रान्ति-काल रहा है । इस काल में आकर पूर्ववर्ती विचार-धाराओं में एक नया मोड़ आने लगा था । 'आत्मवाद' तथा 'अनात्मवाद' को पोषक परम्परायें अपने अतिवाद से ऊब कर भक्तिभावना की ओर झुकने लगी थीं , और उन्होंने अपने अपने दृष्टिकोण से भक्ति के स्वरूप को ग्रहण करना भी प्रारम्भ कर दिया था । इस प्रकार चली आती हुई चिन्तन प्रणालियों की धीरे प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई थी । विवेक और आनन्द की चली आती हुई विष्णु धाराओं में अब मिश्रित विचारों की द्विविध धारायें फूटने लगी थीं, जिनके आलोड़न-विलोड़न के फलस्वरूप अनेक सम्प्रदायों को सृष्टि प्रारम्भ हो गयी थी । इनमें निम्नांकित सम्प्रदाय प्रमुख रहे --

(ख) महायान -- (तान्त्रिक परम्परा) कामाचार मूलक  
ज्ञानन्दवाद ।

(ऐन्द्रिय परक आनन्दवाद)

वैष्णव सम्प्रदाय वैदिक धारा की आत्मवाद मूलक आनन्दवादी परम्परा का संशोधित स्वरूप था । अबतक इन्द्र द्वारा प्रचारित आत्ममूलक आनन्दवाद का स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक संकुचित और वासनात्मक हो चला था । अपूर्ण अहंता और व्यष्टिमूलक भावना ने उसे विकृत बना डाला था और वह एक वर्ग-विशेष की सम्पत्ति हो चला था । अतः इसकी प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी । इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप पौराणिक धर्म की अवतारणा हुई जिसने अवतारवाद की सृष्टि की । राम और कृष्ण विष्णु के अवतार माने गये, और उन्हें क्रमशः 'मर्यादापुरुषोत्तम'

तथा 'लीला पुरुषोत्तम' के रूप में पूजा जाने लगा । ये दोनों ही अवतार दो विचार-धाराओं का प्रतिनिधित्व करते थे । मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम को विवेकवाद का प्रतीक माना गया और लीला पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण के व्यक्तित्व में बुद्धिवाद तथा आनन्दवाद का समन्वय कर दिया गया<sup>१</sup> ।

स्क और वे आंगिराज थे, दूसरी ओर योगिराज स्क और रास-लीलाविहारी थे दूसरी ओर गुरु गीता के उपदेष्टा । इधर बौद्ध सम्प्रदाय भी विचारों का द्वन्द्व लेकर हीनयान तथा महायान नामक दो सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था । हीनयान सम्प्रदाय में विवेक मूलक दुःखवादी परम्परा पलती रही, और महायान सम्प्रदाय उपासना की नयी विधियों के साथ आनन्द विशेष की दिशा में बढ़ता रहा, जिसने आगे चलकर बौद्ध तान्त्रिकों की कामाचार मूलक साधना का पथ प्रशस्त किया । जिस समय वैष्णव तथा बौद्ध सम्प्रदायों का विकास हो रहा था उसी समय इन दोनों के समानान्तर शैव-शाक्त नामक स्क तीसरा सम्प्रदाय भी विकसित हो रहा था । इस सम्प्रदाय के बीजस्म वेदों में विद्यमान थे । उत्तर वैदिक काल में वेदों के 'रुद्र' को भारत के मूल निवासियों के देवता पशुपति से मिला दिया गया और उपनिषदों में उनके रौद्र रूप को 'ब्रह्म' में निरूपित कर उन्हें सृष्टि संहारक देवता के रूप में ग्रहण कर लिया गया । यही 'रुद्र' पौराणिक काल में स्वतन्त्र देवता के रूप में पूजे जाने लगे और उन्हें शिव की संज्ञा प्रदान कर दी गई । इस प्रकार शिव त्रयी के प्रधान देवता हो गये, और शैवागमों में उन्हें परम सत्ता के रूप में स्वीकार कर लिया गया । पौराणिक काल में जिस शैव सम्प्रदाय का विकास हुआ था, कालान्तर में वह दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया --

१- इस पौराणिक धर्म के युग में विवेकवाद का सबसे बड़ा प्रतीक रामचन्द्र के रूप में अवतरित हुआ, जो केवल अपनी मर्यादा में और दुःख सहिष्णुता में महान रहे । किन्तु पौराणिक युग का सबसे बड़ा प्रयत्न श्रीकृष्ण के पूर्णावतार का निरूपण था । इनमें गीता का पद जैसा बुद्धिवादी था वैसा ही ब्रजलीला और द्वारका का ऐश्वर्यमोग आनन्द से सम्बद्ध था । + + + कृष्ण अपने युग के पुरुषोत्तम थे, उनका व्यक्तित्व बुद्धिवाद और आनन्द का समन्वय था ।

-- काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५६-६० ।

(१) शैव ।

(२) शाक्त ।

शैव-सम्प्रदाय मूलतः वैदिक परम्परा से प्रभावित निगमागम मूलक सम्प्रदाय था । जिसने वैदिक आनन्दवाद के उस संशोधित स्वरूप को ग्रहण किया था, जिसमें कर्मकाण्डी आर्यों की स्वच्छन्दविलास-भावना और बौद्धतांत्रिकों के कामाचार का सर्वथा अभाव था । दूसरा सम्प्रदाय बौद्धों की तान्त्रिक परम्परा से प्रभावित था जिसमें गृह्य साधनाओं पर विशेष बल दिया जाता रहा । इस सम्प्रदाय की आनन्द भावना तान्त्रिकों के ऐन्द्रिय परक कामाचारमूलक 'आनन्द' के अधिक निकट थी ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तन में बुद्धिवाद तथा 'आनन्दवाद' की दोनों धारायें कतिपय सुधारों तथा स्वरूप-भेदों के साथ एक अविच्छिन्न परम्परा के रूप में प्रवाहित होती रही हैं । जहाँ एक ओर अवैदिक स्तूत्र आर्यों की परम्परा में आने वाले वृष्णि-ब्राह्मसंघ, जैन, बौद्ध तथा उनसे प्रभावित जीवन-दर्शन की परम्परा में किञ्चित् परिवर्तनों के साथ विवेक मूलक बुद्धिवाद की परम्परा का पोषण होता रहा, वहीं दूसरी ओर ब्राह्मण धर्मानुयायी वैदिक आर्यों की परम्परा में आने वाले कर्मकाण्डी, वासुदेव सुधार आन्दोलन, पौराणिक कृष्ण की जीवनदृष्टि, शैव-शाक्तों की चिन्तन-प्रणालियाँ, अपने संशोधनों और सुधारों के साथ आत्ममूलक आनन्दवाद की परम्परा का पोषण करती च रहीं । भारतीय चिन्तन में आनन्दवाद का सच्चा संस्कृत और संशोधित स्वरूप वेदमूलक शैव-सम्प्रदाय में मिलता है । इस सम्प्रदाय ने 'आनन्दवाद' के जिस स्वरूप को ग्रहण किया था, उसकी रूप-रेखा उपनिषदों में ही निर्धारित हो चुकी थी<sup>१</sup>। उपनिषदों में आनन्द को ही ब्रह्म माना गया है । जिससे सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर उसी के द्वारा जीवित रहते हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं ।<sup>२</sup>

१- शैवों के इस 'आनन्दवाद' का मूलरूप उपनिषदों में दिखाई देता है ।

डॉ०- द्वारिका-प्रसादः-- कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन, पृ० ४३६

२- 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्देव सत्त्वित्मानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ताति ।'

-- तैत्तिरीयोपनिषद् (भृगुबल्ली, षष्ठ अनुवाक)

शैवागमों में भी ब्रह्म को परमानन्द स्वरूप माना गया है । इस प्रकार औपनिषदिक 'आनन्दवाद' का शुद्ध स्वरूप शैव दर्शन में आकर और भी उदात्त हो गया और प्रत्यभिज्ञा दर्शन ने उसमें चार चांद लगा दिये ।

'प्रसाद' का 'आनन्दवाद' शैवागम की उगी विशुद्ध आनन्दवादी परम्परा के अन्तर्गत आता है<sup>१</sup> । लेखक के कुछ प्रधान पात्र स्थान-स्थान पर उनकी कृतियों में दुःखमूलक विवेकवाद का प्रत्याख्यान करते हुए आत्ममूलक आनन्दवाद की अनिवार्यता पर बल देते हैं । 'हरावती' का ब्रह्मचारी अपने दृढ़ संकल्पों की घोषणा करते हुए कहता है --

'आर्यधर्म का आरम्भिक उल्लासमय स्वरूप यद्यपि अभी एक बार ही नष्ट नहीं हो गया है, फिर भी उसे जगाना ही पड़ेगा । वह अल्प, अवसादग्रस्त, अपनी कायरता के कारण विवेक का ढोंग करने लगा है । + + + मुझे ऐसा मालूम हुआ है कि प्राचीन आर्य वीर संस्कृति को लौटाने के लिए प्राचीन कर्मों को फिर से आरम्भ करना होगा । जिन्हें विवेक के अतिवाद के कारण हमने हानिकर समझ लिया था । + + + सर्वसाधारण आर्यों में अनात्म और अनित्यता के नाम पर जो कायरता, विश्वास का अभाव और निराशा का प्रचार हो रहा है, उसके स्थान पर उत्साह, साहस और आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा करनी होगी । + + +

१- 'यत्तन्विति ब्रह्म परमानन्द रूपम्'

-- नेत्र तंत्र भाग २, पृ० २६ ।

२- (क) वस्तुतः आनन्दवाद को प्रेरणा प्रसाद को इन्द्र के आत्मवाद से मिलो, परन्तु इसका मुख्य आधार शैवागमों का प्रत्यभिज्ञा दर्शन है ।

-- रामलाल सिंह -- कामायनी-अनुशोलन, पृ० १६५

(ख) 'कामायनी' में आनन्द के जिस स्वरूप की प्रतिष्ठा है, वह स्पष्टतः आत्मस्थ है । वह अन्तर्मुख आनन्द या आत्मानन्द है । + + + यह आनन्द स्पष्टतः औपनिषदिक परम्परा से प्रभावित शैवाद्वैत प्रतिपादित अमेदमय आत्मास्वाद है, जिसमें आत्म और परमात्म के ही नहीं बल्कि आत्म और जगत के भी पूर्ण ऐक्य की भावना निहित है ।

-- डा० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृ० ५८-५९

मय से फैले हुए विवेक ने हमारी स्वभाविकता का दमन कर लिया है । ऐसा मालूम होता है कि हम लोग प्रतिपद, अशंक, मयभीत, निश्चुरता से शासित प्राणी हैं । हम आत्मवान हैं, हमारा मविष्य आशामय है, इस आर्य भाव का प्रचार आवश्यक हो  
+ + + इस बौद्धिक दम्भ के अवसाद को आर्य जाति से हटाने के लिए आनन्द की प्रतिष्ठा करनी होगी<sup>१</sup> ।

यद्यपि प्रसाद ने अनेक आनन्दवाद का स्वप्न काश्मीरी शैव दर्शन की प्रमुख शाखा- प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुल्लाप रक्खा है, पर उन्होंने उसके दार्शनिक स्वरूप में अपनी अनुभूतियों और जीवनगत दृष्टियों का पुट देकर उसे अधिक व्यापक तथा व्यावहारिक बना दिया है । इस प्रकार प्रसाद के समन्वयमूलक आनन्दवाद में जीवन के विविध पक्षों का सुन्दर समन्वय हो गया है । हमें हमें जीवन के निम्नांकित पक्षों का स्वस्थ समायोजन मिल जाता है :-

१- दार्शनिक पक्ष -- (अ) कोश-क्रम (उपनिषद्)

(आ) जीवावस्था (शैवागम)

२- मनोवैज्ञानिक पक्ष -- (क) गुण-सम्भूत वृत्तियों का समन्वय

(i) ज्ञान वृत्ति-सत्त्व गुण प्रधान

(ii) इच्छावृत्ति- रजोगुण प्रधान

(iii) कर्मवृत्ति - तमोगुण प्रधान

(ख) बुद्धि और हृदय का समन्वय ।

(ग) जड़ चेतन का समन्वय ।

३- व्यावहारिक पक्ष -- प्रवृत्तिमूलक जीवनदर्शन की विवेचना ।

१- दार्शनिक पक्ष (अ) कोशक्रम -- भारतीय दर्शन की औपनिषदिक चिन्तन-परम्परा में कोश-क्रम का विशेष स्थान है । उपनिषदों में विकास-स्तर को दृष्टि से साधनावस्था की जो विवेचना की गयी है, उसे कोश कहते हैं , जिनकी संख्या पाँच है , और इनके समूह को पंचकोश कहा जाता है । इन कोशों का नामकरण इस प्रकार किया गया है --

-----

१- इरावती, पृ० २१, २२ ।

- (१) आनन्दमय कोश -- तुरीयावस्था (समरसता तथा अमेद अनुभूति की चरमावस्था)  
 (२) विज्ञानमय कोश -- कारण शरीर (सुषुप्तावस्था (अन्तर्लीनता अर्थात् तन्मयता की स्थिति)  
 (३) मनोमय कोश -- सूक्ष्म शरीर -- स्वप्नावस्था (अन्तर्मुखता)  
 (४) प्राणमय कोश -- स्थूल शरीर -- जागरितावस्था (बहिर्मुखता)  
 (५) अन्नमय कोश

‘अन्नमयकोश’ चिन्तन की वह प्रथम अवस्था है, जिसमें साधक ‘अन्न’ को ही ब्रह्म मानता है और उसे वाह्य परिच्छिन्न अन्नमय कोश में ही आत्मभाव की प्रतीति होने लगती है<sup>१</sup>।

अन्नमय कोश में ऊपर की अवस्था को ‘प्राणमय कोश’ कहते हैं जो अन्नमय कोश के रस-पिण्ड में ही स्थित रहता है और इस अवस्था में पहुँच कर साधक ‘प्राण’ को ब्रह्म मानने लगता है<sup>२</sup>। इस प्रकार अन्न और प्राणमय कोश का सम्बन्ध चिन्तन के स्थूल पक्ष से है जो बहिर्मुखी हुआ करता है। इसमें भौतिक उपलब्धियों के प्रति एक प्रकार की लोलुपता बनी रहती है। जहाँ एक ओर अन्नमय कोश में अन्नप्राप्ति तथा सम्पदा-सम्पादन की तरल आकांक्षा रहती है, वहाँ दूसरी ओर वायु-भोग के साथ-साथ अहं तृप्ति की तीव्र लालसा का आवेग भी रहता है। चिन्तन की तीसरी अवस्था को ‘मनोमय कोश’ कहते हैं, यह ‘प्राणमय कोश’ में स्थित उससे ऊपर की अवस्था का प्रतीक है। इसमें ज्ञान सम्पूत संकल्प और विकल्प की प्रधानता रहती है<sup>३</sup>। ‘मनोमय कोश’ का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से होता है, जिसमें

१- ‘अन्नाद्वा प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवी-श्रिताः अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपि यन्त्यन्ततः । अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वेष्वमुच्यते । सर्वे तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते ।’

-- तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्द बल्ली, द्वितीय अनुवाक)

२- ‘अन्नाद्भूतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते । अथैतं ऽति च भूतानि । तस्मादर्न तदुच्यत इति । तस्माद्वा स्तस्मादन्नं रसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः ।

तैष पूर्णः ।’ -- तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्द बल्ली, द्वितीय अनुवाक)

३- ‘प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते इति । तस्यैष एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा स्तस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः ।

तैष पूर्णः ।’ -- तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्द बल्ली, तृतीय अनुवाक)

४- ‘अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । मन इति संकल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं तन्मयो मनोमयो यथान्नमयः । सोऽयं प्राणमयस्याभ्यान्तर आत्मा ।’

-- तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्द बल्ली, तृतीय अनुवाक पर शांकर भाष्य)



जाकर चिन्तन का स्वरूप सफा और संकल्प-विकल्पात्मक हो जाता है । यह साधक की स्वप्नावस्था होती है जिसमें बाह्य वृत्तियां सिमट कर अन्तर्मुखी हो जाती हैं ।

चिन्तन की चौथी अवस्था मनोमय कोश से ऊपर की अवस्था है । इसमें साधक कारण शरीर से सम्बद्ध विज्ञानमय कोश में प्रवेश करता है । 'विज्ञानमयकोश' 'मनोमय कोश' में स्थित साधक की सुप्तावस्था का द्योतक है, जिसमें चिन्तन सूक्ष्म स्तर पर पहुँच कर वृत्तियां की अन्तर्लीनता में तन्मय हो जाता है । मेद-बुद्धि के स्थान पर निश्चयात्मिका बुद्धि आ जाती है<sup>१</sup> । साधक एक निश्चित दिशा में बढ़ने लगता है । विज्ञानमय कोश से ऊपर की अवस्था चिन्तन की अन्तिम अवस्था है, जिसे आनन्दमय कोश कहते हैं और यह विज्ञानमय कोश का अन्तर्वर्ती होता है<sup>२</sup> । इसका सम्बन्ध साधक की उस तुरोयावस्था से है, जिसमें वह स्मररता तथा अमेद अनुभूति की चरमावस्था तक पहुँच कर अखण्ड आनन्द की प्राप्ति कर लेता है ।

कोश-क्रम के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आनन्द प्राप्ति बाह्य वृत्तियों पर आधारित न होकर आन्तरिक अनुभूतियों पर आधारित है । ज्यों-ज्यों साधक स्थूलता से सूक्ष्मता और दृक्मुखता से अन्तर्मुखता की ओर उन्मुख होता जाता है, त्यों-त्यों<sup>आनन्द की</sup> सीमा उसके भीतर जाती जाती है । जहाँ उसकी सारी द्रव्यता समाप्त हो जाती है, वहीं उसे अखण्ड आनन्द की उपलब्धि होती है ।

१- 'तस्यैव एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा तस्मान्मनोमया दन्त्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैव पूर्णः ।

--तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्द बल्ली चतुर्थ अनुवाक)

२- 'मनोमयस्याम्यन्तरो विज्ञान मयः । मनोमयोवेदात्मोक्तः । वेदार्थविषया बुद्धि-निश्चयात्मिका विज्ञानं तच्चाध्यवसायलक्षणमन्तःकरणं धर्मः । तन्मयो निश्चयविज्ञानैः प्रमाणं स्वर्णैर्निर्वर्तितं आत्मा विज्ञान मयः ।'

--तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्दबल्ली, चतुर्थ अनुवाक पर शंकर भाष्य) ।

३- 'तस्यैव एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा तस्माद्विज्ञानमयादन्त्योऽन्तर आत्मानन्दमयः । तेनैव पूर्णः ।'

'तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्द बल्ली, पंचम अनुवाक )

‘कामायनी’ में हमें उक्त कोशों के विकास-स्वरूप का संकेत मिल जाता है । प्रसाद ने यद्यपि स्पष्टरूप से कोशों का नामोल्लेख नहीं किया है, पर उन्होंने मनु के जीवन का जो क्रमिक विकास दिखलाया है, उससे कोश-क्रम की स्थिति स्पष्ट हो जाती है । कामायनी का जल-प्लावन प्रसंग ‘अन्नमय कोश’ का प्रतीक है जिसमें देवताओं के वैभव विलास और उदाम वासना के स्वच्छन्द व्यापार की फाँकों ‘अन्नमय कोश’ में पड़े हुए प्राणी को उस स्पृहा का परिचय देती है जिसमें वह सुख-सम्भार के संव्यय और उसके अबाधभोग के लोभ का संवरण नहीं कर पाता । कर्मकांडी मनु अन्नमय कोश में पड़े हुए प्राणी का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं । उनका अग्निहोत्र अनुष्ठान और पाक पशुयज्ञों का विधान, सुख-सम्पदा प्राप्ति की लालसा का परिचायक है । उनकी अधिकार-लिप्सा सम्पूर्ण सुखों को अपने-आप में समेट कर उसके स्कान्त भोग के लिए अघोर हो उठती है । मनु के अधिकार-सुख की यह प्यास यहां तक बढ़ जाती है कि वे अन्तर्वृत्तियों की आधारशिला श्रद्धा की उपेक्षा कर देते हैं, और वहिर्मुखता की अधिष्ठात्री देवी इड़ा के साथ ‘प्राणमय कोश’ के उपासक बन जाते हैं । भौतिकता की भूख अपने-आप में कभी तृप्ति नहीं होती और पूर्णता के अभाव में जीवन अशान्त बना रहता है । यही कारण है कि सम्पूर्ण भौतिक उपलब्धियों के बीच भी मनु को मानसिक शान्ति की प्राप्ति नहीं हो पाती, वे रिक्त के रिक्त ही रह जाते हैं । उनका अतृप्त हृदय कराह उठता है --

‘..... नहीं अभी मैं रिक्त रहा --

देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानस-देश यहाँ ।

+ + +  
मैं अतृप्त आलोक भिखारी ओ प्रकाश बालिके बता,  
कब डूबेगी प्यास हमारी इन मधु अघरों के रस में ।<sup>१</sup>

+ + +  
‘आह ! प्रजापति होने का अधिकार यही क्या ?

अमिलाषा मेरी सदा अपूर्ण रहे क्या ?’<sup>२</sup>

१- कामायनी, पृ० १८३, १८४

२- वही, पृ० १६४

प्राप्य पदार्थों का नश्वरता, जीवन की क्षणभंगुरता, संसार को असारता तथा अपनों को अनुदारता आदि भाव-बोधों की स्पष्टि, सांसारिक प्रपंचों के प्रति अरुचि उत्पन्न कर देती है। व्यक्ति बाह्य विषयों की अनित्यता से विरक्त होकर आन्तरिक अनुभूतियों की शीतल छाया सौजने लगता है। उसकी बाह्य वृत्तियाँ यथार्थ की ठोकर खाकर अन्तर्मुखी होने लगती हैं और वह भौतिक उपासना से मुक्त होकर, आत्म चिन्तन की दिशा में मुड़ जाता है। यहीं से 'मनोमय कोश' में उसका प्रवेश होता है। 'मनु' में 'मनोमय कोश' की यह स्थिति निर्वेद सर्ग से प्रारम्भ हो जाती है।

अधिकार-लिप्सा और उदाम वासना से अन्धे 'मनु' अन्तर्वृत्तियों की पोषिका श्रद्धा के शीतल प्यार को ठुकरा कर भौतिकता की उपासिका 'इड़ा' के उन्मद सौन्दर्य में अपने आप को उलझा लेते हैं और उसके सहयोग से प्राप्त भौतिक उपलब्धियों के अबाध भोग के लिए स्वयंस्वेच्छाचारी हो जाते हैं। जब अतिचारी मनु का यह स्वेच्छाचार संयम की सीमा का अतिव्रमण कर 'इड़ा' पर कब्जा अधिकार पाने के लिए उतावला हो जाता है, उस समय 'इड़ा' तथा सारस्वत प्रदेश के निवासियों की ओर से मनु के इस गृहित कार्य का घोर प्रतिकार होता है<sup>१</sup>। इस घटना से मनु के संवेदनशील हृदय को एक ठेस लगती है। उनका आहत 'अहं' अपने द्वारा उपकृत लोगों की इस कृतघ्नता से खिन्न होकर स्कान्त चिन्तन की दिशा में चल पड़ता है। वे संसार के बाह्य स्वरूप से हटकर उसकी परिवर्तनशीलता पर विचार करने लगते हैं। उनकी सारी आसक्ति विरक्ति का रूप ले लेती है और वे बाह्य विषयों के प्रति उन्हें गहरी वितृष्णा हो जाती है<sup>२</sup>। अन्त में पार्थिव जगत की मृग-मरीचिका से ऊबे हुए 'इड़ा' से विरक्त मनु शान्ति और सरलता को प्रतिमा<sup>३</sup> का सहारा लेकर जीवन की गहराई में पैठने लगते हैं। यहाँ से उनमें आत्मदर्शन और तद्व्य-आकलन की बोध-वृत्ति का प्रस्फुटन होने लगता है और वे नर्तित नटेश के 'आनन्द वैश्व' की फाँकी पाने के लिए अधीर हो उठते हैं --

१- कामायनी, पृ० १६२, २००

२- वही, पृ० १८६, २३०

३- वही, पृ० २१६, २२६

देता मनु ने नर्तित नटेश,  
 हत-चेत, पुकार उठे विशेष,  
 'यह क्या श्रेष्ठ ! बह तू ठे चल,  
 उन चरणों तक, दे निज सम्बल,  
 सब पाप-पुण्य जिसमें जल जल,  
 पावन बन जाते हैं निर्मल ,  
 मिटते असत्य से ज्ञान-लेश,  
 स्मरस अखण्ड आनंद वेश ।'<sup>१</sup>

वाह्य जगत से विमुख होकर अंतर्जगत की ओर उन्मुख होने की यह प्रक्रिया मनोमय-कोश की पीठिका है । यहीं से साधक चिन्तन के स्थूल पक्ष से मुड़कर सूक्ष्म प्रदेश में प्रवेश करता है । जहां ससीम विश्व असीम हो जाता है, दिवा-रात्रि का संधि काल समाप्त हो जाता है, ऋतुओं के स्तर तिरोहित हो जाते हैं, और भ्रमण्डल-रेखा विलीन हो जाती है<sup>२</sup> ।

जैसे-जैसे मनु श्रद्धा के सहयोग से स्थूलता से सूक्ष्मता और मौक्तिका से आध्यात्मिकता की ओर बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे उनकी चेतना अन्तर्जगत के रहस्यों से अवगत होकर ऊर्ध्वमुखी होने लगती है और ज्यों-ज्यों यह ऊर्ध्वमुखी चेतना 'त्रिपुर' के रहस्यों को समझती तथा उसके स्वरूप-ज्ञान के आधार पर समन्वय की दिशा में बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों मनु 'मनोमय कोश' से ऊपर उठ कर 'विज्ञान-मय कोश' में प्रवेश करते जाते हैं । यहां पहुंच कर उनकी सारी द्रव्यता समाप्त हो जाती है, भेदक बुद्धि तिरोहित हो जाती है, स्वप्न, स्वाप और जागरण का पार्थक्य समाप्त होकर इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान का लय हो जाता है --

'स्वप्न, स्वाप, जागरण मत्स्य हो  
 इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे,  
 दिव्य अनाहत पर निनाद में<sup>३</sup>  
 श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे ।'

१- कामायनी, पृ० २५४

२- कामायनी रहस्य, पृ० २६१

३- बह कामायनी, पृ० २७३

अन्ततः अमेद अनुभूति की यह उदात्त भाव-भूमि मनु को उस अनुत्तरावस्था में पहुँचा देती है, जहाँ उन्हें नानात्व में एकत्व की प्रतीति होने लगती है । साधना की यही उच्चावस्था 'आनन्दमय कोश' की स्थिति है । कामायनी कार ने 'कैलाश' को इसी 'आनन्दमय कोश' का प्रतीक माना है । 'आनन्दमय कोश' में प्रवेश कर 'मनु' स्मरसत्ता की उस स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं, जिसमें सारा नानात्व एकत्व में परिणत हो जाता है । सभी पार्थक्य और सारी संकीर्णता समाप्त होकर जड़-चेतन का भेद मिट जाता है । इस प्रकार यहाँ आकर 'अहं' इदं में व्यष्टि स्मष्टि में और स्वार्थ परार्थ में पर्यवसित होकर उस अमेद स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं, जिसमें सभी स्मरस होकर एक रस हो जाते हैं । केवल एक तत्त्व शेष रह जाता है -- आनन्द--

‘स्मरस थे जड़ या चेतन

सुन्दर साकार बना था,

चेतनता एक विलसती

आनन्द अखण्ड घना था<sup>१</sup> ।’

(आ) जीवावस्था

जिस प्रकार उपनिषदों में कोश क्रम द्वारा साधना के विविध स्तरों की विवेचना की गयी है, उसी प्रकार शैवाग्र्यों में भी साधक जीव की विविध अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है, जिन्हें क्रमशः 'आणव', 'शाक्त' और 'शामव' स्थिति कहा गया है । मनु के जीवन-विकास में हमें साधक जीव की ये तीनों अवस्थायें मिल जाती हैं । जिस प्रकार औपनिषदिक साधना में साधक विविध कोशों को पार करता हुआ आनन्दमय कोश में पहुँच कर ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार शैव-साधक में साधक जीव 'आणव' और 'शाक्त' स्थितियों को पार करता हुआ 'शामव' स्थिति में पहुँच कर शिवस्वरूप हो जाता है और उसे अखण्ड आनन्द की प्राप्ति हो जाती है ।

इस प्रकार प्रसाद के 'आनन्दवाक्य' का दार्शनिक स्वरूप, औपनिषदिक चिन्तन तथा शैव-साधना से अनुप्राणित है ।

२- मनोवैज्ञानिक पक्ष :-- (क) (गुणसम्भूत वृत्तियों का सम्बन्ध)

भारतीय चिन्तन में संस्कारगत विशिष्टताओं के आधार पर 'गुणों' को जो विवेचना की गयी है, उन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया गया है --

(१) सत्तोगुण-- सत्त्व प्रधान ।

(२) रजोगुण-- रज-प्रधान ।

(३) तमोगुण-- तम-प्रधान ।

इन्हीं गुणों के आधार पर बोध-वृत्तियों के भी तीन स्वरूप माने गये हैं :--

(१) ज्ञान रूपा सात्त्विक वृत्ति ।

(२) भाव रूपा राजसी वृत्ति ।

(३) कर्म रूपा तामसी वृत्ति ।

वृत्तियों का सहज सम्बन्ध संस्कार से हुआ करता है, और संस्कार संक्षिप्त अनुभूतियों का एक समवाय होता है, जो भावों एवं विचारों की बार-बार आवृत्ति का परिणाम है । 'संस्कार' देशकाल, परिस्थिति तथा वातावरण सापेक्ष्य हुआ करता है । जैसे बिन्दु का आदि रूप घनीभूत होकर एक सूक्ष्म रेखा के रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार प्रारम्भ में बाह्य विषय जन्य प्रभावों को स्पष्ट हमारे अन्तर में प्रवेश कर, अपनी छाप का एक बिन्दु बनाती है, जो संस्कार का बीज रूप होता है, और यही बीज रूप बार-बार की आवृत्ति से फैल कर एक रेखा के रूप में परिवर्तित होता हुआ गहरा होता जाता है जिसे संस्कार कहते हैं ।

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है । समाज में रहकर वह अनेक अनुभवों का संचय करता है । विषयों के सम्पर्क में आकर वह जो कुछ देखता, सुनता, और स्पर्श करता है, उन सब का प्रभाव उसके ऊपर पड़ा करता है । दूसरी बार जब वह उन्हीं विषयों के सम्पर्क में पुनः आता है, तब वही विषयगत प्रभाव और गहरा हो जाता है । यही प्रक्रिया जब बार-बार होती है, तब वह विषय जन्य प्रभाव संस्कार के रूप में उसके जीवन का एक स्थायी अंग बन जाता है । यही विषय जन्य प्रभाव अपने स्तर-भेद से सत्त्व, रज, और तमप्रधान गुणों तथा तद्विपरीत वृत्तियों में विभक्त होकर क्रमशः ज्ञान, इच्छा, और कर्मलोक से सम्बद्ध हो जाते हैं । जब तक वृत्तियाँ बाह्यमुखी होकर अपने-अपने विषयों के पोछे भागती रहती हैं, तब तक जीवन में विखराव बना रहता है, जब वही वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर एक बिन्दु पर आ

जाती हैं, तब जीवन में गहराई के साथ-साथ सहज, शान्ति की गरिमा आने लगती है। अन्तःकरण आनन्द की वर्षा से अभिषिक्त हो उठता है। व्यक्ति का अन्तःकरण ही सारी शक्तियों का स्रोत और मनोवृत्तियों का आश्रय-स्थल है। इस अन्तःकरण की प्रशान्त स्थिति से ही 'आनन्द' की उपलब्धि होती है। कानन कुसुम की 'प्रथम प्रभात' नामक कविता में प्रसाद जी ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। जब खगुल सी मनोवृत्तियाँ अन्तःकरण के मनोहर नीड में सो जाती हैं, तब मन मुकुल शान्ति की सुखद स्थिति में लीन हो जाता है और उसके सारे द्वन्द्वों का समाहार हो जाता है। आत्म-बोध को लहर उसमें नव स्फुरण का संचार कर, उसे 'आनन्द' लोक में पहुँचा देती है। उसका शून्य हृदय राग-रंजित होकर प्रेम-सुतीर्थ में डुबकी लगाने लगता है। अतः उसमें उसका सारा कल्मष धुल जाता है, और उसके लिए सारा विश्व ही 'विमल' आनन्द मवन सा, बन जाता है --

विश्व विमल आनन्द मवन सा बन रहा,  
मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था ।

वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने के लिए इन्द्रियों का नियमन आवश्यक होता है और इन्द्रिय - नियमन के लिए प्रायः तीन विधियाँ काम में लायी जाती हैं:--

(१) अबाध मोग ।

(२) दमन ।

(३) उन्नयन ( *Sublimation* ) ।

अबाध मोग स्वेच्छाचार को प्रश्रय देता है, और दमन बलात् निग्रह को। अतः ये दोनों ही अतिवादी होकर स्वस्थ जीवन-विकास के लिए अपनी उपयोगिता खो देते हैं। तीसरी विधि उन्नयन की विधि है, जो मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित भावों के उदात्तीकरण ( *Sublimation* ) पर बल देती है। इसमें किसी वृत्ति का दमन नहीं बल्कि उसका उन्नयन किया जाता है। यह विधि मोग और दमन के अतिवाद से भिन्न, सहज, सन्तुलन पर आधारित है। इसमें निम्नाभिमुखी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को उच्चादर्श की दिशा में सहज ढंग से एक नया मोड़ दे दिया जाता है। जैसे गन्दे धू-भाग से बहने वाले जल-स्रोत

को स्वच्छ मू-भाग में मोड़ कर एक नयी दिशा दे दी जाती है । 'बुद्ध' के 'मध्यम-मार्ग' और कृष्ण के 'शुक्ताहार विहार' में इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का संकेत मिलता है । 'प्रसाद' जो ने मी मीग और दमन के स्थान पर वृत्तियों के समन्वय और सन्तुलन पर विशेषबल दिया है । जो उन्नयन ( *Sublimation* ) का ही एक रूप है । उन्होंने लक्ष्य-प्राप्ति के लिए इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय आवश्यक माना है । 'प्रसाद' की यह समन्वय-साधना मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है :--

(१) ज्ञानात्मक, (२) भावात्मक, (३) क्रियात्मक<sup>१</sup> । मनोवृत्तियों के स्वरूप-बोध का यह सीमांकन सर्वथा स्वतन्त्र न होकर एक-दूसरे का पूरक हम और अन्योन्याश्रित होता है<sup>२</sup> । ज्ञानात्मक पदाहमे विषय का बोध कराता और उसके विविध पक्षों पर विचार करता है,-- तर्क-वितर्क, स्मरण, कल्पना, प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया और संवेदना आदि इसी के अंग हैं । भावात्मक पदा उस विषय के प्रति अनुकूल या प्रतिकूल भावों की सृष्टि कर उसे पाने या उससे दूर होने की प्रेरणा प्रदान करता है, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, ईर्ष्या-~~द्वेष~~ द्वेष, घृणा-प्रेम, आदि भावों का समुदाय इसी पदा का अंग है । क्रियात्मक प्रक्रिया द्वारा हम उक्त पक्षों के निर्णयानुसार काम करने का संकल्प लेते हैं । ये तीनों पदा आपसी सहयोग से एक व्यवस्थित और निश्चित क्रम में अपना काम करते हैं । जब तक इनकी क्रियाओं के सम्बन्ध-सहयोग में सन्तुलन बना रहता है, तब तक जीवन स्वस्थ, सुख और आनन्दमय रहता है, लेकिन जब मन की ये तीनों प्रक्रियायें असन्तुलित होकर अव्यवस्थित हो जाती हैं, तब व्यक्ति मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है, और उसके जीवन में विकृतियाँ आने लगती हैं, और उसका प्राप्य उससे बहुत दूर चला जाता है । 'प्रसाद' ने इस मनोवैज्ञानिक सत्य को इन पंक्तियों में बड़े सुन्दर ढंग से रखा है--

-----

१-G.F. Stout : A Manual of Psychology ( P. 98)

२- " The cognitive, affective, and conative phases of any concrete subjective process jointly determine the phases of the next, and that a variation in any one both presupposes and entails variation in the rest."

-- G.F. Stout: A Manual of Psychology (P. 119)



‘ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है  
 इच्छा क्यों पूरी हो मन को,  
 एक दूसरे से न मिल सके  
 यह विडम्बना है जीवन की ।’

‘आनन्द’ प्राप्त के लिए उक्त तीनों वृत्तियों का समन्वय आवश्यक है ।  
 ‘कामायनी’ में माव्लोक, ज्ञान लोक और कर्म लोक का समन्वय इसी दिशा की ओर  
 संकेत करता है ।

इच्छा, क्रिया और ज्ञान की समष्टि जीवन को पूर्णता प्रदान करती  
 है । यदि इसमें से एक का भी अभाव हो जाय तो जीवन अपूर्ण रह जाता है । यह  
 एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि व्यक्ति प्रायः चिन्तन के प्रारम्भिक स्तर पर भौतिक-  
 वादी हुआ करता है । उसमें सामाजिक प्रतिष्ठा तथा सम्पदा-सम्पादन की विशेष  
 प्रवृत्ति पाई जाती है । प्रसाद जी ने भी वृष्णा जनित एषणा को भौतिक सुखों  
 का प्रेरणा स्रोत माना है, जिसमें आकांक्षा की प्रधानता रहती है<sup>१</sup> । स्तर-भेद से  
 इस एषणा की तीन कोटियाँ हो जाती हैं --

(१) वित्तषणा ।

(२) पुत्रषणा ।

(३) लोकषणा ।

उपर्युक्त एषणाओं की पूर्ति का अभाव जीवन को अशान्त और दुःख  
 बना देता है । अतः जीवन के प्रारम्भिक स्तर पर आनन्द-प्राप्ति के लिए इन  
 एषणाओं की सन्तुलित पूर्ति आवश्यक हो जाती है, जिसके लिए कर्म का सहारा  
 अपेक्षित हो जाता है । कोई निष्क्रिय होकर अपनी एषणाओं की पूर्ति नहीं कर  
 सकता । इस प्रकार ‘कर्म’ का जीवन में अपना एक विशिष्ट स्थान हो जाता है ।  
 उसकी अवहेलना ह करके हम जीवित नहीं रह सकते ।

‘कर्मलोक’ के बाद उस भाव-लोक की स्थिति आती है, जहाँ मनोमय  
 विश्व रागारुण-चेतन-उपासना में तल्लीन होकर भावमयी प्रतिमा के उस मन्दिर  
 का उपासक बन जाता है । जिसमें ज्ञानेन्द्रियाँ, रंगीन फूलों के चारों ओर चक्कर

१- कामायनी, पृ० २७३

२-वही, पृ० २६६, २६७ ।

लगाने वाली तितलियों की मांति अपने अपने विषयों का अनुगमन करती हैं<sup>१</sup>।

वस्तुतः यह लोक कर्मलोक का वाहक हुआ करता है। रागात्मिका वृत्ति इसकी प्रमुख विशेषता होती है और यही वृत्ति मारं कार्य-सम्पादन का संचालन करती है। इसके अभाव में जीवन का मधुमय स्रोत सूख कर मरुस्थली बन जाता है। कौरे कर्म चक्र में पिस कर जीवन जर्जर और मात्र जड़ मशीन बनकर रह जाता है। व्यक्ति की सारी संवेदनारं समाप्त हो जाती हैं, उसकी कोमल वृत्तियां दब जाती हैं। कोमल वृत्तियों के अभाव में वह निर्दय और निरंकुश होकर स्वेच्छाचारी हो जाता है। जिसका अन्तिम परिणाम होता है, अशान्ति मूलक अवसाद और अभावों का तीव्र दंशन।

भाव लोक के बाद ज्ञान लोक की वह स्थिति आती है जहां हमारी चेतना कर्तव्याकर्तव्य की विवेचना करती हुई आसक्ति की अतिशयता का अवरोधन किया करती है। चूंकि भाव-लोक राग-प्रधान होता है, अतः उसमें आसक्ति के प्राबल्य की अधिक सम्भावना रहा करती है और आसक्ति का अतिरिक्त जीवन को कुंठित बना देता है। व्यक्ति को चेतना का उज्ज्वल नक्षत्र वासना की घटा में डूब कर अपना अस्तित्व खो देता है<sup>२</sup>। यहीं पर ज्ञान-लोक, कर्मलोक तथा भावलोक का संशोधन एवं नियमन किया करता है। विषयासक्ति की समाप्ति पर 'शान्ति' का आविर्भाव होता है, और 'शान्ति' का पर्यवसान 'आनंद' की भूमिका में।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्तर्वृत्तियों के तीनों स्वरूप इच्छा (भाव-लोक) क्रिया (कर्म लोक) और ज्ञान (ज्ञान लोक) एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरा अपूर्ण रह जाता है और यही अपूर्णता जीवन को स्कांगी बना देती है। अतः आनंद-प्राप्ति के लिये तीनों का समन्वय आवश्यक है। कर्मलोक की यथार्थता

१- कामायनी, पृ० २६२, २६४।

२- कामरूप क्रोध रूष रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७

धुमेनाग्नियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।

यथोल्बेनावृतो गर्मस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८॥<sup>३</sup>

-- श्री मद्भगवद्गीता (अध्याय३)

भाव लोक की सरस संवेदनशील सरलता, ज्ञानलोक की बौद्धिक विवेचना आदि का संयोग ही जीवन को पूर्णता प्रदान करता है। कामायनीकार ने कैलाश शिखर-साधना की उच्चावस्था पर श्रद्धा, मनु, और इड़ा की उपस्थिति दिखला कर इसी तथ्य की ओर संकेत किया है, जिन्हें क्रमशः भाव लोक, कर्मलोक, और ज्ञान लोक का प्रतिनिधि माना जा सकता है। ज्ञान, कर्म और भावना का यह समन्वय आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजों से पूर्णतया परिपुष्ट है<sup>१</sup>।

(ख) हृदय और बुद्धि का समन्वय

‘मनु-अर्थात् मन-के-बोनेमें-पक्ष-हृदय-और-मस्तिष्क-का-सम्बन्ध

चिन्तन-स्तर पर प्रसाद जी ने मन के दो पक्ष माने हैं -- (१) हृदय पक्ष (२) मस्तिष्क पक्ष। श्रद्धा को उन्होंने हृदय-पक्ष का प्रतीक और इड़ा को बुद्धि पक्ष का प्रतीक माना है<sup>२</sup>। जिस प्रकार सत्यं, शिवं का संयोग ‘सुन्दर’ की सृष्टि करता है, उसी प्रकार हृदय और मस्तिष्क के समन्वय से अखंड आनन्द की प्राप्ति होती है। उपर्युक्त दोनों पक्ष ‘मन’ के संवाहक हुआ करते हैं। इन्हीं दोनों के साहचर्य से मननशील मन की चिन्तन शक्ति संवर्धित हो कर जीवन को प्रभावित करती चलती है।

व्यक्ति जब जीवन के कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करता है, उस समय उसके सामने दो विकल्प आते हैं -- पहला विकल्प होता है हृदयप्रधान भावलोक का, और दूसरा विकल्प होता है बुद्धिप्रधान ज्ञान लोक का। एक भावना प्रधान होता है और दूसरा तर्कना प्रधान। ज्ञान और भाव लोक के ये दोनों ही मार्ग व्यक्ति को कर्म की दिशा में ले जाते हैं। लेकिन दोनों का स्वल्प भिन्न भिन्न होता है। एक भौतिक पक्ष की ओर ले जाता है, दूसरा आध्यात्मिक पक्ष की ओर। व्यावहारिक दृष्टि से ये दोनों ही पक्ष अपने आप में अपूर्ण हैं। कौरी आध्यात्मिकता भावुकता से ग्रस्त रहती है और कौरी भौतिकता स्वार्थलिप्सा से।

१-‘प्रत्येक मनोवृत्ति के तीन पहलू होते हैं-- ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक १... तीनों पहलू एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते।’

-- लालजी राम शुक्ल : ‘सरल मनोविज्ञान’

२-‘मनु’ अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लाया जाता है। -- कामायनी (आमुख)

भावप्रवण भावुकता की अतिशयता व्यक्ति को कोरे आदर्शवाद की गोद में ढाल कर उसकी कर्मठता को कुंठित कर देती है। वह स्वप्न द्रष्टा मात्र बनकर रह जाता है, और विवेक के अभाव में अन्धविश्वास की वीथिका में खोकर जीवन के यथार्थ से बहुत दूर चला जाता है। इसके विपरीत भौतिक जीवन यथार्थ के अधिक निकट होता है। चिन्तन, समय-साधन सापेक्ष्य हुआ करता है। साधन-सम्पन्नता समय और निश्चिन्तता प्रदान करती है और निश्चिन्त अवकाश के क्षणों में ही साधना संभव हो पाती है। समय और साधन के अभाव में शान्ति का अभाव हो जाता है और शान्ति के अभाव में गहनचिन्तन सम्भव नहीं हो पाता। साधन-सम्पन्नता के अभाव में जीवनगत अभावों की पुकार जान्तरिक अशान्ति की एक दोवार खड़ी कर देती है। जब व्यक्ति के जीवनगत अभावों की पूर्ति नहीं हो पाती, तब वह मानसिक कुंठाओं का शिकार हो जाता है और उनके व्यक्तित्व को 'स्करसता' खंडित हो जाती है। इस दृष्टि से जीवनोपयोगी आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति आवश्यक हो जाती है। कोरी आध्यात्मिकता मानसिक शान्ति नहीं दे पाती। लेकिन जब व्यक्ति हृदय पक्ष से विरत होकर बुद्धि पक्ष का अन्व उपासक बन जाता है, उस समय भी उसका व्यक्तित्व खण्डित हो जाता है और वह रकांगी होकर अपने आप में सिमटने लगता है। बुद्धि के बाहुल्य से व्यक्ति तर्कना तथा तृष्णा के वृहज्जाल में अपने आप को उसी प्रकार उलझा लेता है, जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने ही मुख से निकले तन्तुवाय में अपने-आप को लपेटता जाता है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति हृदय को पीछे छोड़कर व्यवसायात्मिका बुद्धि के पीछे दौड़ लगाता जाता है, त्यों-त्यों उसकी भौतिकता की प्यास बढ़ती जाती है। अन्ततः वह संयम की सीमा का अतिक्रमण कर अतिवारी बन जाता है। सम्पन्न साधन और संयम के अभाव में बुद्धि व्यवस्थित नहीं रह पाती, बुद्धि बिना भावना तथा भावना बिना शान्ति पंगु हो जाती है और शान्ति के अभाव में जीवन का सुख-स्रोत सुख जाता है। सम्पूर्ण कामनाओं को आत्मस्थ कर निर्विकार भाव से बुद्धि को स्थिर रखने वाला ही शान्ति का अधिकारी हो पाता है।<sup>१</sup>

१- 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

-- श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २ श्लोक ६६

२- ( आगे के पृष्ठ पर देखें )

तृष्णा जनित पिपासा का श्मन 'सन्तोष' से ही सम्भव है और सन्तोष हृदय का अमृतदान है । यह सरलता और संयमजन्य सहनशीलता का ऐसा समन्वय है, जो व्यक्ति में मुदिता और उपेक्षा का भाव भर कर उसे सामान्य स्तर से बहुत ऊंचा उठा देता है । जब व्यक्ति सन्तोष को सुखद छाया का आश्रय लेता है, तब उसमें उस दार्शनिक बुद्धि का आविर्भाव होता है जिस पर भोग-प्रधान मन मौक्तिका की काली छाया नहीं होती । वह संवय की संकुचित सीमा से बाहर आकर अपने सत्स्वरूप में स्थिर होती हुई सहज सरलता को प्राप्त कर लेती है । हृदय को यही सरलतासद्बुद्धियों की संरक्षिका और आत्मदर्शन की पीठिका बन जाती है । आत्म साक्षात्कार, शान्ति, सन्तोष तथा आनन्द-प्राप्ति का प्रथम सोपान है, और इस आत्मज्ञान की प्राप्ति नेत्र, वाणी, तथा अन्य इन्द्रिय जन्य कर्मों से नहीं हो पाती, न तो इसे प्रवचन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और न बुद्धि तथा बहुज्ञता द्वारा । इसे तो केवल चित्तशुद्धि-जन्य सरलता, तप-त्याग यथार्थ तत्त्व चिन्तन और इन्द्रिय-नियमन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है ।<sup>१</sup>

( पिबलं पृष्ठ की पादटिप्पणी संख्या-२ )

२- (क) आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यज्ज् ।

तद्वत्कामा मं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न काम कामी ॥-- गीता २-७१

(ख) विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ -- गीता २-७२

-०-

१- (क) न बहुषा गृह्यते नापि वाचा-

नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।

ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्त्वं-

स्ततस्तु त पश्येत् निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

--मुण्डकोपनिषद(मुण्डक ३ खण्ड२)

(ख) नायमात्मा प्रवक्षेन लभ्यो

न मेधया न बहुता श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥९॥

--मुण्डकोपनिषद(मुण्डक३, खण्ड२)

(ग) सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा

सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।

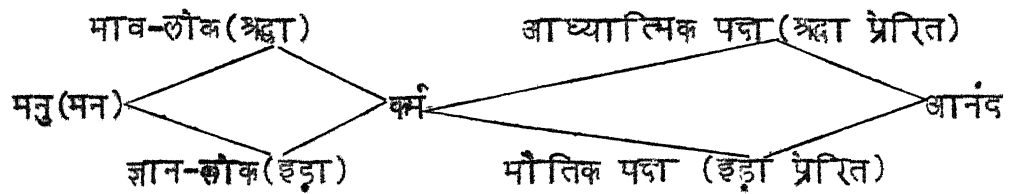
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रो

यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः ॥१॥

-- मुण्डकोपनिषदः (मुण्डक३ खण्ड१)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अखण्ड आनन्द की प्राप्ति के लिये हृदय प्रधान आध्यात्मिक तथा मस्तिष्कप्रधान भौतिक पदार्थों का समन्वय आवश्यक है । कोरा आत्मचिन्तन या कोरा पार्थिव पूजन जीवन के लिये उपयोगी नहीं । पुष्टि (भौतिक उपलब्धि और तुष्टि (आत्मचिन्तन जन्य सन्तोष) के संयोग से ही मुक्ति (साधना की चरमावस्था) की प्राप्ति हो सकती है ।

‘प्रसाद’ जी ने अपने आनन्दवाद की अवतारणा बुन्हीं तथ्यों के आधार पर की है । ‘श्रद्धा’ और ‘इड़ा’ को क्रमशः हृदय और मस्तिष्क का प्रतीक मानते हुए आनन्द मार्ग में उनका सम्मिलन दिखला कर कवि ने अपनी इसी जीवन-दृष्टि की पुष्टि की है । ‘प्रसाद’ ने इस प्रसंग में अपने आनन्दवाद का जो स्वरूप रक्खा है उसके विकास-क्रम को हम इस प्रकार रख सकते हैं --



जिस समय वासना की उपासना में नष्ट देव जाति के जर्जर दम्भ के प्रतीक मनु वासनात्मक संस्कारों के साथ जीवन में प्रवेश करते हैं, उस समय वह सर्वप्रथम परार्थ विगतविकार जीवन उत्सर्ग कर देने वाली सतोगुणमयी श्रद्धा के संसर्ग में आते हैं । 'श्रद्धा' के साहचर्य और सत्परामर्शों से उनकी तमोवृत्ति का शमन होने लगता है, और नैराश्य-निशा की समाप्ति पर उनके जड़ जीवन में सक्रियता आने लगती है । वह अपनी सारी शक्ति समेट कर कर्म-क्षेत्र में कूद पड़ते हैं । लेकिन 'श्रद्धा' द्वारा निर्देशित कर्म-क्षेत्र मनु को उस आध्यात्मिक प्रदेश में ले जाता है जहाँ केवल देना ही देना होता है, कुछ लेना नहीं<sup>२</sup> । मनु का संव्यशील संस्कार इसे स्वीकार नहीं कर पाता । वे अपने आप को ही सकल कृतियों की सोमा मान बैठते हैं ।<sup>१</sup>

१- कामायनी, प : श्रद्धा, पृ० ५७

२- कामायनी : लज्जा, पृ० १०५

३- कामायनी : कर्म, पृ० १३१

जिसके फलस्वरूप उनकी भोगलिप्सा बढ़ने लगती है और इसकी तृप्ति के लिए वे असुर पुरोहितों (भोगवृत्तियों) का सहयोग लेकर श्रद्धा के प्रतिकूल पथ का अनुगमन करने लगते हैं। धीरे धीरे श्रद्धा की ओर से मनु को विरक्ति होने लगती है और एक दिन वे श्रद्धा को छोड़कर अपने अतृप्त जीवन की तृप्ति के लिए निकल पड़ते हैं। हृदय-पद्म की कोरी भावुकता से पलायन कर मनु सारस्वत प्रदेश की रानी इड़ा के निकट सम्पर्क में आते हैं जो उन्हें भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती हुई स्वावलम्बन का सन्देश देती है<sup>१</sup>। मनु के जीवन-निशीथ का अन्धकार मुक्त हुआ कर दिातिज के अंकल में भागने लगता है। उनकी चावमरी प्रसन्नता खिलखिल कर हंस पड़ती है और वे सुख-साधन सम्पादन के लिए बुद्धि का सहारा लेकर कर्मक्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं<sup>२</sup>। इड़ा द्वारा प्रदर्शित पथ मनु को घोर भौतिकता की ओर ले जाता है जहाँ वे हृदय के अभाव में कोरे बुद्धिवादी बन जाते हैं। उनमें सहज सरल और सहानुभूति के स्थान पर घोर स्वार्थपरता और निष्ठुरता का आविर्भाव होने लगता है। संयम के अभाव में उच्छ्वसलता जड़ जमा लेती है। मनु निरंकुश स्वेच्छाचारी होकर सारे सुखों को अपने में समेट लेना चाहते हैं। उनका निरंकुश नरपशु हुंकार का उठता है, जिसका परिणाम होता है प्रजारूप अन्तर्वृत्तियों का विद्रोह और संघर्ष। इस प्रकार हृदय-हीन मनु श्रद्धा-विहीन (आध्यात्मिक शक्तियों से शून्य) होकर इड़ा (भौतिक उपलब्धियों) के सहवास में भी सुख की प्राप्ति नहीं कर पाते। संयम और संतोष के अभाव में उनका जीवन उन्हीं के लिये मार हो जाता है। अन्ततः 'श्रद्धा' के सहज स्पर्श से उनमें उस विवेक बुद्धि का विकास होता है, जो अतीत के सर्वेक्षण पर भविष्य का निर्धारण करती हुई आत्म-निरीक्षण का पथ प्रशस्त करती है। मनु उस बुद्धि के सहारे गत-आगत तथा अनागत का लेखा-जोखा करते हुए हृदय और मस्तिष्क की अपूर्णताओं के अनुभूत सत्य का सम्बल लेकर सुख-शान्ति की खोज में निकल पड़ते हैं --

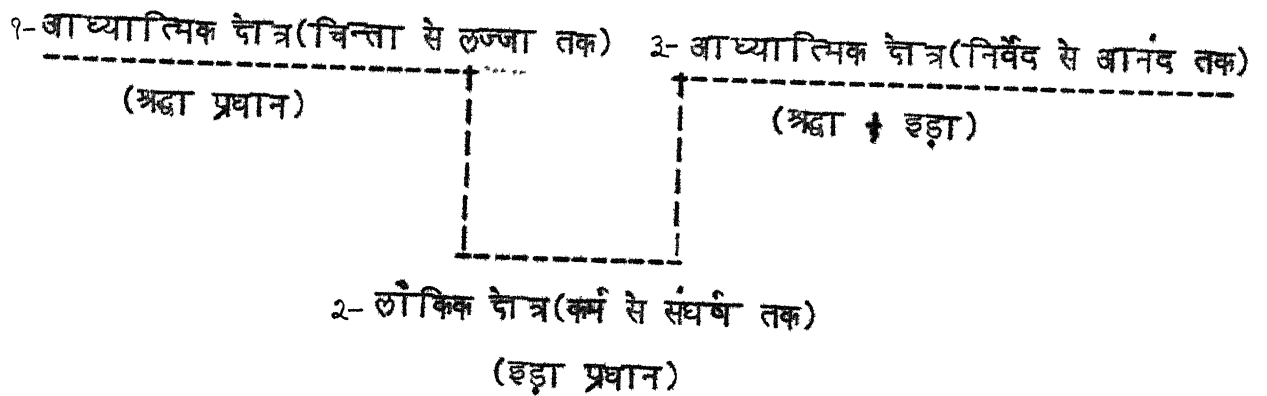
तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको  
जहाँ, खोजता जाऊंगा।<sup>३</sup>

१- कामायनी : इड़ा, पृ० १७०-७१

२- कामायनी : इड़ा, पृ० १७२

३- कामायनी, पृ० २३०

अन्त में उन्हें कैलाश-आश्रम के शान्त वातावरण में श्रद्धा और इड़ा (हृदय+मस्तिष्क) के संगम पर असण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कामायनी के आदि मध्य और अन्त का अवसान इन्हीं दोनों पद्यों के दोष-दर्शन विश्लेषण और संश्लेषण को लेकर हुआ है। दर्शन के एक पद से इसका प्रारम्भ होता है और दर्शन के दूसरे पद में जाकर समाप्ति हो जाती है। प्रारम्भ में चिन्ता से लज्जा तक मनु दर्शन के उस पद को लेकर चलते हैं जो हृदयप्रधान आध्यात्मिकता पर आधारित हैं। उसके एकांगी स्वरूप से मनु को स्वयं अरुचि हो जाती है और वे उससे ऊब कर भौतिकता की दिशा में मुड़ जाते हैं। मनु की यह भौतिक साधना 'कर्म' से 'संघर्ष' सर्ग तक चलती है। वहाँ भी उन्हें तृप्ति नहीं मिलती और वे पुनः आनन्द की खोज में आध्यात्मिकता क्षेत्र की ओर मुड़ जाते हैं। मनु की यह स्थिति निर्वेद सर्ग से लेकर आनन्द सर्ग तक चलती है। इस प्रकार कामायनी में हमें इस चिन्तन के तीन घरातल मिल जाते हैं --



### (ग) जड़-चेतन का समन्वय

जीवन स्वतः जड़ चेतन का एक संघात है। शरीर स्थूल जड़ता का प्रतीक है, और आत्मा सूक्ष्मरूप चेतना का। मन की स्थिति इन दोनों के बीच में है। जब मन का झुकाव शरीर की ओर होता है, तब उसमें भौतिकता का व्यामोह पैदा होने लगता है और जब वह आत्मा की ओर उन्मुख होता है, तब उसमें परमार्थ मूलक आध्यात्मिकता का आविर्भाव होता है। दोनों ही स्थितियों में मन अपने को अपूर्ण पाता है। उसे पूर्णता तभी प्राप्त होती है, जब वह दोनों के समन्वय पर अपनी साधना की प्रतिष्ठा करता है। साधना-क्षेत्र में जड़-चेतन दोनों उपयोगी



हो जाते हैं। बिना जड़ शरीर के साधना सम्भव नहीं, और साधना के अभाव में शरीर का कोई मूल्य नहीं। जड़ शरीर कर्म का सम्पादन करता है और चेतन उसका उपभोक्ता होता है। प्रसाद ने इस तथ्य को इन शब्दों में रखा है --

‘कर्म का भोग, भोग का कर्म

यही जड़ का चेतन आनंद’<sup>१</sup>।

भारतीय दर्शन में जड़-चेतन की इस समन्वय-साधना का विशेष महत्व रहा है। तत्त्व चिन्तन की दृष्टि से अग्नि में हमें तीन सोपान मिलते हैं --

(१) प्रकृति (सत्)

(२) जीव (सत्+चित्)

(३) ईश्वर (सत्+चित्+आनन्द)

प्रकृति में केवल सत् प्रधान है, जीव में सत् और चित् दोनों की व्याप्ति है, और ईश्वर में सत्+चित् तथा आनन्द इन तीनों की सम्पष्टि है। व्यक्ति सर्वप्रथम प्रकृति के सम्पर्क में जाता है, और उसी में वह सुख-शान्ति की खोज भी करता है। व्यक्ति द्वारा प्रकृति-स्तर का यह सुख-संचय जड़ सुखवाद की श्रेणी में आ जाता है। घोर ऐन्द्रिकता परक होने के कारण व्यक्ति को इसमें वांछित सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं हो पाती, और वह सुख की खोज में आगे बढ़ जाता है। प्रकृति से ऊपर उठने पर व्यक्ति अन्तर्मुखी होकर जीवन में सुख की खोज करने लगता है। यहां उसे सत् के साथ-साथ चित् की भी प्रतीति होने लगती है और उसकी सुख-साधना बौद्धिक स्तर की हो जाती है। इसमें भी व्यक्ति को शान्ति नहीं मिलती और वह अखण्ड आनन्द की प्राप्ति के लिए ‘जीव’ से ऊपर उठ कर ईश्वर का सान्निध्य पाने के लिए विह्वल हो जाता है। चूंकि ईश्वर सत्, चित्, आनन्द की सम्पष्टि है अतः ईश्वरत्व की प्राप्ति पर उसे अखण्ड आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार व्यक्ति का प्रारम्भिक चिन्तन जड़ प्रकृति से प्रारम्भ होकर उस सूक्ष्म चेतन तत्त्व ईश्वर में जाकर पर्यवसित हो जाता है जो प्रकृति और जीव को अपने में लोभ किये रहता है और वे ईश्वर के अभिन्न रूप हो जाते हैं। वस्तुतः जड़ प्रकृति और

जीव उस चेतन सत्ता के स्ति ही अंश हैं । ईश्वर (ब्रह्म) के साथ इनका अमेद सम्बन्ध हफ होता है ।

शैवदर्शन में 'शरीर त्वं शम्भोः' के अनुसार प्रकृति को उस पुरातन पुरुष (शिव) का ही शरीर माना है । शैवागम में शक्ति के दो स्वरूप माने गये हैं --

(१) आनंद स्वरूप

(२) स्पन्द स्वरूप

शक्ति का शिव में सन्निहित अव्यक्तरूप उसका आनंद स्वरूप है, और उसका व्यक्तरूप ही उसका स्पन्दस्वरूप है जिसके द्वारा वह जगत का आकार धारण कर प्रकृति रूप में हमारे सामने आती है ।

इस प्रकार चेतन पुरुष का अंश होने के कारण प्रकृति स्वतः चेतनामयी है । इसीलिए भारतीय वाङ्मय में प्रकृति को स्क चेतन सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है । भारतीय संस्कृति की समूची साधना प्रकृति-प्रांगण में ही अपनी प्रौढ़ता को प्राप्त हुई है । प्रसाद जी ने भी प्रकृति को चेतनामयी माना है<sup>१</sup> । स्थान स्थान पर उन्होंने उसमें चेतना का आरोप कर जीवन के साथ उसका तादात्म्य स्थापित कर दिया है । वह जानी-पहचानो सी सहचरी बनकर, सुख-दुःख में हमारा साथ देती और हमें हमारे भाग्य का कच्चा चिट्ठा समझाती है ।

ज्यों-ज्यों व्यक्ति जीवन की कृत्रिमता छोड़कर प्रकृति की सहज सरलता को अपनाता जाता है, त्यों-त्यों उसकी संकीर्णता समाप्त होती जाती है और तभी वह सच्चे आनन्द का अधिकारी हो पाता है । उन्मुक्त प्रकृति का सिग्ध तथा शान्त वातावरण जीवन की गहरी गुत्थियों को सुलझा कर व्यक्ति को अमेद अनुभूति के उच्च स्तर पर पु पहुँचा देता है । यही कारण है कि भारतीय दर्शनों का प्रेरणा स्रोत प्रकृति का शान्त वातावरण ही रहा है । प्रसाद को दार्शनिकता भी प्रकृति के सहज सौन्दर्य से ओत-प्रोत है । प्रकृति जैसे उनके जीवन में छा गई है । क्या कहानी, क्या नाटक, क्या कविता जहां देखिये प्रकृति की मनोरम मांकियों में पाठक आत्मविभोर हो उठता है । जहां स्क और कवि ने श्रद्धा और इड़ा के नारी-निसर्ग

१- रामलाल सिंह : कामायनी अनुशीलन, पृ० ६२, ६३

२- (क) कामायनी, पृ० ४

(ख) अजातशत्रु, पृ० ३३

सौन्दर्य-निरूपण के लिए प्राकृतिक रूपकों को योजना की है, वही दूसरी ओर मनु के चिन्तन-विकास को भी प्रकृति से ओत-प्रोत दिखा कर अपनी प्रकृति प्रियता का परिचय दिया है । जो उनकी रहस्यवादी विचार-धारा का एक प्रमुख पक्ष है । प्रसाद ने समरसता और प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा 'अहं' एवं 'इदं' के समन्वय को वर्तमान रहस्यवादी विचारधारा का एक मुख्य अंग माना है<sup>१</sup> । रहस्यवादी प्रसाद ने आनंद-सर्ग में अपनी इसी मान्यता के आधार पर जड़ एवं चेतन प्रकृति के सामरस्य तथा तज्जनित आनंद की सुन्दर व्याख्या की है --

मांसल सी आज हुई थी  
हिमवती प्रकृति पाषाणी,  
उस लास रास में विह्वल  
थी हंसी सी कल्याणी ॥

+ + +  
समरस थे जड़ या चेतन  
सुन्दर साकार बना था ।  
चेतनता एक विलसती,  
आनंद अखण्ड घना था ।<sup>२</sup>

इस प्रकार जड़-चेतन के समन्वय द्वारा कवि ने जहाँ एक ओर दार्शनिक पक्ष की पुष्टि की है वहीं दूसरी ओर इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का भी निरूपण किया है, कि व्यक्ति अपने आप में अपूर्ण है और वह पूर्ण होना चाहता है । पूर्णता प्राप्ति की यह स्पृहा ही उसे अभाव से भाव की ओर, स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर और भेद से अभेद की ओर ले जाती है, जहाँ पहुँच कर उसे जड़ चेतन में एक ही तत्त्व की प्रतीति होने लगती है, और व्यक्ति आनन्द में लीन हो जाता है । इसीलिए कवि ने आनंदवाद की प्रतिष्ठा प्रकृति के शान्त और मनोरम वातावरण में की है ।

१- 'वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वामाविक विकास है । इसमें अपरौचा अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहं' का 'इदं' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है ।' --काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ६६

२- कामायनी, पृ० २६४

‘इससे यही प्रतीत होता है कि आनन्द की खोज में विकृति की ओर दौड़ते हुए भ्रान्त जगत को कवि, कामायनी द्वारा प्रकृति की ओर लौटने का सन्देश दे रहा है।’

व्यावहारिक पक्ष

जीवन का व्यावहारिक पक्ष व्यक्तिगत संस्कारों तथा सामाजिक समस्याओं से शासित होता है । व्यक्ति का व्यक्तित्व वस्तुतः इन्हीं दोनों के बीच की उपज होता है । चूंकि प्रत्येक व्यक्ति का संस्कार भिन्न-भिन्न होता है, अतः उस पर सामाजिक प्रतिक्रिया भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हुआ करती है । जिसमें एक 'व्यक्तित्व' की अनेक विधायें हो जाती हैं, जिन्हें स्वभाव साम्य के आधार पर तीन वर्गों में विभक्त किया गया है --

(१) वहिर्मुखी ।

(२) अन्तर्मुखी ।

(३) उमयमुखी ।

उपर्युक्त व्यक्तित्व के तीनों प्रकार पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण से अपने प्राप्तव्य पथ का चुनाव करते हैं । आनन्द-प्राप्ति के प्रसंग में भी हमें दृष्टिकोण का यही भेद मिलता है । कुछ लोग अपने दायित्वों के प्रति जागरूक रहते हुए निष्काम भाव से उसका सम्पादन करते और विषम परिस्थितियों के बीच अपने जीवन को सन्तुलित और संयमित रखकर आनन्द की प्राप्ति करते हैं, और कुछ लोग दायित्व-हीन निष्क्रियता की पलायनवादी मनोवृत्ति से ग्रस्त होकर, आत्म-सुख की लोभ में दर-दर मटकते रहते हैं । प्रसाद का 'आनन्दवाद' निष्काम कर्म और दायित्व-बोध के उस धरातल पर आधारित है, जिसमें संकीर्ण स्वार्थ और निष्क्रियता के लिए कोई स्थान नहीं । प्रसाद ने जीवन के माध्यम से 'आनन्द' को देखा है, 'आनन्द' के माध्यम से जीवन को नहीं । उनके लिए जीवन सत्य, सतत सुन्दर और आकर्षण का केन्द्र है --

जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,

सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह ।

+                      +                      +  
 सुख दुःख का मधुमय घुप-कांह,  
 तूने कौड़ी यह सरल राह ।<sup>२</sup>

१- रामलाल सिंह : कामायनी - अनुशीलन , पृ० ६३

२- काषायनी, पृ० २४१

तप नहीं केवल जीवन सत्य  
 करुण यह दीन दानिक अवसाद,  
 तरल आकांक्षा से है मरा  
 सो रहा आशा का आह्लाद ।

+ + +

और यह क्या तुम सुनते नहीं  
 विधाता का मंगल वरदान --  
 शक्तिशाली हो विजयी बनो  
 विश्व में गुंज रहा जयगान ।  
 डरो मत अरे अमृत सन्तान  
 अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,  
 पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र  
 खिची आवेगी सकल सम्पत्ति १

कवि की दृष्टि में दुःख का कोई अस्तित्व नहीं । प्रि वह विदूषक मात्र,  
 सुख का प्रकाशक है, जो आनन्द-प्राप्ति पर छिप जाता है --

दुःख की पिछली रजनी बीच  
 विकसता सुख का नवल प्रभात,  
 एक परदा यह फीना नील,  
 छिपाये है जिसमें सुखगात ।  
 जिसे तुम समझे हो अभिशाप  
 जगत की ज्वालाओं का मूल,  
 ईश का वह रहस्य वरदान  
 कभी मत इसको जाओ मूल २

सुख सहचर दुःख विदूषक  
 परिहासपूर्ण कर अभिनय,  
 सब की विस्मृति के पट में  
 छिप बैठा था अब निर्मय ३

१- कामायनी, पृ० ५५, ५७, ५८

२- वही, पृ० ५३

३- वही, पृ० २६३

विषमता को पीड़ा को प्रसाद ने जीवन का अभिशाप नहीं विश्व-विकास का आधार माना है । पाश्चात्य चिन्तकों ने भी सृष्टि-विकास के मूल में द्वन्द्वात्मक स्थिति को स्वीकार किया है । इस सन्दर्भ में मार्क्स के ब द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन का सिंहावलोकन अप्रासंगिक न होगा । योरोपीय दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता उसकी संघर्ष मूलक विचार-धारा है, उसमें द्वन्द्वों का उद्गम एक शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है । हेगेल से प्रेरणा लेकर मार्क्स ने जिस दर्शन की नींव डाली उसका आधार ही द्वन्द्वात्मक स्थिति है ।<sup>१</sup> मार्क्स का दर्शन हेगेल के द्वन्द्वमान और अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवाद का समन्वय है ।<sup>२</sup> जिस समय मार्क्स ने अपना चिन्तन प्रारम्भ किया उस समय यूरोप में दो विचारधाराएं चल रही थीं-- एक थी आदर्शवादी विचारधारा, जिसका प्रतिनिधि हेगेल था, और दूसरी थी भौतिकवादी विचार-धारा, जिसके प्रतिनिधि-हलवाश और हिलवेशियश तथा उसके उत्तराधिकारी थे ।

दर्शन के क्षेत्र में हेगेल का सबसे बड़ा योग उसका द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त ( *Dialectics* ) है । मार्क्स ने हेगेल के दर्शन से द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त और अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवादी दर्शन से भौतिक जगत ( *Material World* ) को लेकर अपने दर्शन की नींव डाली और उसका नाम रखा--द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद । हेगेल का द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त वैचारिक स्तर तक सीमित रहा, उसके अनुसार केवल विचारों की ही वास्तविकता थी, मस्तु वस्तु की नहीं । यह विश्व की परिवर्तन प्रक्रिया को विचारों का हो विवर्तन मानता था । मार्क्स ने हेगेल के उस आदर्शवादी सिद्धान्त को वैचारिक स्तर से नीचे उतार कर व्यावहारिक स्तर पर लाने का स्तुत्य प्रयास किया । उसने हेगेल का शिष्यत्व स्वीकार करते हुए इस बात की स्पष्ट घोषणा की थी कि ' अब तक हेगेल का द्वन्द्वात्मक न्याय अपने सिर के बल खड़ा था अब उसे मैं पैर के बल खड़ा कर रहा हूँ ।'<sup>३</sup> इस प्रकार मार्क्स ने हेगेल के द्वन्द्वात्मक न्याय की नये सन्दर्भ में नयी व्याख्या की ।

हेगेल ने प्रत्येक वस्तु में अन्तर्विरोध की स्थिति मान कर उसे उसी के द्वारा संचालित माना है । उसकी यह प्रमुख मान्यता रही है कि प्रत्येक विचार के

१- मूपेन्द्रनाथ सान्याल: मार्क्स का दर्शन, पृ० ६१

२- Manual : Fundamentals of Marxism - Leninism P. 59

३- Manual : Fundamentals of Marxism - Leninism P. 59

साथ-साथ उनका एक विरोधी विचार भी चला करता है। प्रथम विचार को उसने 'वाद' ( *Thesis* ), उसके विरोधी विचार को 'प्रतिवाद' ( *Antithesis* ), और इन दोनों के संघर्ष से उत्पन्न होने वाले नये विचार को 'समन्वितवाद' जैसे ( *Synthesis* ) की संज्ञा दी है। समन्वितवाद में पुनः द्वन्द्वात्मक संघर्ष छिड़ने पर उसमें 'वाद' और 'प्रतिवाद' की दो विरोधी धाराओं का विकास होता है और बाद में उन दोनों के सन्तुलन पर पुनः समन्वितवाद की स्थिति आ जाती है। इस प्रकार 'वाद' 'प्रतिवाद' और 'समन्वितवाद' की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक सीमित विचार विकसित होकर वृहत्तर समन्वितवाद में लय नहीं हो जाता। विचारों का यही संघर्ष सृष्टि-विकास का कारण होता है। मार्क्स ने हेगेल के वैचारिक स्तर पर चलने वाले इस द्वन्द्वात्मक संघर्ष को मौक्तिक संघर्ष के रूप में ग्रहण किया है। हेगेल ने मन को निर्विकल्प सत्य मान कर उसके स्वयं विकास को 'सृष्टि' मानो थी। उसकी मान्यतानुसार सृष्टि-प्रक्रिया का पहला अंक एक अविभाजित इकाई है जो पहले दो अंशों में विभक्त हो जाती है, पुनः इन विरोधों का समन्वय हो कर एक समन्वित इकाई की रचना होती है, इसी प्रक्रिया की बार बार आवृत्ति पर सृष्टि का विकास होता चलता है। मार्क्स ने हेगेल के इस द्वन्द्वात्मक संघर्ष को प्रक्रिया को दूसरे सन्दर्भ में ग्रहण किया। उसका कहना था कि विकास-क्रम की यह प्रक्रिया मानसिक जगत की न होकर मौक्तिक जगत की है। मौक्तिक तत्वों का द्वन्द्वात्मक संघर्ष ही मानस में प्रतिबिम्बित हो कर मानसिक प्रक्रिया का स्वरूप धारण कर लेता है। आदर्शवादी दर्शन इस जगत को 'एक पूर्ण विचार' या कल्पना, 'एक विश्वात्मा' या आत्मज्ञान का मुर्त रूप समझता है। मार्क्सिय दर्शन के अनुसार इस जगत का असली रूप है मौक्तिक। इस जगत के विचित्र और विभिन्न दृश्यमान व्यापार भूत की गति के ही विभिन्न रूप हैं।<sup>१</sup> इस प्रकार मार्क्स ने भूत, प्रकृति और जीव के वास्तविक अस्तित्व को सत्य मान कर उन्हें मन के प्रभाव-क्षेत्र से बिल्कुल स्वतन्त्र माना है। उसका द्वन्द्वात्मक मौक्तिकवाद व्यावहारिक स्तर पर व्यक्ति के यथार्थ मौक्तिक अस्तित्व के य उस स्थूल सत्य को स्वीकार करता है, जिसकी मूलभूत विशेषता संघर्ष और विकास की प्रक्रिया है।

प्रसाद ने भी 'संघर्ष' को विकास का सूत्र माना है --

'विषमता की पीड़ा से व्यस्त, हाँ रहा स्पन्दित विश्व महान,  
यही दुःख-सुख विकास का सत्य, यही भूमा का मधुमय दान'<sup>१</sup>

यहाँ पर यह बात विचारणीय है कि मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त और 'प्रसाद के संघर्षमूलक सिद्धान्त' में मौलिक अन्तर है। मार्क्सवाद में प्रस्तुत 'वाद' (थोसिस) के भीतर जन्म लेने वाली असंगतियों का प्रतिफल समन्वितवाद (सेन्थीसिस) है, और इन असंगतियों के निराकरण स्वरूप हमी प्रक्रिया की आवृत्ति को सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसके फलस्वरूप द्वन्द्व की स्थिति बराबर बनी रहती है। लेकिन प्रसाद जी का दृष्टिकोण इस से भिन्न है। उन्होंने द्वन्द्व और संघर्ष की साम्यावस्था पर विशेष बल दिया है। यही समन्वय सामाजिक सुव्यवस्था का आधार होता है। इसी तथ्य को स्वीकार कर प्रसाद ने अतिवादी दृष्टिकोणों का विरोध करते हुए आत्मा, विश्वास, और उदात्त भावों से अनुप्राणित आत्मीयता का सन्देश दिया है। इस प्रकार संघर्ष की परिणति विकास में और विकास की परिणति समन्वय में होकर भूमा का मधुमय दान बन जाती है, जिस पर 'आनन्द' की बेलि लहलहा उठती है।

सुख-सम्बर्द्धना के सन्दर्भ में सुख-प्राप्ति की प्रवृत्ति की दो विधाएँ हो जाती हैं --

(१) लोक-संग्रह की भावना से अनुप्राणित परार्थमूलक प्रवृत्ति।

(२) आत्मतृप्ति की संकुचित मनोवृत्ति से पोषित स्वार्थ मूलक प्रवृत्ति।

प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति समष्टिप्रधान होती है और दूसरी प्रकार की व्यष्टि प्रधान। एक में सेवा-भाव का प्रसार रहता है, दूसरी में व्यक्तिवादी अहं का अतिचार। व्यष्टिमूलक स्वार्थ-प्रधान प्रवृत्ति में विकृत अहं की व्याप्ति रहा करती है जिसमें निम्नांकित तत्त्व पाये जाते हैं --

(१) आत्मरति-आत्म प्रशंसा और फूँठा आत्म-विश्वास।

(२) व्यक्तिगत कुंठाएँ-निराशा, वेदना असफल प्रेम की खिन्नता आदि।

(३) ऐन्द्रिकता-मानसिक कुंठाओं की विकृत अभिव्यक्ति मांसल सौन्दर्य के प्रति वासनात्मक आसक्ति, मानसिक व्यभिचार।



प्रसाद ने सुख-प्राप्ति के प्रसंग में उपर्युक्त दोनों पक्षों का उद्घाटन करते हुए प्रथम पक्ष को बरेण्य माना है । इसी का उदात्तरूप आनंद की कोटि में आता है । प्रथम पक्ष का प्रतिनिधित्व श्रद्धा ने किया है, और द्वितीय पक्ष का अहंवादी मनु ने ।

मनु का प्रारम्भिक जीवन-- चित्ता से संघर्ष सर्ग तक विकृत अहं की विकृतियों का ही प्रतीक है जिसमें आत्म रति, व्यक्तिगत कुंठाये तथा ऐन्द्रिकताजन्य वासनात्मक आसक्ति का प्राधान्य है<sup>१</sup> । अहंवादी मनु का पतन तथा श्रद्धा द्वारा उनका उद्धार दिखला कर कवि ने परार्थ मूलक आनंदवाद की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है । 'श्रद्धा' के शब्दों में जैसे 'ममता, शान्ति और परार्थसेवा का स्वर मुखर हो उठा है --

अपने में सब कुछ भर कैसे  
व्यक्ति विकास करेगा ?  
यह स्कान्त स्वार्थ भीषण है  
अपना नाश करेगा ।  
औरों को हंसते देखो मनु  
हंसो और सुख पाओ,  
अपने सुख को विस्तृत कर लो  
सब को सुखी बनाओ ।  
रचना मूलक सृष्टि यत्र यह,  
यज्ञ पुरुष का जो है ।  
संसृति-सेवा भाग्य हमारा  
उसे विकसने को है ।  
सुख की सीमित कर अपने में  
केवल दुःख बढ़ाओगे,  
इतर प्राणियों की पीड़ा लख  
अपना मुंह मोड़ोगे ।

+ + +

सुख अपने सन्तोष के लिए  
संग्रह मल नहीं है,  
उसमें एक प्रदर्शन जिसको  
देखे अन्य, वही है<sup>१</sup>।

व्यष्टिमूलक सुख-साधना ज्यों-ज्यों वासना की उपासना में डूब कर  
स्वार्थ संग्रह की सीमा में सिमटती जाती है, त्यों-त्यों मज्जे आनंद का सहज  
प्राप्त सूखने लगता है । सारा सुख दुःख में बदल जाता है--

अपना हो या औरों का सुख  
बढ़ा की बस दुःख बना वही,  
कौन विन्दु है रुक जाने का  
यह जेमे कुछ ज्ञात नहीं ।<sup>२</sup>

व्यक्ति की यह संकुचित सुख-लालसा बढ़ते बढ़ते उस पाशविक आनंद  
के स्तर पर आ जाती है, जिसमें व्यक्ति का जीवन आहार, निद्रा तथा मैथुनादि  
के आनंद तक ही सीमित होकर कुंठित होने लगता है ।

संयम सुखी जीवन का मूलधार है । ममत्वमूलक वासनासु तमक आसक्ति  
आनंद की जड़ खोखली कर देती है । अतः साधकों ने आनंद पत्र को पुष्ट करने  
के लिए संयम-साधना को आवश्यक माना है । प्रसाद ने भी संयम को अपने आनंदवाद  
का आधार बनाते हुए घोर ऐन्द्रिकता और विलासिता को विवर्हण की है ।  
विलासिता के नद में तिरते हुए देव-सुखों को सृष्टि का कारुणिक अन्त<sup>३</sup>, स्वेच्छाचारी  
मनु का परामव, 'स्वर्ग' के सण्डहर में विलासी श्रेष्ठ की अधोगति, ऐन्द्रिय सुख-भोग  
की लालसा से ग्रसित देवनिरंजन, किशोरी, घण्टी तथा विजय आदि के जीवन की  
दयनीय स्थिति, 'विलास' के पीछे पागल 'कागना' के अतृप्त जीवन का 'सन्तोष'  
के साथ गठबन्धन आदि प्रसंग, कवि के संयमशोल दृष्टिकोण की हो पुष्टि करते हैं ।

१- कामायनी, पृ० १३२, १३३

२- कामायनी, पृ० २१०

३- कामायनी, पृ० ७, ८, ९, १०, ११

इस प्रकार प्रसाद का आनंदवाद, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक पक्षों से पुष्ट, तोष वृत्ति तथा अभेद-अनुभूति पर आधारित, बाह्याभ्यन्तर जीवन-सन्तुलन का एक उदात्त संकलन है । इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा, आत्मा तथा समरसता पर हुई है, जिसमें अभेद भाव-बोध द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर दुःख सुख के सामान्य स्तर से ऊंचे उठने का संदेश दिया गया है --

सब भेद-भाव भुलवा कर

दुःख सुख को दृश्य बनाता,

मानव कह रे । यह मैं हूँ

यह विश्व नोड़ बन जाता <sup>१</sup> ।

+ + +

हो उदासीन दोनों से

दुःख-सुख से मेल कराये,

ममता की हानि उठा कर,

दो ल्हे हुए मनाये <sup>२</sup> ।

-----  
१- कामायनी, पृ० २८६

२- आंसू, पृ० ५० ।

द्वितीय खण्ड

-0-

प्रसाद की दार्शनिक चेतना : व्यावहारिक पक्ष (जीवन-दर्शन)

(द्वितीय खण्ड)

अष्टम - अध्याय

-0-

प्रसाद-साहित्य में मानवीय संस्कृति की व्याख्या

षष्ठम् अध्याय

-०-

प्रसाद साहित्य में मानवीय संस्कृति की व्याख्या

जीवन-स्तर के विकास-क्रम में प्राप्त उपलब्धियों को 'सम्यक्ता' और 'संस्कृति' की संज्ञा दी गयी है। 'सम्यक्ता' और 'संस्कृति' में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे की पूरक बन कर आती हैं। सम्यक्ता और संस्कृति के स्वरूप तथा सीमाओं के सन्दर्भ में, विचारकों ने अपने-अपने ढंग से उसके विविध पक्षों की विवेचना की है। कुछ लोगों ने लौकिक-अलौकिक जीवन में सहायक, अनुकूल आचरण पर बल देते हुए जीवन के नानाविध रूपों के समुदायों को 'संस्कृति' की संज्ञा दी है<sup>१</sup> तो किसी ने इसे राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों की विचार-धाराओं तथा क्रिया-व्यापारों की मूल संवेदना माना है। किसी के द्वारा इसे सम्यक्ता का

१-(क) 'संस्कृति' शब्द कृ धातु से भूषण अर्थ में 'सुटे' का आगम कर के बना है, जिसका अर्थ है भूषणभूत सम्यक् कृति का चैष्टा। अतः जिन चैष्टाओं द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति प्राप्त करता है, वे ही 'संस्कृति' कही जा सकती हैं, अथवा मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाम्युदय के अनुकूल आचार-विचारों को संस्कृति कहा जा सकता है।

-- श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती :

(कल्याण : हिन्दू संस्कृति अंक, पृ० २४)

(ख) संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का स्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। 'संस्कृति' हवा में नहीं रहती, उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है। -- डा० वासुदेव शरण अग्रवाल (कला और संस्कृति, पृ० १)

२- किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार, वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है उसी का नाम 'संस्कृति' है।

-- श्री राजगोपालाचार्य (कल्याण : हिन्दू संस्कृति अंक पृ० ६३)

आन्तरिक प्रभाव मानकर इसका सामाजिक मूल्यांकन किया गया है<sup>१</sup> और किसी ने इसे संस्कारगत विशिष्टताओं पर बल देते हुए गत-आगत अनुभूतियों से अनुप्राणित जीवन की एक पद्धति के रूप में स्वीकार किया है ।

‘संस्कृति’ के विविध पक्षों का सर्वेक्षण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तुतः ‘संस्कृति’ संस्कारगत विशिष्टताओं से अनुप्राणित श्रेय और प्रेय का वह उदात्त समुच्चय है, जिसमें जीवन के विविध पक्ष सिमट कर संस्कृत और परिष्कृत स्वरूप में समन्वित हो उठते हैं । ‘श्रेय’ आध्यात्मिक जीवन की उन उदात्त भाव-वृत्तियों का बोधक है, जिसमें हमारा अन्तर्मन अन्तर्मुखी होकर आत्म-बोध की दिशा में अग्रसर होता है, और अति भौतिकता से ऊपर उठ कर आध्यात्मिकता के गहरे जल में पैठ जाता है । श्रेय पक्ष सांसारिक जीवन की भौतिक उपलब्धियों का सूत्रधार होता है । यहीं पर श्रेय का सम्बन्ध ‘संस्कृति’ से हो जाता है, और प्रेय का सम्बन्ध सम्यता से । ‘सम्यता’ जीवन के व्यावहारिक पक्ष का पूरक है, तो संस्कृति अन्तश्चेतना की सहज सन्तुष्टि ।

चूंकि संस्कृति का सीधा सम्बन्ध संस्कार से है, और संस्कार पैतृक परम्पराओं तथा सामाजिक व्यवस्थाओं से प्रभावित होते रहते हैं, अतः इस दृष्टि से ‘संस्कृति’ समाज सापेक्ष हो जाती है, समाज से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं

१-‘सम्यता का आन्तरिक प्रभाव ‘संस्कृति’ है । सम्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर का ।’

-- डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क  
पृष्ठ १८१

२- (क) ‘संस्कृति’ का सम्बन्ध संस्कार से है, जिसका अर्थ है सशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना । ‘संस्कृत’ शब्द का भी यही अर्थ है, और संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी, किन्तु जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं ।’

-- डा० गुलाब राय : भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृ० १

(ख) संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिसमें कोई समुदाय-विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टिनिक्षेप करता है । यह दृष्टिकोण कई बातों पर निर्भर करता है । थोड़े में कह सकते हैं कि समुदाय की वर्तमान अनुभूतियों और पुरातन अनुभूतियों के संस्कारों के अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता है ।’

-- डा० सम्पूर्णानन्द : कल्याण हिन्दू संस्कृति अंक  
पृष्ठ ७० ।

आन्तरिक प्रभाव मानकर इसका सामाजिक मूल्यांकन किया गया है<sup>१</sup> और किसी ने इसे संस्कारगत विशिष्टताओं पर बल देते हुए गत-आगत अनुभूतियों से अनुप्राणित जीवन की एक पद्धति के रूप में स्वीकार किया है<sup>२</sup> ।

‘संस्कृति’ के विविध पक्षों का सर्वेक्षण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तुतः ‘संस्कृति’ संस्कारगत विशिष्टताओं से अनुप्राणित श्रेय और प्रेय का वह उदात्त समुच्चय है, जिसमें जीवन के विविध पक्ष सिमट कर संस्कृत और परिष्कृत स्वरूप में समन्वित हो उठते हैं। ‘श्रेय’ आध्यात्मिक जीवन की उन उदात्त भाव-वृत्तियों का बोधक है, जिसमें हमारा अन्तर्मन अन्तर्मुखी होकर आत्म-बोध की दिशा में अग्रसर होता है, और अति भौतिकता से ऊपर उठ कर आध्यात्मिकता के गहरे जल में पैठ जाता है। श्रेय पक्ष सांसारिक जीवन की भौतिक उपलब्धियों का सूत्रधार होता है। यहीं पर श्रेय का सम्बन्ध ‘संस्कृति’ से हो जाता है, और प्रेय का सम्बन्ध सम्यता से। ‘सम्यता’ जीवन के व्यावहारिक पक्ष का पूरक है, तो संस्कृति अन्तःश्वेतना की सहज सन्तुष्टि।

चूंकि संस्कृति का सीधा सम्बन्ध संस्कार से है, और संस्कार पैतृक परम्पराओं तथा सामाजिक व्यवस्थाओं से प्रभावित होते रहते हैं, अतः इस दृष्टि से ‘संस्कृति’ समाज सापेक्ष हो जाती है, समाज से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं

१-‘सम्यता का आन्तरिक प्रभाव ‘संस्कृति’ है। सम्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर का।’

-- डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क  
पृष्ठ १८१

२- (क) ‘संस्कृति’ का सम्बन्ध संस्कार से है, जिसका अर्थ है सशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। ‘संस्कृत’ शब्द का भी यही अर्थ है, और संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी, किन्तु जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं।’

-- डा० गुलाब राय : भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृ० १

(ख) संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिसमें कोई समुदाय-विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टिनिक्षेप करता है। यह दृष्टिकोण कई बातों पर निर्भर करता है। थोड़े में कह सकते हैं कि समुदाय की वर्तमान अनुभूतियों और पुरातन अनुभूतियों के संस्कारों के अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता है

-- डा० सम्पूर्णानन्द : कल्याण हिन्दू संस्कृति अंक  
पृष्ठ ७० ।



रह जाता । संस्कृति के प्रसिद्ध आस्थाता क्रोवर का मत है कि समाज के बिना संस्कृति जीवित नहीं रह सकती और यही कारण है कि प्रत्येक मानव-समाज की अपनी संस्कृति होती है<sup>१</sup> ।

संस्कृति-समाज-निर्माण और व्यक्तित्व-विकास का मूलधार है । इससे गहरी वस्तु का बोध होता है । इसका सम्बन्ध भीतर से होता है, जब कि सम्यता ऊपरी वस्तु प्रकट करती है । एक का परिणाम आन्तरिक आनन्द है, दूसरी का बाह्य-सुख । श्रेय और प्रेय के सहज समन्वय पर ही संस्कृति के सांगोपांग स्वरूप की प्रतिष्ठा होती है ।

जीवन जड़-चेतन(देह+आत्मा) का एक संघात है । इनमें से एक का भी अभाव जीवन की समाप्ति का कारण बन जाता है । जिस प्रकार जड़-शरीर के अभाव में चेतन-आत्मा, और चेतन-आत्मा के अभाव में जड़-शरीर अपना अस्तित्व खो देता है, उसी प्रकार<sup>आदर्श</sup> (आध्यात्मिक जीवन) से शून्य यथार्थ (भौतिक पदार्थ) तथा यथार्थ (भौतिक पदार्थ) से अछूता आदर्श (आध्यात्मिक पदार्थ) निर्जीव शव मात्र रह जाता है और इन शवों पर पनपने वाली स्कांगी संस्कृति दीर्घजीवी नहीं होती । उसमें संजीवनी शक्ति का अभाव होता है, जिसके अभाव में उसका झोत शीघ्र ही सूख जाता है । इसलिए संस्कृति की शाश्वत प्रतिष्ठा के लिए जीवन के दोनों पदार्थों-- आध्यात्मिक तथा भौतिक का सन्तुलन आवश्यक है । जिस समय व्यक्ति जीवन के इन दोनों पदार्थों के समन्वय की दिशा में बढ़ता है, उस समय उसके सामने निम्नलिखित दो समस्याएं आती हैं --

(१) प्रभावजन्य आग्रह, और

(२) संस्कार जन्य अनुभूति ।

‘प्रभाव’ परिस्थितिजन्य आवश्यकताओं की पूर्ति का परिणाम है । वह पूर्ति-प्रसंग का एक ऐसा प्रेरक तत्त्व है, जिसका स्वरूप परिवर्तित होता रहता है । इसका सीधा सम्बन्ध हमारे बाह्य जीवन से होता है, जो सम्यता का प्रसौता

१- "As something shared and spura individual, culture can exist only, when a society exists, and conversely every human society is accompanied by a culture."

— The Nature of Culture : A.L. Kroeber  
(1952) Part I, P. 181)

बनकर आता है। संस्कार अपेक्षाकृत स्थायी होता है। इसमें परिवर्तन की सम्भावना कम रहती है और इसका विशेष सम्बन्ध आन्तरिक अनुभूतियों से होता है जो संस्कृति की पीठिका बनकर आती है। देश, काल तथा परिस्थितियों के सन्दर्भ में इस संस्कार के भी अनेक स्तर हो जाते हैं। चूंकि प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी-अपनी संस्कारगत विशिष्टताओं के अनुरूप जीवन-पद्धतियों का चुनाव करता है, अतः संस्कृति के स्वरूप में भी अनेक स्तर हो जाते हैं। भारत का सांस्कृतिक विकास इसका पुष्ट प्रमाण है।

भारतीय चिन्तन-परम्परा में श्रेय और प्रेय के आधार पर जीवन के दो निम्नलिखित पक्ष माने गए हैं--

(१) आध्यात्मिक पक्ष (श्रेय मूलक)

(२) भौतिक पक्ष (प्रेय मूलक)

‘प्रसाद’ जी ने उपर्युक्त दोनों पक्षों के बीच बहुत गहरी रेखा न खींचकर श्रेय और प्रेय को आत्मा का ही अभिन्न अंग माना है। इस प्रसंग में उन्होंने मन की अधोलिखित दो शक्तियों का उल्लेख किया है --

(१) संकल्पात्मक शक्ति ।

(२) विकल्पात्मक शक्ति ।

संकल्पात्मक शक्ति का संबन्ध हृदय की रागात्मक अनुभूतियों से है, और विकल्पात्मक शक्ति का, विश्लेषण, विकल्प, विज्ञान आदि भौतिक उपलब्धियों से। यहीं पर काव्य की व्याख्या करते हुए प्रसाद ने काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति कहा है, जो श्रेय और प्रेय का ही एक सम्पृक्त रूप है। श्रेय और प्रेय के

१-‘मन संकल्प और विकल्पात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकल्पात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धान्त बनता है, वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और इसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की, प्रेय की कमी हो जाती है।’ -- काव्य, कला, तथा अन्य निबन्ध (पृष्ठ ३८)

२-‘काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प, या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रमयुगी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाह्यगमय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निसन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।

-- काव्य कला तथा अन्य निबन्ध (पृष्ठ ३८)

इसी अमेद रूप के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने मानवीय संस्कृति की व्याख्या की है, जिसका केन्द्र-विन्दु समृद्ध जीवन की परिकल्पना है ।

समृद्ध जीवन का आधार-स्तम्भ--व्यक्तिगत, वैवाहिक, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के बहुविध सम्बन्धों तथा उनकी आवश्यकताओं के बीच पूर्ण सामंजस्य की अवस्था है । यह अवस्था संयम, संतोष, तथा रागात्मक भाव-बोध से ही सम्भव हो सकती है । इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर प्रसाद जी ने 'संस्कृति' को सौन्दर्य मूलक तथा सामूहिक चेतना से सम्बद्ध विविध भाव-बोधों--शील, शिष्टाचार, मनोभाव, एवं धर्मादि की एक समष्टि माना है और भारतीय संस्कृति के माध्यम से इन तत्त्वों की विवेचना प्रस्तुत की है ।

४ भारतीय संस्कृति की मूल धारा कालान्तर में चलकर सैद्धान्तिक मतभेदों तथा जीवन पद्धतियों के आधार पर दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गई -- एक को सूर संस्कृति या देव संस्कृति की संज्ञा दी गई और दूसरी को असुर संस्कृति की । इन दोनों धाराओं का उद्गम-स्थल एक ही था -- आर्य संस्कृति ।

१- संस्कृति अर्थात् सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है । संस्कृति, मन्दिर, गिरजा और मसजिद-विहीन प्रान्तों में अन्तः प्रतिष्ठित होकर सौन्दर्य-बोध की वाह्य सत्ताओं का सृजन करती है । संस्कृति का सामूहिक चेतना से मानसिक, शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों से, मौलिक सम्बन्ध है । धर्मों पर भी इसका चमत्कार पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है ।

-- काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध (पृष्ठ २८)

२-(क) ऋग्वेद के प्राचीनतम मंत्रों में, प्रायः ग्यारह स्थलों में असुरों का अविरोधी वर्णन है । असुर पराक्रम के प्रतीक समझे गए थे, इसी कारण असुर शब्द वरुण और इन्द्र का विशेषण बना । सम्भव है, यह पराक्रम असुरों द्वारा सुमेरु-सम्यता के विनष्ट होने पर उन्हें प्राप्त हुआ हो । फिर जब उन्होंने असुरों से आर्यों का संघर्ष प्रारम्भ हुआ तब आर्यों ने अपने ऋग्वेद के बाद के मंत्रों में उन्हें विरोधी रूप में दर्शा कर राजास कहा । यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्राचीन असुरों से आर्यों का बहुत दिनों तक संघर्ष चलता रहा जिसमें दोनों टूट गये । असुरों से लड़ने वाले मध्य एशिया के आर्य पन्द्रहवीं शती ई०पू० हत्ती-मितरी आदि थे । + + +  
( शेष भाग अगले पृष्ठ पर देखें )

(पिछले पृष्ठ की टिप्पणी का अवशिष्ट भाग) सम्भव है असुर भी बाद में जाने वाले आर्यों के ही एक दल हों, और भूमि के लिए उनमें परस्पर समय-समय पर युद्ध होता रहा हो । + + + पौराणिक साहित्य की एक साधारण कथा है कि देव और असुर एक ही पिता के पुत्र थे --कश्यप की सपत्नियों से उत्पन्न । दैत्य दिति से हुए और आदित्य अदिति से । अदिति से आदित्यों का प्रादुर्भाव स्वयं ऋग्वेद घोषित करता है । दैत्य असुर थे और आदित्य देव (आर्य) ।

-- प्राचीन भारत का इतिहास : श्री भगवत्शरण उपाध्याय, पृ० ४५  
(ख) यह निर्विवाद है कि दोनों सम्प्रदायों का मूल एक है । + + + देव शब्द दिव धातु से निकला है, जिसका अर्थ है चमकना । अतः जो चमकता है, प्रकाशमान है, वह देव है । इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य आदि के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है । 'असुर' वह है जो असु वाला है, जिसमें प्राणशक्ति है, जो बलवान है । यह शब्द भी दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है, परन्तु पीछे से व्यवहार में अन्तर पड़ गया । + + + किन्तु आर्यों की सभी शाखाओं में यह परिवर्तन नहीं हुआ । एक शाखा ने असुर शब्द का प्रयोग पुराने अर्थ में जारी रखा । उसने देवाधिदेव को उसी पुरानी उपाधि असुर महत् (अहुर मज्द्र) से पुकारने की परम्परा बना रखी । परिणाम यह हुआ कि एक शाखा असुरोपासक दूसरी देवोपासक हो गई । पहली शाखा के लिए 'असुर' शब्द अच्छा और 'देव' शब्द बुरा, दूसरी के लिए असुर शब्द बुरा और देव<sup>शब्द</sup> के लिए अच्छा हो गया । + + + ज्यों ज्यों इन्द्र की उपासना बढ़ी त्यों त्यों आपस का विरोध बढ़ा । एक ओर इन्द्र को मानने वाले, दूसरी ओर उनको न मानने वाले, और बुरा-मला कहने वाले । एक पक्ष ने देव शब्द को अपनाया, और दूसरे ने असुर को । + + + इनमें कोई समझौता सम्भव नहीं था । एक को अपने असुरोपासक होने पर गर्व था, दूसरे को देवपूजक होने का अभिमान था । एक को इन्द्र को देवराज मानता था, और उनके नाम पर लड़ता था, दूसरा मित्र, वरुण, अग्नि, वायु, यम के साथ किसी दूसरे का नाम लेना नहीं चाहता था । एक पुरानी पद्धति से टलना नहीं चाहता था, दूसरा इस धार्मिक-विकास का स्मर्थक था ।

-- डा० सम्पूर्णानन्द : आर्यों का आदि देश (पृ० ५४, ५५, ६१, ६३)

‘प्रसाद’ जी ने भी सुर और असुर संस्कृति को एक ही संस्कृति की दो विधायें मान कर, उनके सैद्धान्तिक मतभेदों का उल्लेख किया है । पहले इनमें कोई विरोध-भावना नहीं थी, लेकिन कालान्तर में विचारों का द्वन्द्व लेकर इनमें गहरा मतभेद होता गया और ‘प्राणों की पूजा’ के प्रसंग ह की लेकर तीव्र वैचारिक विग्रह प्रारम्भ हो गया । सुर और असुर वर्ग का यह सांस्कृतिक संघर्ष वस्तुतः दो जीवन-पद्धतियों का संघर्ष था । एक वह मूलक आत्मवाद का आराधक था, दूसरा जड़ देह का पोषक, एक प्राणों की पूजा का उपासक था, दूसरा अहंता का आराधक :--

था एक पूजता देह दीन,

दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण ।

दोनों का हठ था दुर्निवार, दोनों ही थे विश्वास हीन ।”

-- कामायनी : इडा (पृष्ठ १६१ )

इस प्रकार देव जाति के ये दोनों वर्ग -- सुर और असुर, अपनी अपनी मान्यताओं के अनुरूप भिन्न जीवन-पद्धतियों का विकास करने लगे । एक आध्यात्मिक अनुष्ठानों की ओर झुका गया, दूसरा घोर भौतिकता की ओर मुक्ता गया, तथा दोनों एक-दूसरे को जीवन-पद्धतियों को परोक्ष या अपरोक्ष रूप से प्रभावित करने का प्रयत्न भी करते रहे । लेकिन ज्यों ज्यों समय बीतता गया, सुर वर्ग की शुद्ध जीवन-पद्धति असुरवर्ग की विलासितापूर्ण जीवन-पद्धति से

१- जीवन का ले कर नव विचार,

जब चला द्वन्द्व था असुरों में प्राणों की पूजा का प्रचार ।

उस और आत्म-विश्वास निरत सुरवर्ग कह रहा था पुकार--

में स्वयं सतत आराध्य आत्ममंगल उपासना में विमोह

उल्लास शील में शक्ति-केन्द्र किसकी खोजें फिर शरण और,

{+

+

+

+

प्राणों के सुख-साधन में ही, संलग्न असुर करते सुधार ।

नियमों में बंधते दुर्निवार ।”

-- कामायनी : इडा (पृष्ठ १६१)

प्रभावित होती गई<sup>१</sup>। आसुरी वृद्धि से प्रभावित इस देव संस्कृति की निम्नांकित विशेषतायें थीं --

(१) अमरता ।

(२) विलास-प्रियता ।

(३) यज्ञों की बहुलता ।

व्यक्ति अपने-आप में अपूर्ण है। अपूर्णता की संयत अनुभूति सहिष्णुता तथा संवेदनशीलता को जन्म देती है। व्यक्ति अपनी क्षमता, शक्ति-सीमा के आयतन में अपने भावी जीवन की रूप-रेखा बनाता है और उसी के अनुरूप सामाजिक सम्बन्धों की सृष्टि करता है। जिसमें अपूर्णता की संयत अनुभूति का अभाव होता है, वह अपने जीवन में सन्तुलन नहीं ला पाता, जिसके फलस्वरूप उसका जीवन स्वयं उसी के लिए समस्याओं का एक समुच्चय बन जाता है। अपूर्णता की संयत अनुभूति के मूल में सीमित शक्ति का भाव-बोध काम करता रहता है, और यही भाव-बोध क्षणभंगुरता की बोध-वृत्ति के साहचर्य में आकर और गहरा हो जाता है। जो व्यक्ति संसार को परिवर्तनशीलता और क्षणभंगुरता के दार्शनिक तथ्यों का जितना ही अनुशीलन करता है, वह स्वीकृत मानकमूल्यों के प्रति उतना ही जागरूक होता है। जिसमें इस चिन्तन का अभाव होता है, और जो नश्वर जीवन की असंगत व्याख्या कर 'अहं' की संकुचित सीमा में सिमट जाता है, उसमें उच्छ्वसलता तथा तज्जन्य विकृतियों के अंकुर उगने लगते हैं। देवजाति के साथ यही हुआ, क्योंकि वह अपने आप को अमर समझती थी।

१- देव सम्यता में असुरत्व जाने का प्रधान कारण यह है कि उस पर असुर सम्यता का व्यापक प्रभाव पड़ चुका था। सांस्कृतिक विजय के लिये किये गये विजित असुरों के प्रयत्नस्वरूप ही आर्य-सम्यता में अनेक आसुरी बातें आ गयीं मालूम पड़ती हैं। जिन पाक-यज्ञों में पहले केवल अन्नादि यज्ञों की गिनती होती थी, उनमें अब न केवल पशु यज्ञ गिना जाने लगा, अपितु केवल पशु-यज्ञों को ही पाक यज्ञ कहने लगे।

-- डा० फतेह सिंह : कामायनी सौन्दर्य, पृ० ७८

देव संस्कृति की आधारशिला, अमरता की वह भावना थी, जिसने 'अहं' और 'ममत्त्व' का ज्वार उठा कर देव जाति के जीवन को दुःख का दिया था । ज्यों-ज्यों देव जाति में अपने-आप को अमर समझने का भाव बढ़ने लगा, त्यों-त्यों उनमें अहंवृत्ति की विष-बेलि भी बढ़ती गई । 'अहं' एकान्त स्वार्थ के विविध पक्षों का वह स्मुच्चय है, जो सारी सुख-सुविधाओं को अपने-अपने आप में समेट कर उसके अबाध भोग की भूख जगा देता है । ज्यों-ज्यों व्यक्ति में असंत मोह-लिप्सा की यह स्पृहा बलवती होती जाती है, त्यों-त्यों उसमें सहिष्णुता और सहज संवेदनशीलता का अभाव होता जाता है । देव जाति का पारस्परिक झगड़, तथा उनके द्वारा दी ग जाने वाली पशुबलि आदि के मूल में मोह-लिप्सा जन्य क्रूरता का ही प्राबल्य था । इन्द्रिय सुखों की वासनात्मक आसक्ति व्यक्ति में काम, क्रोध, लोभ तथा मोह आदि विकारों के विकृत स्वरूप की सृष्टि करती जाती है, जो विकृत 'अहं' के ही विविध रूप हैं ।

'विकृत अहं' संकुचित ममत्त्व को जन्म देता है, और संकुचित ममत्त्व की अन्तिम परिणति विलासिता में होती है । चिन्ता सँ में हमें देवजाति की इसी विलासपूर्ण संस्कृति की कान्की मिलती है, जिसमें उनका उन्मत्त विलास सुरभित अंचल में लिपटा हुआ, मधुमय विश्वास के साथ सुखरित होता रहता था, उनमें सारी शक्तियाँ उसी प्रकार केन्द्रीभूत हो गई थीं, जिस प्रकार छायापथ में नवतुषार के सघन संघात का मिलन होता है<sup>१</sup> ।

१- 'ध्यायते विषयान्पुंसः सहोऽगस्तैष पजायते ।

सहोऽगात्सजायते कामः कामात्क्रोधो मि जायते ॥६२॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विप्रमः ।

स्मृति प्रंशव बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

२- 'सुख केवल सुख का वह संग्रह' -- गीता (अध्याय २, श्लोक ६२, ६३)

केन्द्रीभूत हुआ हैतना,

छायापथ में नवतुषार का

सघन मिलन होता जितना ।'

-- कामायनी : चिन्ता (पृ० ८)

देवजाति ने विश्व के सभी बल-वैभव तथा सुख-साधन को स्वायत्त कर लिया था --

सब कुछ थे स्वायत्त विश्व के  
 बल-वैभव आनन्द अपार,  
 उद्वेलित लहरों सा होता, उस  
 समृद्धि का सुख-संचार ।  
 कीर्ति, दीप्ति, शोभा थी नक्षत्री  
 अरुण किरण सी चारों ओर,  
 सप्तसिन्धु के तरल कणों में,  
 क्षम दल में आनन्द विमोर ।  
 शक्ति रही हाँ शक्ति, प्रकृति गी  
 पद-तल में विनत विश्रान्त,  
 कंपती धरणी उन चरणों से  
 हो कर प्रति दिन ही आक्रान्त<sup>१</sup> ।

विवेक के अभाव में यौवन, शक्ति तथा सम्पदा का संगम जीवन को वासना की लहरों में बहा ले जाता है । उदात्त वासना का अतिचार ही देवजाति के पतन का प्रमुख कारण था । विवेक के अभाव में उनका यौवन, शक्ति तथा संचित सम्पदा उनके लिए अभिशाप बन गई थी, जिसके फलस्वरूप वासना की उपासना में लीन, विलासिता के नद में तिरती हुई, इस देवजाति का सब कुछ दम्भ के महामेघ में हविष्य हो गया --

देव दम्भ के महामेघ में  
 सब कुछ ही बन गया हविष्य<sup>२</sup> ।

‘प्रसाद’ जी ने इसी वासनात्मक, आसुरत्व प्रधान, देवसंस्कृति के ध्वंसावशेष पर मानवीय संस्कृति का आविर्भाव माना है --

१- कामायनी : चिन्ता सौ (पृष्ठ ६)

२- वही० : चिन्ता सौ (पृष्ठ ७)



‘ देव अमफलताओं का ध्वंस

प्रचुर उपकरण जुटा कर आब,

बना है बन मानव सम्पत्ति

पूर्ण ही मन का चेतनराज ।’

मोटे तौर पर मानवीय संस्कृति के दो रूप हो जाते हैं --

(१) वैदिक रूप ।

(२) अवैदिक रूप ।

वैदिक रूप के अन्तर्गत मानवीय संस्कृति का वह रूप जाता है, जिसका विकास वेद शास्त्रों के आधार पर हुआ है । आगे चलकर इसकी भी दो परम्पराएँ हो जाती हैं --

(१) निगममूलक संस्कृति ।

(२) आगम मूलक संस्कृति ।

वैद-विहित मान्यताओं, सूत्र एवं स्मृति-ग्रन्थों को आधार मान कर चलने वाली वैदिक परम्परा को निगम मूलक संस्कृति और वैदिक परम्परा के अन्तर्गत विकसित, आगमग्रन्थों को आधार मान कर चलने वाली संस्कृति को आगममूलक संस्कृति की संज्ञा दी गई है ।

अवैदिक संस्कृति, वैदिक परम्परा से भिन्न विभिन्न जीवन-पद्धतियों का एक संगम है । इसमें द्रैविण, जैन, बौद्ध, शक, हूण, यवन आदि अनेक संस्कृतियों का मिला-जुला रूप आ जाता है ।

उपर्युक्त मानवीय संस्कृति के विविध रूपों की सामूहिक अभिव्यक्ति प्रसाद-साहित्य की मूल संवेदना है, जिसका ब्रह्मान्त निदर्शन हमें कामायनी में मिलता है । कामायनी की मूल दृष्टि स्मस्त मानवीय संस्कृति की व्याख्या है, उसी का सांगीपांग आस्थान है । इसमें जातिविशेष, वर्गविशेष, की संस्कृति का एकांगी रूप गृहीत नहीं है, बल्कि समूची मानव-संस्कृति को लपेट लिया गया है ।

१- कामायनी : ऋद्धा सर्ग (पृष्ठ ५८)

‘प्रसाद’ जी ने देवसृष्टि के ध्वंसावशेषों पर आविर्भूत मानवीय संस्कृति का जो स्वरूप रक्खा है, मुख्यतः उसकी दो विशेषताएँ हैं --

(१) सूक्ष्म मनोविकारों की सृष्टि ।

(२) मर्त्य-भावना की अनुभूति, जिसका परिणाम :

(क) प्रेम करने की शक्ति ।

(ख) सर्जनात्मकता ।

देवजाति की दोनों शाखाओं की जीवन-पद्धतियाँ अपने आप में रूढ़ हो चुकी थीं । उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं था । दोनों ही अपने अतिवादों के साथ जीवन के दो छोरों पर खड़ी थीं । मानवीय संस्कृति की स्थिति इन दोनों से भिन्न, जीवन के दोनों छोरों-- त्याग और भोग-- के बीच की स्थिति थी । व्यक्ति के लिए दोनों दिशाओं का मार्ग उन्मुक्त था । एक ओर वह सत्त्वगुणों को अपना कर जीवन की उदात्त भाव-भूमि को प्राप्त कर सकता था, दूसरी ओर तमोगुण की गलियों में मटकता हुआ, गर्हित भोग-वृत्तियों के प्रभाव में आ कर पतित हो सकता था । मानवीय संस्कृति का यह स्वरूप अपने आप में दुहरी सम्भावनाओं को समेटे हुए था । उसमें जहाँ एक ओर घृणा थी, वहीं दूसरी ओर प्रेम भी था, जहाँ एक ओर प्रतिकार की भावना थी, वहीं दूसरी ओर उपकार की सहज संवेदना भी थी, जहाँ एक ओर हर्षोल्लास की मुस्कराती हुई ऊँचाई थी, वहीं दूसरी ओर अवसाद की सिसकती हुई सन्ध्या भी थी । एक ओर ह्रास था तो दूसरी ओर विकास भी था, एक ओर पतन था तो दूसरी ओर उत्थान भी था, एक ओर पशुत्व था तो दूसरी ओर देवत्व भी था । मानवीय संस्कृति की इन दुहरी सम्भावनाओं ने उसमें जो लचीलापन ला दिया था, वही उसके लिए वरदान सिद्ध हो गया, और इसका सारा श्रेय सूक्ष्म मनोविकारों को है । जीवन के साथ मनोविकारों का अटूट सम्बन्ध है । जिस प्रकार फूल से उसकी गन्ध को अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मनोविकारों को जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता ।

‘प्रसाद’ जी ने जीवन में मनोविकारों की आवश्यकता को स्वीकार किया है । उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि रागात्मक भाव-बोधों के प्रति व्यक्ति में सहज आकर्षण की प्रवृत्ति पाई जाती है । जीवन की जो व्यवस्था रागात्मक अनुभूतियों से जितनी ही अनुप्राणित होती है, जीवन में उसका प्रभाव भी उतना

ही स्थायी होता है और लोक परम्परा द्वारा वह अधिक ग्राह्य होती है । इस तथ्य की पुष्टि में आप लिखते हैं --<sup>१</sup> कृष्ण में प्रेम, विरह और समर्पण वाले सिद्धान्त का प्रचार करके भागवत के अनुयायी श्री बल्लभ स्वामी और चैतन्य ने उत्तरीय भारत में उसी कारण अधिक सफलता प्राप्त की कि उनकी धार्मिकता में मानवीय वासनाओं का उल्लेख उपास्य के आधार पर होने लगा था । फलतः कविता का वह प्रवाह व्यापक हो उठा । सुधारवादी बुद्ध धार्मिक ही को रहे<sup>१</sup> । इसीलिए उन्होंने मानव-जीवन को दो विरोधी वृत्तियों का संगम माना है --  
 ' तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि पवित्र-हृदय मन्दिर में दो कटु और मधुर भावों का द्वन्द्व चला करता है, और उन्हीं में से एक-दूसरे पर आतंक जमा लेता है<sup>२</sup> ।  
 मानव का प्रतिनिधित्व करने वाले मनु में देव और दानव इन दोनों संस्कृतियों के संस्कार को सुरक्षित दिखा कर प्रसाद ने इसी तथ्य की पुष्टि की है ।

मुख्यरूप से इन मनोविकारों को दो श्रेणियों में रक्खा जा सकता है --

(१) अनुकूल वेदनीय-- प्रेम, उत्साह, हर्ष, उल्लास आदि ।

(२) प्रतिकूल वेदनीय-- घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, दुःख आदि ।

'प्रसाद' जी ने उपर्युक्त दोनों प्रकार के मनोविकारों के समष्टिगत रूप को मानवीय संस्कृति का आधार माना है --<sup>३</sup> रोना और हँसना यही तो मानवीय सम्यता के आधार हैं । आज मेरी समझ में यह बात आ गई । इसीलिए सम्यता की कल्पना है । इसी के साधन मनुष्य की उन्नति के लक्षण कहे जा सकते हैं<sup>४</sup> । 'प्रसाद' द्वारा स्वीकृत मानवीय संस्कृति का स्वरूप पूर्णतया मानवीय है, कल्पना लोक का आकाशीय कुसुम नहीं । इस विषय में उनकी स्पष्ट घोषणा थी, --<sup>५</sup> इस पृथ्वी को स्वर्ग के ठेकेदारों से बचाना होगा । पृथ्वी का गौरव स्वर्ग बन जाने से नष्ट हो जाएगा । इसकी स्वाभाविकता साधारण स्थिति में ही रह सकती है । पृथ्वी को केवल वसुन्धरा हो कर मानव-जाति के लिए जीने दो । अपनी आकांक्षा के कल्पित स्वर्ग के लिए, जुद्ध स्वार्थ के लिए, इस महती को, इस धरणी को, नरक न बनाओ, जिनमें देवता बनने के प्रलोभन में पड़कर मनुष्य राजस न बन जाय ।<sup>६</sup>

१- काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ११७ ।

२- एक घूट, पृष्ठ १८ ।

३- जनमेजय का नाग यज्ञ (पृष्ठ ४६) ।

४- आकाश-दीपः स्वर्ग के सँहर में, पृष्ठ ४६ ।

मनोविकारों के ज्वार-भाटे में तिरती हुई यह मानवीय सृष्टि अपने में मिट मिट कर अपना नव-निर्माण करती है । 'लहर' नामक कविता में कवि इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहता है --

उठ उठ गिर गिर फिर फिर आती,

नर्तित पद-चिह्न बना जाती,

सिक्ता की रेखाएं उमार,

भर जाती अपनी तरल सिहर<sup>१</sup> ।

अपूर्णताओं और अभावों का पाथेय लेकर ही मानव अपनी जीवन-यात्रा प्रारम्भ करता है और सुखद मविष्य की आशा उसमें स्फूर्ति का संचार करती रहती है--

लालसा-निराशा में ढल-मल,

वेदना और सुख में विह्वल,

यह क्या है रे मानव-जीवन ?

कितना है रहा निखर ।

मिलने चलते जब दो कन,

आकर्षणमय चुम्बन बन,

दल के नस नस में बह जाती,

लघु लघु धारा सुन्दर<sup>२</sup> ।

सुखद मविष्य की आशा लेकर ही व्यक्ति सारी कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ नव निर्माण की दिशा में बढ़ता जाता है :--

परिश्रम करता हूं अविराम काता हूं क्यारी औ कुंज ।

सींचता दृगजल से सानंद, खिलेगा कभी मल्लिका पुंज ।

न कांटों की है कुछ परवाह, सजा रखता हूं इन्हें सयत्न ।

कभी तो होगा इनमें फूल, सफल होगा यह कभी प्रयत्न ।

कभी मधु राका देख इसे करेगी झटलाती मधुहास ।

अचानक फूल खिल उठेंगे, कुंज होगा मलयज आवास ।<sup>३</sup>

१- लहर, पृष्ठ ६

२- वही०, पृष्ठ ३०

३- करना, पृष्ठ २४

मानवीय संस्कृति की विकास-परम्परा में इन मनोविकारों के योग-दान का बड़ा ही सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक विवेचन कामायनी में प्रस्तुत किया गया है । देव संस्कृति में यही मनोविकार स्थूलता के परिचायक थे । मनोविकारों का केन्द्र -बिन्दु-- काम और उसकी सहचरी रति, दोनों ही देव सृष्टि में स्थूल भोगवाद के माध्यम और गर्हित वासना के प्रेरक तत्त्व बने हुए थे । दोनों ने ही देव-सृष्टि को बिल्कुल आक्रान्त कर लिया था --

मैं काम रहा सहचर उनका,  
 उनके विनोद का साधन था ,  
 हंस्ता था और हंसाता था, छ  
 उनका मैं कृतिमय जीवन था ।  
 जो आकर्षण बन हंसी थी, रति-धी-अनादि  
 रति थी अनादि वासना वही;  
 अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के,  
 अन्तर में उसकी चाह रही ।  
 हम दोनों का अस्तित्व रहा,  
 उस आरम्भिक आवर्तन सा;  
 जिसमें संसृति का बनता है,  
 आकार रूप के नर्तन सा ।

+ + +  
 हम मूख-प्यास से जाग उठे,  
 आकांक्षा-तृप्ति समन्वय में;  
 रति काम बने उस रचना में,  
 जो रही नित्य यौवन-वय में<sup>१</sup> ।  
 मैं तृष्णा था विकसित करता  
 वह तृप्ति दिखाती थी उनको;  
 आनंद समन्वय होता था,  
 हम ले चलते पथ पर उनको<sup>२</sup> ।

१- कामायनी, पृष्ठ ७१, ७२ ।

२- वही० : कामसर्ग, पृष्ठ ७४ ।

अन्ततः काम और रति का अतिचार ही देवसृष्टि के उपसंहार का कारण बना --

‘देवों की सृष्टि विलीन हुई  
अनुशीलन में अनुदित मेरे;  
मेरा अतिचार न बन्द हुआ<sup>१</sup>  
उन्मत्त रहा उनको धरे ।’

मानवीय सृष्टि में आकर काम और रति का यही शरीरी स्वरूप सूक्ष्म मनोविकारों में रूपान्तरित हो जाता है । प्रथम देवसृष्टि में वासना की आंधी उठाने वाला काम ‘प्रेम’ स्वरूप होकर मानवीय संस्कृति के विकास में सहायक बन जाता है और उन्मत्त बना देने वाली ‘रति’ शालीनता सिखलाने वाली ‘लज्जा’ के रूप में परिवर्तित हो जाती है :--

‘आरम्भिक वात्स्या-उद्गम में  
अब प्रगति बन रहा संस्कृति का;  
मानव की शीतल छाया में,  
ऋण-शोध करेगा निज कृति का ।  
दोनों का स्मृचित प्रतिवर्त्तन  
जीवन में शुद्ध विकास हुआ;  
प्रेरणा अब अधिक स्पष्ट हुई  
जब विप्लव में पड़ छास हुआ<sup>२</sup> ।’

+ + +

‘में रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ  
में शालीनता सिखाती हूँ;  
मतवाली सुन्दरता- फग में  
नूपुर सी लिपट मनाती हूँ<sup>३</sup> ।’

मानवीय सृष्टि की अधिष्ठात्री देवी-- श्रद्धा, इन्हीं दोनों की  
प्यारी सन्तान है ।<sup>४</sup>

१- कामायनी, पृष्ठ ७१(काम)

२- वही०, (काम) पृष्ठ ७६

३- वही०, (लज्जा) पृष्ठ १०३

४- (कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)

मनोविकारों की दो विधायें होती हैं-- उनके दो पक्ष हो जाते हैं --

- (१) मूल प्रवृत्तियों द्वारा संचालित असंयत अशिव पक्ष ।
- (२) उदात्तीकरण द्वारा संस्कृत संयत और शिवपक्ष ।

जिस प्रकार अग्नि का नियंत्रित उपयोग हमारे लिए लाभदायक और उसका अनियंत्रित रूप विनाशक सिद्ध होता है, उसी प्रकार मनोविकारों का संयत शिवपक्ष जीवन के लिए वरदान बनकर आता है, और असंयत अशिव पक्ष उसके लिए अभिशाप बन जाता है । मनु का पतन इसीलिए हुआ कि उन्होंने आशा, आकांक्षा, काम, वासना, प्रेम आदि मनोविकारों का अशिव पक्ष ग्रहण कर उसी की छाया में अपने भावी जीवन की दिशा निर्धारित की थी, जिसके फल-स्वरूप उनके साथ-साथ उनकी अभिनव मानव-सृष्टि भी 'संकुचितदृष्टि' की दल दल में फंस गयी थी और द्वेष भावना, कोलाहल, कलह, उत्पीड़न, हाहाकार और आपसी वैर-विरोध आदि से उनका सारा जीवन ही युद्ध बन गया था । व्यक्ति अपनी आशाओं में ही निराश, बुद्धि-विम्व में उलझ कर परलोक वंचना से मर गया था<sup>१</sup> । इसका उद्धार तब जाकर हुआ जब मनु का मनना-तत्त्व, इड़ा का बुद्धि-तत्त्व, और श्रद्धा का सहज संवेदना तत्त्व स्वयं में सँभट कर मानव ने मानवीय सृष्टि का सूत्र-संचालन अपने हाथों में लिया ।

(पिछले पृष्ठ की टिप्पणी संख्या--४)

यह लीला जिसकी विकस चली  
वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला;  
उसका सन्देश सुनाने को  
संसृति में आई वह अमला ।  
हम दोनों की सन्तान वही  
कितनी सुन्दर मौली-माली;  
रंगों ने जिनसे सैला हो  
ऐसे फूलों की वह डाली ।  
जड़-वैतनता की गाँठ वही  
सुलभन है मूल-सुधारों की;  
वह शीतलता है शान्तिमयी,  
जीवन के उष्ण विचारों की ।

--कामायनी : (काम) पृष्ठ ७६, ७७)

१- कामायनी : इड़ा सर्ग, पृष्ठ १६४-१६६ ।

मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने मनोविकारों को नियंत्रण में लाने के लिए दो विधियों का उल्लेख किया है :-

(१) दमन ( *Suppression* )

(२) उदात्तीकरण ( *Sublimation* )

प्रथम विधि द्वारा नियंत्रित मनोविकार नियंत्रित न हो कर और अधिक विकृत हो जाते हैं, उनकी स्थिति बड़ी विस्फोटक हो जाती है। जिस प्रकार बांध द्वारा नियंत्रित जल-संघात की दो प्रतिक्रिया होती है, या तो उसका आवेग बांध को तोड़-फोड़ कर दूने के ग से बह चलता है, या रिस रिस कर बांध के आस पास कीचड़ पैदा कर देता है, उसी प्रकार बलात् नियमन द्वारा नियंत्रित मनोविकार या तो नैतिकता के सारे बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर उच्छ्वेल हो जाते हैं, या भीतर ही भीतर छुट-छुट कर जीवन में विष फैलाते रहते हैं। चूंकि दमन से उत्तेजना बढ़ती है, इसलिए जब हम मनोविकारों को बलात् दबाने का प्रयत्न करते हैं तब उनमें सबसे अधिक उफान आता है, जैसे आग से सबसे अधिक धुआं तब निकलता है, जब हम उसे पानी से बुझाने की कोशिश करते हैं। मनोविकारों के बलात् दमन से जीवन का सहज सन्तुलन अस्त-व्यस्त हो जाता है और व्यक्ति मानसिक कुंठाओं का शिकार हो जाता है। मनोविकारों का स्वस्थ समायोजन ही जीवन में सन्तुलन ला कर उसे पूर्णता प्रदान करता है।

‘प्रसाद’ जी मनोविकारों के बलात् दमन के पक्ष में नहीं थे, वे उनका सहज संस्कार चाहते थे। स्थान-स्थान पर उन्होंने अपने इस दृष्टिकोण का प्रतिपादित किया है। इस की विवेचना करते हुए आप लिखते हैं -- ‘रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियां, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं, इसलिये वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रस-सृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता छूट जाती है और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक घरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक-दूसरे के पूरक बन कर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर रस की सृष्टि करते हैं।’



‘प्रसाद’ के प्रायः सभी संवेदनशील पात्रों ने भी कलाव दमन का विरोध किया है । मनोविकारों के हठात नियमन का विरोध करती हुई इरावती की एक सखी कहती है -- ‘क्यों आर्य्य ! इतना शासन मनुष्य के अनुकूल है, शील और संयम की कहीं सीमा भी है ?’

मनोविकारों के नियंत्रण का दूसरा मार्ग उदात्तीकरण (Sublimation) का मार्ग है । व्यावहारिकता की दृष्टि से यही मार्ग विशेष उपयोगी और सहज साध्य है । इसके द्वारा प्रकृत मनोविकार संशोधित और संस्कृत होकर स्वस्थ जीवन-विकास में योग-दान देते हैं । क्रोध संस्कृत होकर शौर्य बन जाता है और ‘काम’ कलात्मक मृजन का प्रेरक तत्त्व, मद साक्षिवक स्वामिमान में रूपान्तरित हो जाता है, तो लोभ सद्गुणों के संग्रह का आधार बन जाता है । इसलिए जीवन के स्वस्थ विकास और उसके सहज सन्तुलन के लिए वृत्तियों का शोधन तथा तथा उदात्तीकरण आवश्यक है । इसके अभाव में जीवन स्कांगी हो कर टूटने लगता है, और उसकी समग्रता खण्डित हो जाती है ।

स्तर-भेद से जीवन के दो पक्ष हो जाते हैं--

(१) स्थूल बाह्य पक्ष ।

(२) सूक्ष्म आन्तरिक पक्ष ।

दार्शनिक शब्दावली में इन्हीं को क्रमशः ससीम बाह्य जगत और असीम अन्तर्जगत की संज्ञा दी गयी है । जिस प्रकार बाह्य जगत अनेक रूपात्मक है, उसी प्रकार अन्तर्जगत अनेक भावात्मक । इन दोनों पक्षों का सन्तुलित विकास ही जीवन की पूर्णता प्रदान करता है और हृदय की रागात्मक वृत्ति द्वारा ही इन दोनों में सामन्वस्य की स्थिति आती है । यह रागात्मिका वृत्ति अपनी अभिव्यक्ति व-----

१- इरावती , पृष्ठ ३८ ।

२- अच्छा क्या है, बुरा क्या है, इसका निर्णय स्कांगी दृष्टि से नहीं किया जा सकता । विष चिकित्सक द्वारा अमृत कल्प हो जाता है । भगवान की विराट विमूर्ति में से हम निःसंदिग्ध वस्तु का चुनाव नहीं कर सकते + + + किन्तु एक दिव्य आर्तभाव है, वह है आत्मा की अग्नि जिसमें अंधकार ईंधन बन कर जलता है । उस तेज में सब विशुद्ध दिव्य और ग्राह्य हो जाते हैं ।

-- इरावती (पृष्ठ २२)

अनेक रूपों में किया करती है, जिनके अनेक स्तर हो जाते हैं । इन्हीं भाव-बोधों में एक भाव वेदना का है, जिसका सीधा सम्बन्ध दुःख की भावना से होता है । मनोविज्ञान के अनुसार यह वेदना मन के समान स्तर पर चलने वाली एक अनुभूति है जो सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार की हो सकती है । अनुभूति के स्तर पर इस वेदना के दो स्वरूप हो जाते हैं--

(१) वाह्य परिस्थिति जन्य मानसिक वेदना ।

(२) अन्तर्जगत से सम्बन्धित आकुलता जन्य वेदना ।

वाह्य परिस्थिति जन्य वेदना व्यक्ति और समाज के बीच व्यावहारिक प्रक्रिया के परिप्रेक्ष्य में उद्भूत होती है । अन्तर्जगत से सम्बन्धित वेदना का जन्म आध्यात्मिक तथ्यों से तादात्म्य स्थापित करने की आकांक्षा जन्य आकुलता से होता है । इस प्रकार एक में जीवनगत अभावों के दर्शन की ढीस रहा करती है और दूसरी में विरह जन्य दुःखों की अनुभूति । अभाव और अनुभूति का यही संश्लिष्ट रूप 'करुणा' को जन्म देता है, जिसमें व्यष्टि और समष्टि का समाहार हो जाता है । 'करुणा' की यही भावना मानवीय रक्षा की संरक्षण प्रदान करती है । काल्याणी कवियों ने इसी 'करुणा' को अपनी साधना का आधार बनाया है । प्रसाद साहित्य में हमें इस करुणा का बड़ा ही परिष्कृत और उदात्त रूप मिलता है । कवि ने इस वेदना को उत्सर्ग का उपहार माना है --

आह ! वेदना मिली विदाई<sup>१</sup> ।

'प्रसाद' जी ने व्यक्तिगत वेदना और सामूहिक वेदना के समन्वय पर जिस करुणा-लोक की सृष्टि की है, उसमें स्वार्थ और परार्थ एक-दूसरे से सम्पृक्त हो उठे हैं । कवि अपनी वैयक्तिक वेदना को विश्व-वेदना के साथ मिला कर, उससे जीवन के सारे कलुष मिटाने, और नव जीवन के निर्माण में सहयोग देकर उसकी सारी व्यथाओं को चुन लेने का आग्रह करता है --

यह ज्वालामुखी जगत की

वह विश्व-वेदना बाला ।

तब भी तू सतत अकेली

जलती हो मेरी ज्वाला ।

+ + +

जीवन-सागर में पावन

बड़वानल की ज्वाला सी ।

यह सारा क्लृप्त जला कर

तुम जलौ अनल-बाला सी ।

+ + +

वह हंसी और यह आंसू

घुलने दे मिल जाने दे ।

बरसात नई होने दे

कलियों को खिल जाने दे ।

जुन जुन ले रे कन कन से

जगती की सज्ज व्यथायें ।

रह जायेंगी कहने को

जन रंजन करी कथायें <sup>१</sup>।

कवि जीवन के सारे निचोड़ -- 'आंसू' को विश्व-सदन में बहाकर अपने आप को  
उसमें घुला-मिला देना चाहता है --

'सब का निचोड़ लेकर तुम

सुख से सुख जीवन में ।

बरसो प्रभात-हिमकन सा,

'आंसू' इस विश्व - सदन में <sup>२</sup>।

कवि को यह करुणा<sup>१</sup> इसलिए प्रिय है कि इसके प्रकाश में वह संसार के अधिक  
स्मीप आ जाता है और यही करुणा निर्मम जगती को 'मंगल मय उजाला' देने  
में भी समर्थ है --

'तेरे प्रकाश में चेतन

संसार वेदना वाला ।

मेरे स्मीप होता है

पाकर कुछ करुण उजाला

इस जलते हुए हृदय की

कल्याणी शीतल ज्वाला । <sup>३</sup>

१- आंसू, पृष्ठ ५८, ६१

२- वही ०, पृष्ठ ७६

३- वही ०, पृष्ठ ६३

‘आंसू’ की वेदनातुष्टि विरागजन्य करुणा का वह सम्पृक्त रूप है, जो संसार का दुःख दूर करने के लिए ठोस सेवा का संकल्प प्रदान करता है। बिना ‘करुणा’ के सेवा-भाव पुष्ट नहीं हो पाता, और सेवा-भाव के अभाव में व्यक्ति व्यक्ति से बहुत दूर चला जाता है। इसीलिए साधक प्रसाद जी अपनी वैयक्तिक वेदना और सम्वेदना जन्य ‘करुणा’ को विश्ववेदना के परिहार में लगा कर साधक को उच्च घरातल तक उठाना चाहते हैं। ‘प्रसाद’ का समूचा साहित्य इसी करुणा कालिन्दी से आप्लावित है। उनके सभी प्रधान पात्रों का चारित्रिक गठन ‘करुणा’ के उपादानों से ही हुआ है। गौतम का शान्ति-सन्देश करुणा को ही केन्द्र-विन्दु मान कर चला है। ‘करुणा’ ही कोमल वृत्तियों का आधार है, आदि सृष्टि के प्राणिमात्र में प्रातृत्व भाव लाकर इसी ने उसके पशुत्व पर विजय प्राप्त की है, तथा उसे समता की दृष्टि प्रदान की है --

‘विश्वभार में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है जो प्राणिमात्र में समदृष्टि रखती है। + + +

निष्ठुर आदि सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस ‘करुणा’ से।

मानव का महत्त्व जगती पर फैला अरुणा-करुणा से।<sup>१</sup>

इसीलिए ‘प्रसाद’ जी ने इसे मानवता के सिर की रौली कहा है --

इस व्यथित विश्व पतमङ्ग की

तुम जलती हो मृदु होली।

हे अरुणि सदा सुहागिनि

मानवता सिर की रौली<sup>२</sup>।

‘करुणा’ का संयत पदा जहाँ एक और सहनशीलता प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर क्षमा-दान की क्षमता भी प्रदान करता है। मल्लिका का उदात्त चरित्र इसका ज्वलन्त प्रमाण है। दुर्वह वैधव्य दुःख से सन्तप्त होने पर भी वह आतिथ्य-सेवा में किञ्चित् कमी नहीं आने देती। यद्यपि प्रिय पति के चिरवियोग से अभिशप्त उसका स्काकी जीवन अपनी निरीहता में कराह उठता है, उसके एक-एक शब्द आँहीं में डूब कर चीत्कार कर उठते हैं फिर भी वह अपने दायित्वों के

१- अज्ञात शब्द, पृष्ठ ३५

२- आंसू, पृष्ठ ६१

पालन में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आने देती । आतिथ्य-सेवा के प्रति उसकी कितनी गहरी आस्था है--<sup>१</sup> आतिथ्य परम धर्म है ।-- मैं भी नारी हूँ, नारी के हृदय को जो हाहाकार होता है, वह मैं अनुभव कर रही हूँ । शरीर की धमनियाँ खिंचने लगती हैं । जी रो उठता है, तब भी कर्तव्य करना ही होगा ।<sup>२</sup>

पति की हत्या के षड्यन्त्र रचने वाले कौशल-नरेश और पति के हत्यारे विरुद्धक को जामा दान कर मल्लिका ने जिस उच्च देवत्व की प्रतिष्ठा की है, उसमें उपकार, करुणा, संवेदना और पवित्रता आदि उदात्त वृत्तियाँ स्फाकार हो उठी हैं । यही उसकी पापना के आधार हैं । अज्ञात को समझाती हुई मल्लिका कहती है --<sup>३</sup> नहीं राजकुमार । यह देवता का नहीं-- मनुष्य का कर्तव्य है । उपकार, करुणा, संवेदना और पवित्रता मानव-हृदय के लिए ही बने हैं ।<sup>४</sup>

‘कामायनी’ में इस करुणा की विविध पक्षीय भाँकी प्रस्तुत की गई है । मनु का जीवन वैयक्तिक और सामूहिक वेदना के विश्लेषण तथा संश्लेषण की ही कहानी है । व्यक्तिगत स्तर पर मनु के जीवन में तीन प्रकार की वेदनाएँ आती हैं --

(१) भौतिक ।

(२) बौद्धिक ।

(३) मानसिक ।

भौतिक स्तर की वेदना, भौतिक उपलब्धियों की समाप्ति या उसके अभाव में जन्म लेती है । इसमें व्यक्ति की चिन्तन-धारा भूत-भविष्य के बीच दौड़ लगाया करती है । उसमें एक ओर अतीत के प्रति मोह और दूसरी ओर भविष्य के प्रति आशंका का भाव बना रहता है । वह सुखद अतीत की याद में घुलता रहता है या अभाव जन्य परिस्थितियों में पिस कर निश्चेष्ट सा हो जाता है । चिन्ता-सर्ग में मनु की मनोव्यथा इसी स्तर की है । अपनी देवजाति के सहसा पतन पर उनकी आत्मा कराह उठती है । उनके हृदय में सुखद अतीत की स्मृति से विषाद की गहरी रेखाएँ खिंची जाती हैं --

१- अज्ञात शत्रु, पृष्ठ ६८

२- वही०, पृष्ठ ११३

चिन्ता करता हूँ मैं जितनी

उस अतीत की, उस सुख की,

उतनी ही अनंत में बनतीं

जातीं रेखाएं दुःख की<sup>१</sup>।

भौतिक वेदना की समष्टिगत अनुभूति मानसिक वेदना को जन्म देती है। इसमें व्यक्ति का रागात्मक भाव-बोध अधिक तीव्र हो जाता है और वह साहचर्य्य सुख के लिए तड़प उठता है। जीवन का एकाकीपन उसे अखरने लगता है। आशा सों में मनु की आकुलता इसी कोटि की है। जीवन का अकेलापन उनमें घुटन पैदा कर देता है, और वे सहानुभूति के लिए पुकार उठते हैं --

कब तक और अकेले ? कह दो

हे मेरे जीवन बोलो,

कैसे सुनाऊँ कथा, कहो मत

अपनी निधि न व्यर्थ खोलो<sup>२</sup>।

भौतिक और मानसिक वेदना के परिप्रेक्ष्य में बौद्धिक चेतना का जन्म होता है। बौद्धिक वेदना की सबसे बड़ी विशेषता उसको निर्णयात्मिका शक्ति है, इसी के द्वारा कर्तव्याकर्तव्य की विवेचना सम्भव हो पाती है। अपने आप को भौतिक और मानसिक वेदनाओं के बीच पाने पर व्यक्ति उनके परिणामों और सम्भावनाओं के सन्दर्भ में उनका तुलनात्मक अध्ययन करने लगता है। इसके लिए उसे बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है। लेकिन जब वह जीवन के शेष पक्षों की अवहेलना करते हुए, बुद्धि तत्त्व का दुरुपयोग कर उसे अपने अनुकूल स्वार्थों के पक्ष में फुंकाने का प्रयत्न करता है, तब बुद्धि का यही रक्षाक रूप उसका भक्षाक बन जाता है। यहीं पर 'बौद्धिक वेदना' का जन्म होता है, जिसकी अन्तिम परिणति पश्चाताप और निर्वेद में होती है। मनु के जीवन में यह स्थिति उस समय आती है, जब वह 'श्रद्धा' से लड़कर अपनी स्वतंत्र बुद्धि द्वारा जीवन-पथ की नई दिशा में चल पड़ते हैं।

१- कामायनी, पृष्ठ ६

२- वही०, पृष्ठ ३७

उस समय बुद्धि की प्रतीक-- इड़ा के साथ कलात्कार के प्रयास में उन्हें संसार की कठोरता में तीव्र वेदना का अनुभव होता है । श्रद्धामूलक रागात्मक अनुभूति के अभाव में व्यक्ति विवेक को खो कर निरंकुश हो जाता है । यही निरंकुशता उसकी संवेदन-शीलता को सन्निहित कर देती है । जब तक मनु का जीवन वेदना के अनेक खण्डरूपों में विभक्त रहता है, तब तक उसमें पूर्णता नहीं आ पाती । लेकिन जब वे इन खण्ड-रूपों को समेट कर समग्रता की दिशा में बढ़ते हैं, और वैयक्तिक वेदना को सामूहिक वेदना में मिला देते हैं, तब उन्हें जीवन की सच्ची उपलब्धियों का ज्ञान हो जाता है । कामायनी के अन्तिम तीन सर्गों में इसी तथ्य का निरूपण किया गया है । अमेद अनुभूति की उस स्थिति में पहुँच कर मनु का सारा स्वार्थ परार्थ में परिणत हो जाता है । उनकी वैयक्तिक वेदना अपनी शुद्ध भूमिका में विश्व सेवक की वेदना बन जाती है ।

‘श्रद्धा’ का उदात्त जीवन भी इसी करुणा की उज्ज्वल भाँकी प्रस्तुत करता है । स्तरभेद से ‘श्रद्धा’ की यह वेदनानुभूति भी तीन प्रकार की है --

(१) ललित कला जन्य ।

(२) लौकिक व्यवहार जन्य ।

(३) विरह जन्य ।

करुणा-कलित जीवन का वह कोमल पार्श्व कला का प्रेरणा-स्रोत रहा है, जो परदुःख कातरता की आँच से पिघल-पिघल कर सहज संवेदना की धारा में फूट पड़ता है । क्राँच-वध की झोटी-सी घटना ने लुब्धक बात्मीकि को आदि कवि के व्यास-पीठ पर बैठा दिया था । ललित कलाओं के ज्ञान प्राप्ति के सन्दर्भ में श्रद्धा को भी प्राकृतिक परिवेश में इसी प्रकार की अनुभूति होती है । ललितकला का सहज प्रेमी उसका भावुक हृदय प्रकृति की मूक वेदना से दयार्द्र हो उठता है --

‘मरा था मन में नव उत्साह

सीख लूँ ललित कला का ज्ञान;

झर रह गन्धर्वों के देश

पिता की हूँ प्यारी सन्तान ।

घूमने का प्यारा अभ्यास

बढ़ा था मुक्त व्योम-तल नित्य;

कुतूहल खोज रहा था व्यस्त

हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य ।

दृष्टि जब जाती हिमगिरि और  
 प्रश्न करता मन अधिक अधीर ;  
 घरा की यह सिक्कड़न भयभीत,  
 आह ! कैसी है ? क्या है पीर ?  
 मधुरिमा में अपनी ही मौन  
 एक सौया सन्देश महान ;  
 सजग हो करता था संकेत,  
 चेतना मचल उठी अनजान ।  
 बढ़ा मन और चले थे पैर  
 शैल मालाओं का शृंगार;  
 आंस की भूख मिटी यह देख  
 आह ! कितना सुन्दर सम्भार<sup>१</sup> ।

'श्रद्धा' की वेदनानुभूति का दूसरा घरातल वहाँ प्रारम्भ होता है, जहाँ वह  
 परिस्थितियों के मातरे मनु की दयनीय दशा पर दयार्द्र हो कर अपने सारे  
 रागात्मक भाव-बोधों के साथ आत्म समर्पण कर देती है --

'तपस्वी क्यों इतने हो क्लान्त ?  
 वेदना का यह कैसा वेग ;  
 आह ! तुम कितने अधिक हताश  
 क्ताओं यह कैसा उद्वेग ।  
 +                    +                    +  
 समर्पण लो सेवा का सार  
 सजल संसृति का यह पतवार;  
 आज से यह जीवन उत्सर्ग  
 इसी पद-तल में विगत विकार ।  
 दया, माया, ममता लो आज  
 मधुरिमा लो अगाध विश्वास;  
 हमारा हृदय रत्न-निधि स्वच्छ  
 तुम्हारे लिए खुला है पास<sup>२</sup> ।'

१- कामायनी : श्रद्धा, पृष्ठ ५१

२- वही० , : श्रद्धा, पृष्ठ ५७



तौसरा धरातल वहां आता है, जहां वह विरहाग्नि में फुलस कर सहानुभूति की गहरी अनुभूति करती है। वेदना का यह रूप विरह-जन्य संवेदना और अनुराग की संवर्धना पर आधारित है। इस धरातल पर वेदना के उपर्युक्त स्तर भेदों की समष्टि उस महाकरुणा को जन्म देती है, जिसके सहज स्पर्श से जीवन की परुशता समाप्त हो जाती है और उसमें आत्मीयता की लहरें हिलोरें लेने लगती हैं। 'श्रद्धा' इसी महाकरुणा की प्रतिभूर्ति बनकर मनु के ज्वलनशील जीवन में वर्षा की फड़ी और वान्त की माधुरी के साथ प्रवेश करता है --

‘तुमुल कौलाहल कलह में

मैं हृदय की बात रे मन ।

+ + +

चिर विषाद-विलीन मन की,

इस व्यथा के तिमिर वन की,

मैं उषा की ज्योति-रेखा--

कुसुम विकसित प्रात रे मन ।

जहां मरु ज्वाला घघकती,

चातकी कन की तरसती,

उन्हीं जीवन-घाटियों की--

मैं सरस बरसात रे मन ।<sup>१</sup>

मानवीय संस्कृति की दूसरी विशेषता उसकी मर्त्य-भावना की अनुभूति है। वासनामूलक देव-सृष्टि अपने आप में बिल्कुल जकड़ उठी थी --उसमें जीवन का स्पन्दन समाप्तप्राय हो चुका था। प्रेमानुभूति के अभाव में, देवजाति में जड़ता तथा उसकी वृत्तियों में एक प्रकार की उद्वेगजन्य कठोरता ने जैसे घर कर लिया था। इसका प्रमुख कारण था, देव-जाति की 'अहं', मूलक अमरता की भावना। मानव-सृष्टि ने इस अभिशाप की साया से हट कर अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को जन्म दिया था, जिसमें 'मृत्यु' को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त था। मृत्यु ही चिर नवीनता की सूत्र-धारिणी, और जीवन की उन्मेषनीशक्ति

१- कामायनी : निवेद, पृष्ठ २१६, २१७ ।

को प्रेरणा प्रदान करने वाली मूल चेतना है । सम्भावित मृत्यु की प्रेरणास्वरूप ही जीवन में अनेक सम्भावनाएं जन्म लेती हैं, जिनमें निम्नांकित सम्भावनाएं प्रमुख हैं --

(१) जिजीविषा-- जीने की इच्छा

(२) प्रेम करने की प्रेरणा ।

(३) सर्जनात्मक शक्ति ।

✓ व्यक्ति ने जीवन के प्रति स्वभाविक मोह होता है । जीने की यही तीव्र लालसा सुख-साधनों की प्राप्ति के लिए प्रेरणा प्रदान करती है, और यही प्रेरणा-कर्म-क्षेत्र का प्रवेश-द्वार है । सुख-लालसा से पोषित होकर जब व्यक्ति का पौरुष कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करता है तब उसके सामने दो मार्ग आते हैं-- एक स्वार्थमूलक दूसरा परार्थमूलक । ज्यों-ज्यों गह्रित स्वार्थ वृत्ति व्यक्ति के निकट आती-जाती है, त्यों-त्यों वह व्यापक जीवन-दृष्टि से दूर होता जाता है और अभीप्सित की खोज करते करते स्वयं अपने-आप को ही खो देता है । मनु का प्रारम्भिक जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है । व्यक्ति में इस संकीर्ण स्वार्थवृत्ति और स्थूल भोग की मूल इसलिए ममक उठती है कि वह 'नश्वरता' की असंगत व्याख्या करने लगता है । वह सोचने लगता है कि जीवन तो क्षणभंगुर है, इसलिए जितना सुख भोग संके भोग लें, फिर तो मरना ही है । जब व्यक्ति में इस प्रकार की धारणा पैठ जाती है, तब वह समाज के लिए एक समस्या बन जाता है और धीरे-धीरे उसका परामर्श होने लगता है । मनु का स्थूल भोगवाद इसी धारणा से पुष्ट हुआ है । उन्होंने संसार को असत मान कर स्वयं में सुख-साधन की प्राप्ति तथा उसके बाध भोग की बुभुक्षा जगा ली थी --

‘तुच्छ नहीं है अपना सुख भी श्रद्धे। वह भी कुछ है ।

दो दिन के इस जीवन का तो वही चरम सब कुछ है ।

+ + + + +

श्रद्धे ! यह नव संकल्प नहीं,

चलने का लघु जीवन अमोल ।

में उसको निश्चय भोग चलें

जो सुख चल दल सा रहा डोल ।<sup>१</sup>

व्यक्तित्व की पूर्णता तथा उसके स्वस्थ विकास के लिए जीवन के दोनों पक्षों-- त्याग और भोग का समन्वय आवश्यक है । कामायनीकार ने मानवीय संस्कृति के मन्दर्म में इसी स्वरूप पर विशेष बल दिया है<sup>१</sup> ।

जीवन की क्षणभंगुरता व्यक्ति को प्रेम करने की प्रेरणा प्रदान करती है, जिसके मूल में आत्म-विस्तार की लालसा काम करती रहती है । पुत्र, कलत्र तथा पारिवारिक संगठन आदि इसी के परिणाम हैं । इनके साहचर्य में आ कर व्यक्ति कुछ समय के लिए जीवनगत अभावों को भूल जाता है और उन्हें अपने सुख-दुःख का साथी बना कर अपने हृदय का मार हल्का कर लेता है -- 'मानव मनोवृत्तियाँ प्रायः अपने लिए एक केन्द्र बना लिया करती हैं, जिसके चारों ओर वह आशा और उत्साह से नाचती रहती है'<sup>२</sup> ।

प्रेम रागात्मक अनुभूतियों की एक समष्टि है, जिसमें एक ओर सहज सौन्दर्य और साहचर्य की भूख होती है, दूसरी ओर सहानुभूति पाने की तीव्र लालसा । इनके अभाव में जीवन नीरस हो जाता है -- 'वही स्वर्ग तो नरक है, जहाँ प्रियजन से विच्छेद है । वही रात प्रलय की है, जिसकी कालिमा में विरह का संयोग है । उसका यौवन निष्फल है जिसका हृदयवान् उपासक नहीं । वह मदिरा हलाहल है, पाप है, जो उन मधुर अक्षरों की उच्छिष्ट नहीं । वह प्रणय विषाक्त कुरी है, जिसमें कपट है'<sup>३</sup> । भावों की यही कोमलता व्यक्ति को व्यक्ति के समीप खींचकर उसमें आत्मीयता की भावना जगाती है, जिसकी प्रेरणास्वरूप रागात्मक वृत्तियों के उपादानों से बना हुआ व्यक्ति का सम्बेदनशील हृदय जीवन के स्काकीपन से घबड़ा कर अपने का सामीप्य पाने के लिए अधीर हो उठता है --

१- (क) 'कर्म का भोग, भोग का कर्म  
यही जड़ नेतन का आनन्द' -- कामायनी : श्रद्धा (पृष्ठ ५६)

(ख) 'औरों को हँसते देखो मनु  
हँसो और सुख पाओ,  
अपने सुख को विस्तृत कर लो  
सब को सुखी बनाओ ।' -- कामायनी : कर्म (पृष्ठ १३२)

२- कंकाल (पृष्ठ २१८)

३- आकाश-दीप : (स्वर्ग के लण्डहर में -- पृष्ठ ४७)

पाता कभी संसार में नर जब कभी स्कान्त है ।  
 शैथिल्य आता है तभी, होता हृदय भी क्लान्त है ।  
 वह कल्पना- लहरी दिखाती क्या अनोखे दृश्य है ।  
 संदिग्ध हो कर तब तुरत बनता पुरुष अविमृश्य है ।  
 होता अकेले जब कभी पार्थिव सुखों के बीच से ।  
 खोता तुरत निज शक्ति नर अपने हृदय के बीच से ।<sup>१</sup>

इसी स्काकीपन की घुटन से छुटकारा पाने के लिए व्यक्ति किसी को अपना बनाकर उसके समक्ष आत्मनिवेदन द्वारा अपने दिल का भार हटका कर लेना चाहता है ।  
 'अधोरी का मोह' नामक कहानी में सम्पन्न ललित का एक निर्धन किशोर के प्रति आत्मीयता का व्यवहार उसके इसी रागात्मक भाव-बोध का परिचायक है । लेखक के शब्दों में,-- 'घनी सन्तान ललित, अपने वैभव में भी किशोर के साथ दीनता का अनुभव करने में बड़ा उत्सुक है । वह सानन्द अपनी दुर्बलताओं को, अपने अभाव को, अपनी करुणा को उस किशोर बालक से व्यक्त कर रहा है, इसमें उसे सुख भी है, क्योंकि वह एक न समझने वाले हिरन के समान बड़ी बड़ी मोली आंखों से देखते हुए केवल सुन लेने वाले व्यक्ति से अपनी समस्त कथा कह कर अपना बोझ हटका कर लेता है ।' इस रागात्मक भाव-बोध द्वारा जहां एक ओर व्यक्ति में सामाजिकता आती है, वहीं दूसरी ओर जीवन के प्रति अनुराग की प्रवृत्ति भी बढ़ती है । रागात्मक अनुभूतियों का घनीभूत रूप होने के कारण प्रेम को मानवीय सृष्टि में सबसे ऊंचा स्थान देकर उसे ईश्वर का साक्षात् स्वरूप माना गया है । जिस प्रकार डाली से अलग कर देने पर फूल मुरझा जाता है, उसी प्रकार प्रेम-तत्त्व के अभाव में जीवन-प्रोत भी सूख जाता है । प्रसाद-साहित्य में हमें इस प्रेम तत्त्व के विविध रूपों की बड़ी मोहक मांकी मिलती है ।

१- कानन कुसुम, पृष्ठ ५२ । †

२- प्रतिध्वनि, पृष्ठ २३ ।

३- 'प्रणय का ही क्षण कैसा प्रबल है ? यह किसी महासागर की प्रचण्ड आधी से कम प्रबलता नहीं रखता । इसके फोक में मनुष्य की जीवन-नौका असीम तरंगों से घिर कर प्रायः कूल को नहीं पाती, अलौकिक आलोकमय अन्धकार में प्रणयी अपनी प्रणयतरी पर आरोहण कर उसी आनन्द के महासागर में घूमना पसन्द करता है । कूल की ओर जाने की इच्छा भी नहीं करता ।'

-- छाया (पृष्ठ १२८)

‘प्रसाद’ जी ने ‘प्रेम’ शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है और ‘काम’ को प्रेम की ही एक विधा माना है<sup>१</sup>। जो विविध भाव-बोधों का केन्द्रबिन्दु होता है। एक ओर यह काम अपनी सर्जनात्मक शक्ति द्वारा सर्जन करता है और दूसरी ओर रागात्मक शक्ति द्वारा उन क्रामल भाव-बुद्धियों को जन्म देता है जो सर्जन को ‘संरक्षण’ प्रदान करती है। श्रद्धा, सहानुभूति, दया, माया, ममता, करुणा आदि उसी काम-जन्म रागात्मक भाव-बोध के विविध रूप हैं।

### जिजीविषा--

प्रत्येक प्राणिमात्र में जीने की स्वाभाविक लालसा रहा करती है और मृत्यु की भावना से यह और भी बढ़मूल होती जाती है। मर्त्य-भावना की अनुभूति ही व्यक्ति में निर्माण की आकांक्षा को जन्म देती है, जिसके द्वारा वह अपनी सर्जनात्मक शक्ति के सहयोग से नव-निर्माण की दिशा में बढ़ता है। कला, विज्ञान, दर्शन आदि इस सर्जनात्मक शक्ति के ही परिणाम हैं, जिनके मूल में नश्वरता पर विजय पाने की बलवती स्पृहा काम करती रहती है। ‘प्रसाद’ जी ने ‘प्रलय’ नामक कहानी में युवक-युवती के बीच चलने वाले संवाद के माध्यम से इस दार्शनिक तथ्य की बड़ी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। युवक-युवती का वार्तालाप चल रहा है। --

‘अपना अस्तित्व बना रखने के लिए बड़ा उद्योग था’ युवती ने निश्वास लेकर कहा। ‘यह तो मैं भी मानता हूँ कि अपने अस्तित्व के लिए स्वयं आपको व्यय कर दिया। + + + चैतनिक पदार्थों का ज्वार-भाटा है। परमाणुओं से ग्रथित प्राकृतिक नियन्त्रण शैली का एक बिन्दु। अपना अस्तित्व बचाये रखने की आशा में मनोहर कल्पना कर लेता है। विदेह होकर विश्वात्म भाव की प्रत्याशा इसी झुझ अवयव में अन्तर्निहित अन्तःकरण यन्त्र का चमत्कार साहस है जो स्वयं नश्वर उपादानों को साधन बनाकर अविनाशी होने का स्वप्न

१- यह ‘काम’ प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है, और वह शब्द अधिक व्यापक भी है। जब से हमने प्रेम को Love या इश्क का पर्याय मान लिया तभी से काम शब्द की महत्ता कम हो गई।

-- काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ४७

देखता है<sup>१</sup>। इस प्रकार व्यक्ति पंचभौतिक शरीर की समाप्ति पर भी अपनी कृतियों के माध्यम से यश-काया रूप में जीवित रहने के लोभ का संवरण नहीं कर पाता। इसीलिए वह नाना प्रकार के आविष्कारों को जन्म देकर अमर होना चाहता है।

देवसृष्टि में जिजीविषा, प्रेम तथा सर्जनात्मक शक्ति का अभाव था, जिसके परिणामस्वरूप वह उनके लिए अभिशाप बन गयी थी, जब कि मानवीय सृष्टि इन्हीं तत्वों को अपना कर अपने-आप में विकसनीय हो उठी।

मानवीय संस्कृति के विकास-क्रम में 'अतिवाद' भी एक अपरिहार्य बाधा के रूप में आता रहा है, जिसके मूल में तीन बातें हुआ करती हैं --

(१) अति बौद्धिकता।

(२) अति भौतिकता।

(३) अति वैज्ञानिकता।

जब जीवन अति बौद्धिकता की सैकत - शय्या पर पौढ़ जाता है, तब उसमें शुष्क तर्क के बबुले उठने लगते हैं। उसके कोमल पार्श्व में रुखाता आ जाती है और वह भीतर से किलकिल हो जाता है। जब उसमें अति भौतिकता का रंग घुलने लगता है, तब उसका प्रकृत रूप विकृत हो कर वासना की बाढ़ में खो जाता है। इनके स्थान पर ज्यों-ज्यों जीवन अतिवैज्ञानिकता जन्य भौतिक उपलब्धियों के धराँदे में घिरता जाता है, त्यों-त्यों उसमें कृत्रिमता आने लगती है और उसकी प्राकृत शक्तियों का ह्रास होने लगता है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों दृष्टिकोण अपने आप में अधूर्ण सिद्ध हो जाते हैं, वे केवल संस्कृति के खण्डरूपों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, उसके समूचे स्वरूप का नहीं। संस्कृति के समग्र स्वरूप की प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक है कि उक्त दृष्टिकोणों के अतिवाद को हटा कर उनमें पूर्ण सामन्वय स्थापित किया जाय।

'प्रसाद' साहित्य में इस 'अतिवाद' से ऊपर उठकर समन्वय-साधना पर विशेष बल दिया गया है। 'कामना' नामक नाटक में कामना अपनी याचना में ईश्वर से अतिभौतिकता तथा अति बौद्धिकता से ऊपर उठाने की प्रार्थना करती

-----

हुई कहती है -- 'पिता हमारे ज्ञान को इतना विस्तार न दे कि हम सब दूर दूर हो जायं, हम सब के समीप रहें । हमारे विचारों को इतना संकुचित न कर दे कि हम अपने में ही सब कुछ समझ लें, सब में तेरी सत्ता का अनुभव हो ।' अति भौतिकता की व्याप्ति से पीड़ित पीढ़ी की दयनीय दशा को देख कर शान्ति सहोदरा करुणा की कराह में भी यही स्वर सुनाई पड़ता है --, 'सोने के लिए सब पागल हैं । अकारण कोई बैठने नहीं देता । जीवन के समस्त प्रश्नों के मूल में अर्थ का प्राधान्य है । मैं दूर से उन धनियों के परिवार का दृश्य देखता हूँ । वे धन की आवश्यकता से इतने दरिद्र हो गए हैं कि उनके बिना उनके बच्चे उन्हें प्यारे नहीं लगते । धन का -- अर्थ का, उपभोग करने के लिए बच्चों की -- सन्तानों की आवश्यकता होती है । आज का महत्वाकांक्षी और विलासी समाज अतृप्ति के कशाघात से पीड़ित है ।'

इस अतिवाद का निराकरण मध्यम मार्ग द्वारा ही सम्भव है । इसी तथ्य का दृष्टि में रखकर चिन्तकों ने मध्यम मार्ग के सेवन का सुझाव दिया है । 'प्रसाद' जी ने भी जीवन को सन्तुलित बनाए रखने के लिए समन्वयमूलक मध्यम मार्ग की ओर संकेत किया है<sup>१</sup> । 'कामायनी' में इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान इन तीनों लोकों का विश्लेषण एवं संश्लेषण, इसी तथ्य का समर्थन करता है । 'प्रसाद' जी ने मानवीय संस्कृति की व्याख्या मूलतः भारतीयता के परिप्रेक्ष्य में किया है, जो अतिवादों से भिन्न मध्यम मार्ग का ही एक समुच्चय है, जिसमें स्वीकृत मानव-मूल्यों के आधार पर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के सामन्वस्य पर विशेष जल दिया गया है ।

१- कामना, पृष्ठ २५ ।

२- कामना, पृष्ठ ५७ ।

३- 'छोड़कर जीवन के अतिवाद, मध्यपथ से लो सुाति सुधार ।

दुःख का स्मृदय उत्का नाश, तुम्हारे कर्मों का व्यापार ।

विश्व मानवता का जयघोष, यहीं पर हुआ जलद स्वर मन्द्र ।

मिला था वह पावन आदेश, आज भी साक्षी हैं रवि-चन्द्र ।'

-- लहर, पृष्ठ १३

जब हम स्वीकृत मानव-मूल्यों और सामाजिक मान्यताओं के सन्दर्भ में इस मानवीय संस्कृति का विश्लेषण करते हैं, तब हमें उसमें निम्नांकित विशेषताएं मिलती हैं :--

- (१) चतुर्वर्ग की प्राप्ति ( धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष )
- (२) यज्ञों की योजना ।
- (३) स्वदेश-प्रेम तथा राष्ट्रीयता ।
- (४) मानव-प्रेम तथा वसुधैव कुटुम्बकम् की उदात्त भावना ।

मानवीय संस्कृति का केन्द्र-विन्दु चतुर्वर्ग की प्राप्ति रहा है, जिसमें धर्म का स्थान सर्वोपरि है । 'धर्म' जीवन के उज्ज्वल पक्ष का प्रतीक -- सद्गुणों का एक समुच्चय है, जो आन्तरिक अनुभूतियों तथा उदात्त भाव-वृत्तियों से पोषित हुआ करता है । इसका सम्बन्ध हृदय की उस रागात्मक वृत्ति से है, जो मानव को पिघला कर मानव और मानव को उठा कर देवता बना देती है । इसका सत्स्वरूप आत्म परिष्कार का सर्वसुलभ साधन है, जो मानसिक उत्सों वा कुंठाओं को अपने निर्मल भाव-स्रोत से धोता हुआ, उसे निर्मलता और स्वस्थता प्रदान करता है । यह अपने आप में एक ऐसा अनुष्म आदर्श<sup>१</sup> है जो विकृत को सुन्दर और सुन्दर को सुन्दरतर बना देने की क्षमता रखता है । धर्म की संजीवनी शक्ति नैतिक मूल्यों की विवृत्ति है । नैतिकता के अभाव में धर्म निष्प्राण है और धर्म के अभाव में नैतिकता निर्जीव । दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं । 'धर्म' के नैतिक सिद्धान्तों का क्रियात्मक रूप ही नैतिकता है और नैतिकता का उच्चादर्श ही धर्म । भारतीय चिन्तन में धर्म का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है, वह नैतिक मूल्यों के अंगभूत तत्त्वों का ही एक समन्वय है<sup>१</sup>, जिसमें व्यष्टि तथा समष्टिगत जीवन के विविध पक्षों का समाहार हो जाता है । धर्म का स्वरूप व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिए सेतु का काम करता है ।

१- वृत्ति, क्षमा, दया स्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।

धीर्विद्या सत्तमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ।

-- मनुस्मृति: (अध्याय ६ श्लोक ६२ )



यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मानव जीवनगत अभावों की पूर्ति चाहता है। वह जो नहीं है वह होना चाहता है, और जो है उससे ऊँचा उठना चाहता है। आकांक्षाओं की इस पूर्ति-प्रसंग में, प्रायः जीवनगत सन्तुलन में व्यतिक्रम आ जाता है। धर्म इस असन्तुलन में सन्तुलन का पुनः देकर जीवन को मर्यादित किया करता है। जिसका जीवन धर्म के इस पक्ष को से अछूता रह जाता है, उसका पशुत्व उसकी अपकर्ष के गहन गर्त में ढकेल देता है। वह मनुष्य होते हुए भी पशु हो जाता है<sup>१</sup>। इस प्रकार धर्म एक ओर हमारे जीवन का नियमन करता है और दूसरी ओर श्रेय एवं प्रेय प्राप्ति पथ का निर्देशन<sup>२</sup>।

धर्म के शुद्ध स्वरूप में सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का अपूर्व संगम रहा करता है, जिसमें निबंजन कर जीवन त्रयताओं से मुक्ति पा जाता है। धर्म का यह स्वरूप अपने-आप में पूर्ण परिष्कृत और सार्वभौमिक हुआ करता है। यह विमल जल के समान प्रत्येक स्थिति में अपने जातीय गुणों एवं विशिष्टताओं को अङ्गुष्ठाङ्गु बनाए रखता है। जिस प्रकार विभिन्न रंगों के संयोग से जल के वाह्य-स्वरूप में कुछ अन्तर आ जाता है --वह नीले रंग के मेल से नीला, पीले के साथ पीला, और हरे के साथ मिलकर हरा हो जाता है, फिर भी उनके जातीय गुण सुरक्षित रहते हैं, उन्ही प्रकार देश, काल, परिस्थिति, में पड़कर धर्म का वाह्य स्वरूप कुछ मंटे ही बदल जाय, पर उनके मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता<sup>३</sup>।

व्यक्ति की संकुचित मनोवृत्ति धर्म के सत्स्वरूप को विकृत बनाया करती है। जब जातीय संस्कारों एवं व्यक्तिगत दृष्टिकोणों के आधार पर किसी वस्तु का आकलन अनेक सण्डरूपों में होने लगता है, तब उसमें विकृतियाँ आने लगती हैं।

१- 'आहार-निद्रा, मय, मैथुं च, सामान्यमेतत् पशुमिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषां अधिको विशेषो, धर्मेण होना पशुभिः समाना ।'

-- हितोपदेश ।

२- 'यतो म्युदय निःश्रयस सिद्धिः स धर्मः अर्थात् जिससे इहलौकिक तथा पारलौकिक (आध्यात्मिक) सिद्धि की उपलब्धि हो, वही धर्म है ।'

--वैशेषिक सूत्र :अध्याय १ श्लोक १)

३- "When we enter the world of ideas, the differences among - religions become negligible and the agreements striking, there is only one ideal for man, to make himself profoundly human, perfectly human."

-- S. Radhakrishnan; (Eastern Religions and western thought P. 35)

उसके मौलिक तत्त्व तिरोहित होने लगते हैं । सामान्यवर्ग उसके समग्र स्वरूप को भूलने लगता है । 'धर्म' के साथ भी यही हुआ । जब पहले पहले 'धर्म' का स्वरूप संगठित किया गया, उस समय इसके मूल में उदार वृत्तियों का समाहार और उदात्त भावों का प्रसार ही प्रमुख था । किन्तु ज्यों-ज्यों इसे साम्प्रदायिकता के शिकंजे में कसा जाने लगा, त्यों-त्यों इसकी सीमा संकुचित होती गई । इसे मन्दिरों, मसजिदों और गिरजाघरों की दीवारों में घेर दिया गया, जिसके फलस्वरूप यह सार्वभौमिक सत्य न रहकर एक देशीय मान्यता मात्र रह गया । उसकी आड़ लेकर अनेक मत-मतान्तरों एवं सम्प्रदायों की सृष्टि होने लगी । समय-समय पर संशोधन एवं परिवर्धन के नाम पर इसे अनेक रूपों में तोड़ा - मरोड़ा गया । इस प्रकार 'धर्म' की समग्रता का ह्रास और उसके खण्डरूपों का विकास होता रहा । 'धर्म' का जो पावन-प्रहर्ष प्रवाह अबाध गति से प्रवाहित होता हुआ, जन-जीवन को परिप्लावित कर उसके स्वरूप का निखार और परिष्कार करता रहा, उसी को छोटी छोटी नालियों में बहाकर, बीच-बीच में व्यवधान डाल कर, उसका गति रोध कर दिया गया, जिसके फलस्वरूप उसमें सड़ांध पैदा होने लगी और उससे ऐसी दुर्गन्ध आने लगी कि सुरुचि सम्पन्न व्यक्ति को उससे गहरी अरुचि हो गई । हमारे हृदय में उसके प्रति उपेक्षा और अनास्था के भाव बढ़मूल होते गए ।

'प्रसाद' जी ने 'धर्म' को जीवन का शाश्वत सत्य मानते हुए उसके दोनों पक्षों का उद्घाटन किया है । उन्होंने 'धर्म' के जिस स्वरूप को स्वीकार किया है, वह नैतिक मूल्यों पर आधारित सद्विचारों का एक पोषक तत्त्व है । इसके विषय में उनकी दृढ़ मान्यता है -- '..... बिना भित्ति के कोई घर नहीं टिकता, और बिना नींव की कोई भित्ति नहीं । उसी प्रकार सद्विचार के बिना मनुष्य की स्थिति नहीं, और धर्म संस्कारों के बिना सद्विचार टिकाऊ नहीं होते ।' 'प्रसाद' जी ने नैतिक मूल्यों के संरक्षण में ही 'धर्म' की उपयोगिता स्वीकार की है, और उसे मानवीय वृत्तियों का अंकुश माना है -- 'आत्म शासन का अभाव, चरित्र को दुर्बलता विद्रोह कराती है । 'धर्म' मानवीय स्वभाव पर शासन करता है, न कर सके तो मनुष्य और पशु में भेद क्या रह जाय ? + + + समाज तो प्रवृत्तिमूलक

है, उसे अधिक से अधिक आध्यात्मिक बना कर तप और त्याग के द्वारा शुद्ध करके उच्च आदर्श तक पहुँचाया जा सकता है । इन्द्रिय परायण पशु के दृष्टिकोण से मनुष्य की सब सुविधाओं के विचार नहीं किये जा सकते, क्योंकि फिर तो पशु और मनुष्य में साधन-भेद रह जाता है ।<sup>१</sup>

इस प्रकार 'धर्म' का यह सत्स्वरूप एक और व्यक्ति में विश्वास जगा कर उसे उसके दायित्वों के प्रति जागरूक करता है, और दूसरी ओर कल्याण-ज्योति के रूप में उसका मार्ग प्रदर्शन करता हुआ, उसे अनुशासित कर विपथगामी होने से बचाता है ।<sup>२</sup> 'धर्म' के इस सत्स्वरूप को विकृतियों से बचाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि इसे षड्विपुत्रों से पृथक् तथा संकीर्ण स्वार्थ-वृत्तियों से ऊपर रखा जाय । महर्षि वेदव्यास इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहते हैं -- 'धर्म' कभी धन के लिए न आचरित हो, वह श्रेय के लिए हो, प्रकृति के कल्याण के लिए हो । यही 'धर्म' हम तपोधनों का परम धन है । पवित्र 'धर्म' में षड्विपुत्रों का सम्मेलन न करना । उसकी पवित्रता शरत्कालीन जल-स्रोत के सदृश हो, उसकी उज्ज्वलता शारदीय गगन के नक्षत्र-लोक से भी कुछ बढ़कर और शीतल हो ।<sup>३</sup>

'प्रसाद' जी ने यहाँ एक ओर 'धर्म' के शुभ और शिवपदा की अभ्यर्थना की है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपने प्रमुख पात्रों के माध्यम से उसके अशुभ, अशिव-पदा की तीव्र मर्त्सना भी की है । संकीर्ण स्वार्थलिप्त विकृत धर्म के अशिव पदा का प्रत्याख्यान करते हुए धातु सेन कहता है -- 'लोभ ने तुम्हारे धर्म का व्यवसाय बला दिया । दक्षिणाओं की योग्यता से स्वर्ग, पुत्र, धन, यश, विजय और मोक्ष तुम बेचने लगे । कामना से अंधी जनता के विलासी स्मुदाय के ढोंग के लिए तुम्हारा धर्म आवरण हो गया है । जिस धर्म के आचरण के लिए पुष्कल स्वर्ण चाहिए, वह धर्म जन साधारण की सम्पत्ति नहीं । धर्म वृक्षा के चारों ओर स्वर्ण के काटेदार

१- कंकाल, पृष्ठ ६८

२- 'धार्मिक मनुष्य विश्वासी होता है । सूक्ष्मरूप से जो कल्याण-ज्योति मानवता में अन्तर्निहित है, मैं तो उसमें अधिक से अधिक श्रद्धा करता हूँ । विपथगामी होने पर वही संकेत कर मनुष्य का अनुशासन करती है ।' -- आंधी, पृष्ठ २८ ।

३- जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ ७२ ।

जाल फैलाए गए और व्यवसाय की ज्वाला से वह दग्ध हो रहा है । जिन धनवानों के लिए तुमने 'धर्म' को सुरक्षित रक्खा, उन्होंने समझा कि 'धर्म' धन से खरीदा जा सकता है, इसलिए यह धनोपार्जन मुख्य हुआ और धर्म गौण । जो पारस्य देशों की मदिरा रात को पी सकता है, वह धार्मिक बने रहने के लिए प्रमाण में एक गो-निष्क्रिय भी कर सकता है । 'धर्म' को बचाने के लिए तुम्हें राजशक्ति की आवश्यकता हुई । धर्म इतना निर्बल है कि वह पाशव-बल के द्वारा सुरक्षित होगा ।<sup>१</sup>

कामान्वय स्थाविर द्वारा अपने लिए मृत्यु दण्ड सुनाये जाने पर सुजाता उसे फटकारती हुई कहती है -- 'स्थविर । तुम्हारा धर्म शासन घरों को बुर बुर करके विहारों की सृष्टि करता है । कुचक्र में जीवन को फंसाता है । पवित्र गार्हस्थ्य बन्धनों को तोड़कर तुम लोग भी अपनी वासना-तृप्ति के अनुकूल हो तो एक नया घर बनाते हो, जिसका नाम बदल देते हो । तुम्हारी तृष्णा तो साधारण सरल गृहस्थों से भी तीव्र है । डाढ़ है और निम्न कोटि की है । + + + (मैं) तो मरूंगी स्थविर । किन्तु तुम्हारा यह काल्पनिक आढम्बर पूर्ण धर्म भी मरेगा । मनुष्यता का नाश करके कोई धर्म खड़ा नहीं रह सकता ।<sup>२</sup> 'धर्म' के नाम पर पलने और सामाजिक शोषण करने वाले वर्ग-विशेष के प्रति विजय भी अपना आक्रोश इन शब्दों में व्यक्त करता है-- 'क्यों मंगल । क्या और भी किसी देश में इसी प्रकार का धर्म संचय होता है? जिनको आवश्यकता नहीं उनको बिठा कर आदर से भोजन कराकर जाता है , केवल इस आशा से कि वे परलोक में पुण्य-संचय का प्रमाणपत्र देंगे और इन्हें जिन्हें पेट ने सता रक्खा है, जिनको भूख ने अधमरा बना दिया है जिनकी आवश्यकता नंगी होकर वीमत्स नृत्य कर रही है-- वे मनुष्य कुत्तों के साथ जुड़ी पतलों के लिए लड़ें यही तो तुम्हारे 'धर्म' का उदाहरण है ?<sup>३</sup>

'धर्म' के नैतिक पक्ष का समर्थन करते हुए प्रसाद जी ने उसके उस परुष पक्ष की उपेक्षा की है, जिसमें सहजवृत्तियों के कलात् दमन द्वारा जीवन की

१-स्कन्दगुप्त, पृष्ठ १२३ ।

२-इन्द्रजाल, पृष्ठ १०७ ।

३-कंकाल, पृष्ठ ६५ ।

शक्ति को कुंठित बना दिया जाता है, फलस्वरूप व्यक्तित्व-विकास की सारी क्षमताएं पंगु हो जाती हैं और जीवन में एक घुटन पैदा हो जाती है । इरावती के आक्रोश में हमें यही स्वर सुनायी पड़ता है -- ' ठहरो भिन्ना । हम पुनर्जन्मवादी हैं , निर्वाण यदि मानव जाति के लिए आवश्यक है तो उसे किसी अगले जन्म में खोज लूंगी, जब जीवन व्यर्थ हो जायगा । ओह ! तुम्हारे इस कुहर में मनुष्य अपने जीवन को भी नहीं प्राप्त कर रहा है । न जाने कब इस कुक्कुटाराम की प्राचीर गिरेगी और बन्दिनी मानवता मुक्त होगी । + + + क्या फिर अन्धकार के गहवर में , उसी निराशा के आवर्त में , उसी दम घोंटने वाले वायुमंडल में चलूं ? ना मैं नहीं जाऊंगी । मुझे तुम्हारा धर्म नहीं चाहिए ।' इरावती रो पड़ी । ' धर्म' के नाम पर होने वाले सामाजिक शोषण के अन्तर्गत दो जातियों का शोषण विशेषरूप से होता है रहा है -- एक है वह सर्वहारा, दीन और दलित वर्ग जिसकी सामाजिक प्रतिष्ठा को एक समय इतने नीचे गिरा दिया गया था कि अपने-आपको अमिजात्य तथा सर्वर्षजाति का मानने वाला सम्पन्न वर्ग-विशेष उसकी छाया से भी दूर रहने लगा था, दूसरा मुक्त नारी जाति का वह वर्ग है , जिसके सभी सामाजिक अधिकारों को छीन कर धर्म के ठकैदारों ने उसे भोग-विलास का साधन मात्र बनाकर छोड़ दिया था -- उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहने दिया गया । स्वाभिमानिनी, ध्रुवस्वामिनी ने धर्म के नाम पर होने वाले नारी जाति के शोषण के विरोध में धर्म-पुरोहित को जो फटकार बरसाई है उसके एक-एक शब्द में युग-युग से दलित नारी जाति का आहत स्वाभिमान इन शब्दों में उबल पड़ा है-- ' रोष । हां मैं रोष से जली जा रही हूं । इतना बड़ा उपहास धर्म के नाम पर स्त्री की आज्ञाकारिता की यह पैशाचिक परीक्षा, मुझसे कल्पपूर्वक ली गयी है । पुरोहित तुमने मेरा जो राजस विवाह कराया है, उसका उत्सव भी कितना सुन्दर है ? यह जन-संहार देखो , अभी उस प्रकोष्ठ में रक्त से सनी हुई शकराज की लोथ पड़ी होगी । कितने ही सैनिक दम तोड़ते होंगे और इस रक्त-धारा में तिरती हुई मैं राजासी सी सांस ले रही हूं । तुम्हारा स्वस्त्ययन मुझे शान्ति देगा ?'

१- इरावती, पृष्ठ ६३

२- ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ५४

इस प्रकार 'प्रसाद' जी ने नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक तीनों दृष्टियों से धर्म के विविध पक्षों पर विचार कर उसके उस समग्रस्वरूप को स्वीकार किया है, जिसमें करुणा की कालिन्दी और प्रेम की जाह्नवी का संगम होता रहता है जो त्याग और भोग का मिलन बिन्दु है । 'धर्म' के समग्र स्वरूप की सुरक्षा तभी हो सकती है, जब उसे संकीर्णता की परिधि से बाहर लाकर उसे समतल तथा स्वच्छ दिशा प्रदान की जाय । 'प्रसाद' जी ने धर्म के इसी उज्ज्वल और उन्मुक्त पक्ष के प्रसार पर विशेष बल दिया है ।

'कामायनी' में जीवन के उज्ज्वल पक्ष कैलाश के उन्मुक्त वातावरण में 'धर्म' के प्रतिनिधि -- सोमवाही वृषभ, का उत्सर्ग किया जाना इसी तथ्य का उद्घाटन करता है --

‘ इस वृषभ धर्म प्रतिनिधि को

उत्सर्ग करेंगे जाकर,

चिसुक्त रहे यह निर्भय

स्वच्छन्द सदा सुख पा कर ।<sup>१</sup>

अर्थ और काम धर्म के समग्र स्वरूप के ही अंगभूत तत्त्व हैं । नैतिक मार्ग पर चलते हुए जिन सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति होती है, उसे 'अर्थ' कहते हैं, और अर्थ का सन्तुलित उपभोग ही 'काम' है । जब व्यक्ति की भोग वृत्ति संयम सीमा का अतिक्रमण कर अर्थ-संग्रह और अबाध काम तृप्ति की दिशा में बढ़ने लगती है, तब जीवन विशुद्ध होने लगता है और व्यक्ति का पराभव प्रारम्भ हो जाता है । सारस्वत प्रदेश में मनु का पतन इसीलिए हुआ कि वह स्वीकृत मानव-मुक्त्यों और नैतिक मान्यताओं को कुचल कर अबाध अर्थ-भोग के पीछे पड़ गए थे ।

जीवन में सन्तुलन बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि आवश्यक आवश्यकतानुसार संयम किया जाय । 'कामना' नामक नाटक में अर्थ लोलुपता के दुष्परिणामों का बड़ा स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है । कन-लक्ष्मी, लीला की अर्थ लोलुपता की ओर से सावधान करती हुई कहती है -- 'अच्छी वस्तु तो बहुत ही है जितनी कि स्वाभाविक आवश्यकता है । तुम क्यों अर्थ अभावों की सृष्टि

इस प्रकार 'प्रसाद' जी ने नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक तीनों दृष्टियों से धर्म के विविध पक्षों पर विचार कर उसके उस समग्रस्वरूप को स्वीकार किया है, जिसमें करुणा की कालिन्दी और प्रेम की जाह्नवी का संगम होता रहता है जो त्याग और भोग का मिलन बिन्दु है । 'धर्म' के समग्र स्वरूप को सुरक्षा तभी हो सकती है, जब उसे संकीर्णता की परिधि से बाहर लाकर उसे समतल तथा स्वच्छ दिशा प्रदान की जाय । 'प्रसाद' जी ने धर्म के इसी उज्ज्वल और उन्मुक्त पक्ष के प्रसार पर विशेष बल दिया है ।

'कामायनी' में जीवन के उज्ज्वल पक्ष कैलाश के उन्मुक्त वातावरण में 'धर्म' के प्रतिनिधि -- सोमवाही वृषभ, का उत्सर्ग किया जाना इसी तथ्य का उद्घाटन करता है --

इस वृषभ धर्म प्रतिनिधि को

उत्सर्ग करेंगे जाकर,

चिरसुक्त रहे यह निर्भय

स्वच्छन्द सदा सुख पा कर ।<sup>१</sup>

अर्थ और काम धर्म के समग्र स्वरूप के ही अंगभूत तत्त्व हैं । नैतिक मार्ग पर चलते हुए जिन सामाजिक वस्तुओं की प्राप्ति होती है, उसे 'अर्थ' कहते हैं, और अर्थ का सन्तुलित उपभोग ही 'काम' है । जब व्यक्ति की भोग वृत्ति संयम सीमा का अतिक्रमण कर अर्थ-संग्रह और अबाध काम तृप्ति की दिशा में बढ़ने लगती है, तब जीवन विशूल होने लगता है और व्यक्ति का पराभव प्रारम्भ हो जाता है । सारस्वत प्रदेश में मनु का पतन इसीलिए हुआ कि वह स्वीकृत मानव-मुल्यां और नैतिक मान्यताओं को कुचल कर अबाध अर्थ-भोग के पीछे पड़ गए थे ।

जीवन में सन्तुलन बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि आवश्यक आवश्यकतानुसार संयम किया जाय । 'कामना' नामक नाटक में अर्थ लोलुपता के दुष्परिणामों का बड़ा स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है । कन-लक्ष्मी, लीला की अर्थ लोलुपता की ओर से सावधान करती हुई कहती है -- 'अच्छी वस्तु तो जितनी ही है जितनी कि स्वाभाविक आवश्यकता है । तुम क्यों अर्थ अभावों की सृष्टि

करके जोवन को जटिल बना रही हो ? जिस प्रकार ज्वालामुखियाँ पृथ्वी के नीचे दबा रखी गई हैं और शीतल स्रोत पृथ्वी के वक्रास्थल पर बहा दिए गए हैं, उसी प्रकार ये सब अमाव तारा की सन्तानों के कल्याण के लिए गाड़ दिए गए हैं। वह ज्वाला सीने के रूप में सब के हाथों में खेलती है, और मदिरा के शीतल आवरण से कलेजे में उतर जाती है<sup>१</sup>।

‘प्रसाद’ जी ने स्थूल भोगवादी मनु का परामर्श दिखला कर धर्माविरुद्ध काम और त्यागमय भोग के उज्ज्वल पक्ष का ही समर्थन किया है। मोक्षा का सम्बन्ध साधना के श्रेय पक्ष से है, जिसमें निवृत्ति मार्ग को प्रशस्त किया जाता है। धर्म, अर्थ और काम के सीमित सन्दर्भ से ऊपर उठ जाना ही ‘मोक्षा’ है। ‘काणायनी’ के अन्तिम सर्गों-- निर्वेद, दर्शन, रहस्य, आनन्द -- में मोक्षा के इसी स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। जिसमें मनु का अहं इदं में पर्यवसित होकर अमेद अनुभूति के भाव-बोध में तन्मय हो जाता है। इस प्रकार मानवीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व -- चतुर्वर्ग का बड़ा ही उदात्त और संस्कृत स्वरूप हमें प्रसाद-साहित्य में मिल जाता है।

वर्ग चतुष्टय के उसी सन्दर्भ में आश्रम व्यवस्था का निरूपण भी मानवीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता रही है। इन आश्रमों की संख्या चार मानी गई है, जिनका नामकरण इस प्रकार किया गया है --

- (१) ब्रह्मचर्याश्रम -- २५ वर्ष पर्यन्त।
- (२) गृहस्थाश्रम -- २५ से ५० वर्ष पर्यन्त।
- (३) वानप्रस्थाश्रम -- ५० से ७५ वर्ष पर्यन्त।
- (४) सन्यासाश्रम -- ७५ से १०० वर्ष पर्यन्त।

ब्रह्मचर्याश्रम शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति का तथा सामर्थ्य संकलन की वह अवधि है, जिसमें व्यक्ति नियम-संयम द्वारा गृहस्थाश्रम के लिए तैयारी करता है। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से पूर्ण प्रशिक्षित होने पर वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। गृहस्थाश्रम व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का केन्द्र बिन्दु है, जिसमें व्यक्ति भौतिक उपलब्धियों के माध्यम से अपनी सहज भोग-वृत्तियों की सन्तुलित वृप्ति करता हुआ लोक संग्रह की भावना से प्रवृत्तिमूलक जीवन-



यापन करता है। गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम की अवस्था आती है, इसमें व्यक्ति पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों को मार, पुत्र के हाथों में सौंप कर निवृत्तिमूलक जीवन अपना कर, आत्मचिन्तन और देवाराधना में दत्तचित्त हो जाता है। यह विशुद्ध समाज-सेवा के लिए अपने-आप को तैयार करने की अवस्था है। इसके बाद साधक सन्यासाश्रम में प्रवेश कर संस्तुति-सेवामें संलग्न हो जाता है। यहां उनके सारे मनोविकार शमित हो जाते हैं, और वह अपेक्षित अनुभूति जन्य मानव-चेतना के सूक्ष्म संवेदनाओं के उच्च घरातल पर पहुंच कर सारी गृष्टि को ही अपना अभिन्न रूप समझने लगता है। यही जीवन का चरम लक्ष्य है।

प्रसाद-साहित्य को प्रतिनिधि कृति कामायनी में हमें उपर्युक्त आश्रम व्यवस्था की रूप-रेखा मिल जाती है। ऋद्धा-मिलन के पूर्व मनु का तपः पूत जीवन ब्रह्मचर्याश्रम का प्रतीक है। ऋद्धा-मिलन के पश्चात् मनु गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। यहां गृहस्थाश्रम में आने वाली विविध भाव-भूमियों और कठिनाइयों का बढ़ा ही सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक संकेत कर दिया गया है। किस प्रकार व्यक्तिगत मान्यताओं के दुराग्रह और सहानुभूति के अभाव में दाम्पत्य जीवन का मधुमय प्रीत सूखने लगता है, किस प्रकार विषयों के फंफावात में पड़ा हुआ व्यक्ति अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को खो कर, क्षोभ और पश्चात्ताप की ज्वाला में फुलसता हुआ-आत्म-ग्लानि में घुल घुल कर जीवन में निराश हो जाता है, और पुनः शान्ति, संयम तथा सन्तोष का सम्बल पाकर किस प्रकार वह अपने गन्तव्य तक पहुंचने में समर्थ हो पाता है, आदि तथ्यों के प्रतिपादन द्वारा दाम्पत्य-जीवन की अनिवार्य मान्यताओं का सूक्ष्म निदर्शन कर दिया गया है। मनु के इस दाम्पत्य-जीवन का विस्तार सारस्वत प्रदेश के अधिनायकत्व तक चलता है। इसके बाद मनु निर्वेद को जिस भाव-भूमि में प्रवेश करते हैं, वह उनके व्यक्तिगत जीवन की संकलित असफलताओं के दर्शन का परिणाम है यद्यपि मनु की इस निर्वेद जन्य विरक्ति और वानप्रस्थाश्रम की विरक्ति में मौलिक अन्तर है, लेकिन इस विरक्ति की अन्तिम परिणति आत्मचिन्तन की जिस भूमिका में जाकर होती है, उसे दृष्टि-पथ में रखते हुए मनु की उस अवस्था को वानप्रस्थाश्रम की अवस्था कहा जा सकता है, जहां मानव को बड़ा के साथ सारस्वत प्रदेश के संरक्षण का भार सौंप कर 'ऋद्धा' उनके साथ आनन्द प्राप्ति के पथ पर चल पड़ती है। इसके पश्चात् मनु आनन्द की भाव-भूमि में पहुंच कर सन्यासाश्रम के नियमों का पालन करते हुए 'ऋद्धा' सहित आध्यात्मिक

जीवन को अपना कर अपने-आप को संसृति की सेवा में लगा देते हैं --

वे गुल वहाँ अब बैठे  
संसृति की सेवा करते ;  
सन्तोष और सुख देकर  
राब की दुःख ज्वाला हरते ।  
हे वहाँ महाद्भुत निर्मल  
जो मन की प्यास बुझाना ;  
मानस उगकी कहते हैं  
गुरु पाता जो है जाता ।<sup>१</sup>

भारतीय चिन्तन-परम्परा में आश्रमों की व्यवस्था का क्रम मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है । सन्यासाश्रम का विधान भी इसी दृष्टि से किया गया है । यह आश्रम त्याग और निर्लिप्त जीवन का प्रतीक है । सन्यासी द्वारा गृहीत गेरुआ वस्त्र इस प्रतीकार्थ का बोधक है कि जिस प्रकार अग्नि-शिला (रक्त वर्ण) गमी कूड़े-कण्ट को मस कर खयं देदीप्यमान हो उठती है, उसी प्रकार सन्यासी सारी वासनात्मक वृत्तियों को संशोधित कर आत्मसात कर लेता है और इस प्रकार उसके संस्कृत स्वरूप को अपना कर वह अपने-आप में निर्विकार हो जाता है । जीवन में निर्विकार अवस्था की यह किस स्थिति तभी संभव है, जब भोग-वृत्तियों से मन का उपराम हो जाय । और उपराम तभी हो सकता है, जब प्राप्त उपलब्धियों का संयत भोग हो चुका हो । इसी दृष्टि से गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम के बाद सन्यासाश्रम को रखा गया है । प्रसाद जी भी सहज वैराग्य सम्पन्न सन्यास के पक्ष में थे । इरावती का ब्रह्मचारी पाखण्डपूर्ण वैराग्य की मर्त्यता करते हुए कहता है--  
‘उस विवेक को हम क्या कहें ? जो हमको संसार से विच्छिन्न करके वैराग्य और अपनी गवित्रता के अभियान में हमें अद्भुत परिस्थिति में डाल दे। हमारा विश्व से सामन्वस्य होना असम्भव कर दे । शंकाओं से, निषेधों से हमें जकड़ कर काल्पनिक उच्च आदर्शों के लिए वामन की तरह उचकते रहने की हास्यजनक स्थिति में सदैव डाल दे ।’<sup>२</sup> मनु का सन्यासाश्रम में जो प्रवेश हुआ है, वह अकस्मात् नहीं भोग-जन्य उपराम का परिणाम है । उसमें सहज शान्ति है उद्वेगजन्य क्लान्ति नहीं ।

१- कामायनी , पृष्ठ २८२

२- इरावती, पृष्ठ १०४

आश्रम-व्यवस्था के मन्दर्भ में संस्कारों का भी प्रसंग आता है । हमारे यहां सोलह संस्कार माने गये हैं जिनमें गर्भाधान, नामकरण, विद्यारंभ, विवाह तथा दाह संस्कार प्रमुख हैं । कामायनी में पाणिग्रहण गर्भाधान का स्पष्ट संकेत मिल जाता है ।

यज्ञ-रचना-विधान भी मानवीय संस्कृति के विकास-क्रम का प्रमुख सौपान रहा है । यज्ञ-रचना-विधान के अन्तर्गत 'पंच महायज्ञ' को विशेष मान्यता दी गई है । इसमें सामाजिक दायित्वों के परिपालन का निर्देशन भी कर दिया गया है । निम्नांकित यज्ञों के पंचमहायज्ञ का नाम दिया गया है --

- (१) देव यज्ञ
- (२) पितृ यज्ञ
- (३) पाक यज्ञ
- (४) भूत यज्ञ
- (५) ब्रह्म यज्ञ

उपर्युक्त पंच महायज्ञों के प्रसंग में पंचयज्ञों की भी चर्चा आती है, जिन्हें अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्महुत और प्राशित कहते हैं । कामायनी में 'यज्ञपुरुष' के इसी 'रचनामूलक सृष्टियज्ञ' को संसृति-सेवा का आधार मान कर उसके विकास पर बल दिया गया है --

रचनामूलक सृष्टि यज्ञ है, यज्ञ पुरुष का जो है,  
संसृति सेवा-भाव हमारा उसे विकसने को है ।

१- कामायनी : वासना, लज्जा, कर्म आदि

२- 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।  
होमो देवो बलिर्मातो नृयज्ञो ऽति पूजनम् ॥  
पैतान्यो महायज्ञान्प्रपयति शक्तिः ।  
सगृहेऽपि बसन्नित्यं सूना दौर्षेर्नलिप्यते ॥

--मनुस्मृति (अध्याय ३, श्लोक ७०, ७१) ।

३- 'अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।

ब्राह्मं हुतं प्राशितं च पंच यज्ञान्प्रदाते ॥

तपो हुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।

ब्राह्मं हुतं द्विजाग्यार्चा प्राशितं पितृ-तर्पणम् । --मनुस्मृति : (अ० ३ श्लोक ७३, ७४)

४- कामायनी (कर्म सर्ग, पृष्ठ १३२)

कामायनी में हमें पंचमहायज्ञों का स्पष्ट उल्लेख मिल जाता है । देव-सृष्टि की समाप्ति पर प्रलय में बचे हुए मनु द्वारा समुद्र-तट पर अग्निहोत्र करना यज्ञ में नवान्नों की आहुति देना तथा मैत्रावरुण यज्ञ करना, देवयज्ञ तथा पितृयज्ञ के ही परिचायक हैं । पाक-यज्ञ के अवशिष्ट अन्न को किसी अपरिचित प्राणी की तृप्ति-लालसा से, दूर रख आने में, 'मृत यज्ञ' या 'नृयज्ञ' का संकेत मिल जाता है । यज्ञ के उपरान्त ज्वलित अग्नि के पास बैठ कर मनन और चिन्तन करने की प्रक्रिया से 'ब्रह्मयज्ञ' की पुष्टि हो जाती है ।

राष्ट्रीयता राष्ट्र की प्राप्त उपलब्धियों के प्रति अटूट आस्था तथा आग्रह-जन्य अनुभूतियों का एक संघात है । जब व्यक्ति आन्तरिक अभावों की पूर्ति के लिए, संस्कारगत विशिष्टताओं को समेट कर व्यक्तिगत जीवन के साथ सामाजिक जीवन में प्रवेश करता है, तब उसका अन्तश्चेतन्य वाह्यपरिवेश से समझौता करने

१- 'जलने लगा निरन्तर उनका, अग्निहोत्र सागर के तीर,  
मनु ने तप में जीवन अपना, किया समर्पण हो कर धीर ।'  
-- कामायनी : (आशा, पृष्ठ ३१)

२-(क) 'पाक-यज्ञ करना निश्चित कर, लगे शालियों को बुनने,  
उधर बहिन-ज्वाला भी अपना, लगी धूम-पट थी बुनने ।'  
-- कामायनी (आशा, पृष्ठ ३२)

(ख) 'इस जगती के प्रतिनिधि जिनसे, प्रगट निशीथ सवेरा,  
मित्र-वरुण जिनकी छाया है, यह आलोक अंधेरा ।  
वे ही पथ-दर्शक हों सब विधि, पूरी होगी मेरी ,  
चलो आज फिर से वेदी पर , हो ज्वाला की फेरी ।

३- 'अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ  
कहीं दूर रख आते थे,  
होगा इससे तृप्त य अपरिचित  
समझ सहज सुख पाते थे ।'  
-- कामायनी (आशा, पृष्ठ ३२)

४- 'मनन किया करते थे बैठे  
ज्वलित अग्नि के पास वहां,  
एक सजीव तपस्या जैसे  
पतफड़ में कर वास रहा ।' -- कामायनी (आशा, पृष्ठ ३३)

लगता है। वह 'स्व' की सीमा की 'पर' की सीमा में मिला कर समष्टि-साधना की दिशा में चल पड़ता है। इस समझौते में स्वानुकूल तत्त्वों के प्रति उसका तादात्म्य और उन तत्त्वों के पोषक पदार्थों के प्रति आत्मीयता के भाव-बोध का गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। चूंकि राष्ट्र उन सभी तत्त्वों की एक समष्टि है, अतः वह सभी प्रकार के भाव-बोधों का केन्द्र-विन्दु बन जाता है। राष्ट्रीय विचारों के मूल प्रेरक तत्त्व तीन हैं --

- (१) गौरवपूर्ण अतीत की चिन्तना।
- (२) राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना।
- (३) राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्रदान करने की कामना।

'प्रसाद-साहित्य' में राष्ट्रीय चेतना का जो स्वरूप रखा गया है, उसके मूल में उपर्युक्त तत्त्वों की प्रेरणा ही प्रमुख रही है। जहां तक अतीत चिन्तना का प्रश्न है, प्रसाद-साहित्य में उसको विशेष स्थान मिला है।

गौरवपूर्ण अतीत की चिन्तना राष्ट्रीय चेतना की संजीवनीशक्ति है। यह अतीत वर्तमान का वह मूल स्रोत है जहां से संचित संवेदनाओं की शत-शत धाराएं फूट कर वर्तमान का अभिसिक्न किया करती हैं। इसीलिए अतीत की स्मृति बढ़ी मीठी होती है। यदि उसमें गौरवपूर्ण गाथाओं का पुष्प-पराग मिला हो, तब तो सोने में सुन्ध हो मिल जाती है। उसका एक एक प्रसंग प्रेरणा का स्रोत बन जाता है। 'प्रसाद' जो इस तथ्य से अवगत थे। इसीलिए प्रायः उन्होंने गौरवपूर्ण अतीत खण्डों को ही अनुशीलन-क अपनी कृतियों का कथानक चुना है। उनकी स्पष्ट मान्यता थी -- 'इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है। क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सम्पत्ता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें हमें पूर्ण सन्देह है।.... मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंशों में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।'

हमारा गौरवपूर्ण अतीत जहां एक ओर हममें सहज स्फूर्ति का संवार करता है, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीय भाव-धारा का प्रसार भी करता है, जिसमें

डूब डूब कर मातृभूमि का स्क-स्क कण हमारे लिए मोती हो जाता है । राष्ट्रीय भावना के लिए आत्मीयता आवश्यक है । जिसे हम अपना समझते हैं, उसी के प्रति आत्मीयता होती है, और जिसके प्रति आत्मीयता होती है, उसी पर हमें गर्व भी होता है । इसीलिए 'प्रसाद' जी ने भारत को हो आर्यों का आदि देश मान कर उन्हें यहीं का मूल निवासी माना है --

‘किसी का हमने ऋणा नहीं, प्रकृति का रहा पालना यही ।

हमारी जन्मभूमि थी यहीं, कहीं से हम आए थे नहीं ।

+ + + +

वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है वैसा ज्ञान ।

वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आश्रय सन्तान ।

जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष ।

निश्चाय कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारत वर्ष<sup>१</sup> ।।’

इस प्रकार स्थान-स्थान पर 'प्रसाद' जी ने राष्ट्रीय स्वाभिमान के इन स्वरो को सशक्त शब्दों में उभारा है । अपनी संस्कृति और सम्यक्ता की पूर्णता तथा प्राचीनता के प्रति उनकी अटूट आस्था थी । 'आंधी' नामक कहानी में आप लिखते हैं, -- 'सब बात तो यह है कि मुझे वर्तमान युग की चिकित्सा में वैसा ही विश्वास है, जैसे पाश्चात्य पुरातत्त्व के खोज पर । जैसे वे सांची और अमरावती के स्तम्भ तथा शिल्प के चिह्नों में वस्त्र पहनी हुई मूर्तियों को देखकर ग्रीक शिल्प कला का आभास पा जाते हैं, और कल्पना कर बैठते हैं कि भारतीय बौद्ध-कला ऐसी ही ही नहीं सकती । क्योंकि वे कपड़ा पहनना जानते ही नहीं थे, फिर आप चाहे त्रिपिटक से ही प्रमाण क्यों न दें कि बिना अन्तर्वासक, चीवर इत्यादि के भारत का कोई भिक्षु भी नहीं रहता था, पर वे कब मानने लगे ।’

जिस प्रकार राष्ट्र की ऊँची परम्पराएं गौरव का विषय बन जाती हैं, उसी प्रकार राष्ट्र के महापुरुषों का उदात्त चरित्र भी स्वयंसेवराष्ट्रीय स्वाभिमान की वृत्ति वस्तु बन जाता है । जिस समय हम राम, कृष्ण, गौतम और

१- स्कन्दगुप्त, पृष्ठ १५०, १५१ ।

२- आंधी, पृष्ठ १६ ।

गान्धी का नाम लेते हैं, उस समय हमारे सम्मुख उनके सद्गुणों की समष्टि का एक सजीव चित्र उभर आता है और राष्ट्रीय स्वामिमान से हमारा मस्तक ऊंचा हो जाता है । प्रसाद-साहित्य में आदर्श पात्रों का संगठन इसी दृष्टि से किया गया है, और उन पात्रों का एक-एक शब्द राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत है । युवराज स्कन्द-गुप्त से बूढ़ा सेनापति पर्णदत्त कहता है--<sup>१</sup> इस वृद्ध ने गरुणध्वज लेकर आयुष्य चन्द्रगुप्त की सेना का संचालन किया है । अब भी गुप्त साम्राज्य की नासीर सेना उसी गरुणध्वज की छाया में पवित्र छात्र-धर्म का पालन करते हुए उसके मान के लिए मर मिटें, यही कामना है ।<sup>२</sup>

सहज सुकुमारता और मातृकता से अनुप्राणित नारी-हृदय में भी राष्ट्रीय स्वामिमान का यही स्वर गुंज रहा है । देवसेना अपनी माँमी से, संकुचित स्वार्थ-वृत्ति की सीमा से ऊपर उठने का आग्रह करती हुई कहती है--<sup>३</sup> माँमी ! अब तर्क न करो, समस्त देश के कल्याण के लिए एक कुटुम्ब की भी नहीं, उसके जुद्ध स्वार्थों की बलि होने दो । माँमी ! हृदय नाच उठा है, जाने दो इस नीच प्रस्ताव को । देखो -- हमारा आयुर्वर्त विपन्न है, यदि हम मर-मिट कर भी इसकी कुछ सेवा कर सकें ।<sup>४</sup>

इसी राष्ट्रीय भावना से प्रभावित होकर अलका देश-द्रोही माई से विद्रोह कर जंगल जंगल की साक छानती हुई देश-प्रेम की अलख जगाती है । रामा अपने लोलुप पति शर्वनाश का विरोध करती हुई राजमाता महादेवी की प्राण-रक्षा करती है । कमला को ओज मरी वाणी, अलका का उद्बोधन गीत, इसी राष्ट्रीय भावना के स्फुल्लिंग हैं ।

राष्ट्रीयता को जाति पहुँचाने वाले तत्त्वों में दो तत्त्व प्रमुख हैं :--

(१) साम्प्रदायिकता ।

(२) प्रादेशिकता ।

‘प्रसाद साहित्य’ में स्वामिमानी राष्ट्र प्रेमी पात्रों द्वारा राष्ट्रीय एकता को जाति पहुँचाने वाले उक्त दोनों तत्त्वों की तीव्र भर्त्सना की गई है । उन्होंने दृढ़ संकल्पों के साथ राष्ट्रीय एकता पर बल दिया है । राष्ट्रीय एकता

१-स्कन्दगुप्त, पृ० ७६

२- वही ०, पृ० ७१, ७२

३- वही ०, पृ० १३०

४- चन्द्रगुप्त, पृ० १६४

का सिंहनाद करता हुआ चाणक्य कहता है --<sup>१</sup> तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न ? परन्तु आत्म-सम्मान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होगा । मालव और मागध को मूलकर तुम वाय्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा ।<sup>२</sup>

संस्कारगत सीमाओं के सन्दर्भ में राष्ट्रीय चेतना के दो स्तर हो जाते हैं :--

उसका एक रूप उदात्त और व्यापक दृष्टिकोणों पर आधारित समष्टि-मूलक होता है, दूसरा ज़ाद्व स्वार्थों से संक्रान्त, संकीर्ण और संकुचित वृत्तियों से बोधिल । एक में उदारता तथा सहिष्णुता होती है और दूसरे में कट्टरता और कठोरता ।

राष्ट्रीय चेतना का भारतीय पक्ष उदारता और सहिष्णुता का पोषक है । उसका मौलिक रूप मूलतः मानवता मूलक है, जिसमें 'जीवों और जीने दो' की उदार भावना काम करती रही है । यही कारण है कि भारतीय समाज समय-समय पर व बाहर से आने वाली अनेक जातियों को अपने में घुला-मिला कर उन्हें आत्म-सात करता रहा है और उसकी परम्परा भी अजुगुप्ता बनी रही । प्रसाद<sup>३</sup> द्वारा गृहीत राष्ट्रीयता का पक्ष भी इसी भारतीय पक्ष की कौटि का है । कृतज्ञता, सहिष्णुता तथा क्षमाशीलता उसकी मूलभूत विशेषताएं हैं । जिस समय सिंहरण सिकन्दर को घायल कर देता है, और मालव-सैनिक सिकन्दर से प्रतिशोध लेने के लिए आतुर हो उठते हैं, उस समय सिंहरण कहता है,--<sup>४</sup> ठहरो मालववीरो ! ठहरो ! यह भी एक प्रतिशोध है । यह भारत के ऊपर एक कण था, इसी-प्रकार-हूण-सैन्यपति पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है । यवन जाओ, शीघ्र जाओ ।<sup>५</sup> इसी प्रकार हूण सैन्यपति सिंगिल को क्षमा करते हुए स्कन्दगुप्त अपनी उदारता का परिचय देता है --<sup>६</sup> इस हूण को छोड़ दो और कह दो कि सिन्धु के इस पार के पवित्र देश में कभी आने का साहस न करे ।<sup>७</sup>

१- चन्द्रगुप्त, पृ० ५६ ।

२- वही०, पृ० १३७ ।

३- स्कन्दगु०, पृ० १५२ ।



ज्ञामाशीलता भारत की अपनी विशेषता रही है । यहां ज्ञामा करने की ज्ञामता को सूरवीरों का शृंगार माना जाता रहा है । प्रसाद-साहित्य के प्रमुख पात्रों का तो यह एक विशिष्ट गुण है । इसके अभाव में वे निर्जीव से हो जाते हैं । गौतम, मल्लिका, स्कन्द, देवसेना, श्रद्धा आदि प्रधान पात्र अपनी ज्ञामाशीलता में ही महान हैं । यह ज्ञामाशीलता भी दो प्रकार की होती है -- एक विवशता जन्य दूसरी सहज सम्भाव्य । विवशता जन्य ज्ञामा वस्तुतः ज्ञामा नहीं बल्कि दुर्बलता और असमर्थता का परिचायक है, जिसकी अन्तिम परिणति कायरता में होती है । पौरुष पराक्रम में समर्थ गश्क व्यक्ति द्वारा की गयी ज्ञामा ही शोभा की वस्तु होती है । इन्में हीनता की भावना नहीं, स्वाभिमान की गरिमा होती है । आत्मसमर्पण की विवशता नहीं, आत्मरक्षा की दृढ़ता होती है । 'प्रसाद-साहित्य' में ज्ञामा के इसी पक्ष का प्रतिपादन किया गया है । सभी सशक्त पात्रों ने अपने प्रति अपकार करने वालों को ज्ञामा-दान दिया है । पत्नी का अपमान करने वाले सलीम के प्रति अपनी ज्ञामाशीलता का परिचय देता हुआ नन्दराम कहता है -- 'माई अमीर । वह परदेश में बिना सहारे आया है । उसके ऊपर सब को दया करनी चाहिए ।' नन्दराम की पत्नी प्रेमा भी अपना अपमान करने वाले सलीम को ज्ञामा करती हुई कहती है -- 'सलीम । तुम्हारे घर पर और कोई नहीं है, तो वहां जाकर क्या करोगे ? यहीं पड़े रहो ।' 'हाया' में हीरा चोट पहुँचाने वाले अपने प्रतिद्वन्दी रामू के लिए क्रुद्ध से ज्ञामा दान की प्रार्थना करता है -- 'नहीं पिता जी । अब वह ऐसा कार्य नहीं करेगा । आप ज्ञामा करेंगे मैं ऐसी आशा करता हूँ ।'

प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय गौरव को अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व दिलाने का इच्छुक रहा करता है । 'प्रसाद' जी ने इस प्रसंग की पूर्ति विदेशी पात्रों को भारतीय संस्कृति से अभिभूत कर उनके मुख से भारत-भूमि सम्बन्धी प्रशंसात्मक उक्तियाँ

१- इन्द्रजाल , पृष्ठ ११ ।

२- वही०, पृष्ठ २२ ।

३- हाया, पृष्ठ २२ ।

कहलवा कर की है । यवन सेनानी सिल्यूक्स की कन्या कार्नेलिया का समूचा जीवन भारतीयता के रंग में रंग गया है । उसने भारत के कण-कण में अपनी आत्मीयता उछेल दी है । वह चन्द्रगुप्त से कहती है --<sup>१</sup> नहीं चन्द्रगुप्त । मुझे इस देश से जन्म-भूमि के समान स्नेह होता जा रहा है । + + + यह स्वप्नों का देश यह ज्ञान और त्याग का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि--भारतभूमि, क्या भुलाई जा सकती है ? कदापि नहीं । अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है ।<sup>२</sup>

कार्नेलिया द्वारा गाया गया गीत--<sup>३</sup> अरुण यह मधुमय देश हमारा तो आत्मीयता की स्क गहरी हिलोर उठा देता है । विश्वविजयी सिकन्दर भी भारतीय शौर्य के सम्मुख श्रद्धानत हो जाता है । वह पवैतेश्वर के पराक्रम पर मंत्रमुग्ध हो कर कहता है --<sup>४</sup> मैंने स्क अलौकिक वीरता का स्वर्गीय दृश्य देखा है । होमर की कविता में पढ़ी हुई जिस कल्पना से मेरा हृदय मरा है, उसे प्रत्यक्ष देखा ।<sup>५</sup> विदा-वेला पर भारत के प्रति उसके हृदय में संक्षिप्त अनुभूतियों का प्रोत इन शब्दों में फूट पड़ता है --<sup>६</sup> आश्चर्यवीर । मैंने भारत में हरक्यूलिस , रचिलिस की आत्माओं को भी देखा, और देखा डिमास्थनीज को , सम्भवतः प्लेटो और अरस्तू भी होंगे । मैं भारत का अभिनन्दन करता हूँ ।<sup>७</sup> अन्त में भारत के विरुद्ध तलवार खींच कर आने वाला सिकन्दर, भारतीय गरिमा से अभिभूत हो, अपना हृदय देकर जाने के लिए विवश हो जाता है --<sup>८</sup> मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया हृदय देकर जाता हूँ , विस्मय-विमुग्ध हूँ ।<sup>९</sup>

भारतीयता के प्रति अटूट आस्था रखते हुए भी 'प्रसाद' जी ने अपने विचारों में कट्टरता नहीं आने दी । उनकी राष्ट्रीयता संकीर्णता से बहुत ऊपर उठकर विश्वबन्धुत्व की भावना से ओत प्रोत हो उठी है । जीवन का विस्तार, विश्वबन्धुत्व के व्यापक दायित्व का आलिंगन कर मानवमात्र में अन्तर्निहित

१- चन्द्रगुप्त, पृष्ठ १४५

२- वही०, पृष्ठ ११५

३- वही०, पृष्ठ १४६

४- वही०, पृष्ठ १४६

पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना के मूल तत्वों को आत्मसात कर लेता है । मानवीय संस्कृति की यही सबसे बड़ी उपलब्धि है । भारतीय संस्कृति का मूल्य मूल्य इसी व्यापक जीवन दृष्टि की नींव पर सड़ा हुआ है, जिसमें प्राणिमात्र को अपना अभिन्न रूप मान कर विश्व कल्याण की कामना की गई है<sup>१</sup> । प्रसाद साहित्य में इसी लोक मंगल विधायिनी संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष का प्रतिपादन किया गया है । प्रायः सभी प्रधान पात्रों ने किसी न किसी रूप में इसी व्यापक जीवन-दृष्टि का अनुमोदन किया है । मंगल के शब्दों में 'हम लोग एक हैं, ठीक उगी प्रकार जैसे श्रीकृष्ण ने कहा है-- अविमक्त च भूतेषु विमक्तमिव च स्थित-- यह विमक्त होना कर्म के लिए है, चक्र-प्रवर्तन को नियमित रखने के लिए है<sup>२</sup> । निरंजन भी इसी मान्यता का समर्थन करता हुआ कहता है -- 'प्रत्येक समय में सम्पत्ति, अधिकार, और विद्या ने भिन्न-भिन्न देशों में जाति, वर्ण और ऊंच-नीच की सृष्टि की । + + इसलिए ये व्यर्थ के विवाद हटा कर उस दिव्य संस्कृति-- आर्य मानव संस्कृति की सेवा में लगना चाहिए ।'<sup>३</sup>

इस विश्व-मैत्री का प्रेरणा स्रोत करुणा का उद्बेक है, जो सहिष्णुता, आत्मीयता, तथा अनुकूल ग्रहणशीलता की शक्ति प्रदान करता है । इसीलिए गौतम

१- (क) 'विधाविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी ।

शुचि चैव स्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ।'

-- गीता (अ०५, श्लोक १८)

(ख) अयं निजः परोवेति गणना लघु चेतसाम्

उत्तार चरितानां तु बह्वेव कुटुम्बकम् ।'

-- हितोपदेश

(ग) सर्वे पि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयः ।

सर्वे मद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ।

२- कंकाल, पृष्ठ २६१, २६२ ।

३- वही०, पृष्ठ २४६, २६० ।

कामामूलक, करुणा का शासन फैलाने पर बल देते हैं --<sup>१</sup> तुम लोक कर्तव्य के लिए मत्ता के अधिकारी बनाये गये हो, उसका दुरुपयोग न करो । झुमण्डल पर स्नेह का करुणा का, जामा का, शासन फैलाओ ।<sup>२</sup>

करुणा के अभाव में ही व्यक्ति क्रूरकर्मा होकर स्वान्त स्वार्थ के दलदल में फंस जाता है, जिसमें उज्ज्वल मानवता तिरोहित हो जाती है । इसीलिए करुणा की प्रतिमूर्ति श्रद्धा मनु के स्वान्त स्वार्थ की मर्त्या करती हुई कहती है--

मनु का यही तुम्हारी होगी

उज्ज्वल नव मानवता,

जिसमें सब कुछ ले लेना हो

हन्त ! वही क्या शक्ति ?<sup>३</sup>

+ + +

औरों को हंसते देखो मनु

हंसो और सुख पाओ,

अपने सुख को विस्तृत कर लो ,

सब को सुखी बनाओ ।<sup>४</sup>

करुणा के रंग में रंगी हुई मल्लिका भी प्रसन्नजित को यही सन्देश देती है --

दूसरों को सुखो बनाकर सुख पाने का अभ्यास कीजिए ।<sup>५</sup>

मनु भी ज्यों-ज्यों करुणा जन्य लोक-मंगल कामना से व्यापक जीवन दर्शन को अपनाते जाते हैं, त्यों-त्यों उनके जीवन का सुधार और मानसिक कुंठाओं का परिष्कार होता जाता है । और आनन्द लोक में पहुँचने पर उन्हें अमैष्ट अनुभूति होने लगती है ।

इस प्रकार प्रसाद-साहित्य में मानवीय संस्कृति के अंगभूत-- व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का मनोवैज्ञानिक

१- अजातशत्रु, पृष्ठ १५८, १५९ ।

२- कामायनी : कर्म, पृष्ठ १३० ।

३- वही०, :पृष्ठकर्म, पृष्ठ १३२ ।

४- अजातशत्रु, पृष्ठ १११ ।

५- कामायनी, पृष्ठ २८ ।

स्तर पर बढ़ा ही व्यापक स्वरूप प्रतिष्ठित हुआ है और उसमें जीवन के अन्तर्गत से प्रेरणा लेकर सांस्कृतिक स्तर पर मानवता को विजय का उद्घोष किया गया है--

‘मब भेद-भाव सुलवा कर

दुःख-सुख को दृश्य बनाता,

मानव कह रे यह ‘मैं’ हूँ

यह विश्व नीड़ बन जाता ।’<sup>१</sup>

+

+

+

‘शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त

विकल विसर हैं हो निरुपाय,

समन्वय उसका करै समस्त

विजयिनी मानवता हो जाय ।’<sup>२</sup>

-०-

-----  
१- कामायनी, पृष्ठ २८ ।

२- वही० : ऋदा सर्ग, पृष्ठ ५६ ।

(द्वितीय खण्ड)

सप्तम - अध्याय

-0-

दाम्पत्य जीवन  
~~~~~

सप्तम अध्याय

-०-

(क) दाम्पत्य जीवन

व्यक्तिगत जीवन के विविध पक्षों का आधार आवश्यकताओं का आग्रह होता है, और ये आवश्यकताएं दो प्रकार की होती हैं :-

(१) शारीरिक ।

(२) मानसिक ।

शारीरिक आवश्यकताओं का सम्बन्ध बाह्य जीवन की स्थूल उपलब्धियों से है, और मानसिक आवश्यकताओं का सम्बन्ध हृदय और मस्तिष्क की सूक्ष्म संवेदनाओं से । शारीरिक आवश्यकताओं के अन्तर्गत भोजन, वस्त्र, मकान, स्वच्छ जल-वायु तथा अन्य आरामदेह वस्तुएं आ जाती हैं, जिनके द्वारा हमारा शारीरिक संरक्षण, संवर्धन और पोषण होता है । मानसिक आवश्यकताओं के अन्तर्गत साहचर्य-सुख, प्रेम, सहयोग, और सहवास की वे भावनाएं आ जाती हैं, जिनका सम्बन्ध हमारी रागात्मक अनुभूतियों से होता है । इन्हीं शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों की सृष्टि करता है, जिसके सन्दर्भ में व्यक्तिगत जीवन की सुस्तः तीन विधाएं हो जाती हैं :-

(१) दाम्पत्य जीवन ।

(२) पारिवारिक जीवन ।

(३) सामाजिक जीवन ।

इन सम्बन्धों की प्रक्रिया सम्भवतः व्यक्ति की अपनी जीवन-दृष्टि के अनुकूल परिचालित होती है ।

दाम्पत्य जीवन आन्तरिक अभावों की पूर्ति का एक माध्यम है । यह मानव-समाज में प्रचलित वह मार्मिक व्यवस्था है जो यौन सम्बन्धों में सन्तुलन लाकर, पारिवारिक व्यवस्थाओं के परिवेश में प्रेम तथा मानवीय स्तर पर जैवकीय, मनोवैज्ञानिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है । उपनिषदों में 'एक से अनेक' होने की घोषणा आन्तरिक अभावों के आग्रह का ही परिणाम है । वृहदारण्यक में आता है, 'पति की कामना के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपनी कामना (मोग) के लिए प्रिय होता है । भार्या की कामना के लिए भार्या प्रिय नहीं होती, अपनी कामना (मोग) के लिए भार्या प्रिय होती है' ।^१ आत्म-मोग की यही प्रवृत्ति साहचर्य-सुख (Pairing instinct) की भूख जगाती है । जिसकी अन्तिम परिणति दाम्पत्य जीवन में जाकर होती है ।

प्रसाद जी ने इन्हीं आन्तरिक अभावों की पुकार को दाम्पत्य जीवन का प्रेरणा स्रोत माना है । उनकी दृष्टि में जीवन को 'एक घूंट' (आत्म मोग) की सहज प्यास बनी रहती है, और उसी की तृप्ति-लालसा को संजोर वह चारों ओर सजल हरियाली (अपने मोग्य पदार्थ) की खोज करता रहता है --

‘एक घूंट का प्यासा जीवन-

निरख रहा सबको भर लोचन ।

कौन छिपाये है उसका धन -

कहाँ सजल वह हरियाली है' ।^२

मनु भी स्काकी जीवन की घुटन से ऊब कर पुकार उठते हैं --

‘कब तक और अकेले ? कह दो

हे मेरे जीवन बोलो ,

किसे सुनाऊँ कथा ? कहो मत

अपनी निधि न व्यर्थ खोलो' ।^३

१- 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ।
न वा अरे जायाय कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ।
न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति ।
न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्त प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्त प्रिय भवति ।
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वप्रिय भवति आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति ।' -- बृ० ३०४।१।६ ।

२- एक घूंट -- पृ० २४ ।

३- कामायनी -- पृ० ३७ ।

जीवन की यही रिक्तता व्यक्ति को दाम्पत्य-सुख के लिए प्रेरित करती है, जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों एक-दूसरे के पूरक बन कर आते हैं । एक गृह-पति होता है तो दूसरा अतिथि, एक प्रश्न होता है तो दूसरा उत्तर, एक सिन्धु होता है तो दूसरा लहर, एक प्रभात होता है तो दूसरा किरण, एक आकाश होता है तो दूसरा घनश्याम^१ । प्रसाद^१ जी ने दाम्पत्य जीवन को श्रेय और प्रेय का सम्बन्ध माना है -- 'सेवा ही नहीं बुझी वाली । उसमें विलास का अनंत यौवन है, क्योंकि केवल स्त्री-पुरुष के शारीरिक बन्धन में वह पर्यवसित नहीं है । बाह्य माधनों के विकृत हो जाने तक ही उसकी सीमा नहीं । गार्हस्थ्य जीवन उसके लिए प्रचुर उपकरण प्रस्तुत करता है, इसलिए वह प्रेय भी है और श्रेय भी है^२ ।'

दाम्पत्य-जीवन के दो आधार तत्त्व हैं --

(१) सौन्दर्य, और

(२) प्रेम ।

सौन्दर्य, आकर्षण तथा ओज से अनुप्राणित सम्पूर्ण व्यक्तित्व की एक समष्टि है और इस व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं --

(१) बाह्यपक्ष ।

(२) आन्तरिक पक्ष ।

बाह्य पक्ष का सम्बन्ध बाहरी आकार-प्रकार तथा रूप-रंग आदि से होता है, आन्तरिक पक्ष का सम्बन्ध, बल, बुद्धि, विद्या, आचार-विचार तथा व्यवहार आदि आन्तरिक गुणों से । व्यक्तित्व के उक्त पक्षों के आधार पर सौन्दर्य के भी दो पक्ष हो जाते हैं --

(१) स्थूल पक्ष ।

(२) सूक्ष्म पक्ष ।

१- 'चल पड़े कब से हृदय दो पथिक से अश्रात,
यहां मिलने के लिए, जो मटकते थे भ्रान्त ।
एक गृह-पति, दूसरा था अतिथि विगत विकार,
प्रश्न था यदि एक तो उत्तर द्वितीय उदार ।
एक जीवन-सिन्धु था, तो वह लहर लघु लोल,
एक नवल प्रभात, तो वह स्वर्ण-किरण अमोल ।
एक था आकाश वर्षा का सजल उदाम,
दूसरा रंजित किरण से श्री कलित घनश्याम ।'

-- कामायनी (पृ० ८१)

२- आकाशदीप-- (पृ० १३३)

स्थूल पदार्थ वस्तुपरक होता है, जिसमें बाह्य पदार्थ की प्रधानता होती है । इसका सम्बन्ध शारीरिक रचना से होता है । सूक्ष्म पदार्थ आत्मपरक होता है, जिसमें आन्तरिक पदार्थ की प्रधानता होती है और उसका सम्बन्ध सूक्ष्म संवेदनाओं तथा गुण, शील, स्वभाव आदि आन्तरिक उपलब्धियों से होता है । उपर्युक्त दोनों पदार्थों का सामन्वज्य ही सौन्दर्य को पूर्णता प्रदान करता है । उसमें से एक भी पदार्थ का अभाव सौन्दर्य के समग्रस्वरूप को सन्निहित कर देता है । १ (अ)

‘प्रसाद’ जी ने सौन्दर्य को परम पवित्र और चेतना का उज्ज्वल वरदान माना है^१ । उन्होंने सौन्दर्य के स्थूल और सूक्ष्म दोनों पदार्थों के सम्बन्ध में ही सौन्दर्य की पूर्णता मानी है । प्रायः उनके सभी प्रधान पात्रों में जहाँ एक ओर शारीरिक सौन्दर्य की मव्यता है, वहीं दूसरी ओर आन्तरिक सौन्दर्य और शील-स्वभाव की शिष्टता भी है । ‘श्रद्धा’ के रूप-चित्रण में कवि ने इन दोनों पदार्थों को बड़े ही कलात्मक ढंग से उमारा है --

‘ और देखा वह सुन्दर दृश्य

नयन का इन्द्रजाल अभिराम,

कुसुम-वैभव में लता-समान

चन्द्रिका में लिपटा घनश्याम ।

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार

एक लम्बी काया उन्मुक्त ,

मधुपवन क्रीडित ज्यों शिशु माल

सुशोभित हो सौरभ-संयुक्त ।

नित्य यौवन हृवि से ही दीप्त

विश्व की करुण -कामना-मूर्ति,

स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण

प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति^२ ।

१-(क) नदी । यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है ।

जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं । --लहर (पृ० ७९) ।

(ख) उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिस सब कहते हैं ,

जिसमें अनन्त अभिलाषा के

सपने सब जगते रहते हैं । -- कामायनी (पृ० १०२)

२- कामायनी (पृ० ४६, ४७) ।

सौन्दर्य बोध के निम्नांकित मनोवैज्ञानिक आधार माने गए हैं --

- (१) साहचर्य्य जन्य अनुभूतियां -- मधुर भावनायें तथा कोमल कल्पनाएं ।
- (२) घन भावनाएं ।
- (३) मानसिक अवस्था ।
- (४) रुचि-भेद तथा संस्कारगत विशिष्टताएं ।

निकटता आत्मीयता की पहली सीढ़ी है । हम जिस वस्तु के निवट सम्पर्क में आते हैं, उसके ^{प्रति} हमारा एक प्रकार का लगाव हो जाता है, जो साहचर्य्य सम्बन्धों में पुष्ट होता हुआ गहरी आत्मीयता में बदल जाता है । यह एक मनोवैज्ञानिक मत्त्य है, कि जिस वस्तु के प्रति व्यक्ति का लगाव हो जाता है, उस पर वह अपने भावों का आरोप करने लगता है और वह वस्तु उसके लिए मनोज्ञ बन जाती है, उसमें सुन्दरता का आरोप हो जाता है । यही कारण है कि प्रारम्भ से ही निकट सम्पर्क में आने वाली वस्तु के प्रति व्यक्ति में पक्षापात का भाव आ जाता है और वह उसमें एक विशेष प्रकार के सौन्दर्य का अनुभव करने लगता है । जिसके मन में जोरम जाता है, उसके लिए वही सबसे सुन्दर हो जाता है । मां के लिए उसका कुरूप में कुरूप बेटा भी उसके लिए राजाबेटा ही होता है । इस प्रकार निकट सम्पर्क में आने के फलस्वरूप साहचर्य्यजन्य अनुभूतियों, मधुर भावनाओं तथा कोमल कल्पनाओं के समष्टिगत प्रभाव से वास्तुविशेष में एक विशेष प्रकार का सौन्दर्य उभर आता है, जिसके साथ ही बड़ी ही सुकुमार स्मृतियां जुड़ी होती हैं ।

सौन्दर्य का दूसरा पक्ष काम-भाव से सम्बन्धित है और काम-भाव का स्वरूप-विशेष, अवस्था विशेष (युवावस्था) की देन है । युवावस्था में सौन्दर्य के प्रति सहजाकर्षण की जो प्रवृत्ति पायी जाती है, वह बाल्यावस्था या वृद्धावस्था में उस स्तर तक नहीं पाई जाती । इस अवस्था में प्रायः आकर्षण का मुकाव शारीरिक सौन्दर्य की ओर अधिक होता है जो युवावस्था की सहज, स्वाभाविक तथा प्राकृतिक भूख का परिचायक है । 'कामायनी' में मनु का सौन्दर्य बोध इसी कोटि का है । उन्हें इस सौन्दर्य का भाव-बोध, यौवन की उस माधुरी में होता है, जिसमें एक ओर कोमल कल्पनाओं की कादम्बिनी घिरी रहती है और दूसरी ओर आकुल अभिलाषाओं की प्रोतस्विनी उफान पर होती है । एक ओर सुनहले सपनों का संसार होता है, दूसरी ओर अनुरोध भरा मान-मनुहार । इन सब की

१--(क) कामायनी (पृ० २२०)

(ख) परन्तु मानव-जीवन में तो एक ही बार यौवनोन्माद का प्रवेश होता है, जिसमें अनुबन्ध का प्रत्याख्यान और सह का आलिंगन भरा रहता है ।

समष्टि जीवन को इतना रम्य बना देती है कि उसमें डूब कर सब कुछ सुन्दर हो जाता है । यौवन वसन्त की इस सरमता से मनु के सौन्दर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि उसके आलोक में उन्हें 'श्रद्धा' सौन्दर्य की एक सजीव प्रतिमा सी जान पड़ती है और उसके माहचर्य्य सुख तथा तज्जन्य अनुभूतियों से उनका शुष्क जीवन हरा-भरा हो उठता है --

‘श्वास पवन पर चढ़ कर मेरे
दूरागत वंशी-रव सी;
गूँज उठी तुम विश्व- छुहर में
दिव्य रागिनी अभिनव-सी ।
जीवन-जल-निधि-तल से जो
मुक्ता थे वे निकल पड़े;
जग-मंगल संगीत तुम्हारा
गाते मेरे रोम खड़े ।
आशा के आलोक किरन से
कुछ मानस से ले मेरे ,
लघु जल-घर का सृजन हुआ था
जिसको शशि-लेखा धरे ।
उस बिजली की माला सी
भूम पड़ी तुम प्रमा-भरी;
और जलद वह रिम-फिम बरसा
मन वनथली हुई हरी^१ ।’

‘श्रद्धा’ के इस सहज सौन्दर्य से अभिभूत हो कर मनु उस माधुरी नव प्रतिमा के परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्य का मूल्यांकन करने लगते हैं --

‘दिव्य तुम्हारी अमर अमिट कवि
ली खेलने रंग रली,
नवल हैम-लेखा सी मेरे
हृदय-निकष पर लिंची मली ।

अरुणाचल मन -मन्दिर की वह
 सुग्ध माधुरी नव प्रतिमा;
 लगी सिखाने स्नेहमयी सी
 सुन्दरता की मूढ महिमा ।
 उस दिन तो हम जान सके थे
 सुन्दर किम्को कहते हैं;
 तब पहचान सके किम्के हित
 प्राणी यह दुःख सहते हैं ।^१

युवावस्था के सौन्दर्य-बोध में ऐन्द्रिकता का विशेष आग्रह होता है और अनियंत्रित ऐन्द्रिकता उस पाशविक वासना को जन्म देती है जो जीवन पर आकाश-बेलि की तरह छा कर उसके समस्त जीवन-तत्त्वों को सोख जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि सौन्दर्य-बोध विकृत होकर गलत दिशा में मुड़ जाता है, फलतः सच्चे सौन्दर्य की प्राप्ति नहीं हो पाती । सौन्दर्य के समग्र स्वरूप की प्राप्ति के लिए सौन्दर्य-बोध का स्वस्थ विकास आवश्यक है जो मर्यादित ऐन्द्रिकता द्वारा ही संभव है । जिसमें सौन्दर्य-बोध का स्वस्थ विकास नहीं होता, वह सम्पूर्ण सौन्दर्य की प्राप्ति से वंचित रह जाता है । जब तक व्यक्ति केवल आकर्षण को केन्द्र बिन्दु मान कर सौन्दर्य की उपासना करता रहता है, तब तक न तो उसे पूर्ण शान्ति मिलती है, और न सौन्दर्य-सुख ही । वह सौन्दर्य-सिन्धु से सुधा तभी प्राप्त कर पाता है, जब उसका सौन्दर्य-बोध आकर्षण की ऊपरी सतह से हटकर अनुभूतियों की गहराई में पैठ जाता है । मनु को सच्चे सौन्दर्य की प्राप्ति इसीलिए नहीं हो सकी कि मांसलता की अतिशयता से उनके सौन्दर्य-बोध में विकृति आ गई थी और उन्होंने अमृत के स्थान पर विष का वरण कर लिया था, जिसके लिए उनके अंतःकरण ने उन्हें स्वयं धिक्कारा था --

मनु । उसने तो कर दिया दान ।

वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिम्मे जीवन का भरा मान ।

जिसमें चेतनता ही केवल निज शान्ति-प्रभा से ज्योतिमान ।

पर तुमने तो सब पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र ।^२

सौन्दर्य-जलधि से मर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र ।^२

१- कामायनी (पृ० २२२)

२- कामायनी (पृ० १६३)

मानसिक अवस्था भी सौन्दर्य-बोध को प्रभावित करती है । सुखद क्षणों और उल्लास की घड़ियों में जो वस्तु आनन्दप्रद तथा आकर्षक प्रतीत होती है, वही अवसाद और पीड़ा के क्षणों में अनाकर्षक तथा नीरस हो जाती है । राग-रंग के उल्लासपूर्ण वातावरण में सौन्दर्य-बोध का जो स्तर होता है, वही स्तर शमशान के बोधिल वातावरण में नहीं रहता । प्रसाद जी ने सौन्दर्य-बोध को प्रभावित करने वाली इन मानसिक अवस्थाओं के अन्तर को 'पाप की पराजय' नामक कहानी में बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है । कहानी का पुरुष पात्र शिकारी घनश्याम प्राप्त शिकार द्वारा सज्जा-तृप्ति कर लेने पर अपनी सफलता के सन्दर्भ में जिस आनन्द का अनुभव करता है, उसमें उसके लिए मारा वन-प्रदेश ही रमणीय हो उठता है । इसी उल्लासपूर्ण मानसिक स्थिति में उसे मारने के किनारे बैठी हुई एक युवती भिल्ली का दर्शन होता है, जिसे देखकर उसका रागात्मक पक्ष प्रबल हो जाता है और उसे भिल्ली के प्रति आसक्ति हो जाती है । उसके लिए ^{वह} वन-देवी भी प्रतीत होने लगती है । ज्योंही वह उसे अपने आलिंगन में कैद करना चाहता है, त्यों ही भिल्ली रानी के आह्वान पर चली जाती है । इसके बाद घनश्याम के सौन्दर्य-बोध का दूसरा पक्ष उस समय उभार में आता है, जब वह पत्नी की मृत्यु हो जाने पर शोकाकुल अवस्था में उसी स्थल पर पुनः पहुँचता है, जहाँ इसके पूर्व भिल्ली के मांसल सौन्दर्य ने उसकी चेतना को झकझोर दिया था । अब की बार उस स्थान पर प्रजा की प्राण-रक्षा के लिए वयं उस वन की रानी अपने रूप का सौदा करने के लिए तैयार मिलती है । लेकिन शोक-मन्तप्त घनश्याम पर रानी के उस मोहक सौन्दर्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता -- कुछ दिन पहले वह अपना सर्वस्व देकर भी ऐसा रूप क्रय करने को प्रस्तुत हो जाता । आज वह अपनी स्त्री के वियोग में बड़ा ही सीधा, धार्मिक, निरीह, स्वंपरोपकारी हो गया था । वार्त्त बुझा की तरह उसे न जाने किस वस्तु की खोज थी । रानी द्वारा अपना रूप क्रय करने का आग्रह करने पर वह फिर नीचा कर लेता है, जिस पर वह रानी कहती है -- उस दिन तो एक भिल्ली के रूप पर मरते थे, क्यों ? आज क्या हुआ ?

१- प्रतिध्वनि (पृ० ३५)

२- प्रतिध्वनि (पृ० ३५)

इस प्रकार स्पष्ट है कि परिस्थिति जन्य प्रभावों से प्रभावित मानसिक अवस्थाओं के अनुरूप भी सौन्दर्य-बोध की सीमायें निर्धारित होती रहती हैं । आजन्म जमावों की मट्ठी में फुलने वाले पर्वहारा व्यक्ति और सर्व साधन-गमन विलागी व्यक्ति के सौन्दर्य-बोध में स्तम्भ हो जाता है ।

सौन्दर्य-बोध का यह स्तर, एक बड़ी सीमा तक रुचि-भेदों और संस्कारगत विशिष्टताओं पर भी आधारित होता है । रुचि स्वतः संस्कारगत होती है । जिस स्तर के संस्कार होंगे, उसी स्तर की रुचि होगी और जिस स्तर की रुचि होगी, उसी स्तर का सौन्दर्य-बोध भी होगा । यही कारण है कि जो वस्तु एक को प्रिय होती है, वही दूसरे को अप्रिय हो जाती है । जो एक को सुन्दर है, वही दूसरे को असुन्दर हो जाता है । किसी को काली आंख सुन्दर लगती है, किसी को भूरी । कोई किसी के आन्तरिक सौन्दर्य गुण, स्वभाव आदि पर रीफ़ता है, कोई उसके बाह्य सौन्दर्य तक ही अपने को सीमित कर लेता है । अपनी-अपनी रुचि के अनुसार जिसको जो रुच जाता है वही उसक लिए सुन्दर हो जाता है ।

सौन्दर्य का ही एक पुरक पक्ष प्रेम है, जो अपेक्षाकृत अधिक अनुभूति पुरक होता है । सौन्दर्य और प्रेम दोनों एक-दूसरे के पुरक बनकर आते हैं । दोनों में एक-दूसरे का स्वरूप उसी प्रकार सुरक्षित रहता है, जिस प्रकार बीज में वृक्ष और वृक्ष में बीज का स्वरूप सुरक्षित रहता है । कोई वस्तु हमें इसलिए प्रिय होती है कि वह सुन्दर है और कोई वस्तु हमें सुन्दर इसलिए लगती है कि उसके प्रति हमारा रागात्मक सम्बन्ध (प्रेम) होता है । इस प्रकार कभी स्पाकर्षण (बाह्य सौन्दर्य) प्रेम का कारण बनता है, और कभी प्रेम की गहरी अनुभूति प्रेमास्पद ही को सुन्दर बना देती है । एक में सौन्दर्य से प्रेम की ओर जाया जाता है, दूसरे में प्रेम से सौन्दर्य की ओर ।

‘प्रसाद’ जी ने प्रेम को दाम्पत्य जीवन का एक अनिवार्य अंग माना है, जिसके अभाव में दाम्पत्य-जीवन की कड़ी टूट जाती है । जिस प्रकार शरीर से प्राण, कीणा से स्वर और फूल से उसकी सुगन्ध खींच लेने पर ये वस्तुएँ निरर्थक हो जाती हैं, उसी प्रकार दाम्पत्य-जीवन से प्रेम खींच लेने पर वह भी निर्जीव होकर दो शवों का संगम मात्र रह जाता है --

दूर जब हो गया कहीं मन से,

क्या हुआ तन लगा रहे तन से ।

स्वप्न में सैर सैकड़ों योजन

कर चुका मन न हू गया तन से ।^१

एक घूंट में वनलता भी स्कनिष्ठ प्रेम पर बल देती हुई कहती है -- मैं जिसे प्यार करती हूँ वही -- केवल वही व्यक्ति मुझे प्यार करे, मेरे हृदय को प्यार करे, मेरे शरीर को -- जो मेरे सुन्दर हृदय का आवरण है, सतृष्णा दे। उस प्याप में तृप्ति न हो, एक घूंट वह पीता चले मैं भी पिया करूँ ।^२

जहाँ तक प्रेम की परिभाषा का प्रश्न है, इसकी परिधि इतनी व्यापक है कि उसे शब्द-सीमा में नहीं बांधा जा सकता, यही कारण है कि आज तक प्रेम की कोई पूर्ण और सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकी । मुण्डेमुण्डे मतिभिन्नाः के अनुसार चिन्तकों ने अपने-अपने ढंग से इसके स्वरूप को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है । किसी ने ऐहिक सान्निध्य की पार्थिव आकांक्षा को प्रेम की संज्ञा दी है,^३ तो किसी ने इसे सूर्य के समान आत्मा को प्रकाशित करने वाला तत्त्व माना है,^४ किसी ने हृदय को तर कर निर्वचनीय तृप्ति व आनन्द-प्रदान करने वाली स्निग्ध ऊष्मा को प्रेम का स्वरूप माना है,^५ तो किसी ने इसे अहं-त्याग द्वारा आत्ममुक्ति का माध्यम स्वीकार किया है ।^६

१- विशाख (पृ०७०)

२- एक घूंट (पृ०४२)

३- प्रेम ऐहिक सान्निध्य की पार्थिव आकांक्षा है । अन्य प्रवृत्तियों की भांति वह भी नितान्त भौतिक है । + + + उसे आरम्भ से ही भौतिक आध्यात्मिक, अथवा ईश्वरीय समझना अमनोवैज्ञानिक है ।
-- प०मद्गुरु शरण अवस्थी

४- "True love, like the sun expands the self....love means perception of beauty.....a man who has never loved can never realise God that is a fact."
-- Swami Ramirth : (Heart of Ram)

५- "But love warms the heart with unspeakable solace, even more when it is given than when it is received."
-- Will Durant : The mansions of philosophy"

६- "The meaning of love speaking generally is the justification and deliverance of individuality through sacrifice of egoism"

सब मिलाकर प्रेम आकर्षण और अनुभूति पर आधारित रागात्मक भाव-बोधों का एक ऐसा समवाय है जिसमें कोमल करुण भावनाओं का अंश अधिक होता है । यही 'करुणा' ससीम को असीम से, आत्मा को परमात्मा से मिलाने के लिए भेद का काम करती है । करुणा की गहरी अनुभूति व्यक्ति को उस उदात्त भाव-भूमि पर पहुँचा देती है, जहाँ वह विकृत 'अह' की संकुचित सीमा से ऊपर उठ कर सब को अपना समझने लगता है, उसके मानस से प्रेम की उज्ज्वल धारा फूट पड़ती है । जिस व्यक्ति में करुणा का भाव जितना ही व्यापक और उदात्त होता है, उसके प्रेम का स्वरूप उतना ही उज्ज्वल और आदर्शमूलक होता है ।

प्रसाद-साहित्य की मूल संवेदना सौन्दर्य और प्रेम की उदात्त उद्भावना है । चूंकि प्रसाद स्वयं एक आदर्शवादी व्यक्ति थे, अतः उन्हें सौन्दर्य और प्रेम का उज्ज्वल पक्ष ही अमोघ था । जिस प्रकार पवित्रता की छाया से अकृता सौन्दर्य उनके लिए अभिशाप था, उसी प्रकार स्थूल ऐन्द्रिकता से चिपका हुआ प्रेम भी त्याज्य था । वे प्रेम को असीम, और साधना की वह चरम सीमा मानते थे, जिसके आगे कोई राह शेष नहीं रह जाती :-

पथिक प्रेम की राह अनोखीं मूल मूल कर चलना है,

+ + + +

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना,

किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं

अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं^१ ।

वही प्रेम साधना की उस चरम सीमा तक पहुँच सकता है, जो उत्कट वैयक्तिकता और स्वार्थ की संकुचित सीमा से ऊपर उठ कर उदात्त हो सके । इसीलिए प्रसाद जी ने प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना को हवन कर, उसे परिमित सीमा से ऊपर उठाने का आग्रह किया है --

‘ प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा,
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का सुख पाओगे ।

+ + + +

प्रेम पवित्र पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति मात्र में बना रहे ।^१

सच्चा प्रेम मूक होता है बड़ बोला नहीं, वह अनजान गुहा से फूट पड़ने वाला वह
मधुमय स्रोत है, जिसमें शान्ति, संयम और सन्तोष की त्रिवेणी प्रवाहित होती
रहती है । प्रसाद ने प्रेम के इसी पदार्थ को स्वीकार किया है जो मकरन्द और कमल
कौश की तरह चुपचाप अनुभूतियों में डूबा हुआ सौरभ लुटाया करता है :—

‘ कमल-कौश और मकरन्द सों ।

ज्यों विराजत चारु अमन्द सों ।

निज सुगन्ध लिए वह आप ही,

रहत मोद और चुप-चाप ही ।^२

प्रसाद जी प्रेम को प्रदर्शन की वस्तु नहीं चिन्तन का विषय मानते थे । एक बार
एक मित्र के विशेष आग्रह पर उन्होंने कहा था -- ‘प्रेम को प्रकट कर देने से उसका
मूल्य समाप्त हो जाता है । हां, मेरे जीवन में एक मधुर स्वप्न और मनोहर
कल्पना रही है, जिसे मैंने सर्वस्व समर्पित कर भी जीवित रखा है ।’ नीरू मरी
बदली की मांति बूंद बूंद कर अपने अस्तित्व को मिटा देने वाली, मूक प्रेम की
महान साधिका देवसेना भी इन्हीं शब्दों को दुहराती हुई कहती है -- ‘मैंने कभी
उनसे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है । नीरव जीवन और
एकान्त व्याकुलता, कबौटन का सुख मिलता है । जब हृदय में रुदन का स्वर उठता
है तभी संगीति की बीणा मिला लेती हूं । उसी में सब शिथिल जाता है ।’^३

१- प्रेम पथिक (पृ० २२)

२- चित्राधार (पृ० १६५)

३- स्कन्द गुप्त (पृ० ६७)

‘श्रद्धा’ तो त्याग और समर्पण की साक्षात् प्रतिमा ही है । उसका समर्पण केवल देना ही चाहता है, लेना कुछ नहीं ।

आदर्श प्रेम अपने-आप में ‘पूर्ण काम’ होता है । वह अपनी सुख-सुविधा के लिए प्रिय की प्रगति को कुंठित नहीं करना चाहता, बल्कि अपने त्याग का सम्बल देकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाने में अपनी सार्थकता समझता है । मल्लिका, देव सेना, श्रद्धा आदि ललनाओं का प्रेम इसी कोटि का है, जिसकी भित्ति निःस्वार्थ त्याग पर खड़ी है, भोग-प्रधान स्वार्थ पर नहीं । ‘महामाया’ के प्रलोभन को ठुकराती हुई मल्लिका कहती है -- ‘कठोर कर्म-पथ में अपने स्वामी के पैर का कंटक भी मैं नहीं होना चाहती । वह मेरे अनुराग-सुहाग की वस्तु है । फिर भी उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व है, जो हमारी शृंगार-मंजूषा में बन्द करके नहीं रखा जा सकता । महान हृदय को केवल विलास की मदिरा पिला कर मोह लेना ही कर्तव्य नहीं है^१ ।’ परिस्थितियों की मार से घबड़ाकर पलायन की दिशा में भागने वाले स्कन्द द्वारा स्कान्त जीवन के लिए प्रणय-निवेदन करने पर देवसेना उसका प्रतिवाद करती हुई कहती है -- ‘आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी । सम्राट् । जमा हो । इस हृदय में.... आह ! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया है और न वह जायेगा । अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए, उसे कामना के मंवर में फंसाकर कुलुषित न कीजिए । नाथ । मैं आपकी हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती^२ ।’

वस्तुतः प्रेम की पूर्णता दान में है प्रतिदान में नहीं, त्याग में है भोग में नहीं, समर्पण में है संग्रह में नहीं, विसर्जन में है अर्जन में नहीं -- उसमें केवल देना ही देना होता है, लेना कुछ नहीं --

१- अज्ञात शब्द (पृ०८७)

२- स्कन्दगुप्त (पृ०१४९)

‘पागल रे । वह मिलता है कब,
 उसको तो देते ही हैं सब,
 आंसू के कन से गिन गिन कर
 यह विश्व लिए है ऋण उधार
 तू क्यों फिर उठता है पुकार ?
 मुझको न मिला रे कभी प्यार ।’

‘प्राणों का विनिमय’ उसके महत्त्व को कम कर देता है --

‘विनिमय प्राणों का वह कितना, मय- संकुल व्यापार जरे ।
 देना है जितना दे दे तू, लेना कोई यह न करे ।
 परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी न हो सकती,
 सन्ध्या रवि देकर पाती है ड़धर-उधर उडुगन विसरे ।’

जिसका प्रेम त्यागमय भावना के इस ऊंचे घरातल को नहीं छू पाता, उसे कभी
 तृप्ति नहीं मिलती और वंचकता, पीड़ा, घृणा, अरुचि, मोहादि के विषाक्त
 प्रभाव से जर्जर, उसका प्यासा जीवन ‘प्यार’ के लिए तड़प्ता रह जाता है --

‘चिर तृप्ति कण्ठ से तृप्त विधुर,
 वह कौन अकिंचन अति आतुर,
 अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ-सदृश,
 ध्वनि कम्पित करता बार बार --

धीरे से वह उठता पुकार ।

मुझको न मिला रे कभी प्यार ।

+ + +

फैलाती जब उषा राग,
 जग जाता है उसका बिराग,
 वंचकता, पीड़ा, घृणा, मोह
 मिलकर विसरता अन्वकार

१- लहर (पृ० ३६)

२- कामायनी (पृ० १७८)

धीरे से वह उठता पुकार ।

मुझको न मिला रे कभी प्यार ।

ढल विरल डालियां मरी मुकुल,

मुक्ती सौरभ-रस लिये अवल,

अपने विषाद-विष में मूर्च्छित,

कांटों से बिंध कर बार बार-

धीरे से वह उठता पुकार

मुझको न मिला रे कभी प्यार^१ ।

‘प्रसाद’ जी ने स्वस्थ सौन्दर्य-बोध और त्याग-पूर्ण प्रेम को ही सुखी दाम्पत्य जीवन का मूलधार माना है । इसके अभाव में दाम्पत्य जीवन जर्जर होकर खोखला हो जाता है । उसमें पूर्णता नहीं आ पाती । जिसका सौन्दर्य-बोध विकृत होकर केवल जड़-देह की सीमा में सिमट कर कुंठित हो जाता है और प्रेम अपने प्रकृति-स्वरूप से हटकर वासना में रूपान्तरित हो जाता है उसे दाम्पत्य-जीवन का सच्चा सुख नहीं मिलता । स्वस्थ सौन्दर्य-बोध और परिष्कृत प्रेम के तट-बन्धों से होकर बहने वाला संयत दाम्पत्य जीवन ही सुखी और सम्पन्न हो पाता है । इसमें प्रेम की सूक्ष्मता होती है मांसलता नहीं, गम्भीरता होती है, उच्छृंखलता नहीं, संयम होता है, निरङ्कुशता नहीं, अलहड़ता होती है पर अश्लीलता नहीं ।

व्यक्ति के सौन्दर्य-बोध और उसकी प्रेमानुभूति में विकृति उस समय आती है, जब उसमें उत्कट वैयक्तिकता तथा संकुचित स्वार्थपरता की प्रबलता हो जाती है । इसी वैयक्तिकता और संकुचित स्वार्थपरता की भित्ति पर वासना का विस्तार होता है, जो प्रेम पर आवरण डाल कर उसके सत्स्वरूप को ढक देती है । वासना और उच्च साधना के सन्दर्भ में प्रेम को प्रायः दो कोटियों में रखा जाता है, एक है लौकिक तथा दूसरी पारलौकिक । तात्त्विक दृष्टि से प्रेम के ये दोनों स्वरूप एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । प्रेम का मौलिक स्वरूप अपने आप में अखण्ड होता है । उसका इहलौकिक और पारलौकिक भेद एक ही अग्नि-पिण्ड के दो स्फुरलिंग हैं । जैसे सोना खान से निकलने पर भी सोना होता है और तपा कर शुद्ध किये जाने पर भी सोना हो रहता है । केवल उपयोगिता की दृष्टि से उसकी दोनों अवस्थाओं में अन्तर आ जाता है -- एक अशुद्ध कहा जाता है दूसरा

शुद्ध । उसी प्रकार जो प्रेम गर्हित वासना की पंकिलता में सना होता है वह राजसी और तामसी कोटि का हो जाता है और जो वासना से ऊपर उठकर सात्विकता से ओत-प्रोत हो जाता है, वह उच्च कोटि का प्रेम माना जाता है । 'प्रसाद' ने प्रेम के इन सभी स्तरों की ओर संकेत करते हुए उसके सात्विक स्वरूप को वरेण्य माना है जो आत्म-त्याग पर आधारित उदारता से ओत-प्रोत है, "प्रेम महान् है, प्रेम उदार है । प्रेमियों को भी वह उदार और महान बनाता है । प्रेम का मुख्य अर्थ है आत्म त्याग" श्रद्धा का प्रेम सात्विक कोटि का है इड़ा का राजसी तथा मनु का तामसी कोटि का ।

वाग्मना भी एक सीमा तक प्रेम का पूरक बनकर आती है । शारीरिक मिलन में मानसिक आग्रह का भी बहुत बड़ा हाथ होता है । जिस प्रकार बीज को विकसित और पल्लवित होने के लिए, प्रकाश, जल, वायु, मिट्टी आदि मौसमिक उपादानों की आवश्यकता पड़ती है और इनके अभाव में बीज का समुचित विकास नहीं हो पाता, उसी प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में प्रेमरूपी बीज के पल्लवन और संवर्धन के लिए शारीरिक आवश्यकताओं तथा ऐन्द्रिक उपलब्धियों की आवश्यकता पड़ती है । दैहिक सम्भावनाओं के माध्यम से ही प्रेम का प्रकाशन सम्भव होता है और अनुभूतियों के सान्निध्य से उसमें गहराई आती है । लेकिन जब यही वासना वैयक्तिकता की अतिशयता से रूढ़ होकर ममत्व मूलक आसक्ति तथा गर्हित मोगवाद की दिशा में झुड़ जाती है तब उसकी सीमा सात्विक प्रेम की सीमा से पृथक् हो जाती है और दोनों की अपनी अलग अलग सीमाएं हो जाती हैं । वासना विस्तार चाहती है, प्रेम घनत्व चाहता है । वासना अपने विस्तार में उथली और अल्पजीवी होती है, प्रेम अपने घनत्व में अधिक गहरा और दीर्घजीवी होता है । वासना का झुकाव सामान्य की ओर होता है, प्रेम का विशेष की ओर । किसी भी स्त्री के वाह्यस्वरूप पर आसक्त हो जाना वासना है और स्त्री-विशेष के प्रति अनुरक्ति तथा आत्मीयता की गहरी अनुभूति प्रेम है । वासना अवस्था-विशेष का उफान है तो प्रेम आजीवन स्वभाव की स्करसंधारा है । जिस प्रकार बरसात की समाप्ति के साथ-साथ बाढ़ का उफान दब जाता है, उसी प्रकार अवस्थाविशेष की समाप्ति के साथ वासना का वेग भी शमित हो जाता है

वासना अधोगामी होती है, प्रेम ऊर्ध्वगामी होता है । वासना आत्म-भोग में पलती है, प्रेम आत्मोत्सर्ग में जीता है । वासना केवल शरीर को लेकर जीती है , लेकिन प्रेम शरीर के साथ-साथ हृदय की भी मांग करता है । स्वार्थ-सम्पृक्त वासना काम-बुद्धि का वह बाढ़ है जो अपने पीछे पश्चात्ताप, ग्लानि और खिन्नता का कीवड़ छोड़ जाती है, और प्रेम सहज तृप्ति जन्य संतोष का वह सागर है, जो अपने तट पर ^{शान्ति के} मोती बिखेर जाता है । वासना का केन्द्र केवल शरीर है, प्रेम का आत्मा । एक केवल रूपजन्य है, दूसरा गुण-सम्पूत । रूप और गुण के इसी आधार पर प्रसाद जी ने वासना और प्रेम के अन्तर को स्पष्ट किया है --

‘ यह जो केवल रूपजन्य है, मोह न उसका स्पर्धी है
यही व्यक्तिगत होता है, पर प्रेम उदार अनंत अहो,
उसमें इसमें शैल और गरिमा का सा ब्रह्म अन्तर है ।’^१

सात्त्विक प्रेम की प्राप्ति तभी हो सकती है जब हम शरीर में जीवित रहते हुए भी अपनी दृष्टि देही (आत्मा) पर रक्के ।

सम्बन्ध और साहचर्य की दृष्टि से भी प्रेम के कई स्तर हो जाते हैं, जिन्हें मोटे तौर पर तीन कोटियों में रखा जा सकता है --

(१) श्रद्धा ।

(२) स्नेह ।

(३) सत्य भाव ।

अपने से बड़ों के प्रति पूज्यभाव रखते हुए उनके सद्गुणों के सम्मुख झुकने के प्रेम-भाव को ‘श्रद्धा’ कहते हैं, इसी का सघन स्वरूप भक्ति है । अपनों से छोटों के प्रति प्यार-दुलार भरा प्रेम-भाव स्नेह है और अपने बराबर वालों के साथ जो प्रेम-भाव रखा जाता है उसे सत्यभाव कहते हैं, ‘प्रणय’ इसी का स्वरूप है जो दाम्पत्य जीवन की घुरी होता है ।

प्रणय-प्रेम के प्रसंग में प्रेम की कई अवस्थायें हो जाती हैं, जिनमें निम्नांकित अवस्थायें प्रमुख हैं :-

- (१) पूर्व प्रेम (अविवाहित)
- (२) विवाहित प्रेम (दाम्पत्य-जीवन)
- (३) विधुर प्रेम (वियोग जन्य परिस्थितियों में पला हुआ प्रेम)
- (४) पुनर्मिलन के पश्चात् का प्रेम ।

पूर्वप्रेम शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं के आग्रह का परिणाम है । यह विवाह की पूर्वावस्था में रूप-चर्चा तथा गुण-श्रवण आदि के आकर्षण अथवा प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा उद्भूत होकर प्रिय के प्रति रागात्मक हो उठता है । इसमें माहवयुर्य-सुख की ललक पाई जाती है, जिसमें मानसिकता की अपेक्षा शारीरिकता अधिक होती है । संस्कार की दृष्टि से इस प्रेम की भी दो कोटियां हो जाती हैं -- उत्कृष्ट और निकृष्ट । एक का लक्ष्य शरीर के साथ भावात्मक सम्बन्ध की प्राप्ति होता है, जिसमें अनुभूति की प्रधानता होती है । दूसरे का लक्ष्य केवल शरीर होता है जिसमें कामुकता प्रधान होती है । प्रसाद-साहित्य में चम्पा, मधूलिका, स्कन्द, देवसेना, चाणक्य, कल्याणी, मालविका आदि का प्रेम उत्कृष्ट अविवाहित प्रेम की श्रेणी में आता है । आंधी कहानी में सिंहली बौद्धमिथु प्रज्ञा सारथी, कंकाल का अविवाहित देवनिरंजन, जैसे पात्र अविवाहित प्रेम के निकृष्ट रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

जब अविवाहित प्रेम विवाहित होकर दाम्पत्य-जीवन की घुरी बन जाता है तब उस पर व्यक्तिगत स्वच्छन्दता के साथ-साथ उत्तरदायित्व का भार भी आ जाता है । इसलिए इसमें शारीरिकता के स्थान पर मानसिकता की प्रधानता होती जाती है । इसमें पति-पत्नी दोनों की काम-वासना का उदात्तीकरण हो जाता है । दोनों में से यदि एक भी अपनी काम-भावना का उदात्तीकरण नहीं कर पाता तो दाम्पत्य-जीवन भी धीरे-धीरे ढीजने लगता है ।

संयोग-सुख के बाद वियोग की घड़ी आती है, जिसमें विवाहित प्रेम का पूर्ण परिष्कार हो जाता है । जिस प्रकार अग्नि में तप कर स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार वियोगाग्नि में तपने पर प्रेम में भी कुन्दन या निखार आ जाता है । प्रेम का यही स्वरूप ग्राह्य है । भारतीय वाङ्मय में इसी प्रेम को वरेण्य माना गया है । वियोग के बाद होने वाले संयोग में वासना का अंश नहीं

रहता, वह लौकिक से पारलौकिक, शारीरिक से आत्मिक हो जाता है। 'कामायनी' में हमें प्रणय-प्रेम की इन सभी अवस्थाओं का चित्र मिल जाता है। विवाह के पूर्व श्रद्धा और मनु का एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होने का आधार करुणा और आकर्षण है। श्रद्धा मनु की दयनीय दशा पर दयार्द्र होकर उन्हें आत्मनमर्पण करती है। उसका मोला समर्पण भावुकता प्रधान है, उसमें वासना का विष नहीं है। मनु श्रद्धा के सहज सौन्दर्य पर रीझ कर उसके प्रति आकर्षित होते हैं। इस प्रकार दोनों अतिथि और अतिथेय के रूप में रहते हुए भी एक-दूसरे के समीप आते जाते हैं जिसकी अन्तिम परिणति दाम्पत्य-जीवन में होती है। गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेश करने पर प्रेम का स्वरूप परिवर्तित होने लगता है। उसकी स्वच्छन्दता पर दायित्व का अंकुश लग जाता है। श्रद्धा और मनु अब केवल अतिथि तथा अतिथेय के रूप में न रहकर पति-पत्नी के रूप में जीवन का प्रारम्भ करते हैं, यहीं से उनके जीवन का नया क्षितिज-पट खुलता है। यहाँ पर कवि ने श्रद्धा और मनु के माध्यम से विवाहित प्रेम की दो विधाओं की ओर संकेत किया है, पहली विधा है -- अनुभूति परक संयत, शान्त और मानसिक स्तर की, दूसरी विधा है -- वापना मूलक उर्ध्वल, उत्पन्न और शारीरिक स्तर की। पहली का प्रतिनिधित्व 'श्रद्धा' करती है, दूसरी का 'मनु'। मनु की उर्ध्वलता और स्थूल ऐन्द्रिकता इस सीमा तक पहुँच जाती है कि वे अपनी ही आने वाली सन्तान को प्रेम बांटने का प्रकार समझने लगते हैं --

‘यह द्वैत ओर यह द्विविधा तो
है प्रेम बांटने का प्रकार’ १

मनु की घोर ऐन्द्रिकता के फलस्वरूप उनका दाम्पत्य-जीवन विषाक्त हो उठता है, और वैचारिक विरोध के कारण दोनों एक-दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। यहीं से विधुर प्रेम का प्रारम्भ होता है। 'कामायनी' में इस अवस्था का बड़ा ही हृदयस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया गया है। विरहावस्था में प्रिय की स्मृति और भी घनीभूत हो जाती है। जिस प्रकार सूर्योदय के समय बाहर फूट पड़ने वाली किरणें सायंकाल हुकने वाले सूर्य में धीरे-धीरे समाते जाती हैं, उसी प्रकार संयोग, सुख के चित्र वियोग की स्कान्त वेला में विरही के अन्तस्तल में समा कर अनेक भाव-चित्रों

कीसृष्टि करने लगते हैं । इन चित्रों में सोकर विधुर व्यक्ति अतीत के सपने देखा करता है । मनु द्वारा ठुकराई गई, अतीत की स्मृतियों में सोई, विरह-विधुरा श्रद्धा का एक चित्र देखिए --

कामायनी कुसुम वधुधा पर पड़ी, न वह मकरन्द रहा,
 एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ ।
 वह प्रभात का होन क्ला शशि, किरन कहाँ चांदनी रही,
 वह सन्ध्या थी, रवि, शशि, तारा, ये अब कोई नहीं जहाँ ।
 जहाँ तामरस इन्दीवर या सित शतदल हैं मुरझाये,
 अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुग जाये,
 वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं,
 शिशिर कला की क्षीण-प्रोत वह जो हिम-तल में जम जाये ।

+

+

+

मानस का स्मृति-शतदल खिलता, करते विन्दु मरन्द घने,
 मोती कठिन मारदर्शी ये, इनमें कितने चित्र बने,
 आंसू सरल-तरल विद्युत्क्षण, नयनालोक विरह-तम में
 प्राण पथिक यह संवल लेकर लगा कल्पना जग रचने ।^१

‘आंसू’ में विधुर प्रेम के अनेक सुन्दर भाव-चित्र मिल जाते हैं । ‘आंसू’ कवि के
 मरै जीवन के प्रणय-प्रसंगों के टूटे सुख-स्वप्नों की मधुर स्मृतियों का एक संघात
 है । जैसे दो जलद सण्ड आपस में टकराने पर धनधौष कर बिजली की तड़प के
 साथ बरस पड़ते हैं, उसी प्रकार कवि के दो जीवन-सण्ड (संयोग-वियोग) आपस
 में टकरा कर ‘आंसू’ रूप में बरस पड़े हैं --

‘फंफहा मकोर गर्जन है

बिजली है नीरद माला ।

पाकर इस शून्य हृदय को,

सबने बा धेरा ढाला ।’^२

१- कामायनी (पृ० १७३, १७८)

२- आंसू (पृ० १५)

जीवन में विषमता तब आती है, जब उसकी समरसता समाप्त हो जाती है । समरसता का अभाव ही सम्बन्ध-विच्छेद का कारण होता है । वियोगजन्य परिस्थितियों में पड़कर व्यक्ति अन्तर्मुखी हो जाता है और उस समय वह तटस्थ भाव से अपने अतीत का पुनर्निरीक्षण करने लगता है । आत्म-निरीक्षण की इसी अवधि में वह अपनी भूलों पर भी विचार करता है । जिसके फलस्वरूप उसे एक ओर अपनी भूलों पर पाश्चात्ताप होता है और दूसरी ओर सहिष्णुता के साथ-साथ संयम का भाव घनीभूत होता जाता है । 'श्रद्धा' और 'मनु' भी एक दूसरे से बिछुड़ कर आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने-आप को टटोल कर स्वस्थ संयोग-मुख का प्रवर्तन करते हैं । उनका प्रेम, विरह तथा निर्वेद की अग्नि में तप कर निखर उठता है । इसी तपे हुए कुद्ध प्रेम पर उस संसृति सेवा की नींव पड़ती है, जिसमें अपना सब कुछ सबका हो जाता है और सभी अपने हो जाते हैं, सारा भेदभेद मिट कर अमेद-अनुभूति में स्फुरस हो जाता है ।

स्थायी प्रेम के लिए मुख्यतः दो बातें आवश्यक होती हैं -- पहली है, रागात्मकता और दूसरी है अनन्यता । इन दोनों के सहज सामन्जस्य पर ही आदर्श प्रेम की प्रतिष्ठा होती है । इन दोनों में से एक का भी अभाव प्रेम को स्कांगी बना देता है । यदि प्रेम में केवल रागात्मकता हो, अनन्यता न हो तो वह प्रेम स्कनिष्ठ नहीं हो सकता, उसमें गम्भीरता और स्थिरता के अभाव में मधुकरी वृत्ति आ जाती है । फलतः ऐसा प्रेम वासना की लहरों पर तैरने वाला बुलबुला बन कर रह जाता है, अनुभूतियों की गहराई में पैठकर मौती नहीं बना पाता । दूसरी ओर यदि प्रेम में अनन्यता हो, रागात्मकता न हो तो ऐसा प्रेम शुष्क होकर निर्जीव हो जाता है, उसमें जीवन का सहज स्पन्दन नहीं रह जाता । प्रसाद जी ने इन दोनों पक्षों के समन्वय में ही प्रेम की पूर्णता मानी है --

न इतना फूलिख तरुवर , सुफल कौरी कली लेकर,
बिना मकरन्द के मधुकर नहीं गुंजार करते हैं ।
प्रसाद उसको न भूलो तुम, तुम्हारा जो कि प्रेमी हो,
न सज्जन हौंइते उसको जिसे स्वीकार करते हैं ।^१

प्रेम का यही आदर्श रूप है, जिसमें सरसता, श्रद्धा, विश्वास तथा सहज संवेदन-शीलता की शीतल छाया रहती है :-

‘ घने प्रेम- तरु तले ।

बैठ छांह लो भव-आत्म से तापित और जले ।

छाया है विश्वास की, श्रद्धा, सरिता कुल,

सिंची आंसुओं से मृदुल, है परागमय धूल ।

यहां कौन जो छले ॥’^१

प्रेम का एकांगी रूप स्नेह सम्बन्ध को एक पक्षीय बना देता है । विजया, मागन्धी, मनु जैसे पात्रों का प्रणय-सम्बन्ध इसीलिए अफ़ल रहा कि उनमें केवल रूप-लिप्सा जन्य असंयत रागात्मकता थी, अनन्यता नहीं। संयम, सन्तोष, और मानसिक स्थिरता के अभाव में उनकी सम्पूर्ण चेतना गह्रित भोगवाद में केन्द्रित हो गई । अनन्यता के अभाव में ही विजया का प्रेम भ्रम-कावात में पड़े पीपल के पत्ते की तरह अस्थिर बना रहता है, एक बार वह स्कन्द गुप्त की ओर आकर्षित होती है^२, लेकिन उसके प्रति वह स्कनिष्ठ नहीं हो पाती और उसका झुकाव चक्रपालित की ओर हो जाता है^३। वहां भी वह दृढ़ नहीं रह पाती और अन्त में मटार्क को आत्म समर्पण कर देती है^४। मटार्क के साथ परिणय हो जाने पर भी विजया को शान्ति नहीं मिलती, उसका जीवन प्यासा ही रह जाता है । वह भोग-विलास और ऐश्वर्य की चकाचौंध में अपने स्वरूप को भी भूल जाती है, उसे स्वयं अपने आप

१- स्कन्दगुप्त (पृ० ५५)

२- स्कन्द -- ‘ ठहरौ देवियो । स्कन्द के जीवित रहते स्त्रियों को शस्त्र नहीं चलाना पड़ेगा । विजयम्

विजया-- (फांककर) आहा ! कैसी मयानक और सुन्दर मूर्ति है । + +

मुझे तो आज तक किसी को देखकर हारना नहीं पड़ा । हां, स्कन्द युवराज के सामने मन ढीला हुआ ।’

-- स्कन्द गुप्त (पृ० ५६, ५१)

३- विजया -- परन्तु राजकुमारी ! इस उद्यम दृष्टि से चक्रपालित क्या पुरुष नहीं है ? है अवश्य, वीर हृदय है, प्रशस्त वक्ता है, उदार मुख-मण्डल है ।’ --- स्कन्द गुप्त (पृ० ५३)

४- विजया --‘ परन्तु मैंने मटार्क को वरण किया है ।’ --स्कन्द गुप्त (पृ० ८२)

पर विश्वास नहीं रह जाता । उसका चारित्रिक पतन उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, जब वह धन का प्रलोभन देकर स्कन्द को अपने भोगविलास का साधन बनाने की लालसा से उसके समक्ष निर्लज्जता पूर्वक यह घृणित प्रस्ताव रखती है -- 'आओ हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनंद लो + + + यह मरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है । उन्मुक्त आकाश के नील नीरद मण्डल में दो विजलियों के समान क्रीड़ा करते हम लोग तिरोहित हो जायें और उप क्रीड़ा में तीव्र आलोक हो जो हम लोगों के विलीन हो जाने पर भी जगत् की आँखों को थोड़े काल के लिए बन्द रखे । स्वर्ग की कल्पित अप्सरायें और इस लोक के अनन्त पुण्य के भागी जीव भी जिस सुख को देखकर आश्चर्य चकित हों, वही मादक सुख, घोर आनन्द, विराट विनोद, हम लोगों का आलिंगन करके धन्य हो जायें ।' विजया के इस असंयत प्रेम की परिणति उसकी आत्म-हत्या में होती है ।

मागन्धी का प्रेम भी अनन्यता के अभाव में उर्ध्वमुख होकर अनेक दिशाओं में फटका रह जाता है, उसमें स्थायित्व नहीं आ पाता । गौतम की ओर से निराश होकर वह उदयन को अपनी वासना-तृप्ति का आधार बनाती है, लेकिन वहाँ भी उसे तृप्ति नहीं मिलती, अन्त में वह वारविलासिनी बनकर डाकू शैलेन्द्र को अपना प्यासा जीवन सौंप देती है । वहाँ भी उसकी रूपरस की प्यास नहीं बुझती और अन्त में डाकू शैलेन्द्र द्वारा विश्वासघात किये जाने पर वह जीवन के प्रति बिल्कुल उदासीन होकर सन्यासिनी बन जाती है^१ ।

मनु का दाम्पत्य जीवन भी हमीलिए विषाक्त हो उठा कि उनकी रागात्मकता अनियंत्रित होकर उद्दाम वासना में रूपान्तरित हो गई थी । उन्होंने 'प्रणय-प्रकाश' के स्थान पर केवल 'ज्वलनशील वासना' को ही ग्रहण किया था --

‘तुम अति अबोध अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके,

परिणय जिसको पूरा करता, उससे तुम अपने आप रुके,

कुछ मेरा हो यह राग-भाव संकुचित पूर्णता है अज्ञान ।

१- स्कन्द गुप्त (पृ० १४२, १४३)

२- श्यामा (मागन्धी) नहीं देवि! अब मैं आपकी सेवा करूँगी, राज-मुख में बहुत भोग चुकी । अब मुझे राजकुमार विरुद्धक का सिंहासन भी अभीष्ट नहीं है, मैं तो शैलेन्द्र डाकू को चाहती थी ।

-- अज्ञात शब्द (पृ० १४५)

तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय- प्रकाश न ग्रहण किया^१
 हां, जलन वासना को जीवनम्रम- तम में पहला स्थान दिया ।
 उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि स्वस्थ प्रेम- सम्बन्ध के लिए रागात्मकताके
 साथ साथ अनन्यता भी आवश्यक है । अनन्यता के अभाव में प्रेम उच्छ्वसल होकर
 विलासी हो जाता है, और विलास-पूर्ण प्रेम पतन का कारण होता है । प्रसाद-
 साहित्य में मागन्धी, विजया, अनंतदेवी, रामगुप्त, देवनिरंजन, सुखदेव चौबे,
 राजदु^{अमरी}अरी, अनवरी, श्यामलाल, महन्थ, फिलिप्स, वाथम आदि उच्छ्वसल प्रेम
 के कारण ही दुःखद परिस्थितियों में पड़कर अपनी आन्तरिक शान्ति खो बैठते
 हैं ।

प्रसाद जी संयम और शान्त प्रेम के पक्षपाती हैं, प्रेम की उच्छ्वसलता
 उन्हें अभीष्ट नहीं । स्वच्छन्द प्रेम के प्रचारक 'आनन्द' को लता के परिणय-
 सूत्र में बांधकर, निर्बन्ध प्रेम-व्यापार करने वाली सालवती का हाथ अमय कुमार
 के हाथ में दे कर उन्होंने संयत प्रेम की अनिवार्यता का ही समर्थन किया है ।

अनन्य, पर जड़ प्रेम का परिचय हमें प्रसाद की 'सहयोग' नामक कहानी
 में मिल जाता है जिसमें अनन्यता है, पर मरलता नहीं, सेवा-भाव है पर हृदय का
 लगाव नहीं, शुष्कता की घुटन है रागमूलक आह्लाद नहीं, श्मशान की नीरवता
 है सन्तोष की सहज शान्ति नहीं ।

सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए, स्वस्थ मौन्दर्य-बोध और संयमपूर्ण
 निःस्वार्थ प्रेम के साथ-साथ, कुछ अन्य आधार भी अपेक्षित हैं, जिनमें अधोलिखित
 प्रमुख हैं --

- (१) सांस्कृतिक तथा मानसिक स्तर की समानता ।
- (२) सहिष्णुता तथा समझौतावादी दृष्टिकोण ।
- (३) सेवा और समर्पण की भावना ।
- (४) अटूट आस्था तथा
- (५) आर्थिक सम्पन्नता ।

दाम्पत्य-जीवन के स्वस्थ विकास में सांस्कृतिक तथा मानसिक स्तर की समानता का एक महत्वपूर्ण स्थान है । संस्कार मानसिक रचना का आधार होता है और मानसिक रचना के अनुसार ही सांस्कृतिक चेतना का विकास होता है । जिस जाति की मानसिक रचना का स्तर जिस कोटि का होता है, उसकी सांस्कृतिक चेतना भी उसी कोटि की होती है, और उसकी सांस्कृतिक परम्पराओं का स्वरूप भी उसी ढंग का होता है । चूंकि देश, काल, तथा परिस्थितियों के अनुसार संस्कारगत विशिष्टताओं में अन्तर आता जाता है, इसलिए प्रत्येक जाति की मानसिक रचना तथा उसकी सांस्कृतिक चेतना का स्तर भी भिन्न - भिन्न कोटि का होता है । यही कारण है कि दो भिन्न संस्कृतियों में पले हुए व्यक्तियों का सांस्कृतिक स्तर तथा उनका जीवन-दर्शन एक-दूसरे से भिन्न होता है, जिसके फलस्वरूप, कुछ अपवादों को छोड़कर, उनके बीच एक प्रकार की दूरी बनी रह जाती है । उनमें मानसिक ऐक्य नहीं हो पाता । अतः दाम्पत्य-प्रेम की स्थिरता के लिए केवल शारीरिक जामता ही नहीं बल्कि बौद्धिक प्रौढ़ता के साथ-साथ दोनों का समान सांस्कृतिक स्तर भी आवश्यक है । इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य की दृष्टि में रखकर भारतीय विचारकों ने स्नेह-सम्बन्ध के लिए समान मानसिक स्तर पर बल देते हुए चिन्तन, मनन, एवं बौद्धिक स्तर की समानता के साथ-साथ स्वभाव-साम्य को आवश्यक माना है^१ । प्रसाद जी ने भी स्थायी प्रेम के लिए आन्तरिक समता को स्वीकार किया है । 'एक घूंट' में बनलता कहती है --^२ प्रेम की उपासना का एक केन्द्र होना चाहिए । + + प्यार करने के लिए हृदय का साम्य चाहिए, अन्तर की समता चाहिए ।^३ मानसिक समता तथा सांस्कृतिक समानता की उपेक्षा कर, केवल रूपाकर्षण के आवेश में प्रणय-सूत्र भँबने वाला दाम्पत्य-जीवन दीर्घजीवी नहीं होता । शारीरिक सौकर्य ढलने के साथ-साथ उसके प्रेम का रंग भी उतरने लगता है और प्रेम के अभाव में वह निर्जीव होकर असमय में ही अदालत की देहली पर अपना दम तोड़ देता है ।

१- 'यस्य चित्तं वाचित्तं निभृतं निभृतेन वा,
प्रज्ञा प्रज्ञा समं तयोर्मैत्री न जीर्यति ।'

-- नीतिशतक

२- एक घूंट (पृ० २६)

प्रसाद-साहित्य में विजया अनंतदेवी, मागन्धी, राजक्रिशीरी, मनु आदि पात्रों के दाम्पत्य-जीवन की असफलता का एक कारण यह भी था कि उनके मानसिक स्तर में समानता नहीं थी। उनकी रुचियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की थीं। कोई स्वत्व का भूखा था तो कोई रूपलिप्सा का प्यासा, किसी ने भोगविलास को जीवन का चरम लक्ष्य मान लिया था, तो किसी ने अधिकार-प्राप्ति को साधना का केन्द्रबिन्दु।

कुछ आलोचकों ने मनु और इड़ा में स्वभाव-साम्य देखने की मूल की है और इसके आधार पर यह सिद्ध करना चाहा है कि दाम्पत्य-सुख के लिए स्वभाव-साम्य आवश्यक नहीं है। लेकिन यह निर्णय तर्कसंगत नहीं है। वस्तुतः मनु और इड़ा के विचारों में आंशिक साम्य था, और यह आंशिक साम्य परिस्थितिजन्य था, स्वभावजन्य नहीं। मनु की आश्रय की खोज थी और इड़ा को अपने उजड़े राज्य के लिए एक कुशल प्रबन्धक की। यों मौलिक दृष्टि से दोनों एक-दूसरे से भिन्न थे, उनमें गहरा सैद्धान्तिक विरोध भी था। मनु एक स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासक था, इड़ा बुद्धिवाद का समर्थन करती हुई भी जड़वाद और निरंकुशता से घृणा करती थी। फलतः दोनों में वैचारिक विरोध बना रहा।

रुचि-वैभिन्न्य तथा स्वभाव-साम्य के अभाव में दाम्पत्य-जीवन कितना कट्टर हो जाता है, इसकी मांकी हमें 'कामना' नामक नाटक में मिल जाती है। प्रणय-प्रसंग की दृष्टि से इसमें कई जोड़े बनते-बिगड़ते हैं। पहला जोड़ा कामना और विलास का है, दोनों का सांस्कृतिक और मानसिक स्तर एक-दूसरे से भिन्न है। कामना फूलों के द्वीप में रहने वाली शीतल किरणों की डोरी से नीचे उतारो गई तारा की सन्तान, और उस द्वीप की राजकुमारी है। उसके व्यक्तित्व का निर्माण शिशु की सहज सरलता और उदारता के उपकरणों से हुआ है, जो दया और करुणा के भावों से ओत-प्रोत है। विलास अभावग्रस्त, प्रदेश का एक निर्वासित नवयुवक है। वह विलासी, मधम, महत्वाकांक्षी और मधु-लोलुप है। वह सहज लव्व विलास-सुखों का संवय कर उनके अवाध भोग में विश्वास करता है। उसमें सरलता के स्थान पर कुटिलता है और दया के स्थान पर क्रूरता। मानसिक स्तर की यह भिन्नता दोनों में आन्तरिक संज्ञा नहीं आने देती, दोनों एक-दूसरे से छुल-मिल नहीं पाते। उनमें एक दूरी बनी रह जाती है। विलास सोचता है --

‘कामना एक गतिपूर्ण और सरल हृदय की स्त्री है । रंगीन तो है पर निरीह इन्द्रधनुष के समान गदगद होकर विलीन होने वाली है । तेज तो है, पर वेदी के धधकने से जलने वाली ज्वाला है । मैं आपको अपना हृदय समर्पण नहीं कर सकता । सुभ्र को चाहिए बिजली के समान वज्र रेखाओं का सृजन करने वाली, आँखों को चौंधिया देने वाली तीव्र और विचित्र ज्वाला । जिस हृदय में ज्वालामुखी धधकती हो, जिसे ईधन का काम न हो, वही दुर्दमनीय तेज ज्वाला । मैं उसी का अनुगत हूँगा । यह हृदय उसी का लोहा मानेगा ।’ कामना भी विलास से विलास की स्थिति का अनुभव करती है । वह विलास की कूरता से खिन्न होकर राजरानी के पद से हट जाती है । अन्ततोगत्वा सांस्कृतिक तथा मानसिक स्तर की भिन्नता के फलस्वरूप कामना और विलास का जोड़ा टूट जाता है । कामना, मानसिक स्तर की दृष्टि से समान, अपनी रुचि तथा स्वभाव से साम्य रखने वाले ‘सन्तोष’ का वरण कर शान्ति की प्राप्ति करती है और विलास अपने समान मानसिक स्तर वाली कूरस्वभावा, स्वर्ण की भूखी, तथा विलास की ‘प्यासी लालसा’ को अपना कर सन्तुष्ट हो जाता है । इस प्रकार दो नये जोड़े बन जाते हैं -- एक लालसा और विलास का, दूसरा कामना और सन्तोष का । तीसरा जोड़ा लीला और विनोद का है, जो मानसिक विकास की दृष्टि से लगभग समान स्तर का है । अतः वह भी अपने आप में सन्तुष्ट है । विलासीराम गुप्त के साथ संयमशीला ध्रुवस्वामिनी के सम्बन्ध-विच्छेद का प्रमुख कारण जीवन के प्रति दोनों का भिन्न दृष्टिकोण ही रहा है । केवल मावावेश में आकर वासुकी का वरण करने वाली यादवी ‘सरमा’ को भी बाद में अपनी भूल का भान होता है, वह पश्चात्ताप करती हुई कहती है -- ‘हा ! मैं कैसे भ्रम में थी ? विषम को सम करना चाहती थी जो मेरी सामर्थ्य के बाहर था । स्नेह से मैं सर्प को अपनाना चाहती थी किन्तु उसने अपनी कुटिलता न छोड़ी । बस, अब यह जातीय अपमान मैं सहन नहीं कर सकती । मनसा ! मैं जाती हूँ । वासुकी से कह देना कि यादवी सरमा अपने पुत्र को साथ ले गई । मैं अपने सजातियों के चरण सिर पर धारण करूँगी किन्तु इन हृदय-हीन बर्बरों का सिंहासन भी पैरों से ठुकरा दूँगी ।’^२

१- कामना (पृ०४७)

२- जनमेजय का नाग यज्ञ (पृ०६)

दो विभिन्न संस्कृतियों के बीच पले हुए व्यक्तियों के सांस्कृतिक और मानसिक स्तर-भेद को शैला तथा तितली के जीवन-दर्शनों में देखा जा सकता है। तितली भारतीय संस्कृति के उस स्वस्थ वातावरण में पली हुई है जहाँ सत्य, शान्ति और सेवा-भाव की शिक्षा मिली है। वह भोग-विलास को जीवन का लक्ष्य न मान कर त्याग और तपस्या को उसका साध्य मानती है। उसके लिए जीवन समर्पण की वस्तु है, ग्रहण की नहीं। इसीलिए वह निःस्वार्थ भाव से मधुबन को आत्मसमर्पण कर देती है, और जीवनपर्यन्त स्थितिस्थ गाव से उगका निर्वाह करती है। दूसरी ओर शैला है जो वाश्चात्य वातावरण में पली हुई एक स्वेच्छाचारिणी रमणी है। वह प्रेम के पक्ष में चुनाव करती है, आत्म-समर्पण नहीं। शैला स्वयं आत्मनिर्भर होकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को कायम रखना चाहती है। इन्द्रदेव से वह अपने मन्तव्यों को स्पष्ट करती हुई कहती है -- 'हम लोगों के पश्चिमी जीवन का यह संस्कार है कि व्यक्ति को स्वावलम्बन पर खड़े होना चाहिए। तुम्हारे भारतीय हृदय में जो कोटिम्बिक कोमलता में पला है, परस्पर सहानुभूति की बड़ी आशाएं, परम्परागत संस्कृति के कारण बलवती रहती हैं।' इसके विपरीत भारतीय नारी का वह आदर्श रूप है जो पति के व्यक्तित्व में अपना व्यक्तित्व मिलाकर एकाकार हो जाना चाहती है। पति से पृथक् वह अपना कोई अस्तित्व नहीं मानती पति ही उसका देवता, देवालय और पूजा सब कुछ होता है। वह पति के बाहर नहीं, भीतर फाँक कर देखती है। उसके लिए शरीर वासना, तृप्ति का माधन नहीं, आन्तरिक विकास का माध्यम होता है। तितली अपनी निःस्वार्थ सेवा और समर्पण के बल पर जिस शान्ति, संतोष और संयमपूर्ण ढंग से अपने उत्तरदायित्वों का पालन करती हुई दाम्पत्य-जीवन के आदर्श की रक्षा कर लेती है, शैला वैसा नहीं कर पाती। वह स्वयं उस तथ्य को स्वीकार करती हुई कहती है -- 'यह गंवार लड़की अपनी वास्तविक स्थिति में कितनी सरलता से निर्वाह कर रही है? सो भी पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ, और मैं, मैंने अपना जीवन थोड़ा-सा काल्पनिक सुख पाने के लिए जैसे बेव दिया। उस दरिद्र भूतकाल ने मुझे सुख के लिए लोलुप बना दिया। क्या मैं

सबसे अधिक इन्द्रदेव को प्यार करती हूँ? मैं उतना ही कर सकती हूँ, जितना मधुबन के लिए तितली कर रही है? उसके भीतर से जैसे किसी ने कहा 'ना' ^१।

तितली और मधुबन में सांस्कृतिक तथा मानसिक दृष्टि से आन्तरिक साम्य है। दोनों एक ही सांस्कृतिक वातावरण में पले हैं, और जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में समानता भी है, यही कारण है कि उनके स्नेह-सम्बन्ध में एकसूत्रता है। जीवन के संक्रांति-मंकावात में एक-दूसरे से बिकुड़ जाने पर भी उनके स्नेह-सम्बन्ध की कड़ी टूटने नहीं पाती, उनमें एक-दूसरे के प्रति आस्था बनी रहता है, जीवन की विषम परिस्थितियों के बीच भी तितली मधुबन के प्रति स्कनिष्ठ बनी रहती है, उसे स्वप्न में भी पर पुरुष का ध्यान नहीं जाता। मधुबन भी परिस्थितियों की मार से जर्जर होने के बावजूद अपनी चारित्रिक दृढ़ता में कमी नहीं आने देता, और अन्त में तितली के निःस्वार्थ प्रेम का आकर्षण उसे तितली के पास खींच लाता है। दूसरी ओर शैला और इन्द्रदेव सांस्कृतिक तथा मानसिक स्तर की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न हैं। यही कारण है कि दोनों में बाहरी सम्बन्ध होते हुए भी आन्तरिक एकता का अभाव है। दोनों एक-दूसरे के प्रति स्कनिष्ठ भी नहीं रह पाते। शैला इन्द्रदेव के प्रति स्कनिष्ठ होकर, अन्त तक अपने सम्बन्ध का निर्वाह नहीं कर पाती, वह बाध की ओर झुक जाती है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि दाम्पत्य-जीवन के लिए सांस्कृतिक समानता और वैचारिक एकता भी उसका एक आवश्यक अंग है। स्वस्थ सम्बन्धों के लिए सहिष्णुता तथा समझौता वादी दृष्टिकोण की भी बड़ी अपेक्षा होती है। जिस प्रकार प्रत्येक फूल एक-दूसरे से भिन्न होता है, उसकी अपनी बनावट होती है, अपना रूप-रंग होता है, अपनी सुगन्ध होती है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व एक-दूसरे से भिन्न होता है, उसका अपना आकार-प्रकार होता है, अपना आचार-विचार होता है, अपनी रुचि-अरुचि होती है, और जीवन के प्रति अपना एक दृष्टिकोण होता है। इसलिए व्यक्ति, व्यक्ति के बीच विचार-वैभिन्न्य का होना स्वाभाविक है और जहाँ विचारों में भिन्नता होगी, वहाँ सभी लोग एक विषय पर एक मत नहीं हो सकते। जो बात एक को पसन्द होगी, वही दूसरे को नापसन्द हो सकती है। जो विषय एक को मान्य होगा

वह दूसरे को अमान्य हो सकता है। यही कारण है कि भिन्न - भिन्न दृष्टि-कोणों को लेकर सामाजिक संघर्षों की बराबर पृष्टि होती रहती है। दाम्पत्य जीवन भी इस अभिशाप से मुक्त नहीं है। हमें भी दो भिन्न व्यक्तित्व रखने वालों को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आना पड़ता है। पूरी स्तर्कता और आवधानीपूर्वक चुनाव करने के बाद भी बहुत सी ऐसी बातें शेष रह जाती हैं, जिस पर दोनों का वैचारिक विरोध बना रहता है। जब इस वैचारिक विरोध का कोई समुचित समाधान नहीं हो पाता, तब पति-पत्नी में शीत-युद्ध प्रारम्भ होजाता है, जो बढ़कर गृह कलह का रूप ले लेता है। दोनों में मन मुटाव पैदा हो जाता है और विवाह-विच्छेद न होने पर भी दोनों एक-दूसरे से खिंचे-खिंचे रहते हैं। उनका मानसिक सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। दाम्पत्य-जीवन को इस शीत युद्ध और कलह में बचाने तथा वैचारिक विरोधों को समाप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों समानहितों को दृष्टि में रखते हुए, सहिष्णु होकर एक-दूसरे के विचारों को सुनें, समझें और सहयोगपूर्वक उसमें सामन्जस्य बैठायें।

सहयोग तथा समझौते के अभाव में दाम्पत्य-जीवन कटु हो जाता है। यह कटुता उस समय और बढ़ जाती है जब दम्पति अधिकार-लोलुप होकर अधिकार के पीछे कर्तव्य की बिल्कुल उपेक्षा कर देते हैं।

अधिकार की मांग को लेकर समाज में अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध चलते रहे हैं।

आधुनिक युग की बदलती हुई परिस्थितियों ने इसके स्वरूप को और भी जटिल बना दिया है। समाज का प्रत्येक समुदाय और समुदाय का प्रत्येक सदस्य अधिकार के पीछे पागल है। नारी-जाति भी इससे अछूती नहीं। यह ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसका अधिकार मिलना चाहिए और उसे आगे आने के लिए समान अवसर भी प्रदान किया जाना चाहिए, लेकिन इसके साथ-साथ इस बात का भी ध्यान होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल 'उसका' अधिकार मिले 'दूसरे' का नहीं। दाम्पत्य के अनुसार उसे वही अधिकार दिया जाय जिसका वह अधिकारी हो। जहाँ पर इस वस्तुस्थिति का ध्यान में नहीं रखा जाता, वहाँ की व्यवस्था बड़ी ढीली-ढाली हो जाती है। स्त्री-पुरुषों के बीच अधिकारों की समस्या भी इसी प्रकार की है। आज स्त्री प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों से होड़ लेना चाहती है। व्यावहारिकता के बावजूद की दृष्टि से तो ये बातें बड़ी

बड़ी अच्छी लगती हैं, लेकिन अधिक गहराई तक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परस्पर पर ऐसा लगता है कि इस होड़ में कहीं पर कोई कमी रह गई है। स्त्रियों और पुरुषों के बीच अधिकार-सीमा के निर्धारण के समय प्रायः मूल यह होती है कि अधिकार और कार्य-क्षेत्र दोनों को एक ही में मिला दिया जाता है। जब कि 'अधिकार' और 'कार्य-क्षेत्र' दोनों अलग अलग चीजें हैं। अतः 'अधिकार' पर विचार करते समय 'कार्य-क्षेत्र' के चुनाव पर भी पृथक् दृष्टि से विचार होना चाहिए और रुचि, स्वभाव तथा सामर्थ्य के अनुरूप ही उसका विनियोजन भी होना चाहिए। क्योंकि 'अधिकार' की दृष्टि से तो सभी बराबर हैं और अपने अधिकार के अधिकारी भी हैं, लेकिन कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से सब के 'कार्य-क्षेत्र' भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, जिनका सीमांकन शारीरिक और मानसिक क्षमताओं द्वारा होता है। स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध में भी यही बात है। दोनों की मनोरचना एक-दूसरे से भिन्न होती है। पुरुष, पौरुष, पराक्रम, शौर्य, दृढ़ता और संकल्प-शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। स्त्री दया, माया, ममता, प्रेम, सहानुभूति, वात्सल्य और विश्वास आदि कोमल वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। स्त्री पुरुष के इसी शारीरिक और मानसिक - रचना भेद की दृष्टि में रखकर, महारानी एलिजाबेथ ने भी स्त्री-पुरुष के बीच दोनों के मौलिक अन्तर को स्वीकार किया था^१। प्रसाद साहित्य में अधिकार और कर्तव्य की ओर बड़ी सावधानी से संकेत किया गया है। कलना, शक्तिमती, अनन्त देवी, यादवीमरमा, मनु आदि पात्रों ने अधिकार की मांग उठाकर कर्तव्य को बिल्कुल मुला दिया था जिसके फलस्वरूप उनका दाम्पत्य-जीवन अन्तर्विरोधों की घुटन में घुटता ही रह गया। दीर्घकालायण के माध्यम से प्रसाद जी ने स्त्री पुरुष के प्राकृतिक भेदों को स्पष्ट करते हुए उनकी अधिकार-सीमा का निर्धारण

१- "They are, says Elizabeth, queen of Belgians, not equals, they are different biologically and mentally. Men have creative, women have interpretative brains."

-- Glimpses of the great,

by G.S. Viereck, Published in London."

बड़े तर्कपूर्ण ढंग से किया है, जो बड़ा ही व्यावहारिक और तर्कसंगत है । दीर्घकालायण अन्धी अधिकारलिप्सा के प्रति शक्तिमती को सावधान करते हुए कहता है -- स्त्रियों के संगठन में, उनके शारीरिक और प्राकृतिक विकास मेंही, एक परिवर्तन है -- जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती हैं, किन्तु अपने हृदय पर । वे अधिकार जमा सकती हैं उन मनुष्यों पर -- जिन्होंने समस्त विश्व पर अधिकार किया हो । वे मनुष्य पर राजरानी के समान स्वाधिपत्य रख सकती हैं, तब उन्हें इस दुरमिगन्धि की क्या आवश्यकता है -- जो केवल सदाचार और शान्ति को ही नहीं शिथिल करती किन्तु उच्छ्वसलता को भी आश्रय देती है ।

+ + + मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन-संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय है, उसका एक शीतल विश्राम है और वह स्नेह, सेवा, करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना के अमय वरद हस्त का आश्रय, मानव समाज की सारी वृत्तियों की कुंजी विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृति स्वरूपा स्त्रियों के सदाचारपूर्ण संह का शासन है । उसे झोड़कर असमर्थता, दुर्बलता प्रकट करके इस दौड़-धूप में क्यों पड़ते हो देवि । तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है और पुरुष की संकीर्ण । कठोरता का उदाहरण है पुरुष, और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति । पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है, जो अन्तर्जगत का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं । इसीलिए प्रकृति ने उस इतना सुन्दर और मनमोहक आवरण दिया है-- रमणी का रूप । संगठन और आधार भी वैसे ही है । उन्हें दुरुपयोग में न ले आओ । क्रूरता अनुकरणीय नहीं है उसे नारी-जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा^१ । त्यागमयी मल्लिका भी इसी तथ्य को स्वीकार करती हुई शक्तिमती को समझाती है -- चन्द्र-सूर्य, शीतल, ऊष्ण, क्रोध, करुणा, द्वेष, स्नेह का द्वन्द्व संसार का मनोहर दृश्य है । रानी । स्त्री और पुरुष भी उसी विलक्षण नाटक के अभिनेता हैं । स्त्रियों का कर्तव्य है कि पार्श्व-वृत्ति वाले क्रूर कर्मा पुरुषों को कोमल और करुणाप्लुत करें, कठोर पौरुष के अन्तर उन्हें जिस शिक्षा की आवश्यकता है -- उस स्नेह,

शीतलता, सहनशीलता और मदाचार का पाठ उन्हें स्त्रियों से ही सीखना होगा । हमारा यह कर्तव्य है । व्यर्थ स्वतन्त्रता और समानता का अहंकार करके उन अपने अधिकार से हमको वंचित न होना चाहिए ।^१

अधिकार-लिप्सा कठोरता को जन्म देती है और कठोरता की लू से स्नेह पुमन मुरझा कर निर्जीव हो जाता है, प्रेम का मधुमय प्रोत सूखकर मरुस्थली बन जाता है । यही कारण है कि केवल अधिकार चाहन वाले क्रूरकर्मा कठोर प्रकृति वाले व्यक्ति दाम्पत्य-सुख की स्निग्ध छाया से वंचित रह जाते हैं । वे न तो पत्नी को प्यार दे पाते हैं और न उसकी आस्था को प्राप्त कर पाते हैं । नारी में हृदय - पद्म प्रधान होता है । वह प्रेम, प्रोत्साहन, प्रशंसा और महानुभूति की भूखी होती है । वह अपना सब कुछ बलिदान कर सकती है, लेकिन पति का प्रेम किमी भी मृत्यु पर किमी को देना उसे स्वीकार्य नहीं । उसकी अपनी आवश्यकतायें और आकांक्षाएँ होती हैं , उसका अपना एक दृष्टिकोण होता है । वह पति का अखण्ड प्रेम और उसका साहचर्य सुख पाना चाहती है । मान-मनुहार का प्रेम-पुर्ण प्रसंग भी दाम्पत्य-जीवन का एक अंग है और इसकी पूर्ति के लिए साहचर्य-सुख आवश्यक हो जाता है । नारी का सहज सरल और मावुक हृदय जहाँ एक ओर पति के प्रेम का भूखा होता है, वहीं दूसरी ओर उसमें प्रिय से रुठने और रुठाने की चाह भी बनी रहती है । शंकराज द्वारा यह प्रश्न किये जाने पर कि -- 'तुम रुठी हुई-सी क्यों बोल रही हो ? कौमा बड़े ही करुण स्वर में कहती है -- 'रुठने का सुहाग मुझ मिला कब ?'

नारी के स्वाभिमान को उस समय सबसे अधिक आघात पहुँचता है, जब वह परिचितों के दाम्पत्य-सुख की तुलना में अपने दाम्पत्य-जीवन को उपेक्षित पाती है । स्त्रियाँ प्रायः अपने दाम्पत्य-सुख की तुलना परिचितों और निकट सम्पर्क में आने वालों के दाम्पत्य-जीवन से किया करती हैं । तुलना में अपने दाम्पत्य-सुख को घटकर या कर उन्हें ज़ोम होता है । बन-लता के जीवन में हमें इसकी स्पष्ट भाँकी मिल जाती है । फाड़ वाले और उसकी स्त्री के प्रेम-पुर्ण कलह तथा सम्पर्कते (मान-मनुहार) को देखकर उसे अपने दाम्पत्य-जीवन की कमी अखर जाती है । वह कहती है -- 'इसे कहते हैं फगड़ा और यह कितना सुखद है ? दोनों

१- अज्ञात शत्रु (पृ० १४८-१४९, १५०-१५२)

२- छवस्वामिनी (पृ० ३८)

एक-दूसरे को समझ कर जब समझौता करने के लिए, मनाने के लिए उत्सुक होते हैं तब जैसे र्वर्ग हंसने लगता है -- हाँ, इसी भीषण संसार में। मैं पागल हूँ, वेदना होती है। व्यथा कसकती है। प्यार के लिए। प्यार करने के लिए नहीं प्रेम पाने के लिए। विश्व की अमूल्य सम्पत्ति में क्या मेरा अंश नहीं। इन असफलताओं के पंकज में मन को बहलाने के लिए जीवन-यात्रा में थके हृदय के सन्तोष के लिए, कोई अवलम्बन नहीं।^१ दाम्पत्य-सुख निकट सम्पर्क का जितना भूखा होता है, उतना वैभव-विलास का नहीं। चम्पा के इस कथन में कितना सत्य है? वह महानाविक बुद्ध गुप्त से कहती है -- मुझ इस बन्दीगृह से मुक्त करो। अब तो वाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य, केवल तुम्हारे ही अधिकार में है। महानाविक। परन्तु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चम्पा के उपकुल में पण्य लाद कर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे। इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में -- तारिकाओं की मधुर ज्योति में, थिरकती थी। बुद्ध गुप्त। उस विजन अनन्त में जब माफ़ी सां जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम-तुम परिश्रम से थक कर पालों में शरीर लपेट कर, एक-दूसरे का मुँह देखते थे।^२

पति का असण्ड प्रेम पत्नी के जीवन का सबसे बड़ा सम्बल होता है। उसे प्राप्त कर वह जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी सारी कठिनाइयों के दुःख-दर्द को हँसते-हँसते उसी प्रकार फल लेती है, जिस प्रकार हवा से मरी हुई गेंद बार-बार की ठोकर खाकर भी ऊपर उठती और आगे बढ़ती जाती है। जिस नारी को यह सौभाग्य नहीं मिलता, उसका जीवन कुण्ठा की कारा में घुट-घुट कर अपना अन्त कर देता है।

जिस समय व्यक्ति अपने-आप को आवश्यकता से अधिक कार्यों में उलझा कर पत्नी को अपेक्षित समय नहीं दे पाता, और उसकी ओर से उदासीन होकर अन्यत्र अपने प्यार को लुढ़काने लगता है, उस समय पति की इस कृतघ्नता पर नारी का कोमल हृदय कराह उठता है। उसके जीवन की कड़ी टूट जाती है। पति के प्रेमाभाव से उसमें आत्म-हीनता की भावना घर कर जाती है। पति की उपेक्षा तथा उसके प्यार के अभाव में घुल घुल कर मिटने वाली अवृत्त नारी की तीन

१- एक घूंट (पृ० ३६)

२- आकाश दीप (पृ० १५)

प्रतिक्रियायें होती हैं । या तो वह कुण्ठा में घुट-घुट कर अपना अस्तित्व मिटा देती है या भंफावात में कांपती हुई लता के समान अपने प्रति प्रेम और सहानुभूति रखने वाले पार्श्ववर्ती आधार पर टिक जाती है, या पति से अपने अधिकार की मांग कर प्राप्त अधिकार सुख में अपने गुम को डुबाने लगती है । प्रसाद-साहित्य में हमें दाम्पत्य जीवन की इन सभी विकृतियों के चित्र मिल जाते हैं । श्री विजय कृष्ण की धर्मपत्नी - बहू जी पति की उपेक्षा और अ प्रेमाभाव के कारण छुल छुल कर संसार से विदा हो जाती है^१ । विलासी रामगुप्त द्वारा उपेक्षित होने पर ही ध्रुवस्वामिनी, अपने पति प्रेम और सहानुभूति रखने वाले चन्द्रगुप्त की ओर आकर्षित होती है । पति की निर्दयता पर उसका उपेक्षित जीवन चीत्कार कर उठता है -- 'मला में क्या कर सकूंगी ? मैं तो अपने ही प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती । मुझ पर राजा का कितना अनुरोध है, यह भी मैं आज तक न जान सकी । मैंने कभी उनका मधुर सम्भाषण सुना ही नहीं । विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहा^२ : दूसरी ओर अपने प्राणों की बाजी लगा कर, स्वामिमान की रक्षा करने वाले चन्द्रगुप्त के प्रति वह कृतज्ञता के भार से मुक्त कर, गद्गद कण्ठ से कहती है --

कुमार ! तुमने वही किया, जिसे मैं बचाती रही । तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भी भींगी जा रही हूँ ।^३

शक्तिमती और झुलना द्वारा अपने पतियों से अधिकार की मांग करने के पीछे पति-प्रेम के अभाव में उनके प्यासे जीवन की तीव्र प्रतिक्रिया ही काम करती रही है ।

मावों की कठोरता ऐन्द्रिकता को अपना कर स्थूल भोगवाद को अपना केन्द्र बिन्दु बना लेती है और ऐन्द्रिकता का अतिरेक दाम्पत्य-जीवन को घृणास्पद बना देता है । वस्तुतः विवाह द्वारा वासना का केन्द्र नहीं, दो व्यक्तियों के बीच

चलने वाला एक मधुर सम्भाषण है जिसमें स स्नेह, सहानुभूति, करुणा, विश्वास, १- अब सरकार प्रकाश्यरूप से उसके यहां जाने लगे । विलास- रजनी का प्रभात भी बुड़ीवाली के उपवन में कटता । कुल-मर्यादा, लौक-लाज और जमींदारी सब एक ओर और बुड़ी वाली अकेले । + + + बहू जी को अपने प्रणय के एकाधिपत्य पर पूर्ण विश्वास था । वह निष्क्रिय प्रतिरोध करने लगी । राजयक्ष्मा के मयानक आक्रमण से वह घुलने लगी । और सरकार वन-विहगिनी विलासिनी को स्वायत्त करने में दत्त चित्त हुए, धीरे बहू जी चल बसी । -- आकाश दीप (पृ० १३१)

२- ध्रुवस्वामिनी (पृ० १५)

३- ध्रुवस्वामिनी (पृ० ३३)

श्रद्धा आदि अनेक भाव-बांधों की एक सुन्दर समष्टि होती है । इसलिए हमें इस सम्भाषण को बड़ी भावधानी से चलाना चाहिए जिससे उसमें किसी प्रकार की नीरस्ता न आ सके । इस सम्भाषण का जो व्यक्ति जितनी ही सफलतापूर्वक चलाता है, उसी अनुपात में उसका दाम्पत्य-जीवन भी सुखी और सरस होता है । इस सम्भाषण की सरसता को स्थिर बनाये रखने के लिए दोनों को सदैव इस बात के लिए गवैष्ट रहना चाहिए कि ऐसी स्थिति न आने पाये जिसमें पति-पत्नी को एक-दूसरे से बात-चीत करने के लिए कुछ न रह जाय । जिस प्रकार विवादी स्वर आ जाने पर मधुर सम्भाषण बीच में ही समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार केवल यौन-सम्बन्ध पर आधारित प्रेम और दाम्पत्य-जीवन की कड़ी मो बीच में ही टूट जाती है ।

पुरुष और स्त्री की मानसिक रचना के सन्दर्भ में यौन सम्बन्ध अपना भिन्न-भिन्न अर्थ रखता है । यौन-क्रिया से पुरुष के मानसिक खिंचाव और तनाव की स्थिति दूर हो जाती है, इससे उसे एक प्रकार का सन्तोष मिलता है, इसी से वह सन्तुष्ट हो जाता है । लेकिन स्त्री के सन्दर्भ में मानसिक खिंचाव और तनाव का दूर होना ही यौन-क्रिया का साध्य नहीं होता, बल्कि वहीं से उसकी प्रेम लीला का प्रारम्भ होता है । इस प्रसंग में स्त्री के लिए यौन-क्रिया अपना महत्त्व रखती है और नहीं भी रखती । जब वह पूरी आस्था के साथ पुरुष को आत्म-समर्पण कर देती है, तब यौन-क्रिया उसके लिए महत्त्वपूर्ण बन जाती है । लेकिन जब पुरुष उसे किसी-न-किसी प्रकार से बलात् अपने अधिकार में लाकर उसकी भावनाओं से खिलवाड़ करने लगता है, तब यौन-क्रिया उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखती । स्त्री पति के प्यार को अपना मूल्य समझ कर नहीं स्वीकार करती, बल्कि अपनी मनोहरता, आकर्षण और रूप लावण्य के लिए श्रद्धा की भेंट समझ कर स्वीकार करती है ।

सुखी दाम्पत्य-जीवन के लिए यह आवश्यक है कि पति-पत्नी दोनों एक-दूसरे की रुचियों का ध्यान रखते हुए किसी की भावना को चोट न पहुँचायें और एक-दूसरे का सम्मान करते हुए अपने उत्तरदायित्वों के प्रति जागरूक रहें । प्रत्येक उसे प्राथमिकता दे जो दूसरे को प्रिय हो । जब व्यक्ति उदारता के स्थान पर, स्वार्थपरता को अपना कर केवल अपनी ही इच्छा को प्राथमिकता देने लगता है तब दाम्पत्य-जीवन में जड़ता आने लगती है और वह कृत्रिम अनुशासन तथा नियंत्रण की

मीमांसा में सिमटता जाता है । 'प्रसाद' की 'सहयोग' नामक कहानी में 'मनोरमा' का जीवन इन्का साक्षी है --^१ मोहन एक हृदय हीन युवक उम्र दिल्ली से व्याह लाया था । उसकी स्वभाविकता पर अपने आतंक में डूर शासन करके उसे आत्म-चिन्ता, शून्य, पतिगत प्राणा बनाने की उत्कट अभिलाषा से हृदय हीन कल से चरती फिरती हुई पुतली का डाला और वह अपनी इसी में विजय और पौरुष की पराकाष्ठा स्मरने लगा था ।^२ मोहन की इस कठोरता का परिणाम यह हुआ कि मनोरमा धीरे-धीरे अपना अस्तित्व खोने लगी उसका अपना निज का कुछ नहीं रह गया । वह जीवन के प्रति तटस्थ और उदासीन होती गई ।

जिस प्रकार पृथ्वी के कठोर धरातल के नीचे जल का शीतल स्रोत प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार व्यक्ति की कठोरता के नीचे कोमलता भी दबी रहती है । जीवन में एक समय ऐसा आता है, जब व्यक्ति का पुरुष पद पिघल कर हृदय के कोमल पार्श्व को स्पर्श करने के लिए अधीर हो उठता है । उसकी कोमल वृत्तियाँ अपनी वृष्टि के लिए मचल उठती हैं । प्रारम्भ से ~~ए~~ हृदय-हीन मोहन ने अपनी कठोरता से मनोरमा के जीवन को कुंठित और जड़ तो बना दिया लेकिन बाद में मनोरमा की उदासीनता उसे खलने लगी । उसका रागात्मक भाव-बोध उभर कर आन्तरिक अभाव की पूर्ति का आग्रह करने लगा --^३ मोहन बार बार सोचता था कि कोई ऐसी बात निकले, जिसमें मुझे कुछ करना पड़े और मनोरमा मानिनी बने, मैं उसे मनाऊँ^३ किन्तु मनोरमा में वह मिट्टी ही नहीं रही । मनोरमा तो कल की पुतली हो गयी थी । अन्त में मोहन को अपनी भूल का ज्ञान होता है और उसकी आत्मा स्वयं उसे धिक्कारती है --^४ उसने विचारा कि मनोरमा को मैं ही तो ऐसा बनाना चाहा था अब वह ऐसी हुई तो मुझे अब विरक्ति क्यों है ? इसके चरित्र का यह अंश क्यों नहीं रुचता ? किसी ने उसके कान में धीरे से कहा --^५ तुम तो अपनी स्त्री को अपनी दासी बनाना चाहते हो थे जो वास्तव में तुम्हारी अन्तरात्मा को ईप्सित नहीं था । तुम्हारी कुप्रवृत्तियों की वह उत्तेजना थी कि वह तुम्हारी चिरसंगिनी न होकर दासी के समान आज्ञाकारिणी मात्र रहे । वही हुआ । अब क्यों फँसते हो^६ ?

१- प्रतिध्वनि (पृ० ३८-३९)

२- प्रतिध्वनि (पृ० ४१)

३- प्रतिध्वनि (पृ० ४२)

मीमांसा में सिमटता जाता है । 'प्रसाद' की 'सहयोग' नामक कहानी में 'मनोरमा' का जीवन इन्का साक्षी है --^१ मोहन एक हृदय हीन युवक उम्र दिल्ली से व्याह लाया था । उसकी स्वामाविक्ता पर अपने आतंक में डूर शासन करके उसे आत्म-चिन्ता, शून्य, पतित प्राणा बनाने की उत्कट अभिलाषा से हृदय हीन कल से च चलती फिरती हुई पुतली बना डाला और वह अपनी इसी में विजय और पौरुष की पराकाष्ठा समझने लगा था ।^२ मोहन की इस कठोरता का परिणाम यह हुआ कि मनोरमा धीरे-धीरे अपना अस्तित्व खोने लगी उसका अपना निज का कुछ नहीं रह गया । वह जीवन के प्रति तटस्थ और उदासीन होती गई ।

जिस प्रकार पृथ्वी के कठोर घरातल के नीचे जल का शीतल स्रोत प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार व्यक्ति की कठोरता के नीचे कोमलता भी दबो रहती है । जीवन में एक समय ऐसा आता है, जब व्यक्ति का परुष पद पिघल कर हृदय के कोमल पार्श्व को स्पर्श करने के लिए अधीर हो उठता है । उसकी कोमल वृत्तियाँ अपनी वृप्ति के लिए मचल उठती हैं । प्रारम्भ से एक हृदय-हीन मोहन ने अपनी कठोरता से मनोरमा के जीवन को कुंठित और जड़ तो बना दिया लेकिन बाद में मनोरमा की उदासीनता उसे खलने लगी । उसका रागात्मक भाव-बोध उभर कर आन्तरिक अभाव की पूर्ति का आग्रह करने लगा --^३ मोहन बार बार सोचता था कि कोई ऐसी बात निकले, जिसमें मुझे कुछ करना पड़े और मनोरमा मानिनी बने, मैं उसे मनाऊँ^२ किन्तु मनोरमा में वह मिट्टी ही नहीं रही । मनोरमा तो कल की पुतली हो गयी थी । अन्त में मोहन को अपनी भूल का ज्ञान होता है और उसकी आत्मा स्वयं उसे धिक्कारती है --^३ उसने विचारा कि मनोरमा को मैं ही तो ऐसा बनाना चाहा था अब वह ऐसी हुई तो मुझे अब विरक्ति क्यों है ? इसके चरित्र का यह अंश क्यों नहीं रुचता ? किसी ने उसके कान में धीरे से कहा --^३ तुम तो अपनी स्त्री को अपनी दासी बनाना चाहते हुए थे जो वास्तव में तुम्हारी अन्तरात्मा को ईप्सित नहीं था । तुम्हारी कुप्रवृत्तियों की वह उत्तेजना थी कि वह तुम्हारी चिरसंगिनी न होकर दासी के समान आज्ञाकारिणी मात्र रहे । वही हुआ । अब क्यों मँसते हो^३ ?

१- प्रतिध्वनि (पृ० ३८-३९)

२- प्रतिध्वनि (पृ० ४१)

३- प्रतिध्वनि (पृ० ४२)

अब प्रश्न उठता है कि दाम्पत्य-जीवन में आने वाली इन अगंगतियों के समुचित समाधान का आधार क्या है? अब तक इस समस्या का हल खोजने के लिए दो मार्गों का अतुल्यमान हाँता रहा है -- पहला है सम्बन्धविच्छेद और दूसरा है समझौतावादी दृष्टिकोण । व्यवहारिकता की दृष्टि से दूसरा मार्ग ही अधिक उपयुक्त और उपयोगी सिद्ध होता है । क्योंकि सम्बन्ध-विच्छेद 'रुचि-वैभिन्य और जीवन के प्रति भिन्न दृष्टिकोणों' पर आधारित है । लेकिन समाज में भिन्न-भिन्न रुचियों और दृष्टिकोणों को देखते हुए इस मार्ग द्वारा समस्या का सही समाधान होना सम्भव नहीं है । इस व्यवस्था में किसी विषय पर मतभेद न होने पर एक व्यक्ति से सम्बन्ध तोड़कर दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाता है । यही वैचारिक विरोध वहाँ भी उपस्थित होता है और वहाँ से भी सम्बन्ध-विच्छेद कर अन्यत्र सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है । इस प्रकार सम्बन्ध जोड़ने और तोड़ने की एक परम्परा बन जाती है जिसकी शृंखला टूटती नहीं । जिसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति को कहीं शान्ति नहीं मिलती, और शान्ति-प्रेम की भाग-दौड़ में उसका जीवन प्यासा का प्यासा ही रह जाता है । पाश्चात्य देशों में तलाक की यह व्यवस्था असफल ही सिद्ध हुई है । इस प्रथा ने वहाँ के दाम्पत्य-जीवन को बिल्कुल जर्जर बना दिया है । 'सुबह' शादी होती है और 'शाम' को तलाक हो जाता है । वैवाक्य-वर्ण की मृग बलना के पीछे दौड़ लगाते ही रह जाते हैं, कहीं उनकी तृप्ति नहीं होती । भौतिक उपलब्धियों की दृष्टि से सम्पन्न पाश्चात्य देशों में बढ़ती हुई आत्म हत्याओं की संख्या अतृप्ति और तलाक प्रथा के अभिशाप का ही परिणाम है जिससे ऊबकर व्यक्ति अपने अशान्त और अतृप्त जीवन का अन्त करने के लिए विवश हो जाता है ।

दूसरी और समझौता वादी दृष्टिकोण है, जो स्नेह तथा सहिष्णुता पर आधारित है । इसमें एक-दूसरे पर अपने विचारों को लादने की अपेक्षा एक-दूसरे की भिन्न रुचियों तथा दृष्टिकोणों को समझकर उनमें उचित सामंजस्य बँटाने की व्यवस्था की जाती है । दोनों त्याग-भावना से प्रेरित होकर एक-दूसरे के लिए अपनी व्यक्तिगत रुचियों तथा दृष्टिकोणों में अपेक्षित संशोधन व परिवर्तन करते हैं । इस प्रकार विचारों की विषमता में एक समता आ जाती है और दाम्पत्य-जीवन की गाड़ी सुचारुरूप से चलने लगती है ।

प्रसाद जी ने दाम्पत्य-जीवन की सुव्यवस्था के सन्दर्भ में समझौतावादी दृष्टिकोण को ही प्राथमिकता दी है, देवनिरंजन के शब्दों में, -- जगत की एक जटिल समस्या है -- स्त्री-पुरुष का मिलन । + + + उनके लिए समाज ने मित्त-मित्त कि समय और देशों में अनेक प्रकार की परीक्षाएँ कीं, किन्तु वह सफल नहीं हो सका । रुचि, मानव-प्रकृति इतनी विभिन्न है कि वैसा युग्म मिलना विरला होता है । मेरा विश्वास है कि वह कदापि सफल न होगा, स्वतन्त्र चुनाव, स्वयम्बर, यह सब गहायता नहीं दे सकते । इसका उपाय एक मात्र समझौता है, वही व्याह है । ललितिका भी इंगी लक्ष्य का समर्थन करती हुई मुना से कहती है, -- पुरुष यह नहीं जानते कि स्नेहमयी समणी सुविधा नहीं चाहती वह हृदय चाहती है । पर मन इतना मित्त उपकरणों से बना हुआ है कि समझौते पर ही संसार के स्त्री-पुरुषों का व्यवहार चलता हुआ दिखाई देता है । इसका समाधान करने के लिए कोई नियम या संस्कृति अमर्थ है । ध्रुवस्वामिनी के पुनर्विवाह पर अपनी व्यवस्था देते हुए पुरोहित ने भी पारस्परिक विश्वास और सहयोग पर ही विशेष बल दिया है ।

जीवन में सर्वप्रथम समझौतावादी दृष्टिकोण का सक्रिय समर्थन नारी जाति की और से ही होता है । क्योंकि पुरुष 'अहं' प्रधान होता है, नारी करुणा प्रधान । पुरुष का 'अहं' उसे जल्दी भुक्ने नहीं देता । उसमें अपेक्षाकृत कठोरता होती है । पुरुष की इस अहंमन्यता और कठोरता पर नारी जाति ही अपने प्रेम तथा करुणा के बल पर नियंत्रण रखने में समर्थ हो पाती है । उसकी कोमलता से पुरुष की कठोरता पराजित हो जाती है । तरुण बालिका चम्पा के सहज सौन्दर्य का सान्निध्य पाकर हत्या व्यवसायी दस्यु बुद्ध गुप्त अपनी कठोरता छोड़कर एक मरल प्रेमी बन जाता है -- वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा । उसे एक नयी वस्तु का पता चला, वह थी -- कोमलता । कठोर प्रकृति

१- कंकाल : (पृ० २६७)

२- कंकाल : (पृ० २५५)

३- स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार-रक्षा और सहयोग हो तो विवाह कहा जाता है । यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खल है ।

-- ध्रुवस्वामिनी : (पृ० ५४) ।

४- आकाश-दीप : (पृ० १४)

वाला दूर कर्मा अलाउद्दीन भी गरिमामयी नारी के सम्मुख मोम-सा पिघल कर अपनी पराजय स्वीकार करते हुए, उसे अपनी शासिका स्वीकार कर लेता है --

‘शामन करोगी इन मेरी दूरताओं पर
निज कोमलता से, मानस की माधुरी से’^१

हृदय की यही सरलता तथा कोमलता और करुणा की भावना नारी-जाति को सहिष्णु बना कर उसे दामाशीलता प्रदान करती है, जिसे वह आप्तिसात् कर दया, माया, ममता और श्रद्धा-विश्वास की सजीव मूर्ति बन जाती है । नारी का यही करुणामय रूप पीयूष-घ्रोत सा जीवन में घुल-मिल कर उसे समतल बनाता है और वह अपने को मिटा कर जीवन के साथ समझौता कर लेती है । इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर प्रसाद जी ने समझौते द्वारा सम्बन्ध सुधारने और उसका निर्वाह करने का पुरा दायित्व नारी-जाति को ही सौंपा है --

‘नारी । तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत-नग-फग-फग-तल में,
पीयूष घ्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में ।
+ + +
आंसू से भीगे आंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा ,
तुमको अपनी स्मित-रेखा से
यह सन्धि-पत्र लिखना होगा’^२

जब व्यक्ति व्यक्तिगत जीवन की सीमा से बाहर सामूहिक जीवन में प्रवेश करता है, तब वह अपने-आप को अनेक सामाजिक सम्बन्धों की परिधियों में घिरा हुआ पाता है । कहीं वह किसी का पिता होता है, तो किसी का पुत्र, किसी का माई होता है तो किसी का भतीजा, किसी का गुरु होता है तो किसी का शिष्य, किसी का

१- लहर : (पृ०७१)

२- कामायनी : (पृ०१०६)

मित्र होता है तो किसी का पति आदि । इन सभी सम्बन्धों के साथ उसके व्यवहार की अपनी सीमायें और मर्यादायें होती हैं । सभी के साथ सभी प्रकार की बातें नहीं की जा सकतीं, मर्यादा की सीमा उसमें व्यवधान डाल देती है । इस प्रकार व्यक्ति के विचार-विनिमय का आधार अनेक खण्डरूपों में विभक्त हो जाता है । एक खण्डरूप आवश्यकता के अंशविशेष की ही पूर्ति करता है, उसके सभी पक्षों की नहीं । केवल पति-पत्नी का सम्बन्ध ही एक ऐसा सम्बन्ध है, जो सभी प्रकार के सम्बन्धों की मूल भावना को अपने आप में समेट कर पूर्ण हो जाता है । इसमें पति-पत्नी अपेक्षाकृत अधिक आश्वस्त होकर, विश्वासपूर्वक एक-दूसरे से अपने दिल की बातें कहते हैं । यों तो सभी सम्बन्धों का आधार आस्था और विश्वास होता है, लेकिन दाम्पत्य जीवन पूर्णतया इसी पर आधारित है और जिसमें हमारा जितना ही गहन विश्वास होता है उसमें हम उतनी ही आत्मीयता के साथ दिल खोलकर बातें करते हैं । विश्वास को दृष्टि से पत्नी पुरुष के अधिक निकट होती है जिससे व्यक्ति अपने मन की हर बात उकह कर, अपने आपको हल्का कर लेता है । उसके सहवाम से उसकी शारीरिक आवश्यकताओं के साथ-साथ मानसिक अभावों की भी पूर्ति हो जाती है । इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर महाभारतकार ने स्त्री को कुशल गृहिणी, प्रजावती, पतिप्राणा, पतिव्रता, आनन्द देने वाली, श्री सम्पन्न बनाने वाली, अर्धांगिनी, त्रिवर्ग का मूल तथा श्रेष्ठतम मत्ता आदि विशेषणों में अभिहित किया है^१ । प्रसाद जी ने भी नारी के इसी स्वरूप को स्पृहणीय माना है :-

‘दुःख में मित्र समान अरु, गृह में गृहिणी होत ।
जीवन की सहचरी सौ, रमणी रस की सौत ।’^२

- १- सा भार्या या गृहे दत्ता, सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पति-प्राणाः, सा भार्या या पतिव्रता ।
अर्ध भार्या पुरुषस्य भार्या श्रेष्ठतमः मत्ता ।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलतरिष्यतः ।
भार्यावन्तः क्रियावन्तः समार्या गृहमेधिनः ।
भार्यावन्ते प्रमोदन्ते, भार्यावन्तः श्रियान्वितः ।

-- महाभारत, आदिपर्व (७४।४०-४२)

२- चित्राधार : (पृ० ६२)

‘श्रद्धा’ के आदर्श - चरित्र में इन सभी गुणों की ज्योति मिल जाती है । वह कुशल गृहिणी, आदर्श पत्नी और स्नेहमयी माता के साथ-साथ कल्याण कामना करने वाली सखा भी है । जहाँ एक ओर वह अपना सब कुछ मनु के चरणों में सौंप कर, उसके प्रति अनन्य रहती हुई, आदर्श पत्नी-पद का निर्वाह करती है, वहीं दूसरी ओर जीवन से हताश और निराश मनु को प्रोत्साहन तथा उचित निर्देशन देकर सच्चे सखा के दायित्वों का भी पालन करती है । वह अपन एक एक शब्दों का मंत्र फुंक कर मनु के प्रसुप्त पुरुषार्थ को जगाती है --

‘ और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान,
‘शक्तिशाली हो विजयी बनो,
विश्व में गुंज रहा जयगान ।
डरो मत और अमृत सन्तान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
पूर्णा आकर्षण जीवन-केन्द्र
खिंची आवेगी सकल स्मृति ।’

‘श्रद्धा’ केवल सन्देह ही नहीं देती, बल्कि सुख-दुःख में साथ रहने वाले सच्चे साथी की तरह अन्त तक उसका साथ भी देती है --

‘ तब चलो जहाँ पर शान्ति-प्राप्त,
में नित्य तुम्हारी सत्य बात ।’

बूट आस्था और विश्वास के भाव ही दाम्पत्य-जीवन को पुष्टता प्रदान करते हैं , उनके अभाव में दाम्पत्य जीवन की स्थिति भंकावात में उड़ते हुए तिनके जैसी हो जाती है । इस आस्था और विश्वास को सबसे बड़ा आघात उस समय पहुँचता है, जब व्यक्ति में स्वार्थपरता और सन्देह का भाव बहुमूल हो जाता है । सन्देह प्रेम-पीयूष के लिए सड़ाई का काम करता है । यह स्नेह-संबंधों को शिथिल कर देने वाला वह दुर्भाव है, जो सहानुभूति और सहिष्णुता के अभाव में आविर्भूत होता, तथा अविश्वास की शिला से, जीवन के सहज प्रवाह को अवरुद्ध कर उसमें छुंछा के कीटाणु पैदा कर देता है । इसकी आंधी में दाम्पत्य-जीवन की

१- चित्रकर्म-१-१५० कामायनी : (पृ० ५७-५८)

२- कामायनी : (पृ० २०५)

जड़ ही उसड़ जाती है । इसी सन्देह के कारण मालती को रुग्ण हाकर दाम्पत्य-सुख से वंचित होना पड़ा,^१ और इन्दों की बनी बनायी गृहस्थी मिट्टी में मिल गई --^२ इन्दों को विश्वास हो चला था कि ब्रजराज माली का प्यार करता है, और गांव में स्क^२ ही गुन्दरी, चंचल, हंसमुख और मनचली भी थी वह, उसका व्याह नहीं हुआ था ।^३ सन्देह के कारण ही इन्दों के व्यवहार में ब्रजराज के प्रति कटुता आ गई थी और इन्दों के ऐसे व्यवहार से ऊब कर ही ब्रजराज को घर छोड़ना पड़ा था --^४ ब्रजराज को वैराग्य हो गया हो सो बात नहीं, हां उसे गार्हस्थ्य-जीवन के सुख के आरम्भ में ही ठोकर लगी । उसकी सीधी-पादी गृहस्थी में कोई विशेष आनन्द नहीं था । केवल मित्रा की अटपटी बातों पे, और राह चलत-चलते कमी मालती की चुहल से हल्के शर्वत में दो बूंद हरे नीबू के रस की सी सुगन्ध तरावट में मिल जाती थी ।^५

इसलिए दाम्पत्य-जीवन को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसे सन्देह की शनि-दृष्टि से बचाया जाय, और सन्देह से बचने के लिए यह आवश्यक है कि पति-पत्नी के बीच सौहार्द्र-महिष्णुता हो, और उनके बीच में कोई तीसरा व्यक्ति -- पुरुष या स्त्री, न आने पाये । क्योंकि जिस प्रकार पति, पत्नी का अखण्ड प्रेम पाना चाहता है, और दोनों के बीच दूसरे पुरुष का आना उसे असह्य हो जाता है, उसी प्रकार मत्ति पत्नी भी पति का अखण्ड प्रेम पाना चाहती है और उसे भी दोनों के बीच दूसरी स्त्री का आना असह्य हो उठता है । आर्थिक सम्पन्नता भी जीवन में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है । आर्थिक अभावों की कठोरता, हृदय की कोमलता हीन लेती है और कोमलता के अभाव में दाम्पत्य-जीवन प्रायः कलह का केन्द्र बन जाता है । अतः आर्थिक सम्पन्नता भी सुखी जीवन का एक आवश्यक अंग है । प्रसाद ने इस पक्ष पर भी बल दिया है ।

१- यद्यपि चन्द्रदेव का क्लृप्त-आचरण उसके चरित्र के सम्बन्ध में मशक होने का किसी को अवसर नहीं देता था, तथापि मालती अपनी चादर से ढके हुए अन्धकार में अपनी सौत की कल्पना करने के लिए स्वतन्त्र थी ही । वह धीरे धीरे रुग्ण हो गयी । -- इन्द्रजाल : (पृ० ४४)

२- इन्द्रजाल : (पृ० ४४)

इस प्रकार हम देखते हैं दाम्पत्य-जीवन हमारे व्यक्तिगत जीवन का एक पूरक पक्ष है । यह व्यष्टि और समष्टि का वह मिलन-बिन्दु है, जहाँ दो भिन्न व्यक्तियों का संगम, प्रेम की पुनीत गंगा में परिवर्तित हो कर, आनन्द सागर की ओर उन्मुख हो जाता है । पति-पत्नी एक-दूसरे में अपने-आप को घुला-मिला कर जीवन के साथ समझौता कर लेते हैं । यही समझौता सन्तुलित जीवन का सिद्धपीठ है -- सहयोग, सहानुभूति और सहिष्णुता इसके मूलभूत आधार हैं । दाम्पत्य जीवन जहाँ एक और हमें अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के प्रति जागृक करता है, वहीं दूसरी ओर संयम और महनशीलता की शिक्षा भी देता है । यह जीवन की विखरी बूंदों को स्पेट कर, उसे त्याग और सेवा-भाव के तट बन्धों में अनुशासित कर, स्नेह की प्रीतस्विनी बहता हुआ, कुत्सित कुण्ठाओं को पखार-पखार कर उनका परिष्कार किया करता है ।

प्रसाद जी ने अपनी कृतियों के माध्यम से इस दाम्पत्य जीवन के विविध पक्षों पर, पैत्रिक, सामाजिक, आर्थिक तथा मनावैज्ञानिक आदि सभी दृष्टियों से विचार किया है और इन सब के स्वस्थ-समायोजन पर आदर्श दाम्पत्य-जीवन की नींव रखी है । प्रसाद की समूची साधना का आधार उनकी समन्वय-भावना रही है, जिसमें सभी द्वन्द्वों का समाहार, विस्मरसता की उस मानसिक स्थिति में हो जाता है, जिसमें उद्वेग का उफान नहीं होता । सुखमय दाम्पत्य जीवन को भी उन्होंने इसी मानसिक स्थिति की निष्पत्ति माना है ।

(द्वितीय सण्ड)

अष्टम - अध्याय

-0-

पारिवारिक जीवन

अष्टम अध्याय

-0-

पारिवारिक जीवन

व्यक्तिगत जीवन की दूसरी विधा का विकासक्रम पारिवारिक जीवन से प्रारम्भ होता है । परिवार व्यक्ति की आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा प्रजनन सम्बन्धी आवश्यकताओं के आग्रह का परिणाम है । मनुष्य मूलतः एक प्राणी है । अन्य प्राणियों की भांति इसकी भी कुछ अपनी प्राकृतिक आवश्यकताएँ होती हैं, जिनमें प्राथमिकता की दृष्टि से दो आवश्यकताएँ प्रमुख हैं :--

(१) संरक्षण सम्बन्धी आवश्यकताएँ (भोजन, वस्त्र, आवास आदि)

(२) कामजन्य सुख की कामना ।

समाज में समय-समय पर इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक संगठनों की नींव पड़ती रही है । संरक्षण सम्बन्धी आवश्यकताओं ने आर्थिक व्यवस्था तथा राज्यनिर्माण को जन्म दिया और कामजन्य सुख की लालसा ने समाज-रचना की प्रेरणा प्रदान की, जिसके फलस्वरूप सामाजिक संगठन, पारिवारिक व्यवस्था, वैवाहिक संस्था आदि संगठनों का सुत्रपात हुआ ।

परिवार हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं का आधार होता है । यहां पर हमारी रुचियाँ परसी और फलारी जाती हैं । उन्हें सद्वृत्तियों में ढाल कर सदाचार का निर्माण किया जाता है । सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री श्री वर्गस और लाक के शब्दों में -- , ' परिवार व्यक्तियों का वह समूह है, जो विवाह, रक्त तथा दत्तक सम्बन्धों द्वारा एकसूत्र में बंध कर, अभिन्न रूप में गृह-निर्माण का दायित्व

उठाता है। इसमें वे एक-दूसरे को पति, पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, माई-बहन आदि के रूप में प्रभावित करते हैं और आपसी सम्बन्धों द्वारा एक समान संस्कृति को जन्म देकर उसकी रक्षा करते हैं।^१

इस प्रकार पारिवारिक जीवन सामाजिक जीवन की प्रारम्भिक पाठशाला है, जिसमें व्यक्ति को सामाजिकता का प्रशिक्षण मिलता है। इसी प्रशिक्षण पर सामाजिक जीवन के स्वरूप का निर्माण होता है। जिस प्रकार का पारिवारिक प्रशिक्षण होता है, उसी प्रकार का सामाजिक जीवन भी होता है। विश्व-प्रेम तथा विश्व-विनाश के तत्त्वों का बीजारोपण पारिवारिक वातावरण में ही हो जाता है।

सामाजिक संगठन की दृष्टि से पारिवारिक व्यवस्था का गठन मुख्यतः दो दृष्टियों से होता है -- एक है अधिकार की दृष्टि, दूसरी है विस्तार की दृष्टि। अधिकार की दृष्टि से परिवार दो प्रकार के होते हैं --

(१) पितृ सत्तात्मक।

(२) मातृ सत्तात्मक।

पितृ सत्तात्मक परिवार के अन्तर्गत पिता (पुरुष) प्रधान होता है, और मातृ-सत्तात्मक परिवार में माता (स्त्री) प्रधान होती है। भारत में पितृ सत्तात्मक परिवार की प्रधानता रही है। विस्तार की दृष्टि से भी परिवार के दो भेद हो जाते हैं :--

(१) मूल या सीमित परिवार।

(२) संयुक्त परिवार।

मूल परिवार केवल पति-पत्नी तथा उनके नाबालिग बच्चों तक ही सीमित रहता है।

१- "A family is a group of persons united by the ties of marriage, blood or adoption, constituting a single household, interacting, and inter-communicating with each other in their respective social role of husband and wife, mother, and father, son and daughters, brothers and sister, and creating maintaining a common culture."

-- Burges and Locke.

संयुक्त परिवार में पति-पत्नी तथा बच्चों के अतिरिक्त पैतृक पदा के कई पीढ़ियों के बान्धव तथा अग्रहाय स्त्रियाँ, मदस्य होते हैं । भारतीय समाज का गठन संयुक्त परिवार के गठन पर हुआ है, जिसकी परम्परा वैदिक काल से लेकर आज तक अटूट बनी हुई है । यद्यपि प्रवाद-साहित्य में हमें परिवार के दोनों रूप-- नीमित और संयुक्त परिवार मिल जाते हैं । लेकिन सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में लेखक ने विशेष रूप से संयुक्त परिवार को ही अपना विवेच्य विषय बनाया है ।

संयुक्त परिवार की प्रधानतः तीन कड़ियाँ होती हैं --

(१) पति-पत्नी

(२) बच्चे

(३) शेष सम्बन्धी

पति-पत्नी का जोड़ा कौटुम्बिक जीवन की वह जड़ है, जिस पर परिवार का विशाल वृक्ष बढ़ता और फलता-फूलता है । व्यक्तिगत तथा सामाजिक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में पति-पत्नी एक-दूसरे के साथ, स्मर्पण और समर्पण के आधार पर जो आत्मिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उसी पर पारिवारिक जीवन की नींव पड़ती है । व्यक्ति-विक्रम के लिए परिवार की दृढ़ता आवश्यक है । क्योंकि उसी को माध्यम बनाकर व्यक्ति समाज के सम्पर्क में आता है । सर्वप्रथम वह परिवार ही सरोवर में तैरना सीख कर ही समाजस्थी सागर में अपनी जीवन-नौका चलाने का सामर्थ्य प्राप्त करता है और वैवाहिक व्यवस्था के बिना कोई परिवार अस्तित्व में नहीं आता । इस प्रकार पति-पत्नी का सम्मिलित प्रयास ही उस पारिवारिक इकाई का मूल होता है, जिसके सम्बन्धों का विस्तार सामाजिक रचना का आधार बनता है । व्यक्ति से परिवार, परिवार से वर्ग, वर्ग से समुदाय और समुदाय से राष्ट्र या समाज का निर्माण होता है ।

जिस प्रकार जड़ की दृढ़ता और दुर्बलता का प्रभाव उस पर टिके हुए वृक्ष पर पड़ता है, उसी प्रकार परिवार के आधारभूत पति-पत्नी के आपसी व्यवहारों का भी गहरा प्रभाव पारिवारिक वातावरण पर पड़ता है । जब तक जड़ सुदृढ़ और पोषक तत्त्व सींचने में समर्थ रहती है, तब तक वृक्ष हरा-भरा रहता है, और फलता-फूलता है । लेकिन जड़ जब जर्जर होकर पोषक तत्त्व

लींचने में अम्मर्थ हो जाती है, तब वृद्धा धीरे-धीरे सूखने लगता है, और अन्त में हवा के एक हल्के फौंके से ही जमीन पर आ जाता है । उसी प्रकार जब कुल के मूलस्वरूप पति-पत्नी के आचार-विचार और व्यवहार में एक-दूसरे के प्रति उपेक्षा का भाव आने लगता है, तब गृह-कलह की स्थिति पैदा हो जाती है, जिसका परिणाम होता है, पारिवारिक शान्ति की समाप्ति । शान्ति के अभाव में पारिवारिक जीवन स्पृहणीय न होकर नारकीय हो जाता है । इसके विपरीत जिस परिवार में पति-पत्नी एक-दूसरे से प्रसन्न और सहज सन्तुष्ट रहते हैं, वह परिवार अपने-आप में पूर्ण तथा सहज सुख-शान्ति का भागी बन जाता है ।

पारिवारिक व्यवस्था का सबसे अधिक प्रभाव परिवार के बच्चों पर पड़ता है । स्नेह, माया, ममता, इन सबों की मो एक घरेलू पाठशाला है, जिसमें उत्पन्न होकर शिष्ट धीरे-धीरे इनके अभिनय की शिक्षा पाता है । उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार विशेषता से वह प्रभावित होता है । व्यक्ति पैतृकता और वातावरण के बीच की उपज होता है । पैतृकता से वह कुल परम्परागत संस्कारों तथा जैविक विशेषताओं की धरोहर पाता है, और सामाजिक वातावरण द्वारा अर्जित आदतों का अनुदान । बूँकि बच्चों का हृदय बड़ा सरल होता है और बुद्धि बड़ी कोमल, अतः इस अवस्था में उनकी कोमल बुद्धि पर, जो भी अच्छे या बुरे संस्कार डाल दिये जाते हैं, वे उसी प्रकार स्थायी हो जाते हैं, जिस प्रकार स्वच्छ शिला पर सींची गई गहरी रेखा अमिट हो जाती है । प्रारम्भिक अवस्था होने के कारण बाल्यावस्था ही समूचे जीवन की आधार-शिला होती है । इसी पर भावीजीवन की नींव रखी जाती है । जिस प्रकार उद्गम स्थान पर ही जल-प्रवाह को रोक कर उसे वांछित दिशा में मोड़ना अधिक सुगम होता है, उसी प्रकार मूल वृत्तियों का परिमार्जन और नियमन भी बाल्यावस्था में ही सम्भव हो पाता है । क्योंकि यह

१- सन्तुष्टो मायया मर्ता मर्ता मायां तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वैधुक्म् ।

-- मनु०(३-६०)

२- आंधी, पृ० १०

अवस्था इतनी लचीली होती है कि इसे सरलतापूर्वक किसी भी दिशा में मोड़ा जा सकता है । बाद में प्रौढ़ हो जाने पर इसमें अपेक्षित सुधार की सम्भावना बहुत कम हो जाती है । बच्चों का सीधा सम्बन्ध माता, पिता, तथा परिवार के शेष निकट सम्बन्धियों से होता है । अतः उनकी देख-रेख और सुधार का सारा दायित्व परिवार के लोगों पर है । परिवार के लोग बच्चों पर जैसा संस्कार डालते हैं, उसका प्रभाव आजन्म बना रहता है । इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर पद्मा क्लृप्ता को समझाती है -- मां ! क्या कठोर और दूर हाथों से ही राज्य सुशोभित होगा ? ऐसा विष-वृक्ष लगाना क्या ठीक होगा ? अभी कुणीक किशोर है । यही समय सुशिक्षा का है । बच्चों का हृदय कोमल थाल है, चाहे इसमें कंटीली फाड़ी लगा दो, चाहे फूलों के पौधे^१ । वासवी भी इसी कथन के समर्थन में क्लृप्ता से कहती है--

‘तुम तो मुझसे छोटी हो, शील और विनय का यह दुष्ट उदाहरण सिखा कर बच्चों की हानि क्यों कर रही हो ?’

मानसिक दृष्टि से व्यक्ति का विकास दो दिशाओं में होता है -- पहली दिशा विकास और विस्तार की दिशा है, तथा दूसरी संहार और द्रास की । पहली अवस्था में व्यक्ति एक से अनेक होकर सब के साथ जीना चाहता है । वह सामाजिकता के उस स्वरूप को अपना लेता है, जहाँ पर उसका^२ अहं संकुचित सीमा से ऊपर उठकर ‘हृद’ में और स्वार्थलिप्सा परार्थचिन्तन में पर्यवसित हो जाती है । उसका यह विकास आकस्मिक नहीं होता, बल्कि उसके पीछे उसको साधना का क्रमिक विकास होता है । सर्वप्रथम वह अपने ‘अहं’ के आकर्षण को माता-पिता में केन्द्रित करता है, तदनन्तर परिवार में, फिर परिवार से परिजनों में, और परिजनों से समाज में केन्द्रित कर अपने व्यक्तित्व को विस्तार दे देता है । दूसरी दिशा में विस्तार से हटकर संहार(संकोचन) और विकास से हटकर द्रास की ओर बढ़ता है । वह किसी को अपना नहीं बना पाता । कुछ को पकड़ता और उन्हें छोड़ता हुआ अन्त में अपने-आप में सिमट कर आत्म सम्मोही बन जाता है, और सहज वृत्तियों की तृप्ति के

१- अजातशत्रु, पृ० २६

२- वही, पृ० ३१

अभाव में किसी चोट पहुँचाने वाले अनुभव से उत्पन्न 'हीन-भावना' के बोझ से दबकर 'कुंठित' हो जाता है। 'कुंठा' अतृप्त जीवन की वह लहर है जो अवरोधों के आवर्त में चक्कर खाती हुई जीवन के समतल प्रवाह में भँवर का गहवर बना देती है। इस कुंठा के मूल में दो तत्त्व काम करते रहते हैं -- पहला है अपूर्णता और दूसरा है अभाव।

व्यक्ति अपने-आप में अपूर्ण होता है। यह अपूर्णता, शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, शैक्षणिक, सामाजिक स्थिति आदि कई प्रकार की होती है। यही अपूर्णता जीवनगत अभावों को सृष्टि करती है। अपूर्णता और अभावों का संयुक्त प्रभाव व्यक्ति को शक्ति-संवय को प्रेरणा प्रदान करता है। व्यक्ति जिस मंकल्प-शक्ति का सहारा लेकर पूर्णता और प्रभुता प्राप्त करना चाहता है, उसे इच्छाशक्ति कहते हैं, और जिस मार्ग द्वारा इस क्रिया का सम्पादन होता है उसे 'दाति-पूर्ति' का सिद्धान्त कहते हैं। स्तर-भेद से दाति-पूर्ति के दो रूप हो जाते हैं --

(१) परिष्कृत रूप

(२) विकृत रूप

परिष्कृत रूप में समुन्नत ढंग से अपनी सहज वृत्तियों की सन्तुष्टि करने पर व्यक्ति समाज का एक उपयोगी सदस्य बन जाता है। इस ढंग से अपने जीवन का विकास करने वाला व्यक्ति स्वयं जीने के साथ-साथ दूसरों को भी जीने का अवसर देता है। वह न तो समाज के पैरों में फुँकता है, और न समाज को अपने पैरों में फुँकाना चाहता है। बल्कि वह मैत्रीपूर्ण ढंग से समाज के साथ एक सम्मानपूर्ण समझौता कर लेता है। इसके विपरीत विकृत ढंग से अपने जीवन का विकास करने वाला व्यक्ति संकीर्ण स्वभाव वाला, अहंवादी और दूर व्यक्ति हो जाता है। उसका संकुचित 'अहं' उसे स्वार्थी और निर्दय बना देता है। वह स्कान्त स्वार्थ में अन्धा होकर सारे सुख-साधनों को स्वायत्त कर लेना चाहता है। उसकी यह आत्मचिन्तना सामूहिक चेतना से समझौता करने के लिए तैयार नहीं होती। ऐसा अनुदार व्यक्ति जब समाज में प्रवेश करता है, तब उसके व्यक्तिगत हितों और समाज के सामूहिक हितों में टक्कर प्रारम्भ हो जाती है। व्यक्ति और समष्टि के बीच इस संघर्ष पर उस व्यक्ति को दो प्रतिक्रियाएँ होती हैं -- या तो वह समाज में पराजित होकर मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है, या अनुचित साधनों द्वारा समाज को फुँका कर अपने विकृत 'अहं' को सन्तुष्टि करना चाहता है, जिसके फलस्वरूप वह चोर, डाकु, हत्यारा

आदि बनकर सामाजिक व्यवस्था तथा शान्ति सुरक्षा के लिए एक खतरा पैदा कर देता है। प्रसादकृत 'राज्यश्री' में डाकू विकट घोष का अपराधी जीवन इसी कोटि में आता है। उसका 'विकृत वह' अपनी सन्तुष्टि के लिए अनुचित साधनों द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा पाना चाहता है, वह अपनी प्रेयसी सुरमा से कहता है-- 'संसार ने हम लोगों की ओर आँखें उठाकर नहीं देखा, और देखेगा भी नहीं। तब ? उसकी उपेक्षा ही करूँगा। यदि कुछ ऐसा कर सकूँ कि वह मुझे देखे, मेरी खोज करे, तब तो सही'।^१

व्यक्ति की इस समाजविरोधी प्रवृत्ति पर स्थायी अंकुश दण्ड द्वारा नहीं बल्कि उसमें सामूहिक चेतना (*Will to Community*) को उभार कर रक्खा जा सकता है। व्यक्ति में इच्छाशक्ति (*Will to power*) और सामूहिक चेतना (*Will to Community*) साथ-साथ चला करती है। जहाँ इन दोनों में सामंजस्य होता है, वहाँ व्यक्ति आदर्श जीवन को अपना कर एक योग्य नागरिक बन जाता है। जहाँ इन दोनों में सामंजस्य नहीं होता, वहाँपर व्यक्ति की निरंकुश इच्छाशक्ति विध्वंसक बनकर उसे समाज का एक अवांछित तत्व बना देती है।

व्यक्ति की सामाजिक और समाज-विरोधी भावना उसके संस्कारगत स्वभाव पर आधारित रहती है। व्यक्ति पर जैसा संस्कार पड़ता है, उसी के अनुरूप उसका स्वभाव बनता है, और स्वभाव के अनुसार ही वह अपने व्यवहार बनाता है। व्यक्ति के इस संस्कार को सुधारने का सबसे बड़ा दायित्व परिवार पर है, क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व पर सर्वाधिक प्रभाव उसके पारिवारिक वातावरण का पड़ता है। परिवार में रह कर ही वह अपनी उस विशिष्ट आचरण-शैली का विकास करता है, जिसके द्वारा उसे अपने चारों ओर फैली हुई सामाजिक समस्याओं से सामंजस्य स्थापित करने में सहायता मिलती है, और उसके विपरीत उचित देख-रेख के अभाव में वह अपराधी हो जाता है। बच्चों के अपराधी जीवन के मूल में निम्नांकित कारण होते हैं --

- (१) बच्चों के प्रति माता-पिता का असंतुलित व्यवहार (स्नेह की अतिशयता या उदासीनता) ।
- (२) परिवार का कलहपूर्ण वातावरण ।
- (३) परिवार का नैतिक पतन ।
- (४) निर्धनता ।

परिवार में प्रायः बच्चों का पालन-पोषण दो ढंग से होता है -- कुछ बच्चे तो ऐसे होते हैं, जिनका पालन-पोषण हमें बड़े ही लाड़-प्यार से विलासी वातावरण के बीच होता है और माता-पिता उन्हें आवश्यकता से अधिक प्यार देकर खुली छूट दे देते हैं । दूसरी ओर वे बच्चे होते हैं, जिन्हें मर्यादा और अनुशासन के नाम पर नियंत्रण के शिक्के में कस दिया जाता है । उन्हें बात-बात पर फटकार और दुतकार मिलती है । अपनी अतिशयता में ये दोनों ही पद्धतियाँ अपूर्ण और व्यक्तित्व विकास में बाधक हैं । अधिक दुलारे या दुतकारे गये बच्चे निकम्मे हो जाते हैं । उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पाता । प्यार के अभाव में जहाँ वे रूक और झुंठित तथा आत्महीनता की भावना से आक्रान्त होकर निराश और उदास हो जाते हैं, वहीं दूसरी ओर अधिक लाड़-प्यार और सुख-सुविधाओं के बाहुल्य से निकम्मे, दम्भी, उदण्ड तथा स्वेच्छाचारी हो जाते हैं । इस प्रकार प्रायः माता-पिता द्वारा तिरस्कृत या अधिक प्यार में लालित-पालित, दोनों प्रकार के बच्चे समाज के लिए अनुपयोगी सिद्ध होते हैं । उनमें निरंकुशता आ जाती है और उनके विकृत 'अहं' का दुराग्रह उन्हें क्रूर कर्मा बना देता है । बच्चों के समुचित विकास के लिए जितना माँ का प्यार आवश्यक है, उतना ही पिता का शासन भी ।

'प्रसाद' जी के नाटक (अज्ञातशत्रु) के दोनों प्रमुख पात्र-- अज्ञात और विरुद्धक असंतुलित वातावरण में पले हुए किशोरों का प्रतिनिधित्व करते हैं । अज्ञात की शिक्षा-दीक्षा उसकी माता कलना की देख-रेख में बड़े लाड़-प्यार से होती है । कलना स्वयं अधिकारलिप्सा के पीछे पागल रहने वाली एक महत्वाकांक्षिणी स्त्री है । वह अहिंसा को भिड़ुओं की मद्दी सीख मानती है, और बड़ों द्वारा अज्ञात को दी जाने वाली नैतिक शिक्षा को, उसके मनोबल को

क्षीण करने वाला बढ़ियन्त्र ।

वह स्वयं देवदत्त के सहयोग से अजात को हिंसामूलक राजधर्म की शिक्षा देने की व्यवस्था करती है जिसके फलस्वरूप अबोध अजात का सरल, स्वाभाविक जीवन विकृत हो जाता है । उसमें दूरता तथा उच्छ्वसलता की विषबेलि बढ़ने लगती है । बचपन में अपने चित्रक के लिए मृगशावक न लाने पर, लुब्धक की चमड़ी उधड़ने पर उताव हो जाने वाला राजकुमार 'कुणीक', बड़ा होकर शासक अजात होने पर प्रजा को जीम खींचने की बात करने लगता है और पिता की अवज्ञा करता हुआ उच्छ्वसल हो जाता है ।

'अजात' के विपरीत विरुद्धक का पालन-पोषण पूर्णतया उपेक्षित वातावरण में होता है । स्वयं विरुद्धक की माता अपने पति द्वारा तिरस्कृत और राजमाता के पद से च्युत की जा चुकी है और विरुद्धक को भी नैतिक अधिकार की

१- 'पद्मावती ! यह तुम्हारा अविचार है । कुणीक का हृदय छोटी-छोटी बातों में तोड़ देना, उसे डरा देना, उसकी मानसिक उन्नति में बाधा देना है । + + + तो क्या तुम उसे बोधा और डरपोक बनाना चाहती हो ? क्या निर्बल हाथों से भी कोई राजदण्ड ग्रहण कर सकता है ? + + + पद्मा क्या तुम इसकी मंगल कामना करती है ? इसे अहिंसा सिखाती है, जो भिक्षुओं की भद्री सीख है ? जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा, उसे भिक्षुओं का पाठ नहीं पढ़ाया जाता । राजा का परम धर्म न्याय है, वह दण्ड के आधार पर है । क्या तुम्हें नहीं मालूम कि वह भी हिंसामूलक है ।' -- अजातशत्रु, पृ० २८, २९ ।

२-(क) अजात -- 'क्यों रे लुब्धक ! आज तू मृगशावक नहीं लाया । मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा ? + + + हाँ तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी खेड़ता हूँ । स्फुट । ठाँ तो कोड़ा ।' -- अजातशत्रु, पृ० २७ ।

(ख) अजात । 'यह क्या सत्य है स्फुट ! मैं यह क्या सुन रहा हूँ ? प्रजा भी ऐसा कहने का साहस कर सकती है ? + + + 'राज कर मैं न दूंगा' -- यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गई ।' -- अजातशत्रु, पृ० ७३

(ग) बिम्बसार -- 'ठहरो ! तुम्हारा यह अभियोग अन्यायपूर्ण है ।

क्या इसी कारण तो बेटा पद्मावती नहीं चली गई ? क्या इसी कारण तो कुणीक मेरी भी आज्ञा सुनने में आना-कानी नहीं करने लगा है ? कैसा उत्पात मचाया चाहती हो ।'

-- अजातशत्रु, पृ० ३४

मांग का समर्थन करने पर पिता द्वारा, हृदय को गहरी ठेस पहुंचाने वाली मर्त्सना मिलती है^१।

जिस प्रकार बंधा हुआ जल - संघात या तो अपनी सीमा में संकुचित होकर धीरे-धीरे सूख जाता है, या बांध को तोड़कर दूने वेग से बह निकलता है। उसी प्रकार कुंठित व्यक्ति की भी दो प्रतिक्रियायें होती हैं -- या तो वह अपनी मायुक्ताजन्य उदासी, निराशा, ग्लानि और अरुचि आदि विकृतियों के बोझ से दब कर टूट जाता है, या महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर सारी संयम-सीमाओं का अतिघ्रमण कर जाता है। वह समाज के सामने मुक्त नहीं, बल्कि समाज को अपने नामने छुटाने का संकल्प ले लेता है। पिता के निर्दय व्यवहार से दुःख, कुण्ठाग्रस्त विरुद्ध में दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। उसका स्वामिमान समाज के सामने अपनी पराजय स्वीकार नहीं करता, बल्कि माता के प्रोत्साहन पर वह अपने अपमान का प्रतिशोध लेने का व्रत ले लेता है -- 'बस मां! अब कुछ न कहो। आज से प्रतिशोध लेना मेरा कर्तव्य और जीवन का लक्ष्य होगा। मां! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के कारण उन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त में नहा कर इस कोशल के सिंहासन पर बैठकर तेरी बन्धना करूँगा'^२।

इस प्रकार एक हीनहार नवयुवक जो जन्मर पाकर एक कुशल प्रशासक हो सकता है या, वही उचित शिक्षा-दीक्षा के अभाव में बुरा कर्मा डाकू बन जाता है। जो राजा का रक्षक हो सकता था, वही उसका भक्षक बन जाता है। इसका सारा दायित्व पिता प्रसेनजित पर है। मल्लिका प्रसेनजित को इसका उत्तरादयी

१- प्रसेनजित--" तब तू अवश्य ही नीच रक्त का मिश्रण है। उन्नीस दिन जब तेरी ननिहाल में तेरे अपमानित होने की बात मने सुनी थी, मुझे विश्वास नहीं हुआ, अब मुझे विश्वास हो गया कि शाक्यों के कथनानुसार तेरी माता अवश्य ही दासी-पुत्री है। नहीं तो तू इस पवित्र कोशल को विश्वविद्धत गाथा पर पानी फेर कर अपने पिता के साथ उतर-प्रत्युत्तर न करता।"

-- अजातशत्रु, पृ० ६०

२- अजातशत्रु, पृ० ६७

ठहराती हुई कहती है --, 'राजविद्रोही बनने के कारण भी आप ही हैं । बनाने पर विरुद्धक राष्ट्र का एक सच्चा शुभचिन्तक हो सकता था ।'^१

'कंकाल' में विजय और बालक मोहन का विकास भी इसी अव्यवस्थित वातावरण की देन है । एक सुख-सुविधाओं में पला हुआ है, दूसरा अभावों में । अधिक लाड़-प्यार और दुलार के फलस्वरूप ही विजय उच्छ्वसल तथा उदण्ड हो जाता है । उसे देखकर सरला सोचती है-- 'यह भी किसी का पुत्र है । अहा ! कैसी स्नेह की सम्पत्ति है ? दुलार से यह डांटा नहीं गया अब अपने मन का हो गया ।' दूसरी ओर मोहन का चित्र है-- वह दरिद्रता और अभाव के गार्हस्थ्य जीवन की कटुता में दुलारा गया था । उसकी मां चाहती थी कि वह अपने हाथ दो रोटि कमा लेने योग्य बन जाय, इसलिए वह बार-बार फिड़की सुनता । जब क्रोध से उसके आंसू निकलते और जब उन्हें अंधरों से पोंछ लेना चाहिये था, तब भी वे बसे कपोलों पर आप ही आप सूखकर एक मलिन चिह्न छोड़ जाते थे । कभी वह पढ़ने के लिए पिटता कभी काम सीखने के लिए डांटा जाता, यही थी उसकी दिन-चर्या । फिर वह चिड़चिड़े स्वभाव का क्यों नहीं हो जाता ?^२

शिशु की सहज सरलता, स्नेह और सहानुभूति की भूखी होती है । स्नेह के अभाव में वह उदास, हठी और चिड़चिड़ा हो जाता है । बूँकि कलह-पूर्ण परिवार में प्रेम का अभाव होता है, फलतः बच्चों को अपेक्षित प्यार नहीं मिल पाता, जिसके फलस्वरूप बच्चे अवसाद-ग्रस्त होकर ऐसे परिवार से दूर रहने लगते हैं । परिवार का विषाक्त वातावरण उन्हें अखरने लगता है । 'वासवी' के साथ संलाप में अज्ञात यही इच्छा प्रकट करता है-- 'नहीं मां ! अब कुछ दिन उस विषैली वायु से -- अलग रहने दो । तुम्हारी शीतल छाया का विश्राम मुझसे अब नहीं छोड़ा जायगा ।'^३

बच्चों पर परिवार के नैतिक पतन का भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि उनमें अनुकरण की प्रवृत्ति बड़ी तीव्र होती है । उनके सामने जिस प्रकार का

१- अज्ञात शत्रु, पृ० १५६

२- वहीं,--मृ कंकाल, पृ० ११६

३- वहीं, पृ० २१३

४- अज्ञात : , पृ० ४१

उदाहरण रक्खा जाता है, वे उसी का अनुकरण करने लगते हैं, और बाद में जाकर उसके अम्यस्त हो जाते हैं^१। यही कारण है कि फगड़ालू परिवार के बच्चे प्रायः फगड़ालू, प्रष्टाचारी मां-बाप की सन्तानें प्रायः प्रष्टाचारी होती हैं। इसलिए बच्चों के उच्च चारित्रिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि उनके सामने बड़ों द्वारा ऊंचा से ऊंचा आदर्श रक्खा जाय। जो परिवार अपने इस दायित्व के प्रति उदासीन होकर अपनी गतिविधियों पर ध्यान नहीं देता, उस परिवार में पलने वाले बच्चे भटक कर अपराधी हो जाते हैं।

‘विजय’ के स्वेच्छाचारी, उदण्ड और मधप होने के मूल में उसको माता किशोरी का चारित्रिक पतन भी एक बहुत बड़ा कारण है। एक दिन जब किशोरी ने देवनिरंजन के प्रति उदण्डता का व्यवहार करने पर विजय को डाँटते हुए कहा -- ‘विजय ! तुम इतने निर्लज्ज हो ? अपने अपराधों को समझ कर लज्जित क्यों नहीं होते ?’ नशे की छुमारी में मरी आँखों में को उठाकर विजय ने किशोरी की ओर देखते हुए कहा -- ‘मैं अपने कर्मों पर हँसता हूँ, लज्जित नहीं होता। जिन्हें लज्जा बड़ी प्रिय हो वे उसे अपने कामों में खोजें।’ किशोरी मर्माहत होकर उठ गई^२। विजय का कथन कटु सत्य होते हुए भी इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में सामाजिक प्रतिष्ठा के साथ सम्मानपूर्ण जीवन जीना चाहता है। जब माता-पिता, और आत्मीय जनों के किसी व्यवहार से उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचती है, तब उसका हृदय कराह उठता है और वह अपनी विवशता पर खीफ कर कर्तव्याकर्तव्य का विवेक खो बैठता है। उसकी मानसिक स्थिति अव्यवस्थित हो जाती है और वह अप्रत्याशित व्यवहार करने लगता है। उसके लिए सारी मान्यताएँ टूट चुकी होती हैं। विजय का जीवन ऐसी ही मानसिक पीड़ा से पीड़ित व्यक्ति के जीवन का प्रतिनिधित्व करता है।

१- ‘हम लोग चाहे जैसे भी हों, पर सन्तानें तो हम लोगों की बुराइयों से अनभिज्ञ रहें, अन्यथा उनके मन में बुराइयों के प्रति अवहेलना की धारणा बन जाती है और वे उन अपराधों को फिर अपराध नहीं समझते जिन्हें वे जानते हैं कि इसे हमारे बड़े लोगों ने किया है।’ -- कंकाल, पृ० १५७

२- वही, पृ० ११०

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बाल्यावस्था जीवन-विकास का वह बीज-कोश है जिसमें जीवन की समूची सम्भावनायें उसी प्रकार सुरक्षित रहती हैं, जिस प्रकार बीज में विकास पाने वाले वृक्ष के सभी अवयव सुरक्षित रहते हैं । जैसे अनुकूल जल, वायु और उपयुक्त क्षेत्र पाने पर बीज एक सुन्दर वृक्ष के रूप में विकसित हो जाता है, उसी प्रकार स्वस्थ वातावरण और अच्छे संस्कारों के बीच ही व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास सम्भव हो पाता है । जब तक सामाजिक दोषों के कारण पारिवारिक जीवन में असंगतियाँ बनी रहेंगी, तब तक बच्चों का स्वस्थ विकास नहीं हो सकता, जिसका परिणाम होगा उनकी आस्थाएँ टूटती रहेंगी, और बचपन में आस्थाओं का टूटना अपराध का कारण बन जाता है । इसलिए बच्चों की सुरक्षा और उनके समुचित विकास के लिए निम्नांकित व्यवस्थाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

(१) पारिवारिक वातावरण शान्त, सुखद और सात्विक हो ।

(२) बच्चों के सामने ऊँचा से ऊँचा आदर्श रक्खा जाय ।

(३) बच्चों को उचित और अपेक्षित प्यार प्रदान किया जाय ।

स्वस्थ पारिवारिक वातावरण की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि परिवार के सभी सदस्यों में आपसी सौहार्द, स्नेह और सहानुभूति के भाव हों । परिवार का प्रत्येक व्यक्ति पूरे परिवार को दृष्टि में रखकर काम करे । छोटे-बड़ों के प्रति आदर और सम्मान का भाव रखें और बड़े छोटों के प्रति स्नेह, सहानुभूति के भाव । जिस परिवार में ऐसे उन्नत वातावरण का निर्माण हो जाता है, वह परिवार स्वतः ही स्पृहणीय हो उठता है --

“बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,

कुल लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में ।

बन्धु बर्ग हों सम्मानित, हो सेवक सुखी, प्रणत अनुचर,

शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर ?”

राजमाता देवकी के कथन से भी इसी सत्य का समर्थन होता है --, जब स्वजन लोग अपने शील, शिष्टाचार, का पालन करते हुए, आत्म समर्पण, सहानुभूति सत्पथ का पालन करें तो दुर्दिन का साहस नहीं कि उस कुटुम्बी की ओर आंस उठा कर देखें^१। ऐसे ही उन्नत वातावरण में पले हुए व्यक्ति विश्वबन्धुत्व की दिशा में बढ़ते हैं, जिसमें अपने पराये की सीमा समाप्त हो जाती है, और समूचा संसार ही अपना कुटुम्बी बन जाता है। यही मानवता का चरम विकास है, जिसकी कामना करती हुई वासवी कहती है -- 'अहा ! जो हृदय विकसित होने के लिए है, जो मुख हंस कर स्नेहसहित बातें करते के लिए है, उसे लोग कैसा बिगाड़ लेते हैं ?

+ + + कुटुम्ब के प्राणियों में स्नेह का संचार करके मानव इतना सुखी होता है, यह आज ही मालूम हुआ होगा। भगवान् ! क्या कभी वह भी दिन आवेगा, जब विश्वभर में एक कुटुम्ब स्थापित हो जायेगा, और मानव-मात्र स्नेह से अपनी गृहस्थी सम्हाले^२ ?'

टूटता हुआ परिवार भी बच्चों के मनोविज्ञान को काफी प्रभावित करता है, और ये पारिवारिक विघटन प्रायः निम्नांकित कारणों से होते हैं --

- (१) शिक्षा तथा सहयोग भावना का अभाव (विचार-वैषम्य)
- (२) स्वार्थ-लिप्सा (अर्थ और अधिकार) को लेकर गृह-कलह)
- (३) औद्योगिक क्रान्ति।
- (४) अनमेल सम्बन्ध (यौन सम्बन्धों का टूटिपूर्ण होना)

पारिवारिक विघटन के उक्त कारणों में से दो कारण -- अनमेल सम्बन्ध और स्वार्थलिप्सा से परिवार बुरी तरह प्रभावित होता है। अनमेल विवाह अपने - आप में अनेक समस्याओं का केन्द्र-बिन्दु होता है। आन्तरिक अतृप्ति और असन्तोष के फलस्वरूप पति-पत्नी में एक-दूसरे के प्रति डुराव और अनुदारता का भाव^{बना} भर रहता है। उदारता के अभाव में यदि पति में कोई कमी होती है तो वह पत्नी के प्रति, और यदि पत्नी में कोई कमी होती है तो वह पति के प्रति शंका लु हो जाती है। दोनों में वैचारिक विरोध बढ़ता जाता है। वे एक-दूसरे द्वारा

१- स्कन्दगुप्त, पृ० ६६

२- अजातशत्रु, पृ० १६०

अपने प्राप्य को न पाकर उसकी लोज अन्यत्र करने लगते हैं । अन्ततो गत्वा उनका चारित्रिक पतन हो जाता है और वे विलासिता, उच्छृंखलता और नशाखोरी आदि दुर्बलताओं से जर्जर होकर अपने दाम्पत्य जीवनसे हाथ धो बैठते हैं । 'कंकाल' के श्रीचन्द और किशोरी के पारिवारिक जीवन का विघटन उनके चारित्रिक पतन का ही परिणाम है । जब हरद्वार से श्रीचन्द किशोरी को लिवा ले गये, और कुछ महोने बाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ, तभी से किशोरी के प्रति उनको घृणा बढ़ गई । वे अपने भाव समाज में तो प्रकट नहीं कर सके, पर मन में एक दरार पड़ गई । बहुत सोचने पर श्रीचन्द ने यही स्थिर किया कि किशोरी काशी जा कर अपना जारज सन्तान के साथ रहे और उसके खर्च के लिए वह कुछ भेजा करें । 'तितली' में माधुरी और श्यामलाल का दाम्पत्य-सम्बन्ध भी, श्यामलाल की अनैतिकता के ही कारण एक प्रकार से टूट सा जाता है । माधुरी शैला से कहती है -- 'मैं यह जानती हूँ कि मेरे पति सदाचारी नहीं हैं, उनका मुझ पर स्नेह भी नहीं, तब भी यह मेरे मान का प्रश्न था, और उससे भी मुझे धक्का मिला । मेरा हृदय टुक टुक हो रहा है । मैंने कृष्ण मोहन को लेकर दिन बिताने का निश्चय कर लिया था । मैं तो यह भी नहीं चाहती थी कि वह यहाँ आवे । + + + हाँ गए और अनवरी को लेकर गए । मिस शैला ! यह अपमान मैं सह न सकूंगी ।'

पारिवारिक संगठन पर इससे भी व्यापक और विषाक्त प्रभाव पड़ता है संकुचित स्वार्थ लिप्सा का । भारत में संयुक्त परिवार का आधार भूमिप्रधान आर्थिक व्यवस्था रही है । औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यह आधार टूटता जा रहा है । एक ओर व्यक्तिवादी प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही है, दूसरी ओर सरकारी नौकरी और व्यापार में आय की असमानता के कारण भी आणविकपरिवार (*Individual family*) की ओर झुकाव होता जा रहा है । सामाजिक पारिवारिक व्यवस्था सामाजिक संगठन का एक अभिन्न अंग है, और संगठन का आधार है -- स्नेह तथा सद्भावना । जब 'अर्थ' और 'अधिकार' के लिए परिवार

१- कंकाल, पृ० ५८

२- तितली, पृ० १४६

में संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है, तब मातृ-भावना की नींव हिल जाती है, और सभी सदस्य एक-दूसरे के प्रति असहिष्णु तथा अनुदार हो जाते हैं। जब एक व्यक्ति के 'अहं' को ठेस पहुंचती है तो वह संयुक्त परिवार की दीवाल को ढहा देता है। 'तितली' में इन्द्रदेव परिवार से इसलिए विरक्त हो जाते हैं कि उनका मातृक हृदय एक सामान्य-सी घटना से झुआव्य हो जाता है। रूढ़िगत संस्कारों में पली हुई मां के व्यवहार द्वारा अपने 'अहं' को ठेस लगने पर बाबू इन्द्रदेव परिवार से दूर रहने का निर्णय ले लेते हैं --^१ लोग कहते हैं कि इन्द्रदेव के कानों में जब यह समाचार किसी मतलब से पहुंचा दिया गया कि चरण हू कर आपके चले आने पर माता जो ने फिर से स्नान किया तो फिर वह मकान पर ठहर न सके^१। असहिष्णुता और अर्थलोलुपता के कारण किस प्रकार संयुक्त परिवार की कड़ियां टूटती जा रही हैं, इसका उल्लेख स्वयं इन्द्रदेव ने अपनी हायरी में किया है। वह लिखता है --^२ मैं सब कुछ समीप होने पर भी चिन्तित क्यों रहता हूं ? चिन्ता अनायास धेर लेती है। जान पड़ता है कि मेरा कौटुम्बिक जीवन बहुत ही दयनीय है। ऊपर से तो कहीं से भी कोई कमी नहीं दिखायी देती। फिर भी मुझे धीरे-धीरे विश्वास हो चला है कि भारतीय सम्मिलित छद्म की योजना की कड़ियां चूर-चूर हो रही हैं। वह आर्थिक संगठन अब नहीं रहा, जिसमें कुल का एक प्रमुख सब के मस्तिष्क का संचालन करता हुआ रुचि का, समता का, मार ठीक रखता था^२। इन्द्रदेव अपने परिवार में इस 'अर्थ' और 'अधिकार' की आंधी को देखकर झुआव्य हो उठता है। वह आगे लिखता है --^३ माधुरी कितनी स्नेहमयी थी ? मुझे उसकी दशा का जब स्मरण होता है, मन में वेदना होती है। मेरी बहन, उसे कितना दुःख है ? किन्तु जब देखता हूं कि वह मुझसे स्नेह और सान्त्वना की आशा करने वालो निरीह प्राणी नहीं रह गयी है, वह तो अपने लिये एक दृढ़ भूमिका चाहती है, और चाहती है मेरा पतन, मुझी से विरोध, मेरी प्रतिद्वन्द्विता, तब तो हृदय व्यथित हो जाता है। यह सब क्यों ? आर्थिक सुविधा के लिए। + + +

१- तितली, पृ० ३१

२- वही, पृ० ११०

माधुरी को प्रभुत्व चाहिए । प्रभुत्व का नशा, ओह ! कितना मादक है ? मैंने थोड़ी-सी पी है । किन्तु मेरे घर की स्त्रियाँ तो इस स्काधिकार के वातावरण में मुझसे भी अधिक । सम्मिलित कुटुम्ब कैसे चल सकता है ? इस प्रकार जब पारस्परिक सहयोग, महानुभूति, उदारता और सद्भावना के अभाव में 'अर्थ' और 'अधिकार' को लेकर आन्तरिक जीवन में विघटन प्रारम्भ हो जाता है, तब स्नेह सम्बन्ध ढीले होने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप संयुक्त परिवार खण्डरूपों में विभक्त होकर आणविक परिवार में सीमित हो जाता है, और यह आणविक परिवार भी संयम के अभाव में, इसके विषाक्त प्रभाव से अक्षुता नहीं रह पाता, जिसका परिणाम होता है गृह-कलह और सम्बन्ध विच्छेद । इन सब का प्रभाव परिवार के मोले और अवोध बच्चों पर सर्वाधिक पड़ता है । इस प्रकार एक पीढ़ी का सारा कलुष और अन्धकार आने वाली पीढ़ी के अन्तर में उतर जाता है, जिसे पारिवारिक विघटन के साथ-साथ सामाजिक संगठन में भी दरार पड़ती जाती है । अतः पारिवारिक जीवन को स्वस्थ, सुखी और आदर्शमूलक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अर्थलोलुप और अधिकार-लिप्सा से ऊपर उठकर पारस्परिक सहयोग, सहिष्णुता और त्यागभावना के साथ संयमपूर्ण जीवन बिताने का व्रत लेकर चले । यह तभी सम्भव है जब हमारे जीवन के विविध पक्षों और सामाजिक सम्बन्धों में पूर्ण सामन्जस्य की स्थिति हो और यह स्थिति 'स्मरसता' द्वारा ही आ सकती है । प्रसाद साहित्य में स्मरसता-सिद्धान्त द्वारा ही इस समस्या का हल प्रस्तुत किया गया है । प्रसाद के कृतित्व में स्मरसता का दार्शनिक सिद्धान्त व्यावहारिक जीवन से अभिन्न रूप में सम्बद्ध है ।

-०-

(द्वितीय खण्ड)

नवम - अध्याय

- 0 -

सामाजिक जीवन
=====

नवम अध्याय

-0-

सामाजिक जीवन

व्यक्ति की अपनी सीमायें और सम्भावनायें होती हैं, इन्हीं के सन्दर्भ में वह अपनी वैयक्तिक क्षमताओं को बढ़ा कर पूर्णता प्राप्त करना चाहता है। पूर्णता प्राप्ति का प्रयास उसमें सामाजिकता का भाव जगा कर, उसे सामाजिक सम्बन्धों के लिए प्रेरित करता है। सामाजिक संगठन के विविध रूप इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। मानव की अपेक्षा अन्य प्राणी अपेक्षाकृत अधिक आत्म-निर्भर होते हैं। उन्हें सहारे की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती। मछली का बच्चा तैरने की कला माँ के गर्भ से ही सीख कर आता है। बतख का बच्चा पैदा होते पानी में छोड़ देने पर तैरने लगता है। बिल्ली और बन्दर के बच्चे बिना सिखाये ही पेड़ों पर चढ़ना सीख जाते हैं। लेकिन मनुष्य अपनी निरीहता में असहाय होता है। उसे उठना, बैठना, चलना, फिरना, खाना, पीना सब कुछ सीखना पड़ता है। शिक्षण उसके जीवन का एक अनिवार्य अंग हो जाता है, और इस शिक्षण के लिए सहयोग तथा सहारे की आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं आवश्यकताओं के आग्रह पर व्यक्ति को समाज का आश्रय लेना पड़ता है।

व्यक्ति, व्यष्टि का प्रतीक है, और व्यष्टि का समष्टिगत रूप ही समाज है। अतः व्यक्ति समाज की आधारभूत इकाई है। समाज के साथ उसका अटूट सम्बन्ध है। समाज में ही उसका उद्भव, विकास और विलय होता है। समाज से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं रह जाती। समाज के साथ व्यक्ति का वही सम्बन्ध होता है, जो जल की बूंद का उसकी जल-राशि के साथ। जिस प्रकार जल की बूंदों के संघात से जल-राशि का निर्माण होता है, उसी प्रकार व्यष्टि की समष्टिगत

इकाई से समाज की रचना होती है । जिस प्रकार जल की बूंद जल-राशि से पृथक् कर देने पर सूख जाती है, और जल में घुल-मिल कर एकाकार हो जाने पर भी उसका अस्तित्व बना रहता है, उसी प्रकार समाज से अलग होकर, व्यक्ति अपनी स्वाभाविक क्षमता खोकर कुंठित हो जाता है और समाज में रह कर उसके अंगभूत रूप में अपने स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए आत्म विकास करता जाता है ।

समाज में व्यक्ति का प्रवेश उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार जल-राशि में एक बूंद का प्रवेश । जब 'बूंद' जल-राशि में प्रवेश करती है, तब उसके चतुर्दिक् जल-रेखाओं का एक वृत्त बन जाता है, जो क्रमशः बृहदाकार होता हुआ दोनों किनारों से टकरा जाता है -- एक छोर एक किनारे से और दूसरा छोर दूसरे किनारे से । उसी प्रकार जब व्यक्ति समाज में प्रवेश करता है, तब उसके ससीम स्वत्व का व्यास बढ़ने लगता है, और सामाजिक सम्बन्धों के साथ-साथ उसके व्यक्तिगत जीवन का विस्तार होने लगता है । इस प्रकार उसका जीवन एक ओर व्यष्टि तथा दूसरी ओर समष्टि की सीमा के बीच फैल जाता है । ज्यों-ज्यों व्यक्ति के जीवन का विस्तार होने लगता है, त्यों-त्यों उसकी समस्याएं भी बढ़ने लगती हैं ।

'समस्या' शब्द उस स्थिति का चोतक है, जिसमें अधिकांश व्यक्ति असुविधाओं का अनुभव करते हैं । ये समस्याएं उस समय उठती हैं, जब किसी स्थिति-विशेष तथा रुढ़िगत परम्परा को अवांछनीय तथा अनावश्यक मान कर उसके संशोधन और परिवर्तन की योजना बनाई जाती है, फलतः रुढ़िवादियों और प्रगतिवादियों के बीच वैचारिक विरोध खड़ा हो जाता है । एक जिसका समर्थन करता है, दूसरा उसी का विरोध करता है । इन समस्याओं के कई रूप होते हैं -- कुछ सामाजिक समस्याएं होती हैं जिनमें कुछ मुख्य और कुछ गौण होती हैं, गौण में भी कुछ व्यक्तिगत होती हैं जिनमें और कुछ सामूहिक । मुख्य समस्याओं के अन्तर्गत वे समस्याएं आ जाती हैं, जिनका प्रभाव अधिकांश लोगों पर पड़ता है -- यथा भूकंप, लड़ाई, भूस्खलन, वर्ग-संघर्ष आदि । व्यक्तिगत समस्याएं शारीरिक बाधा, शैक्षणिक बाधा, व्यावसायिक बाधा, व्यक्तित्व विषयक बाधा के फलस्वरूप जन्म लेती हैं । सामूहिक समस्याएं उन कुव्यवस्थाओं की ओर संकेत करती हैं जिनसे समाज सामूहिक दृष्टि से प्रभावित होता है । नारी जाति से सम्बद्ध सभी समस्याएं-- विधवा समस्या,

वेश्यावृत्ति, बाल विवाह, विधवा विवाह, वृद्ध विवाह, व्यक्ति और समाज आदि की समस्याएं इन्हीं के अन्तर्गत आ जाती हैं। सामाजिक समस्या का मनोवैज्ञानिक पक्ष अनेक मानसिक कारणों से उत्पन्न होता है, यथा-- नवीनता का चाव, आकर्षण, सम्मान प्राप्ति की लालसा, यौन सम्बन्ध की बुझा, आदि। कुछ आर्थिक समस्याएं होती हैं जिनका स्रोत निर्धनता, बेरोजगारी, व्यावसायिक संकट आय तथा रहन-सहन का स्तर, पारिवारिक निर्भरता, आश्रम, श्रम संघर्ष आदि होते हैं। कुछ मानसिक कारणों से उत्पन्न समस्याएं होती हैं, जिनका परिणाम मानसिक रोग, स्वाभाविक तथा मानसिक दुर्बलता, मूर्च्छा, मथपान, आत्म-हत्या, मिथ्यावृत्ति, आदि होता है। कुछ राजनीतिक समस्याएं होती हैं, जिनमें शासक, शोषित, राजा-प्रजा और श्रमिकों की समस्याएं आ जाती हैं।

‘प्रवाद-साहित्य’ में समाज से सम्बद्ध समस्याओं को निम्न रूपों में उठाया गया है।

(१) व्यक्ति और समाज की समस्या।

(२) नारी जाति की समस्या।

(३) राजा-प्रजा की समस्या।

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज की समस्या एक सनातन समस्या है। समयानुसार इस समस्या के अनेक समाधान खोजे जाते रहे हैं, लेकिन कोई भी समाधान अपने-आपमें पूर्ण सिद्ध नहीं हो सका। आधुनिक काल में व्यक्ति और समाज की इस समस्या को सुलझाने के लिए मुख्यतः दो पद्धतियों को अपनाया गया है -- पहली है, पूंजीवादी (व्यक्तिवादी) व्यवस्था और दूसरी है, समाजवादी व्यवस्था। ये दोनों व्यवस्थाएं अपने अतिवादों में अपूर्ण हैं। एक में व्यक्ति प्रधान हो जाता है दूसरी में समाज। ‘व्यक्तिवाद का कहना था कि राज्य ‘व्यक्ति’ के लिए है, समाजवाद का कहना है कि व्यक्ति ‘राज्य’ के लिए है’^१। हमारे प्राचीन ऋषियों ने भी इस समस्या को उठाकर मनोवैज्ञानिक ढंग से इसका हल खोजा था। आश्रम तथा वर्ण-व्यवस्था के विधान में इसी समस्या का समाधान खोजा गया है, जिसमें ‘व्यक्ति’ और ‘समाज’ के बीच सामन्जस्य लाने का प्रयास किया गया है। आश्रम-व्यवस्था का सम्बन्ध व्यक्तिगत सुधारों से है और वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध

सामाजिक संगठन से । आश्रम व्यवस्था में व्यक्ति की आयु १०० वर्ष तक मान कर उसमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ, तथा सन्यास नामक चार विभागों की में विभक्त कर दिया गया है और क्रमशः इन्हें शक्ति-संचय, शक्ति-संवर्धन, नियमन और चिन्तन की अवस्था से जोड़ दिया गया है । ब्रह्मचर्य शक्ति-संचय की अवस्था है । इसमें विद्यार्थी २५ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करता हुआ, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से अपने को तैयार बनाकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है । 'गृहस्थाश्रम' अर्थ और 'काम' के सन्तुलित भाग की अवस्था है जिसकी अवधि २५ से ५० वर्ष तक निश्चित की गई है । इसके बाद वानप्रस्थाश्रम आता है, जो ५० वर्ष से ७५ वर्ष तक चलता है । इसमें व्यक्ति गृहस्थाश्रम के दायित्वों को पूर्ण कर लेने के बाद लोक-संग्रह की भावना से समाज-सेवा को अपने जीवन का अंग बना लेता है । अन्तिम अवस्था सन्यासाश्रम की अवस्था है, जिसमें चिन्तन और मनन द्वारा आध्यात्मिक साधना की जाती है । इस आश्रम-व्यवस्था का साध्य चतुर्वर्ग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, को प्राप्ति है, जो व्यक्ति और समाज के बीच स्वस्थ सम्बन्धों का आधार है ।

सामाजिक संगठन का दूसरा आधार वर्ण-व्यवस्था है । 'वर्ण' शब्द 'वृ' वरणे धातु से बना है, जिसका अर्थ है वरण करना या चुनाव करना । व्यक्ति का अन्तर्जगत अनेक विरोधी वृत्तियों का एक समवाय है । जिनमें चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं --

- (१) सात्त्विक ।
- (२) सात्त्विक + राजसिक ।
- (३) राजसिक + तामसिक ।
- (४) तामसिक ।

किसी में सात्त्विक वृत्ति प्रधान होती है, किसी में सात्त्विक के साथ-साथ राजसिक वृत्ति का योग होता है, किसी में राजसिक और तामसिक वृत्तियों को प्रधानता होती है और किसी में केवल तामसिक वृत्तियाँ ही प्रधान होती हैं । इन प्रवृत्तियों के आधार पर उक्ति वर्ग-व्यवस्था-विभाजन द्वारा ही सामाजिक संगठन सुदृढ़ हो सकता है । व्यावहारिकता की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि समाज, बौद्धिक, शारीरिक, आर्थिक और अपेक्षित अवकाश की दृष्टि से सम्पन्न हो । इनमें से यदि एक का भी अभाव हो जाय तो समाज के स्वस्थ विकास में व्यतिक्रम

आ जाता है । उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है । अतः सामाजिक व्यवस्था में सामन्तस्य लाने के लिए गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर उन्हें वर्गों में विभक्त कर दिया जाय । जिन-जिन लोगों में जिस-जिस प्रवृत्ति की प्रधानता हो, उनका प्रवृत्ति के अनुसार गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर उनके ऊपर सामाजिक दायित्व का भार रखा दिया जाय । क्योंकि एक ही व्यक्ति में सभी गुण नहीं पाये जाते और एक ही व्यक्ति सभी दायित्वों का बोझ उठा भी नहीं सकता । भारतीय चिन्तन में संभवतः इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर भिन्न गुणों का प्रतिनिधित्व करने वाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश को क्रमशः परस्वती (ज्ञान) लक्ष्मी (सम्पदा) और काली (शक्ति) शक्तियों से सम्बद्ध करते हुए उन्हें सृजन करने, पालने और संहार (अव्यवस्था को मिटा कर नयी व्यवस्था के लिए अवसर प्रदान) करने का काम सौंपा गया है । अपनी-अपनी रुचि और स्वभाव के अनुसार अवसर पाने पर व्यक्ति पर्याप्त प्रगति कर सकता है । मानसिक दृष्टि से पिछड़ा पर शारीरिक दृष्टि से स्वाम व्यक्ति उचित प्रशिक्षण पाकर एक योग्य सैनिक बन सकता है । वर्ण-व्यवस्था का विधान इन्हीं मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित था । सात्विक वृत्ति वाले बुद्धि-प्रधान लोगों को बौद्धिक विभाग में, सात्विक और राजसिक वृत्ति वाले शक्तिप्रधान लोगों को शक्तिप्रधान वर्ग में, राजसी तथा तामसी वृत्ति से प्रभावित व्यवसायात्मिका बुद्धि वालों को अर्थ-प्रधान वर्ग में और केवल शारीरिक श्रम द्वारा समाज की सेवा करने वाले, तामसी वृत्ति वालों को अवकाश प्रधान विभाग (सेवाकार्य) में रखा गया, और उन्हें क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ग की संज्ञा दे दी गई । इस प्रकार इस वर्ण व्यवस्था का आधार पूर्णतया मनोवैज्ञानिक सत्यों पर आधारित था, उसमें सामाजिक उपेक्षा और अवहेलना का भाव बिल्कुल नहीं था ।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति सम्मान और शक्ति का भूखा होता है । लेकिन संस्कारगत विशिष्टताओं के सन्दर्भ में उसकी इस भूख में

१- सामाजिक संगठन को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में हर व्यक्ति का स्थान हो, और जैसा स्थान है, उसके मेल का ही उसका कार्य (रोल) हो । समाज में व्यक्ति के स्थान (स्टेटस) तथा कार्य (रोल) में समन्वय से समाज संगठित कहलाता है, नहीं तो समाज में अशान्ति और असन्तोष हो जाता है ।

—सत्यव्रतसिद्धान्तालंकारः समाजकल्याण तथा सुरदास, पृ० ४२७

स्तर-भेद होता जाता है । बुद्धि-प्रधान वर्ग की 'भूख' केवल सामाजिक प्रतिष्ठा तक सीमित रहती है, शक्ति प्रधान वर्ग का झुकाव ऐश्वर्य, सत्ता और अधिकार की ओर होता है । अर्थ-प्रधान वर्ग की प्रवृत्ति स्वभावतः भोग-विलास की ओर होती है । श्रमजीवी वर्ग सदैव निश्चिन्तता को पसन्द करता है । अतः जो व्यक्ति जिस रुचि और स्वभाव का हो, उसे उगी प्रकार का दायित्व सौंपना अधिक समीचीन होता है । इस दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत चार वर्गों का विभाजन केवल पेशा या व्यवसाय मात्र नहीं है, बल्कि वह मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के चार प्रमुख वर्ग हैं । जब तक वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण, कर्म और स्वभाव माना जातारहा, तब तक सामाजिक व्यवस्था सुव्यवस्थित और सन्तुलित बनी रहो । लेकिन जब इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष की अवहेलना कर, इसे जन्मगत माना जाने लगा, तब सामाजिक व्यवस्था में अन्तर्विरोधों की सृष्टि होने लगी, और कलह की आंधी ने उसे आक्रान्त कर लिया । 'कंकाल' में भारत-संघ का सदस्य देवनिरंजन इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहता है— 'वर्ण-भेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है । यह जनता के कल्याण के लिए बना, परन्तु द्वेष की सृष्टि में दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, वह अधिक सहायक हुआ है । जिस कल्याण बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ, वह न रहा, गुण, कर्मानुसार वर्गों की स्थिति नष्ट होकर, आभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गई ।'

व्यक्ति और समाज के बीच विरोध की साईं उस समय और चौड़ी हो जाती है, जब व्यक्ति अधिकार और कर्तव्य के बीच सन्तुलन-की-कड़ी-टूटती-जमती है, सामन्जस्य नहीं बैठा पाता । ज्यों-ज्यों अधिकार और कर्तव्य के बीच सन्तुलन की कड़ी टूटती जाती है, त्यों-त्यों व्यक्ति और समाज के बीच साईं बढ़ती जाती है और अन्त में दोनों की संयोग-कड़ी टूट जाती है । व्यक्तिगत चेतना और सामूहिक चेतना की अपनी सीमाएं होती हैं । व्यक्तिगत जीवन में जिसे हम ग्राह्य और गतिमान मान कर चलते हैं, सामूहिक जीवन में वही आकर अग्राह्य हो जाता है । अतः व्यक्ति और समाज के बीच सन्तुलन लाने के लिए समझौते की

आवश्यकता पड़ता है दोनों को एक-दूसरे के लिए मुक्त करना पड़ता है । जहाँ पर व्यक्ति द्वारा समझौतावादी दृष्टिकोण की उद्देक्षा कर अपनी वैयक्तिक आकांक्षाओं पर ही बल देने लगता है, वहीं से वह भूलें करना प्रारम्भ कर देता है । ये भूलें दो प्रकार की होती हैं --

(१) व्यक्तिगत भूलें ।

(२) समष्टिगत भूलें ।

भूल के पीछे दो तत्त्व काम करते हैं -- पहला तत्त्व है 'अज्ञानता', और दूसरा है 'अहंभाव' । जब मानसिक दृष्टि से पिछड़ा व्यक्ति बौद्धिक क्षमता के अभाव में कोई भूल करता है, तब समाज के लिए स्वाभाविक हो जाता है कि वह उसकी टीका-टिप्पणी करे तथा उस व्यक्ति को समाजविरोधी कार्य के लिए टोके । यदि व्यक्ति सहिष्णु और संयत स्वभाव का हुआ तो वह सामाजिक सुझावों को मान कर अपनी भूलों को सुधारने और समाज के साथ घुल-मिल कर रहने का अभ्यास करता है । इसके विपरीत यदि उसमें अहंमन्यता की प्रबलता हुई तो उसका विकृत अहं उसे समाज के साथ समझौता नहीं करने देता । वह प्रत्येक अच्छे सुझावों को ठुकराने और उसके विपरीत आचरण करने में अपना गौरव समझता है । ऐसा व्यक्ति समाज से बलात् अपनी बात मनवाने की अनधिकार चेष्टा करने लगता है । यही से समाज के साथ उसका संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है । इसी संघर्ष को बचाने और सामाजिक शान्ति को बनाये रखने के लिए नैतिक मान्यताओं तथा राजकीय दंड संहिताओं का विधान किया जाता है ।

व्यक्ति प्रायः उस समय असामाजिक हो जाता है, जब उसमें निरंकुशता और विलासिता की प्रधानता हो जाती है । वह नित नवीनता की चाट जगा कर, अबाध भोग के लिए हठ करने लगता है । इसी वैयक्तिक चेतना का नियमन कर उसे उदात्त बनाने के लिए भारतीय चिन्तन में व्यक्ति और समष्टि के समन्वय पर आश्रम तथा वर्ण-व्यवस्था का विधान किया गया था । मंगल आश्रम और वर्ण व्यवस्था के आधार को स्पष्ट करते हुए कहता है -- 'हम लोग एक हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे श्रीकृष्ण ने कहा है -- 'अविक्रम भूतेषु विभक्तमिव च स्थिते' -- यह विभक्त होना कर्म के लिए है । समाज-सेवा यज्ञ को प्रगतिशील करने के लिए है । जीवन व्यर्थ न करने के लिए, पाप की आयु, स्वार्थ का बोझ न उठाने के लिए, हमें समाज के रचनात्मक कार्य में भीतरी सुधार लाना चाहिए । + + + सुधार

सौन्दर्य का साधन है । सम्यक्ता सौन्दर्य की जिज्ञासा है । शारीरिक और आलंकारिक सौन्दर्य प्राथमिक है, चरम सौन्दर्य मानसिक सुधार का है । मानसिक सुधारों में सामूहिक भाव कार्य करते हैं । इसके लिए ऋ-विभाग है । हम अपने कर्तव्य को देखते हुए समाज की उन्नति करें, परन्तु संघर्ष को बचाते हुए । हम उन्नति करते-करते मौक्तिक ऐश्वर्य के टीले न बन जायें । हां, हमारी उन्नति फल-फूल वाले वृक्षा की-सी हो जिनमें छाया मिले, विश्राम मिले, शान्ति मिले । + + + संघर्ष से बचने का एक उपाय है, वह है आत्म निरोद्धाण । समाज के कामों में अतिवाद से बचने के लिए यह उपयोगी हो सकता है + + + लोकापवाद सेश भयभीत होकर स्वभाव को पाप कह कर मान लेना एक प्राचीन रूढ़ि है। समाज को सुरक्षित रखने के लिए उससे संगठन में स्वाभाविक मनोवृत्तियों की सत्यता स्वीकार करनी होगी । सब के लिए एक पड़ा देना होगा । समस्त प्राकृत आकांक्षाओं का पूर्ति आपके आदर्श में होनी चाहिए ।^१

मंगलदेव के उक्त कथन में दो बातों की ओर संकेत किया गया है-- एक ओर उसमें स्वाभाविक वृत्तियों की सत्ता को स्वीकार कर व्यक्तिमूलक वैयक्तिक जीवन का समर्थन किया गया है और दूसरी ओर स्मानता के समर्थन में समष्टिमूलक सामाजिक जीवन को स्वीकार किया गया है । 'आश्रम' और 'वर्ण-व्यवस्था' का विधान इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करता है । प्रसाद साहित्य में इन दोनों व्यवस्थाओं को मान्यता दी गई है । 'कामायनी' में सामाजिक संगठन का आधार 'आश्रम' और वर्ण व्यवस्था ही है,^२ जिसकी घोषणा करते हुए मनु कहते हैं --

चार वर्ण बन गया, बंटा ऋ उनका अपना ।

शस्त्र यंत्र बन चले, न देखा जिनका सपना ।

+ + +

तुम्हें तृप्ति कर सुख के साधन सकल बनाया ।

मैंने ही ऋ-भाग किया, फिर वर्ग बनाया ।^३

१- कंकाल, पृ० २६२, २६३

२- इस आश्रम-व्यवस्था के मूल में जो सुदृढ़ और परीक्षित मनोविज्ञान है, वह समय पा कर विस्मृत हो गया । 'प्रसाद' जी ने उसका काव्यमय रूप पुनः उपस्थित किया है । -- आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी, प्रसाद, पृ० ६५

३- कामायनी, पृ० १६६, १६६ ।

यहां पर प्रश्न विचारणीय है कि आश्रम और वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप संगठित होने पर भी सारस्वत प्रदेश का सामाजिक संगठन क्यों विघटित हो गया ? और सामाजिक क्रान्ति में उनकी समूची संस्कृति नष्ट क्यों हो गई ? वस्तुतः सारस्वत प्रदेश की घोर मौक्तिकवादी संस्कृति का परामव दिखाकर कवि ने अपने एक बहुत बड़े मन्तव्य की ओर संकेत किया है । उसने घोर मौक्तिकवादी संस्कृतियों का पतन दिखा कर इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि पूंजीवादी और समाजवादी दोनों व्यवस्थाएं अपने 'अतिवादों' में अपूर्ण हैं -- उनका अतिवाद अधिनायकवाद का स्वरूप ले लेता है । एक में व्यापकगणिक वर्ग-विशेष 'पूँजी' को अपनी मुट्ठियों में समेट कर उसके माध्यम से 'श्रम' और 'साधन' को खरीद लेता है, दूसरी में दल विशेष का प्रधान 'श्रम' को अधिकार में लेकर उसके माध्यम से 'पूँजी' और 'साधन' स्वायत्त कर लेता है । इसप्रकार मूल में जाकर दोनों एक ही घरातल पर आ जाते हैं । और उनका अतिवाद ही उनके पतन का कारण बन जाता है । देवसंस्कृति का विनाश इसलिए हुआ है कि उसमें व्यक्तिवाद (पूँजीवाद) का प्राबल्य हो गया था, जिसमें समाज की शक्ति वर्ग-विशेष की विलासिता का साधन बन गई थी । वह विलासी संस्कृति अपने अतिवाद में 'अहं' की उस पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी, जहाँ अपना सुख ही सब कुछ हो जाता है । सारा सुख-साधन, वैभव-विलास, कुछ मुट्ठी भर लोगों के हाथों में सिमट कर उनके अबाध भोग का आधार बन गया था --

सुख केवल वह सुख का संग्रह,
केन्द्रीभूत हुआ स्तना,
छायापथ में नव तुषार का
सघन मिलन होता जितना ।
सब कुछ थे स्वायत्त विश्व के
बल, वैभव, आनन्द-अपार ॥
उद्वेलित लहरों सा होता, उस
समृद्धि का सुख-संचार ।^१

सारस्वत प्रदेश की सम्यता का पतन भी इसीलिए हुआ कि वह अति मौक्तिकवादी हो उठी थी । उसमें पूंजीवाद और साम्यवाद, दोनों को खामियां उभर आयी थीं । एक ओर समाजवाद (सब को समान अधिकार)का प्रलोभन देकर 'व्यक्ति' को कुचल दिया गया था, और दूसरी ओर सामाजिक संगठन के ऊपरी ढांचे को साम्यवाद के दृष्टिकोण पर आधारित रखते हुए भी उसे संव्यशूल बनाकर पूंजीवादी व्यवस्था का रूप दे दिया गया था, जिसके फलस्वरूप वर्ग-विशेष की स्थिति उत्पन्न हो गई । विज्ञान, प्राविधि, और आर्थिक ढांचा, मारी की सारी व्यवस्था संवय मूलक होने के कारण सारस्वत प्रदेश का समूचा समाज लोभ, लालच, प्रतारणा आदि दुर्गुणों के विष-प्रभाव से प्रभावित हो कर परिग्रही हो गया था । उसकी स्वाभाविक शक्ति क्षिन्न हो गई थी और मानसिक शान्ति के अभाव में उसका जीवन जड़ यंत्र मात्र बनकर रह गया था, जिसका विरोध करतो हुई प्रजा ने नियामक मनु से कहा था --

‘तुमने योग-दोम से अधिकस संवय वाला,
लोभ सिखा कर इस विचार-संकट में डाला ।
हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख ।
प्रकृति शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर मनीनी ।’

इस प्रकार निरंकुश प्रजापति(मनु) ने प्रजातंत्र के नाम पर समूचे श्रम, साधन और पूंजी को अपने अधिकार में लेकर स्वेच्छाचारी अधिनायक के रूप में शोषण प्रारम्भ कर दिया था । आत्म-सुख ही उसके अधिकार का सीमा हो गया था --

प्रजा का जीवन जर्जर इसलिए हो गया था कि दोषपूर्ण व्यवस्था के फलस्वरूप उसपर दुहरा बोझ पड़ रहा था -- एक ओर निरंकुश शासक मनु का

१- कामायनी, पृ० १६६

२- महानाश की सृष्टि-बीच जो क्षण हो अपना,
चेतनता की सृष्टि वही है, फिर सब अपना ।

-- कामायनी, पृ० १६१

एकाधिकार उसका शोषण कर रहा था, दूसरी ओर आपसी सद्भावना के अभाव में अधिकारों के पीछे चलने वाले पारस्परिक संघर्ष से वह जर्जर होता जा रहा था --

‘अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमया माया
वर्गों की साईं बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की ।’

यद्यपि सारस्वत प्रदेश के सभी वर्गों ने सामूहिक चेतना की प्रेरणा से निरंकुश शासक के प्रति विद्रोह कर, उसको नीचा दिखाया था, लेकिन बाद में पुनः वे अपने ही वर्ग की हित-रक्षा में स्मिट कर खण्डरूपों में विभक्त हो गये थे, सामूहिक चेतना के स्थान पर वर्गगत भावना ने घर कर लिया था । जिस वर्ण-व्यवस्था का संगठन, गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर किया गया था, अब उसका आधार जन्मगत होने लगा । जिसके हाथ में जो सामाजिक अधिकार सौंपा गया था, वह उसी से चिपक कर रह गया । इस प्रकार प्रत्येक वर्ग अपने निहित स्वार्थों की रक्षा में दूसरे की उपेक्षा करने लगा । जिसका परिणाम यह हुआ कि उदारता के अभाव में अन्तर्विरोधों की विष-ज्वाला शतधा होकर फूट पड़ी -- सामाजिक समरसता समाप्त हो गई, अनुशासन का अभाव हो गया । अधिकार-लिप्सा ने वर्ग-संघर्ष का रूप ले लिया और श्रम विभाग का सारा विभाजन व्यर्थ होकर अभिशाप बन गया, स्वयं इस व्यवस्था की सूत्र-धारिणी इड़ा के शब्दों में --

‘श्रमगत वर्ग बन गया जिन्हें,
अपने बल का है गर्व उन्हें,
नियमों की करनी सृष्टि जिन्हें,
विप्लव की करनी वृष्टि उन्हें,

सब पिये मत्त लालसा घुंटे,
मेरा साहस अब गया टूट ।

+ + +

मेरे सुविभाजन हुए विषम,

टूटते नित्य बन रहे नियम,

नाना केन्द्रों में जलधर सम,

धिर , हट , बरसे थे उपलोपम ^२

१- कामायनी, पृ० १८६

२- वही, पृ० २३६

अन्ततः हम देखते हैं कि व्यक्तिवाद (पूँजीवाद) और साम्यवाद दोनों ही अपने अतिवादों में सामाजिक शोषण पर उतर आते हैं । मूल में जा कर दोनों में वही अन्तर रह जाता है, जो दो भिन्न 'लेबल' में रखी एक ही शराब में होता है --

व्यक्ति और समाज के बीच स्वस्थ सम्बन्धों के सन्दर्भ में 'प्रसाद' जो की अपनी मान्यताएं थीं । व्यक्तिवादियों की मांगि न तो वे व्यक्ति को अबाध अधिकार देने के पक्ष में थे, और न साम्यवादियों की मांगि व्यक्ति को समाज का एक द्वाद्र अंश मानने को तैयार । सामूहिक विकास में उनका विकास था । वे स्वस्थ जीवन-दर्शन के लिए व्यष्टि और समष्टि का समीकरण आवश्यक मानते थे। उनकी धारणा थी कि 'व्यष्टि हमारे लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी समष्टि' । वस्तुतः व्यष्टि के अभाव में यदि जीवन निष्प्राण शवमात्र है, तो समष्टि के अभाव में मृगच्छना, दोनों का स्वस्थ समायोजन ही जीवन को पूर्णता प्रदान करता है । चित्र की पूर्णता रंगों और रेखाओं की संगति में है । यदि रेखाओं के अभाव में केवल रंगों को अबाध-विस्तार दे दिया जाय, तो वह चित्र अपना आकर्षण खोकर व्यर्थ हो जाएगा और यदि उसके रंगों को समेट लिया जाय तो वह मात्र रेखा-चित्र बनकर रह जायेगा । उसी प्रकार यदि व्यष्टि को ही प्रधान मान लिया जाय तो जीवन स्कान्त स्वार्थ की संकुचित सीमा में सिमट कर सड़ने लगेगा । यदि व्यष्टि को कुवल कर केवल समष्टि को ही प्रधानता दे दी जाय तो व्यष्टि अपना स्वाभाविक उल्लास खोकर नीरस और निष्पन्द हो जाएगा । चूंकि व्यक्ति और समाज दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, अतः दोनों के सहयोग में ही दोनों का विकास हो सकता है । व्यक्ति पृथ्वी की स्थूल शक्ता और आकाश के उन्मुक्त विस्तार को समेट कर ही जीवित रह सकता है । इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर 'श्रद्धा' मनु को समझाती है --

‘औरों को हंसते देखो मनु
हंसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ ।’^१

‘श्रद्धा’ के इस कथन में जहाँ एक ओर व्यक्तिगत जीवन की सत्ता को स्वीकार किया गया है, वहीं दूसरी ओर सामूहिक जीवन को सुखी बनाने पर भी बल दिया गया है। स्वयं हंसते हुए दूसरों को हंसने का अवसर देना ही जीवन की ऊँची साधना है। जो दूसरों की हंसी खीन कर हंसता, और दूसरों का घर उजाड़ कर अपना घर बसाता है, वह कभी आत्म-विकास नहीं कर पाता। उसका स्कान्त स्वार्थ उसके लिये पतन का कारण बन जाता है --

‘अपने में सब कुछ मर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा,
यह स्कान्त स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा।’^१

देव संस्कृति और सारस्वत प्रदेश की संस्कृति के स्कांगी पक्ष को दिखा कर, उसके पतन द्वारा प्रसाद ने व्यष्टि और समष्टि के समन्वय की ओर संकेत किया है। इन दोनों संस्कृतियों के विनाश पर उन्होंने उस मानवीय संस्कृति की प्रतिष्ठा की है, जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों का अस्तित्व सुरक्षित रहता है। मानवीय संस्कृति का सूत्रधार मानव स्वयं मननशील मनु के ‘व्यक्तिवाद’ और श्रद्धा के करुणामूलक साम्यवाद के समन्वय का प्रतीक है। बड़ा भौतिक उपलब्धियों की, और सारस्वत निवासियों की कैलाश-यात्रा, आध्यात्मिक शक्ति की प्रतीक है।

स्वस्थ समाज के लिए आर्थिक, आध्यात्मिक और मानसिक शक्तियों की समष्टि आवश्यक है। जिस समाज में ज्ञान (मानसिक शक्ति), कर्म (भौतिक उपलब्धियाँ) और उपासना (आध्यात्मिक उपलब्धियाँ) एक-दूसरे से पृथक् हों वह समाज कभी सुखी नहीं हो सकता। ज्यों-ज्यों उक्त तीनों पक्ष एक-दूसरे से पृथक् होते हैं, त्यों-त्यों जीवन में असंतुष्टियाँ^{अनि} लगती हैं और व्यक्ति संकीर्णता के साथ साथ जीवनगत अभावों के अनेक धेरो में घिरता जाता है जिनमें कुछ इस प्रकार हैं--

१- कामायनी, पृ० १३२

२- ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह बिडम्बना है जीवन की।

-- कामायनी, पृ० २७२।

(१) आर्थिक कठिनाइयों का घेरा ।

(२) आवश्यकताओं की बेहद बाढ़ का घेरा ।

(३) कुटुम्ब, जाति, भाई-भतीजावाद आदि संकीर्ण विचारों का घेरा ।

संयम और सन्तुलन के अभाव में उक्त तीनों ही घेरे व्यक्ति की गह्रित, स्वार्थी और लोलुप बना देते हैं, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति की सामूहिक चेतना दब जाती है और व्यक्ति तथा समाज के बीच गहरी साईं पड़ जाती है । व्यक्ति और समाज के बीच की यह असंगति तभी दूर हो सकती है, जब व्यक्ति के ज्ञान, कर्म और भाव-लोक में पूर्ण सामन्वस्य हो । इन लोकों को मिलाने वाला कड़ी वह रागात्मिका वृत्ति है, जिसे 'कामायनी' में कवि ने 'श्रद्धा' की संज्ञा दी है और 'श्रद्धा' का साध्य स्मरसता की प्राप्ति है । इसी स्मरसता द्वारा व्यक्ति और समाज के बीच स्मरसता आती है । इसीलिए 'श्रद्धा' 'मानव' को स्मरसता के प्रचार का आदेश देती है --

‘हे सौम्य । इड़ा का शुचि डुलार,

हर लेगा तेरा व्यथा -- मार,

यह तर्कमयी तूफ श्रद्धा मय,

तू मनन शील कर कर्म अमय,

उसका तू सब सन्ताप निचय,

हर ले, हो मानव-माग्य उदय,

सब की स्मरसता कर प्रचार,

मेरे सुत सुन मां की पुकार ।’^१

अन्त में स्मरसतावादी 'मानव' द्वारा, स्मरसता पर आधारित सारस्वत प्रदेश की सामाजिक रचना में आर्थिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक उपलब्धियों का पूर्ण सामन्वस्य हो जाता है । ऐसा ही समाज स्वस्थ, सुखी और दीर्घजीवी होता है ।

सुलतः स्मरसता एक समझौता है और समझौते का आधार उदारता है-- वही व्यक्ति उदार हो सकता है, जिसके आशय ऊंचे तथा भाव उदात्त हों । अतः 'स्मरसता' की प्राप्ति के लिए भावों का संस्कार आवश्यक है, और भावों का भ्रम संस्कार आत्मपरिष्कार द्वारा ही सम्भव है । व्यक्तिगत सुधार ही सामूहिक सुधार

का मूलाधार है । यदि सभी लोग अपने को सुधार लें तो समाज अपने-आप सुधार जायगा । इस तथ्य को दृष्टि में रखकर 'कंकाल' में भारत संघ के गोस्वामी श्रीकृष्ण शरण जी ने व्यक्तिगत सुधार पर ही विशेष बल दिया है :-

‘ मैं एक बात फिर कह देना चाहता हूँ कि मुझे व्यक्तिगत पवित्रता के उद्योग में विश्वास है, मैंने उसी को सामने रखकर उन्हें प्रेरित किया था^१ । ‘देवनिरंजन मा एक सीमा तक इन्हीं सत्य को स्वीकार करते हुए कहता है--‘संधों में, समाजों में, मेरी श्रद्धा न रही । मैं विश्वास करने लगा उस श्रुति वाणी में कि देवता जो अप्रत्यक्ष हैं मानव बुद्धि से दूर ऊपर हैं, सत्य हैं, और मनुष्य अनृत है । चेष्टा करके भी उस सत्य को जो प्राप्त करेगा, उन मनुष्य को मैं कई जन्मों तक केवल नमस्कार करके अपने को कृत-कृत्य समझूंगा । ‘

‘तितली’ में धामपुर गांव का सुधार वैयक्तिक सुधार का ही परिणाम है । धामपुर के एक सामान्य जमीन्दार के व्यक्तिगत प्रयास से एक शोषित गांव आदर्श गांव की प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है, जिसके प्रत्येक प्राणी को सम्मानपूर्ण जीवन किताने का अवसर मिल जाता है । इस गांव को उठाने के मूल में, कितने ही व्यक्तियों के वैयक्तिक सुधार तथा सक्रिय सहयोग का हाथ था । जमीन्दार इन्द्रदेव के त्याग, शैला की समाजसेवा, तथा तितली की आत्मविश्वासपूर्ण दृढ़ कर्मठता के सम्मिलित प्रयास से ही वह गांव एक आदर्श गांव हो सका है ।

आत्म परिष्कार के अनेक साधनों में प्रमुख साधन शिक्षा है । ‘प्रसाद’ जी ने इसकी आवश्यकता और सुव्यवस्था को अनिवार्यता पर भी विचार किया है । ‘तितली’ में तितली द्वारा बालिका विद्यालय, तथा ‘कंकाल’ में मंगलदेव द्वारा बालक बालिका विद्यालय का संचालन इसी आवश्यकता की ओर संकेत करता है ।

इस प्रकार ‘प्रसाद’ जी द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संगठन का स्वरूप अतिवाद से दूर हट कर समरसता-सिद्धान्त पर आधारित है, जिसमें स्वार्थ-त्याग और सहयोग के साथ-साथ समझौते की भावना पर विशेष बल दिया गया है ।

१- कंकाल, पृ० २३३

२- वही, पृ० २६६

राजा और प्रजा की समस्या

राज-सत्ता समाज की एक शाश्वत परम्परा रही है। यह सामाजिक संगठन की एक ऐसी इकाई है, जिसमें सभी समुदायों के समानान्तरों को दृष्टि में रखकर ऐसे विधि-विधानों का गठन किया जाता है, जिसमें संगठन का प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक हितों की रक्षा करते हुए अपनी आवश्यकताओं को पूर्ति का अवसर पा सके।

सामाजिक संगठन के पीछे दो प्रेरणाएं काम करती रहती हैं :-

(१) सुख की लालसा, और

(२) जिजीविषा।

पहली प्रेरणा का आधार अर्थोपार्जन होता है, और दूसरी का संगठन। आर्थिक व्यवस्था सुख-साधनों को जुटा कर जीवनगत अभावों को दूर करती है, और सामाजिक संगठन सुरक्षा की व्यवस्था कर एक-दूसरे को जीने का अवसर प्रदान करता है। इस प्रकार आर्थिक और सामाजिक दोनों व्यवस्थाएं एक-दूसरे की पूरक बनकर जीवन को सुख-सुविधा तथा सुरक्षा प्रदान करती हैं।

चूंकि राज समाज पर आधारित है, और समाज शान्ति-सुरक्षा पर। अतः शान्ति-सुरक्षा की व्यवस्था को बनाये रखना समाज के लिए आवश्यक हो जाता है, अव्यवस्था का स्थायित्व नियन्त्रण पर आधारित रहता है। नियन्त्रण के अभाव में समाज विशृंखल हो जाता है और समाज के विशृंखल हो जाने पर एक-एक सत्ता स्थिर नहीं रह सकती। इसी नियन्त्रण की रक्षा के लिए राज सत्ता की आवश्यकता होती है, जो नियम, विधान, और व्यवस्थाओं द्वारा समाज में फैली हुई अव्यवस्था को नियंत्रित कर जान-माल को सुरक्षा प्रदान करती है।

राज सत्ता कुशल नेतृत्व की अपेक्षा रखती है, क्योंकि कुशल नेतृत्व के अभाव में नियन्त्रण ढीला पड़ जाता है, और नियन्त्रण के अभाव में संगठन विभिन्न इकाइयों में विभक्त होकर टूटने लगता है, उसका विघटन प्रारम्भ हो जाता है। अतः सामाजिक संगठन और सामूहिक हितों की रक्षा के लिए 'नेता' का चुनाव आवश्यक हो जाता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर, समाज को नियंत्रित कर, सामाजिक विशृंखलता को रोकने के लिए, समाज, समर्थ, योग्य और प्रबुद्ध व्यक्तियों को सामाजिक नियमन का दायित्व सौंपता है। ये अगुआ अपने नियमों को चलाने के लिए जिस शक्ति का संगठन करते हैं, वही 'शक्ति' सत्ता को जन्म देती है। इस प्रकार 'सत्ता' शक्ति का पर्याय बन जाती है।

सफल नेतृत्व के लिए आवश्यक है कि नेता के प्रति उसकी जनता का अटूट विश्वास और अगाध श्रद्धा हो । यह तभी सम्भव है, जब नेता में शारीरिक व मानसिक क्षमता के साथ-साथ सामाजिकता तथा चारित्रिक दृढ़ता का हो । आदर्श चरित्र वाला व्यक्ति ही समूह की श्रद्धा और उसके विश्वास का पात्र हो जाता है । अतः समाज का समुचित नियमन करने के लिए नियामक-- राजा, का चरित्रवान होना आवश्यक है । इसलिए भारतीय आचार्यों ने राजा और प्रजा के बीच, स्वयं संबंधों के मन्दर्म में राजा के सदाचार पर विशेष बल दिया है । 'महामारत' में राज-धर्म की शिक्षा के प्रारंभ में कहा गया है -- 'राजा को स्वयं अनुशासन-प्रिय और विनयशील होकर, अपनी प्रजा को विनय की शिक्षा देनी चाहिए । जो राजा स्वयं नियमों का अवहेलना और विनय की उपेक्षा करता है, वह अपनी मूलों को न देखते हुए उपहास का पात्र बन जाता है, तथा उसकी राज्य-व्यवस्था सिन्न-भिन्न हो जाती है ।'

राजा और प्रजा के बीच सुखद सम्बन्ध की स्थापना तभी हो सकती है, जब दोनों अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्तव्यों पर विशेष बल दें । इस दायित्व के निर्वाह का सबसे अधिक भार राजा के सम ऊपर होना है, क्योंकि उसके ऊपर वैयक्तिक इच्छाओं के साथ-साथ सामूहिक हितों की रक्षा का भी भार होता है । इतने बड़े उत्तरदायित्व का निर्वाह वह तभी कर सकता है, जब वह अपनी मौलिक इच्छाओं, प्रवृत्तियों, एवं सामान्य व्यवहार तथा स्वभाव को जनता की मलाई एवं सामूहिक आदर्श की रक्षा के लिए न्योछावर कर सके । ऐसा त्यागी और निःस्वासेवी शासक लोकप्रियता प्राप्त कर सका कुशल शासक हो सकता है । इसके विपरीत सार्वजनिक हितों की उपेक्षा कर, सारे सुख-साधनों को अपने में समेट लेने वाला निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक अपनी लोकप्रियता खोकर स्वयं परामव को प्राप्त हो जाता है । उसके द्वारा शासित वर्ग उसके अमान्य, अबाध अधिकार-भोग के विरोध में आवाज़ उठाने लगता है । और राजा की ओर से अपनी पुकार का उचित उत्तर

१- 'आत्मानमेव प्रथमं विनयैरुप पादयेत् ।

अनुभृत्यान् प्रजाः पश्चादित्येव विनयक्रमः ।

स्वस्मात् पूर्वं तर्ं राजाः विनयत्येव वै प्रजाः ।

अपहास्योभवेत्तादृक् स्वदोषं स्यान् वेदाणात् ॥'

-- महामारत, (अनुशासन पर्व)

न पाकर, उसके निर्दय दमन द्वारा वह उत्तेजित हो जाता है । अन्त में उसका दुःख आक्रोश, संघर्ष का रूप धारण कर लेता है । सारस्वत प्रदेश में मनु के विरुद्ध प्रजा ने इसीलिए संघर्ष किया था कि मनु का चारित्रिक पतन हो गया था, और वे राज-नियमों को टुकरा कर बलात् सब को शासन में रखने और निर्बाध अधिकार भोगने का दुराग्रह कर बैठे थे --

‘ मैं चिर बन्धन हीन, मृत्यु सीमा उल्लंघन--

करता स्तत चलूंगा, यह मेरा है वृद्धप्रण ।

-+ + +

इड़े मुफे बह स्वत्व चाहिए जो मैं चाहूँ,

तुम पर हो अधिकार, प्रजापति न तो वृथा हूँ ।^१

स्वेच्छाचारी मनु अपने स्कान्त स्वार्थ के लिए सामाजिक व्यवस्था को भी छिन्न-भिन्न करने में कोई हिचक नहीं करते-- उनका अहं हुंकार कर उठता है--

‘ मैं शासक, मैं चिर स्वतंत्र, तुम पर भी मेरा--

हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा ।

छिन्न भिन्न अन्यथा हुई जाती है पल में

सकल व्यवस्था अमी जाय हूकती अतल में ।^२

आचरण और व्यवहार की दृष्टि से नेता दो प्रकार के होते हैं--

प्रथम स्वेच्छाचारी और द्वितीय संयमशील प्रजावत्सल । स्वेच्छाचारी शासक अपने - आप को ही सर्वसर्वा समझता है । उसके शब्द ही ‘कावून’ होते हैं । वह किसी के सत्परामर्शों और अच्छे सुझावों को स्वीकार करने में अपना अपमान समझता है । स्वेच्छाचारी शासक सभी को बलात् अपने अधिकार में रखना चाहता है । दमन और उत्पीड़न उसके प्रमुख साधन होते हैं । इसके विपरीत उदार और संयमशील शासक अपनी प्रजा के प्रति पिता के समान व्यवहार करता है । वह सेवा-भाव और वर्ग-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर काम करता है । उसे अधिकार की भूल नहीं कर्तव्य की चिन्ता रहती है । मनु प्रथम प्रकार के अहंवादी स्वेच्छाचारी शासक थे ।

१- कामायनी, पृ० १६१, १६४ ।

२- वही, पृ० १६८ ।

उनके 'अहं' ने किसी से सम्पर्कता नहीं किया -- पहले उन्होंने सैहमयी 'श्रद्धा' का प्यार ठुकराया, पुनः सारस्वत प्रदेश की रानी 'इड़ा' के अच्छे सुभावों की अवहेलना कर, उसके साथ बलात्कार करने की चेष्टा की --

‘यह छल चलने में अब पंगु हुआ सा-सम्पर्क,
सुभको भी अब मुक्त जाल से अपने सम्पर्क ।

+ + +

किन्तु आज तुम बन्दी हो मेरी बांहों में,
मेरी छाती में -- फिर सब हुआ बाहों में ।^१

स्वेच्छाचारी शासक की निरंकुशता के मूल में उसकी जातीय भावना का भी बहुत बड़ा हाथ होता है । वह अपने-आप को सबसे ऊँचा और कुलीन समझता है । सामान्य सदस्यों को अपने से निम्न कोटि का समझ कर उनके प्रति उपेक्षा का भाव रखता है । 'मनु' के हृदय में भी यही भाव काम कर रहा था । इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने 'इड़ा' और सारस्वत प्रदेश का अपमान किया था । उनकी दृष्टि में सारस्वत-निवासी असभ्य, पिछड़े और प्राकृतिक प्रकोपों से त्रस्त रहने वाले निरे असहाय थे । इसीलिए प्रजा द्वारा रक्षा की गुहार लगाने पर उन्होंने उसे फटकारते हुए गर्व से कहा था --

‘तुम्हें तृप्ति कर सुख के साधन सकल बताया,
मेने ही श्रम-भाग किया फिर बर्बाद बनाया ।
अत्याचार प्रकृति-कृत हम सब जो सहते हैं +
करते कुछ प्रतिकार न अब हम चुप रहते हैं ।
आज न पशु हैं हम, यह गूंगे कानन चारी,^२
यह उपकृति क्या भूल गए तुम आज हमारी ।’

जातीय गर्व के साथ जब हीनता की भावना भी मिल जाती है, तब स्वेच्छाचारी शासक की निरंकुशता और बढ़ जाती है । अधिकार पाने पर वह अपनी दबी हुई इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनमानी करने लगता है । मनु की निरंकुशता

१- कामायनी, पृ० १६८

२- वही, पृ० १६६

और चारित्रिक दुर्बलता उनकी हीन मनोग्रन्थि का ही परिणाम है । शासक और शासित के बीच मद्भावना की स्थिति तभी आ सकती है, जब दोनों के बीच अधिकारों का सन्तुलन हो । जिस समाज में अधिकारों के बीच सन्तुलन नहीं होता, उस समाज में आन्तरिक संघर्ष की स्थिति बराबर बनी रहती है ।

शासक और शासित की इस समस्या को सुलझाने के लिए लेखक ने 'स्मरसता' का माध्यम स्वीकार किया है^१ । 'स्मरसता' एक और अधिकारी (सत्ताधारी) और उसके अधिकारों के बीच सन्तुलन लाकर उसे व्यावहारिक बनाती है, तथा दूसरी ओर जन-मानस को मर्यादित कर उसमें सामाजिकता की भावना उत्पन्न करती है । 'इड़ा' इसी 'स्मरसता' के सन्दर्भ में मनु को समझाती हुई कहती है :—

‘मनु सब शासन स्वत्व तुम्हारा सतत निबाहे,
तुष्टि, चेतना का दाण अपना अन्य न चाहे ।
बाह । प्रजापति । यह न हुआ है, कभी न होगा,
निर्बाधित अधिकार आज तक किसने मोगा ।

+ + +

लोक सुखी हो आश्रम ले यदि उस छाया में,
प्राण-सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में ।

+ + +

जि त्रिज पटी को उठा बढ़ो ब्रह्माण्ड-विवर में,
गुंजारित घन-नाद, सुनां इस विश्व-कुहर में ।

ताल ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें ।’^२

‘प्रसाद’ जी ने इस ‘स्मरसता’ को, वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के अनेक सन्दर्भों को जोड़ने वाली कड़ी माना है । इसका प्रारम्भ व्यक्तिगत जीवन से होता है । ज्यों-ज्यों व्यक्तिगत जीवन में स्मरसता आती जाती है, त्यों-त्यों व्यक्ति-संकीर्णता से ऊपर उठता जाता है, और अन्त में उस सीमा तक पहुँच जाता है, जहाँ अपने-पराये में कोई भेद नहीं रह जाता । उसका ‘अधम स्व’ ऊर्ध्वमुखी

१- कामायनी, पृ० १६२

२- वही, पृ० १६२, १६३ ।

होकर उत्तम स्वं में परिवर्तित हो जाता है । जब तक मनु के जीवन में 'स्मरसता' का अभाव था, तब तक उनका जीवन अनेक खंडरूपों में बिखरा हुआ था । उनके भावों विचारों और क्रिया-कलापों में कोई तादात्म्य नहीं था । वे सोचते कुछ थे, और करते कुछ थे । उनकी मानसिक अस्थिरता ने उन्हें अपने ही शुमेच्छुओं के प्रति शंकाओं और असहिष्णुता बना दिया था । निःस्वार्थ समर्पण करने वाली श्रद्धा और शासक का पद दिलाने वाली 'इष्टा' जैसी देवियों को भी वे 'मायाविनी' और अभिशाप की प्रतिमूर्ति समझने लगे थे । अपनी इसी अनुदारता और चारित्रिक दुर्बलता के कारण वे अपनी प्रजा को सामाजिकता का उचित प्रशिक्षण भी नहीं दे सके, जिसके फलस्वरूप सांस्कृतिक चेतना के अभाव में प्रजा ने उनके विरुद्ध विद्रोह का फंडा उठा लिया । लेकिन जब वही मनु जीवन में 'स्मरसता' को उतार कर, अपने - आपको सामान्य स्तर से ऊंचा उठा लेते हैं, तब उनकी सारी संकीर्णता समाप्त हो जाती है, और वे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से ओत-प्रोत होकर उन सभी लोगों को अपना अवयव समझने लगते हैं, जिन्हें संघर्ष के समय वे अपना शत्रु समझते थे^१ । वही प्रजा जिसने एक दिन मनु के प्रति विद्रोह किया था, उनके तपस्वी रूप के सम्मुख स्वयं मुक जाती है ।

इस प्रकार प्रसाद ने राजा-प्रजा के बीच, राजनीतिक समस्याओं के संदर्भ में, आदर्श और यथार्थ के समन्वय पर स्वस्थ 'प्रजातन्त्र' की कल्पना की है, जिसमें सम्पूर्ण मानवता को समेट लिया गया है । उसका घरातल एकदेशीय नहीं, सार्वभौमिक है । इस महान उत्तरदायित्व का निर्वाह भी एक महान व्यक्तित्व वाला प्रकम्पसह-क प्रशासक ही कर सकता है, विलासिता के कर्म में सना हुआ कामुक-विलासी नहीं । अतः प्रसाद ने प्रशासक की बौद्धिक क्षमता के साथ-साथ उसकी चारित्रिक दृढ़ता पर भी विशेष बल दिया है । क्योंकि बिना चारित्रिक दृढ़ता के कोई प्रशासक, अपनी प्रजा का विश्वास प्राप्त नहीं कर सकता, और विश्वास के अभाव में कोई व्यवस्था दीर्घजीवी नहीं हो सकती । इसीलिए 'श्रद्धा' ने मानव को बुद्धि, विवेक (चिन्तन) और सहृदयता (श्रद्धाभाव) में स्मरसता लाकर, नयी शासन-व्यवस्था का आदेश दिया था ।

१- कामायनी, पृ० १५३, १५४, १६६ ।

२- वही, पृ० २८७

नारी जाति की समस्या

किसी जाति की समस्या का स्वरूप, उसकी 'सामाजिक मर्यादा' और उसके प्रति समाज की 'भावना' के अनुरूप होता है। जो जाति सामाजिक प्रतिष्ठा और समाज की सद्भावना प्राप्त कर चुकी होती है, उसकी समस्याएं अपेक्षाकृत कम जटिल और अपने ढंग की होती हैं, इसके विपरीत समाज की सद्भावना सेवंचित और गिरी हुई जातियों की समस्याएं अपने-आप में उलझी हुई, और जटिल होती हैं। सामाजिक उपेक्षा के फलस्वरूप उनका स्वरूप और भी विकृत हो जाता है। अतः सामाजिक भावना के आधार पर ही जाति-विशेष की समस्या का स्वरूप ह-भेद जाना जा सकता है। इसी दृष्टि से, 'प्रसाद साहित्य' में नारी जाति की समस्या पर विचार करने के पूर्व यह देख लेना अधिक समीचीन होगा कि विभिन्न युगों में नारी जाति की सामाजिक स्थिति क्या थी, और हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों में नारी भावना का स्वरूप क्या था?

जिस प्रकार सामाजिक संगठन में नारी जाति का एक विशिष्ट स्थान रहा है, उसी प्रकार उसकी समस्या भी समाज की एक शाश्वत समस्या रही है। नारी जाति के विषय में समाज का दृष्टिकोण कभी एक-सा नहीं रहा। यही कारण है कि समय-समय पर नारी जाति की सामाजिक स्थिति के स्तर में अनेक उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। जहां तक भारतीय समाज का प्रश्न है, इसके वैदिक काल में नारी जाति को विशेष सम्मान और प्रतिष्ठा का पद प्राप्त था। वह सामाजिक संगठन की आधारभूत व्यवस्था -- आश्रम-परम्परा, की सूत्रधारिणी थी। उस समय आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ तथा ब्रह्म आश्रमों का आधार मान कर उसे विशेष सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था और इस 'आश्रम' की केन्द्रविन्दु थी स्त्री। इस दृष्टि से समाज में स्त्री का एक सम्मानित स्थान था। पितृगृह से श्वसुर गृह में प्रवेश करने पर उसे 'गृहिणी' और 'गृहलक्ष्मी' का पद प्रदान किया जाता था। वह सास, श्वसुर, ननद, देवर, सब पर शासन (स्नेहपूर्ण नियन्त्रण) करती हुई समादरणीय स्थान प्राप्त करती थी। उसे शिक्षा, दीक्षा, तथा वेद के पठन-

१- 'साम्राज्ञी श्वसुरे भव, साम्राज्ञी श्वश्रवा भव।

ननान्दरि साम्राज्ञी भव, साम्राज्ञी अधिदेवूष।'

-- ऋग्वेद १०।८५।४६।

पाठन का पूर्ण अधिकार प्राप्त था । वह दार्शनिक कर्वाओं और शास्त्रार्थों में भी भाग लेने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र थी । इस प्रकार पूर्व वैदिक काल में नारी जाति को वे सभी अधिकार प्राप्त थे, जिनका अधिकारी पुरुष वर्ग था^१ । लेकिन उत्तरवैदिक काल से नारी जाति की सामाजिक स्थिति में गिरावट प्रारम्भ हो गई । उसे 'शराब' और 'जुरे' के समान जीवन को गिराने वाला, अपावन तत्त्व माना जाने लगा । जागे जाने वाले युगों में क्रमशः उसकी दशा दयनीय होती गई, स्क-स्क कर उसके अधिकार ह्निताये गये । मध्य युग तक आते-आते नारी जाति का सामाजिक स्तर बिल्कुल गिर गया । वह भोग-विलास का एक माधन मात्र बनकर रह गयो । कुछ अपवादों को छोड़कर अबला नारी आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि दृष्टियों से परतन्त्र और परमुखापेक्षी होकर पुरुषों की दया पर जीने लगी । उसकी स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो गयी? अब वह गृहिणी के स्थान पर 'गृह-शोभा' की वस्तु बन गयी थी । नारी जाति के प्रति समाज की इस विलासी प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि वह बाल विवाह, वृद्ध विवाह, वेश्या, विधवा आदि समस्याओं के घेरे में घिर कर घुटने लगी ।

साहित्य समाज का स्वर होता है, और समाज से ही प्रेरणा प्राप्त कर वह अपने स्वरूप का सीमांकन करता है, अतः सामाजिक संस्कारों से वह अपने आप को अछूता नहीं रख सकता । यही कारण है कि प्रचलित परम्पराओं और व्यवस्थाओं के प्रति युग-विशेष की जो सामाजिक मान्यता रहती है, उस युग के कलाकार का युगबोध प्रायः उसी परिधि के भीतर रहा करता है । जो कलाकार उस परिधि को लांघ कर अपने भाव-बोध को नयी दिशा देने में समर्थ हो जाता है, वही युगान्तरकारी कलाकार का पद-प्राप्त करता है । साहित्य में नारी भावना का विकास भी इसका अपवाद नहीं । वह भी तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों तथा तन्जन्य दृष्टिकोणों से प्रभावित होती रही है ।

किसी की सामाजिक स्थिति का आकलन देश की आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के आधार पर किया जाता है । उक्त आधारों के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति जो सामाजिक अवस्था प्राप्त करता है, उसी के अनुसार उसे सामाजिक प्रतिष्ठा का पद प्राप्त होता है । समय-समय पर साहित्य में नारी जाति के प्रति आदर-निरादर, राग और विराग के जो उद्गार होते रहे हैं, उनके पीछे नारी की सामाजिक स्थिति तथा तत्कालीन युग-बोध का बहुत बड़ा हाथ रहा है । हिन्दी साहित्य में भी नारी भावना का विकास उसकी सामाजिक

प्रतिष्ठा के आधार पर हुआ है ।

हिन्दी का आदिकाल आर्थिक दृष्टि से सामन्तशाही की विलासिता से जर्जर और राजनीतिक दृष्टि से अस्थिर था । अतः इस युग में रचा गया साहित्य शृंगार प्रधान रहा । उनमें नारी के अमृत, विलासी, और वासनामूलक रूप-वर्णों को ही प्रधानता दी गई, जिसमें नख-शिख वर्णन, नायिका का सौन्दर्य निरूपण, नारी मेढों का परिगणन ही साहित्य का साध्य मान लिया गया । इन काव्यों में कर्तव्य भावना के प्रति जागरूक करने वाली नारी का, महिमामयी माता का रूप न दिखा कर मान करने, गप मारने, और शुकगारिका पढ़ाने वाली विलासिनी का रूप चित्रित किया गया है । यद्यपि कहीं-कहीं नारी के वीर रूप की भी फांका मिल जातो है, लेकिन ऐसे चित्रों की संख्या नगण्य है ।

भक्ति काल को हम भाव स्तर की दृष्टि से हिन्दू समाज की मानसिक कुण्ठा का काल कह सकते हैं । निवेशनिम विवेशियों के मुकाबले देशी नरेशों की पराजय ने हिन्दू जाति में निराशा, निरुत्साह और जीवन के प्रति उपेक्षा का भाव भर दिया था । जीवन से निराश और उदास व्यक्ति या तो अन्तर्मुखी होकर आत्म-चिन्तन में लीन हो जाता है या विलासिता के मल प्याले में अपना गम डुबाने लगता है । भक्ति काल में पहले प्रकार की प्रतिक्रिया हुई और रीतिकाल में दूसरे प्रकार की । भक्ति काल की प्रायः सभी शाखाओं में नारी को मुख्यतः दो रूपों में देखा गया है । एक है उसका सामान्यरूप और दूसरा है विशेष रूप । सामान्य रूप, लौकिक तथा यथार्थरूप है और विशेषरूप, पारलौकिक तथा आदर्शमूलक । सामान्य रूप में नारी को भौतिक स्तर पर रखकर देखा गया है और उसे आध्यात्मिक उन्नति में बाधक समझ कर उसकी निन्दा की गई है । उसे नरक-द्वार, दुर्गुणों की खान, माया, नटिनी, भक्ति और मुक्ति को नष्ट करने वाली आदि कहा गया है । सब मिला कर भक्त कवियों ने नारी जाति की पूरी उपेक्षा की है । यद्यपि नारी के विशेषरूप को उन्होंने वन्दनीय, ग्राह्य, तथा आदरणीय मान कर उसके प्रति सम्मान का भाव भी प्रकट किया है फिर भी सामान्य नारी का व्यापक रूप उक्ति न्याय से वंचित रह गया है । उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा पर कुछ भी बल नहीं दिया गया है । विशेषरूप में भी जिन नारी-पात्रों की अभ्यर्थना की गई है, या तो वे स्वयं 'शक्ति' का प्रतिनिधित्व करती हैं, यथा सीता, राधा, पार्वती, पद्मावती आदि या वे सामान्य नारी जाति से बहुत ऊपर उठी हुई

‘देवी कौटि’ की हैं ।

रीतिकाल की सामाजिक प्रतिक्रिया मक्तिकाल से भिन्न, विलासिता के घरातल पर हुई थी । अतः इस काल की साहित्यिक विधा का विकास घोर शृंगारिकता को लेकर हुआ, जिसका आधार था स्थूल ऐन्द्रिकता से अनुप्राणित नारी-भावना । इस युग में नारी का बाह्य स्वरूप-- शरीर मात्र, प्रधान हो गया । साहित्य-साधकों की सारी साधना बहुविध नायिकाओं के हाव-भाव, हास-विलास, कैलिकलाप, और उनके नख-शिख वर्णन तक ही सीमित रह गई थी । इस प्रकार रीतिकाल में नारी के सामाजिक स्तर को गिरा कर उसे विलासिनी वेश्या के स्तर पर लाकर सड़ा कर दिया गया, जिसका परिमार्जन जा कर आधुनिक काल में हुआ ।

‘आधुनिक काल’ पुनर्जागरण का काल था । समाज-सुधारकों और राजनीतिक नेताओं के प्रयास से जनता में नवजागरण की लहर दौड़ने लगी थी । शोषण का स्थान सेवा-भाव, और घोर ऐन्द्रिकता तथा विलासिता का स्थान त्यागपूर्ण राष्ट्रीय चेतना ने ले लिया था । राष्ट्र के इस मुक्ति-आन्दोलन में स्त्री और पुरुष दोनों ने ही समानरूप से भाग लिया था, फलतः स्त्री जाति के प्रति लोगों की परम्परागत धारणाओं और मान्यताओं में भी पर्याप्त अन्तर आता गया । उसकी सामाजिक स्थिति पर नई दृष्टि से विचार होने लगा । छायावादी कवियों ने नारी के प्रति विशेष सन्तुलित और सम्मानपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया । उन्होंने नारी जाति के विषय में परम्परागत अतिवादी दृष्टिकोण--वैराग्य प्रसूत भावना (मक्तिकाल) तथा काम-प्रसूत भावना (रीतिकाल) से सर्वथा भिन्न उदात्त भाव को अपना कर नारी की प्रतिष्ठा प्रतिपादित की । उनकी दृष्टि में नारी अभिशाप की छाया नहीं, वरदान की देवी थी । वासना की मूर्ति नहीं त्याग की प्रतिमा थी । उन्हें नारी के सात्त्विक साहचर्य में गंगा स्नान की पावनता और उसकी मधुर वाणी में त्रिवेणी की लहरों का गान सुनाई पड़ता था --

‘तुम्हारे बूने में था प्राण, संग में पावन गंगा-स्नान ।

तुम्हारी वाणी में कल्याण । त्रिवेणी की लहरों का गान^१ ।’

छायावादी काव्य में नारी-सौन्दर्य के प्रति उपमोग का भाव नहीं, स्पर्श और पुलक का भाव है। जिसमें कौतूहल, विस्मय, अतीन्द्रिय गौरव के भाव-बोधों की स्पष्टि हो गई है। डा० मगेन्द्र के शब्दों में -- छायावादी कवि प्रेम को एक शरीरी भूख न समझ कर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारी के अंगों के प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतंक से सहम कर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत हो गया है। इसी कौतूहल ने छायावाद के कवि और नारी के बीच अनेक फिलमिल परदे डाल दिये हैं^१।

‘प्रसाद’ भारतीय वाङ्मय के गम्भीर अध्ययन और भारतीय संस्कृति के सज्ज प्रस्तोता थे। भारतीय संस्कृति और साहित्य से ही उन्होंने अपने दार्शनिक चेतना ग्रहण की है। नारी-जाति के प्रति उनकी सम्मान-भावना भी इसी अध्ययन शीलता का परिणाम है -- बौद्धकालीन चरित्रों के अध्ययन से प्रसाद जी ने एक मुख्य वस्तु निकाली -- नारी शक्ति का सम्मान, दूसरी मुख्यवस्तु निकाली अहिंसा अर्थात् पतितों के प्रति करुणा का भाव^२।

नारी की सामाजिक मर्यादा का निर्धारण प्रायः दो दृष्टियों से किया जाता है। पहली है सम्बन्ध-- दृष्टि, दूसरी है व्यवहार की दृष्टि। सम्बन्ध की दृष्टि से नारी जाति को तीन वर्गों में रखा जा सकता है --

(१) पहला वर्ग उन स्त्रियों का है जो अपने आप को पति के चरणों में डालकर अपने अस्तित्व को मिटा देती हैं। उनकी अपनी कोई दिशा नहीं रह जाती। कोई इच्छा नहीं रह जाती, उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं रह जाता। वे जड़ सी निर्जीव होकर पति के लिए अपने-आपको मशीन बना डालती हैं।

(२) दूसरे वर्ग में वे नारियां आती हैं, जो आत्मसमर्पण तो कर देती हैं, लेकिन उनका यह आत्म समर्पण विवशता जन्य निराशाओं का प्रतिफलन न होकर स्वाभिमान से पूर्ण सहयोग पर आधारित होता है। हमें अन्धानुकरण नहीं जागरूक साहचर्य सम्बन्ध और समर्पण का भाव रहता है।

१- डा० मगेन्द्र : आधुनिक साहित्य (छायावाद की परिभाषा)

२- आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृ० ७६।

(३) तीसरी कोटि में वे नारियां आती हैं जो समकक्षता के स्तर पर सहयोग करती हुई अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखती हैं। ऐसी स्त्रियां आत्मसमर्पण नहीं करती, उनमें हृदय की अपेक्षा बुद्धि तत्त्व प्रधान होता है। वे अपने व्यक्तित्व को एक इकाई के रूप में अङ्गुण बनाये रखना चाहती हैं।

प्रसाद-साहित्य में हमें नारी चरित्रों के उक्त तीनों वर्ग मिल जाते हैं। प्रथम वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, मनोरमा^१। दूसरे वर्ग का प्रतिनिधित्व राज्यश्री, मल्लिका, देवमना, तिलली, श्रद्धा आदि समर्पणशील नारियां करती हैं और तीसरे वर्ग का प्रतिनिधित्व इडा^२, शैला^३ जैसी स्वतन्त्र विचारों वाली स्त्रियां करती हैं। उक्त वर्गों में दूसरे वर्ग के प्रति प्रसाद की विशेष सहानुभूति है।

नारी के दो रूप होते हैं -- पहला है 'रमणीरूप' और दूसरा है, 'मातृरूप'। रमणीरूप उन्मद आकर्षक और बनाव-शृंगार की नित - नूतन विधाओं की उपज होता है, जिसकी अंतिम सीमा होती है, बुम्क, आलिंगन, और वासना विलास की विस्तार-रेखा। इसके विपरीत नारी का वह 'मातृरूप' है जिसका नारीत्व नगराज हिमालय से भी ऊंचा है, और उसका सहज प्रेम सागर से भी गहरा होता है, जिसमें सहज शान्ति, सन्तोष और सौम्यता का सुन्दर संगम होता है।

'कामायनी' में हमें नारी के उक्त दोनों रूपों की स्वाभाविक और सजीव फांकी मिल जाती है। 'कामायनी' की देव-संस्कृति को नारी के 'रमणीरूप' का ही विस्तार कहा जा सकता है, जो विलासिता के सभी उपकरणों से सज्जित है। इस उन्मद और विलासी 'रमणीरूप' की एक फांकी देखिये --

कंकण - कवणित रणित नूपुर थे

हिलते थे छाती पर हार,

मुखरित था कलरव, गीतों में --

स्वर - लय का होता अभिसार ।

+ + +

'वह अनंग पीड़ा अनुभव सा
 अंग मंगियों का नर्तन ;
 मधुकर के मरन्द-उत्सव सा
 मंदिर भाव से आवर्तन ।
 सुरा सुरभिमय बदन अरुण स वे
 नयन मरे आलस अनुराग;
 कल कम्प कपोल था जहां विह्वलता
 कल्प वृक्षा का पति पराग ।^१

धर दूसरी ओर , सहजशान्ति और सन्तोष के नाथ, परार्थ,
 शालियों को बीन बीन कर अन्न-बीजों का संग्रह करने तथा तकली चलाने वाली
 नारी के 'मातृरूप' का यह सात्त्विक चित्र देखिये --

'कैतकी गर्भ सा पीला मुंह,
 आंखों में आलस-मरा स्नेह;
 कुछ कृशता नहीं लजीली थी
 कपित लतिका-सी रही देह ।
 मातृत्व बोझ से झुके हुए
 बंध रहे पयोधर पीन आज ;
 कौमल काले ऊनों की नव
 पट्टिका बनाती रुचिर साज ।
 सोने की सिक्का में मानों
 कालिन्दी बहती मख उसास;
 स्वर्गा में इन्दीवर की
 या स्क पंक्ति कर रही हास ।

+ + +
 अक्ष-बिन्दु बना था फलक रहा
 मावी जननी का सरस गर्व;
 बन कुसुम बिखरते थे भू पर
 जाया समीप था महापर्व ।^२

१- कामायनी , पृ० ११

२- वही , पृ० १४२, १४३

प्रसाद साहित्य में नारी के उदात्त मातृरूप को ही स्तुत्य और वरेण्य माना गया है । प्रसाद के सभी नाटकों, कहानियों और काव्य-कृतियों में नारी का यही रूप स्वीकार किया गया है, जिसके प्रभाव से वामना का विष-प्रभाव समाप्त हो जाता है और पुरुष का विकृत अहं परिष्कृत होकर आत्मबोध की दिशा में मुड़ जाता है । उसकी सारी पंक्तिता दूर हो जाती है और मातृरूप नारी का शीतल आंचल उसे असीम शान्ति प्रदान कर देता है । शान्ति की खोज में दरदर मटकने और वासना की आंधी में अपने गन्तव्य-पथ को भूल जाने वाले, मनु को सच्ची शान्ति तभी मिलती है, जब वे स्नेहमयी नारी के मातृरूप का सुखद स्पर्श पाते हैं --

‘बड़ा चकित, श्रद्धा आ बैठी
वह थी मनु को सहलाती,
अनुलेपन सा मधुर स्पर्श था
व्यथा मला क्यों रह जाती ?
उस मुक्ति नीरवता में कुछ
हत्के से स्पन्दन आये,
आँखें खुली चार कोनों में
चार बिन्दु आ कर कार्ये ।’

अन्त में वासना का ज्वार उतरने पर जब मनु को आत्म-बोध की अनुभूति होती है, तब वे निर्विकार ‘मार्तमूर्ति’ के सामने श्रद्धा से सिर झुका कर उसे अपनी पथ-प्रदर्शिका बना लेते हैं --

‘मनु ने देखा कितना विचित्र ।
वह मातृमूर्ति थी विश्वामित्र ।
बोले ‘रमणी तुम नहीं चाह ।
जिसके मन में हो मरी चाह ।

+ + +

देखा मनु ने नर्तित नटेश,
हृत्प्रेत पुकार उठे विशेष,

यह क्या श्रद्धा ! बस तू ले चल,

+ उन चरणों तक, निज दे सम्बल,
+ + +

श्रद्धा आगे मनु पीछे थे
साहस-उत्साही से बढ़ते ।^१

प्रत्येक व्यक्ति अपनी युग-परम्पराओं से प्रभावित होता है । ये परम्पराएं दो प्रकार की होती हैं --

(१) पैतृक परम्पराएं ।

(२) सामाजिक परम्पराएं ।

पैतृक परम्पराओं का घनिष्ठ सम्बन्ध संस्कारों से होता है और सामाजिक परम्पराओं का वातावरणजन्य प्रभावों से । इन्हीं परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण का निर्धारण करता है । किसी में पैतृकता प्रधान हो जाती है, किसी में वातावरणजन्य प्रभाव । यही कारण है कि प्रत्येक युग में दो विरोधी विचारधाराएं चला करती हैं -- एक परम्परागत रूढ़ियों में जकड़ी हुई पुरातनपन्थी और दूसरी सामाजिक रूढ़ियों से पृथक् स्वतन्त्र पथानुगामिनी आधुनिक युग में भी मानसिक दृष्टि से नारी-जाति दो वर्गों में विभक्त है । उसका एक वर्ग, पुरातन पन्थी पुरुषों के प्रतिबन्धों में जकड़ा हुआ प्राचीन परम्पराओं की लीक पर चलने वाला है, दूसरा पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से उच्छ्वलता और स्वच्छन्दता की अतिशयता में गुमराह है । यह दूसरा वर्ग तीन भिन्न धरातलों पर संघर्ष ले रहा है । पहला धरातल पारिवारिक, दूसरा है सामाजिक और तीसरा है राष्ट्रीय आन्दोलनों का ।

पारिवारिक धरातल पर आधुनिक नारी पति के विशेषाधिकारों को चुनौती दे रही है । सामाजिक धरातल पर वह समाज की रूढ़िवादी परम्पराओं को ठुकरा कर स्वतन्त्र होना चाहती है और तीसरे धरातल पर राष्ट्रीय आंदोलनों में भाग लेकर पुरुष वर्ग के समकक्ष सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहती है । इस प्रकार पुरातन और अधुनातन विचारधाराओं से प्रभावित उक्त नारी वर्गों का अधिकार-सीमा के सन्दर्भ में भी अपना-अपना दृष्टिकोण है । पहला वर्ग, गृहिणी पद के प्राप्त अधिकारों में ही संतुष्ट रहना चाहता है, उसकी जीवन-रेखा सरल और अपने-आप में सिमटी हुई है । लेकिन दूसरा वर्ग, जो आधुनिक शिक्षा के

प्रभाव में पला है, वह कर्तव्य की अपेक्षा अधिकार को प्राथमिकता देने पर विशेष बल देता है, जिससे आपसी तनाव बढ़ जाता है ।

ज्यों-ज्यों अधिकार का स्वर प्रधान और कर्तव्य का स्वर गौण होता जाता है, त्यों-त्यों सामाजिक सम्बन्धों में कटुता आती जाती है । आधुनिक युग में स्त्री-पुरुष के बीच संघर्ष का मूल कारण असन्तुलित अधिकारों की दृष्टिपूर्ण व्यवस्था है और अधिकारों में सानुपातिक सम्बन्धों का अभाव इसलिए है कि स्त्री-पुरुष में सामरस्य का अभाव है । 'प्रसाद' ने अधिकार-सीमा की दृष्टि से स्त्री-पुरुष के बीच संघर्ष की स्थिति बताते हुए इस समस्या के समाधान के लिए 'समरसता' का मार्ग स्वीकार किया है^१ । उन्होंने सीमित सन्दर्भ में नारी जाति की अपेक्षित स्वतन्त्रता को व्यवहार्य माना है । वे इस पक्ष में नहीं थे कि नारी जाति उच्छ्वसल होकर अधिकार की बलिवेदी पर अपने जातीय गुणों-- स्नेह, श्रद्धा, दया, माया, ममता, प्रेम आदि के साथ निर्मल नारीत्व को बलि चढ़ाकर क्रूरता की प्रतिमूर्ति बन जाय । 'अज्ञातशत्रु' में उन्होंने मल्लिका और अन् दीर्घ कारायण के माध्यम से अपने इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है । दीर्घकारायण शक्तिमती को समझाता है -- विश्व भर में सब कर्म सब के लिए नहीं है । + + कठोरता का उदाहरण है पुरुष, और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है जो अन्तर्जगत का उच्चतम विकास है । जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं + + + उन्हें दुरुपयोग में मत ले आओ । क्रूरता अनुकरणिय नहीं है, उसे नारी जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा^२ । इसीलिए 'प्रसाद' ने नारी को श्रद्धा का स्वरूप माना है, जो रागात्मक भाव-बोध का प्रतीक और सेवा, समर्पण तथा त्याग की मूर्ति है । यहां पर यह आशंका उठायी जा सकती है कि आधुनिक समाज में जहां पग पग पर स्पर्धा और प्रतियोगिता का बोल-बाला है, कोई संघर्ष से अछूता रह कर कैसे आगे बढ़ सकता है ? इस दृष्टि से नारी को केवल 'करुणा' और 'श्रद्धा' तक सीमित कर देना क्या उसकी प्रगति को बाधा पहुंचाना नहीं है ? यह सच है कि

१- कामायनी, पृ० १६२

२- अज्ञातशत्रु, पृ० १५०

निरी भावुकता प्रगति में बाधक होती है । लेकिन 'प्रसाद' का आशय नारी जाति को भावुक बना कर, शारीरिक, मानसिक, और बौद्धिक दृष्टि से उसे पुरुष की तुलना में निम्न ठहराना और परमुखापेक्षी बनाना नहीं है, बल्कि उसे झुद्ध अधिकारों तथा संकीर्ण विचारों से ऊपर उठा दे कर उसकी कर्तव्य-भावना को उद्बुद्ध करना है जिससे वह शारीरिक, मानसिक, तथा शैक्षणिक दृष्टि से सम्पन्न होकर प्रतियोगिता के अस्वस्थ भावों को बचातो हुई अपने व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास कर सके ।

क्योंकि शारीरिक, मानसिक और शैक्षणिक दृष्टि से समर्थ, चरित्रवान तथा कर्मठ व्यक्ति अपनी कर्तव्य-परायणता के बल पर स्वतः ही अधिकार का भागी हो जाता है । कर्तव्य की अवहेलना कर, अधिकार के पीछे पागल होकर दौड़ने वाली शक्तिमती, छलना, अंतर्देवी, विजया आदि अपना सब कुछ खो कर जिसे नहीं पा सकी, उसी को वासवी, मल्लिका, तितली, देवसेना, श्रद्धा आदि कर्तव्यनिष्ठ नारियों ने अपने त्याग और सेवा-भाव से सहज ही प्राप्त कर लिया । अतः यह मानना संगत न होगा कि 'प्रसाद' जो बुद्धि के विरोधी थे, हाँ वे बुद्धिवाद की अति के विरोधी अवश्य थे^१ ।

इसी प्रसंग में 'प्रसाद' ने आर्थिक अभावों से अभिशिष्ट नारी-वर्ग की समस्या को भी उठाया है । 'कंकाल' में उन्होंने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि किस प्रकार समाज की अर्थपरायणता और धर्माडम्बर की दुरभिसन्धि से नारी-जीवन जर्जर होता रहा है । और अपनी निरीहता में असहाय इस अबला जीवन को अपनी सहायता के लिए हाथ फैलाने पर पुरुष जाति द्वारा बार-बार अपमानित होना पड़ा है । 'ध्रुवस्वामिनी' में मन्दाकिनी का कथन इसी अबला जीवन की पुकार है । कितनी चीट है, उसके इन शब्दों में — 'स्त्रियों के बलिदान का भी कोई मूल्य नहीं । कितनी असहाय दशा है ? अपने निर्बल और अवलम्ब खोजने वाले हाथों से यह पुरुषों के चरणों को पकड़ती है और वह सदैव ही इनको तिरस्कार^२, घृणा, और दुर्दशा की भिजा से उपकृत करता है । तब भी यह बावली मानती है ?' स्नेहमयी^३ ने भी इसी प्रकार की विवशता का अनुभव किया था —

१- नन्ददुलारे बाबूपयी, 'प्रसाद', पृ० ६४

२- ध्रुवस्वामिनी, पृ० ५५

यह आज समझ तो पाई हूँ
 मैं दुर्बलता में नारी हूँ,
 अवयव की सुन्दर कोमलता
 लेकर मैं सबसे हारी हूँ ।

+ +

मैं जमी तोड़ने का करती
 उपहार स्वयं तुल जाती हूँ,
 मुज-ल्ला फंसा कर नर-तरु को से
 झूले सी फाँके खाती हूँ ।^१

अर्थ और शक्ति का अभाव नारी को उस समय और भी पंगु बना देता है, जब वह विधवा होकर चारों ओर से अपना सामाजिक संरक्षण खो बैठती है । आश्रय के अभाव में उसकी दशाबढ़ी दयनीय हो जाती है । आवश्यकताओं का आग्रह उसे पतित और पागल बना देता है । विधवा रामा, गोविन्दी, घण्टी, (कंकाल) का चारित्रिक पतन मुख्यतः अर्थभाव का परिणाम है । इस समस्या का समुचित समाधान तभी हो सकता है, जब नारी जाति आर्थिक परतंत्रता से मुक्त होकर स्वावलम्बन पर खड़ी हो जाय और स्वावलम्बन पर वह खड़ी तभी हो सकती है, जब उसके पास साहस, संकल्प, और शिक्षा का संबल हो । गाला (कंकाल) और तितली (तितली) द्वारा कन्या-पाठशालाओं का संचालन इसी दिशा की ओर संकेत करता है ।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नारी-जाति की सामाजिक प्रतिष्ठा को गिराने और उसके जीवन को अशान्त बनाने वाले दो तत्व हैं-- पहला है अर्थभाव और दूसरा है, पुरुष की अधिकार लिप्सा । इस प्रकार अर्थ और अधिकार के दो पाटों में पिस कर नारी निर्जीव सी हो गई है । एक ने उसे कुंठित बना दिया है तो दूसरे ने आन्तरिक शान्ति छीन ली है । प्रसाद ने इन दोनों समस्याओं के समाधान संकेतित किये हैं । उन्होंने आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए शिक्षा और स्वावलम्बन का सुझाव रखा है, ~~ह~~ तथा अधिकारों के बीच सामन्जस्य लाने के लिए समरस्ता का ।

‘स्मरसता’ में आस्था रखकर और स्वावलम्बन को अपना कर ही नारी जाति स्वयं को उठाकर समाज को शान्ति, संयम और सन्तोष का पाठ पढ़ा सकती है। जिस दिन नारी जाति अपने नारीत्व को जगाकर निर्विकार ‘मातृपद’ को प्राप्त कर लेगी, उसी दिन उसकी अमर्यता में पुरुष का सारा अहं पिघल कर मनु के इन शब्दों में फूट पड़ेगा --

‘तुम देवि। आह। कितनी उदार,
यह ‘मातृमूर्ति’ है निर्विकार,
हे सर्वमंगल। तुम महती,
सब का दुःख अपने पर सहती,
कल्याणमयी बाणी कहती,
तुम कामा-निलय में हो रहती,
मैं भूला हूँ तुमको निहार।
नारी-सा हो। वह लघु विचार।’^१

इस प्रकार जीवन के विविध पक्षों के सन्दर्भ में प्रसाद-साहित्य की विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ‘प्रसाद’ की दार्शनिक चेतना का व्यावहारिक पक्ष अपने-आप में पूर्ण है। उनकी दार्शनिक उपपत्तियाँ पूर्ववर्ती दार्शनिक सिद्धान्तों से जितनी सम्बद्ध हैं, उतनी ही समकालीन जीवन की विविध स्थितियों से भी। इसीलिए उनका जीवन-दर्शन समकालीन परिस्थितियों से जुड़ा हुआ है और यही ‘प्रसाद’ की सबसे बड़ी देन है।

तृतीय खण्ड

-0-

प्रसाद-साहित्य का मनोवैज्ञानिक पक्ष

(तृतीय खण्ड)

दशम - अध्याय

-0-

काव्य
~~~~~

## दशम अध्याय

-०-

## काव्य

~~~~~

जिस प्रकार दर्शन साहित्य का अभिन्न अंग है, उसी प्रकार मनोविज्ञान भी^१। दोनों के स्वस्थ समायोजन पर ही स्वस्थ साहित्य का सृजन होता है। इतना अवश्य है कि साहित्यिक सन्दर्भों में युक्त विषयों का शास्त्रीय पक्ष गौण और व्यावहारिक पक्ष प्रधान हो जाता है। 'दर्शन' और 'मनोविज्ञान' साहित्य के अपरिहार्य पक्ष होते हुए भी साहित्य की सीमा में आ कर अपना स्के विशेष स्वरूप ले लेते हैं -- कोरे तर्कों और विश्लेषणों से ऊपर उठ कर।

यद्यपि साहित्यकार अपने चिन्तन और वृत्तियों के अंकन तथा मानवीय अनुभूतियों के चित्रण में दर्शन तथा मनोविज्ञान के अधिक समीप होता है, फिर भी उसकी अपनी सीमाएं और सम्भावनाएं होती हैं। वह न तो कोरा दार्शनिक ही होता है, और न कोरा मनोवैज्ञानिक ही। वह स्वानुभूतियों का सहज गायक होता है। साहित्य-प्रष्टा के रूप में 'सहज बोध' द्वारा अपनी अनुभूतियों को व्यापकतर अनुभवों में प्रवेश, उन अनुभवों की पकड़ और उनका सम्प्रेषण यही उसका लक्ष्य है^२। उसे अपने साहित्य में दार्शनिक तत्त्वों और मनोवैज्ञानिक तथ्यों की अवतारणा के लिए सायास प्रयास नहीं करना पड़ता, ये तत्त्व अनायास उसकी साहित्य-धारा में आते-जाते हैं। जो साहित्यकार जान-बूझ कर, इस सत्य की उपेक्षा कर प्रयत्नपूर्वक

१-हर युग और हर देश का कलाकार अन्तर्मन का अनुशीलन करता है + + + जाने या अनजाने वह मन की ऊपरी सतहों को भेदता हुआ उसके अन्तर में उतर जाता है।

--डा० जगदीश प्रसाद शर्मा: रामचरित मानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन पृ० ३

२- अज्ञेय : दिनमान, (१५ जुलाई १९६६ का अंक)

दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों को पकड़ने का प्रयास करता है, उसका साहित्य सहृदय के हृदय को स्पर्श नहीं कर पाता और जो साहित्य हृदय को छू नहीं पाता वह साहित्य के स्थान पर मात्र शास्त्र बनकर रह जाता है ।

‘प्रसाद’ की साहित्य-साधना इन अतिवादों से ऊपर उठ कर सहज स्वानुभूतियों पर आधारित है और उनका ‘मनोवैज्ञानिक अध्ययन स्वाभाविक गुणों की भित्ति पर स्थित^१ ।’ ‘प्रसाद’ के सहज मनोविज्ञान की यह गहरी धारा उनके साहित्य की विविध विधाओं -- कविता, कहाना, नाटक, उपन्यास आदि में अबाध गति से प्रवाहित हुई है । यहां में उनकी साहित्यिक विधाओं की कतिपय प्रमुख कृतियों के माध्यम से उनकी मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे । सर्वप्रथम सूक्ष्म चित्तवृत्तियों के सफल चित्रण की दृष्टि से, ‘प्रसाद’ की प्रमुख साहित्यिक विधा--कविता, और उसकी प्रतिनिधि रचना ‘कामायनी’ के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर विचार करना चाहेंगे ।

‘कामायनी’ जहां दार्शनिक दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखती है, वहीं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इसका एक विशेष स्थान है । इसमें आधुनिक मनोविज्ञान को अपना, कर मनोविश्लेषण को पद्धति पर, मानसिक वृत्तियों का विवेचन किया गया है ।^२ इस काव्य में जो सर्गों के शीर्षक दिए गए हैं, वे प्रायः मानसिक वृत्तियों के आधार पर हैं । वे यह सूचित करते हैं कि ‘प्रसाद’ जी का लक्ष्य मानव-मनोविज्ञान को प्रतिष्ठित करने का था । + + + कामायनी में चित्रित मनोविज्ञान सुगठित, स्व प्रौढ़ है । ‘कामायनी’ के सर्गों का नाम करण, स्थान, घटना, या पात्र के आधार पर कर, ‘प्रसाद’ जी ने मानव-जीवन की प्रवृत्तियों का क्रम दिखाने की सफल चेष्टा की है ।^३ डा० नगेन्द्र के शब्दों में ‘कामायनी’ की यह विशिष्टता बड़े संगत ढंग से अंकित है -- ‘कामायनी मानव-चेतना के विकास का महाकाव्य है ।’ कामायनी का आरम्भ ‘चिन्ता’ से होता है । ‘चिन्ता’ शब्द स्मृत्यर्थक चित्ति वातु से अइ० प्रत्यय लगाकर बना है, जिसका अर्थ है स्मरण या

१- डा० देवेश ठाकुर : प्रसाद के नारी-चरित्र, पृ० ५०५

२- आचार्य नन्द डुलारे बाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृ० १०२

३- डा० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएं, पृ० ६

या आध्यान करना^१। 'अमरकोष' कार ने भी चिन्ता को स्मृति और आध्यान का पर्याय माना है^२। इस प्रकार 'चिन्ता' एक मानसिक प्रक्रिया है और मानसिक वृत्तियों का समूचा समुदाय काम-भावना का विस्तार है, जिसकी अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती है। 'चिन्ता' भी उसी का एक रूप है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर 'फ्रायड' ने चिन्ता को दमित काम-वासना की ही एक विधा माना है, जिसमें अग्रावित काम-शक्ति (*undischarged libido*) अतृप्त रहने पर चिन्ता के रूप में परिवर्तित हो जाती है^३। 'मनु' की चिन्ता का आधार भी उनके रागात्मक भाव-बोध की अतृप्ति-जन्य अनुभूतियों का समुच्चय है। एक ओर उन्हें प्रिय जनों का विछोह मिलता है और दूसरी ओर प्रेयसी का दुःखद वियोग।

चिन्ता का आविर्भाव अभाव-जन्य अनुभूतियों के संघात से होता है। जब व्यक्ति की आकांक्षाएं अधूरी और जीवनगत आवश्यकताएं अपूर्ण रह जाती हैं, तब वे अपनी अपूर्णता में चिन्ता का रूप ले लेती हैं। सामान्य दृष्टि से आवश्यकता की दो कोटियां हो जाती हैं --

(१) शारीरिक आवश्यकताएं।

(२) मानसिक आवश्यकताएं।

व्यापक सन्दर्भ में आवश्यकता की उपर्युक्त दोनों कोटियां एक-दूसरे से सम्पृक्त रहती हैं। मूल हमारी शारीरिक आवश्यकता है, तो प्रशंसा की लालसा मानसिक, और दोनों एक-दूसरे के साथ जुड़ी हो सकती हैं। शारीरिक आवश्यकताओं के अन्तर्गत वे प्राथमिक आवश्यकताएं आ जाती हैं, जो हमारे अस्तित्व-रक्षा में सहायक सिद्ध होती हैं। यथा-- भोजन, वस्त्र, आवास आदि। इन्हें सामान्य आवश्यकता कहा जाता है। इस प्रकार की आवश्यकताओं पर विशेष प्रभाव बाह्य परिस्थितियों का पड़ता है। मानसिक आवश्यकताओं का विशेष सम्बन्ध हमारे

१- कमिल कुमार जैन : कामायनी चिन्तन, पृ० १२२

२- 'स्याच्चिन्तास्मृतिराध्यानम्' -- अमरकोष, १।७।२६

३- "The most frequent cause of anxiety is discharged excitation which is aroused, but is not satisfied or used. This unsatisfied libido is directly transformed into anxiety."

— New Introductionary Lecture.

— Freud.

४- कामायनी, पृ० ६२

आन्तरिक अभावों से होता है, जिसमें मान-सम्मान, प्रतिष्ठा और सुख-मोग आदि की भूख प्रधान होती है। हमारी मानसिक आवश्यकताएं वाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा मानसिक स्थितियों से विशेष प्रभावित होती हैं। शेष हमारी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि आवश्यकताएं कथित आवश्यकताओं के अन्तर्गत ही आ जाती हैं।

उपर्युक्त आवश्यकताओं के अभाव, लोप और बाधा के आधार पर 'चिन्ता' के तीन प्रकार हो जाते हैं --

(१) अतीत जीवन की दुःखद स्मृतियों से सम्बद्ध चिन्ता।

(२) सम-सामयिक समस्याओं से सम्बद्ध चिन्ता।

(३) भावी आशंकाओं से सम्बन्धित चिन्ता।

चिन्ता का सबसे ग्राह्य रूप तीसरी कोटि का ही होता है। 'प्रसाद' जी ने 'चिन्ता' को अभाव-जन्य मान कर उसके उपर्युक्त तीनों प्रकारों की रूप-रेखा प्रस्तुत की है। वह अभाव की चपल बालिका चंचल लहरों की भांति जीवन को आन्दोलित कर, स्फोट की प्रथम कम्प के समान उसे फकफोर डालती है^१।

'कामायनी' में मनु की चिन्ता के अन्तर्गत हमें चिन्ता के उपर्युक्त सभी स्वरूप मिल जाते हैं। मनु की चिन्ता उनकी चित्त-वृत्तियों को वह विवृति है, जिसमें रूक और राग और विराग के आवर्त में चक्कर लगाते हुए उनके अतीत जीवन के छाया चित्र फिलमिलाया करते हैं और दूसरी ओर वर्तमान की विभीषिकाओं एवं भविष्य की आशंकाओं से आक्रान्त मन अपने आप में सिमट कर उलझनों में डूबा रहता है।

अतीत जीवन की दुःखद स्मृतियों से सम्बद्ध चिन्ताएं असाधारण चिन्ताओं के अन्तर्गत आ जाती हैं। इस प्रकार की चिन्ताएं मानसिक संघर्षों तथा अन्तर्द्वन्द्वों के फलस्वरूप जन्म लेती हैं। इनमें स्वजनों का विछोह तथा उनसे सम्बद्ध सुख-विलास की स्मृति प्रधान होती है। मनु की चिन्ता भी उनके अतीत चिन्तन से

प्रारम्भ होती है^१। एक ओर उन्हें अतीत सुख के वैभव-विलास की स्मृति विह्वल बना देती है, और दूसरी ओर अपनों का विह्वल असह्य हो उठता है^२। मावी आशंकाओं से सम्बन्धित मनु की चिन्ताएं उनकी वैयक्तिक समस्याओं से सम्बन्धित हैं। उनकी सामयिक समस्याएं दो प्रकार की हैं-- पहली समस्या है, उनका स्काकी जीवन और दूसरी है, अपने अस्तित्व का संरक्षण। इन दोनों से उत्पन्न परिस्थितियां उन्हें अधीर बना देती हैं और वे स्काकीपन से ऊब कर चीख उठते हैं--

‘कब तक और अकेले? कह दो

हे मेरे जीवन बोलो ?

किसे सुनाऊं कथा ? कहो मत,

अपनी निधि न व्यर्थ खोलो ।

+ + +

अर्थ प्रस्फुटित उत्तर मिलते

प्रकृति सक्मक रही समस्त,

निज अस्तित्व बना रखने में

जीवन आज हुआ था व्यस्त^४ ।’

मानसिक संवेगों से सम्बद्ध चिन्ता का अतिवादी रूप, अकारण अनुमान पर आधारित मुक्तचारी चिन्ता (*Free floating anxiety*) का रूप धारण कर लेता है। ‘चिन्ता’ के इस स्वरूप से आक्रान्त व्यक्ति व्यर्थ की आशंकाएं पाल-पाल कर उसी में घुलता रहता है। प्रायः अतिशय भावुक व्यक्ति इससे विशेष पीड़ित रहा करते हैं। वे यही सोच-सोच कर व्याकुल होते रहते हैं कि मेरे विषय में

१- ‘चिन्ता करता हूं मैं जितनी

उस अतीत की उस सुख की,

उतनी ही अनंत में बनतीं,

जाती रेखाएं दुःख की ।’

-- कामायनी, पृ० ६ ।

२- कामायनी, पृ० ६

३- वही, पृ० १२, १८

४- वही, पृ० ३७, ३३

लोग ऐसा सोचते हैं, ऐसा कहते हैं, वैसा कहते हैं आदि आदि । ऐसे लोग अपने अभावों को इतना बढ़ा कर देखते हैं कि उनके जीवन की सहज सन्तुष्टि ही समाप्त हो जाती है । वे भावी आशंकाओं से भयभीत होकर अपने-आप में कुंठित हो जाते हैं । भावुकमना मनु भी चिन्ता के इस प्रभाव से अछूते नहीं रह पाते । 'श्रद्धा' उनकी इस दुर्बलता की ओर संकेत करती हुई कहती है --

‘दुःख के डर से तुम अज्ञात

जटिलताओं का कर अनुमान;

काम से भिन्नक रहे हो आज

भविष्यत् से बनकर अनजान ।’

+ + +

दब रहे हो अपने ही बोझ

सोजते भी न कहीं अवलंब^१;

प्रभाव-स्तर की दृष्टि से भी 'चिन्ता' के दो पक्ष हो जाते हैं --

(१) स्वस्थ और सक्रिय पक्ष ।

(२) विकृत और निष्क्रिय पक्ष ।

'चिन्ता' का निष्क्रिय और विकृत पक्ष या तो जीवन को कुंठित बनाकर उसे बिल्कुल निश्चेष्ट कर देता है, या उसे गलत दिशा दे कर उसके पतन की भूमिका तैयार कर देता है । निराशा, निर्वेद, ईर्ष्या, द्वेष, ग्लानि, घुटन, आदि चिन्ता के इसी विकृत पक्ष के परिणाम हैं, जिनकी अति व्याप्ति मानसिक रोगों का कारण बन जाती है^२ । इसके विपरीत चिन्ता का स्वस्थ और सक्रिय पक्ष, कर्तव्याकर्तव्य की विवेक बुद्धि को उद्बुद्ध कर जीवन को स्वस्थ दिशा प्रदान करता है । इसमें व्यक्ति असफलताओं का सारा दोष परिस्थितियों पर न डाल कर, अपनी समूची शक्ति, साहस, संकल्प, और मनोबल को समेट कर गन्तव्य की ओर चल पड़ता है ।

१- कामायनी, पृ० ५२, ५६ ।

२- 'चिन्तोद्भेगादिभिः जनयन्ति उन्मादम्.... हृदयमिन्द्रियायतनानि चेरिताः
.....चिन्तोद्भेगादिभिर्भूयः सहसाऽपि पूरयन्ति, तदाजन्तुरपस्मरति'

-- चरक संहिता, निदान-स्थान, अध्याय ७, ८ ।

आशा, उल्लास, प्रेम, पुलक आदि इन्हीं पदों की देन है। यह हमारे जीवन का चिन्तन पद होता है। 'प्रसाद' जो न 'चिन्ता' के उपर्युक्त दोनों पदों का उल्लेख किया है। स्क और जहाँ उन्होंने उसे आधि-व्याधि की सूत्रधारिणी और मधुमय अभिशाप तथा 'पाप' की संज्ञा दी है, वहीं दूसरी ओर बुद्धि, मनीषा, मति, वाशा आदि नामों से भी अभिहित किया है। 'चिन्ता' के लिए 'विश्व-वन की व्याली' 'ज्वालामुखी के भीषण स्फोट की प्रथम कम्प' 'करकाघन' आदि जितने उपमान लाए गए हैं, वे इसी तथ्य के परिचायक हैं कि चिन्ता का स्क पद जहाँ व्यक्ति को सक्रिय, सचेत और समर्थ बनाता है, वहीं उसका दूसरा पद उसके जीवन को कुंठित, निष्क्रिय और पंगु बना देता है। जिस प्रकार स्क सुन्दर बाटिका में विचरण करती हुई सर्पिणी को देखकर व्यक्ति अपना विवेक-बुद्धि द्वारा उससे बचकर आत्म-रक्षा भी कर सकता है और उसे पकड़ कर अपने जीवन से हाथ भी धो सकता है, उसी प्रकार वह जीवन में आने वाले दुःखद प्रसंगों से सावधान होकर अपने जीवन को नयी दिशा भी दे सकता है और अविवेक द्वारा 'चिन्ता' में घुल-घुल कर मर भी सकता है। जिस प्रकार ज्वालामुखी के भीषण विस्फोट की प्रथम कम्प व्यक्ति को जीवन-रक्षा के प्रति सचेत कर देती है, और विस्फोट की विभीषिका उसके जीवन का अन्त कर देती है, उसी प्रकार चिन्ता का स्वस्थ पद, चिन्तन की दिशा प्रशस्त कर, जीवन के प्रति जागरूक बनाता है, और उसका विकृत पद उसे अवसाद की शिला से दबा देता है। ज्ञान, विज्ञान की सारी उपलब्धियों का आधार 'चिन्ता' का स्वस्थ और सक्रिय पद है। यही पद स्वस्थ जीवन-दर्शन और सामाजिक चिन्तन को जन्म देता है। 'ऋद्धा' और 'मनु' का जीवन, 'चिन्ता' को उक्त विधाओं का प्रसिद्धि प्रतिनिधित्व करता है। 'मनु' का जीवन 'चिन्ता' के निष्क्रिय और अशिव पद

१- कामायनी, पृ० ५, ६

२- वही, पृ० ५

३- वही, पृ० ५

४- वही, पृ० ६

की परिधि में घिरा हुआ चलता है और 'श्रद्धा' का उसके सक्रिय तथा शिवपक्षा का आश्रय लेता हुआ । 'मनु' पहले तो 'चिन्ता' के निष्क्रिय पक्ष को अपना कर जीवन के प्रति बिल्कुल निराश और निश्चेष्ट हो जाते हैं, उनकी मानसिक स्थिति चंचल मन के आलस्य जैसी हो जाती है^१ । बाद में 'श्रद्धा' के साहचर्य से आत्म-बोध जाग्रत होने पर उनमें आशा और उत्साह का संचार होता है, लेकिन उनकी चेतना चिन्ता के स्वस्थ और सक्रिय पक्ष को न अपना कर उसके निष्क्रिय पक्ष को अपना लेती है, जिसके परिणाम-स्वरूप वे जीवन की सहज उपलब्धियों से वंचित रह जाते हैं । द्वेष, संघर्ष, निर्वेद आदि के तीव्र फाँफावात में उनका सब कुछ डूब जाता है । अन्त में 'श्रद्धा' के सहयोग से जब वे पुनः चिन्ता के स्वस्थ पक्ष को अपना कर चिन्तन की दिशा में बढ़ते हैं, तब उन्हें अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है । दूसरी ओर 'श्रद्धा' चिन्ता के स्वस्थ और सक्रिय पक्ष को अपना कर अपने गन्तव्य तक सहज ही पहुँच जाती है । उसे किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

इस प्रकार 'चिन्ता' हमारे जीवन के लिए अभिशाप भी है और वरदान भी, अमृत भी है और हलाहल भी । इसका प्रभाव व्यापक है और सत्ता शाश्वत । यह सब के अन्तरात्म में निगूढ़ धन सी क्षिति रहती है^२ ।

आशा

आशा चिन्ता का स्वस्थ और सक्रिय पक्ष है । ज्यों-ज्यों व्यक्ति जीवन की समस्याओं का चिन्तन और उसके कार्य कारण सम्बन्धों की खोज कर उसके विविध पक्षों का अनुशीलन करता जाता है, त्यों-त्यों उसके सामने जीवन की नयी-नयी दिशाएँ स्पष्ट होती जाती हैं, और वह जीवन जीने की आशा में आत्म-रक्षा के लिए कोई न कोई उपाय खोज निकालता है^३ । यह जीवन-पथ का वह पाथेय है

१- कामायनी, पृ० ४५

२- वही, पृ० ६

३- 'आलम्बन निष्ठ चिन्ता' बुद्धि संगत और दृष्टकर या वाङ्मनिय है । खतरे को निकट देखकर, दृष्ट कर या वाङ्मनीय व्यवहार तो सच-मुच यही होगा कि ठण्डे दिमाग से यह सोचा जाय कि आने वाले खतर के मुकाबले में हमारे पास कितनी ताकत है, और फिर यह फैसला किया जाय कि सबसे अधिक आशा पलायन से है, या बचाव से, या हमले से । + + + इस प्रकार हमें यह निश्चय हो जाता है कि चिन्ता की समस्या बिल्कुल केन्द्रीय अर्थात् सबसे महत्वपूर्ण स्थिति में है । हमारी यह प्रबल धारणा बन गयी है कि...

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

जिसका सहारा लेकर व्यक्ति गारी कठिनाइयों को सहर्ष फेंकता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुँचता है । जिज्ञासा और साहचर्य्य सुख की लालसा इसकी आधार-शिला होती है, जिसकी समष्टि सामाजिकता की प्रवृत्ति को जगा कर व्यक्ति को सक्रिय बना देती है । 'कामायनी' में इसकी बड़ी सरस और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है । जिस प्रकार अपनी 'सुनहले तीरों से' काल-रात्रि को पराजित कर उषा सुन्दरी जय-लक्ष्मी सी मुस्करा उठती है^१, उसी प्रकार आशा की स्निग्ध आभा भी निराशा-निशा को निरस्त कर उल्लास के साथ आविर्भूत हो उठती है । जिस प्रकार वर्षा-ऋतु बीत जाने पर शारदीय सुषमा के साथ प्रकृति हमें लगती है, और जल-संधात हटने पर उसमें डूबी हुई वनस्पतियाँ अपने आप को फलार कर प्रबुद्ध हो जाती हैं^२, उसी प्रकार दुर्दिन की समाप्ति पर अवसाद के बादल छंट जाते हैं, आशा का आलोक फैल जाता है कुण्ठा की कारा टूट जाती है, और जीवन हर्षोल्लास से आप्लावित हो उठता है । 'आशा' के इन्हों विविध स्वरूपों को दृष्टि में रखकर प्रसाद जो ने, उसे मधुर स्वप्न के समान आनन्ददायक, प्राण-स्मीरु, मधुर जागरण, स्मितिलहर, और मधुर तान आदि संज्ञाओं से अभिव्यक्त किया है ।

आशा उत्सुकता की सहचरी होती है, जब व्यक्ति कोई कार्य आरम्भ करता है तो उसके पीछे उसकी 'जिज्ञासा' काम करती रहती है, वह बड़ी उत्सुकतापूर्वक उसके परिणाम की प्रतीक्षा किया करता है । यही जिज्ञासा स्क और तत्त्व-चिन्तन की और दूसरी ओर जीवन-दर्शन की प्रेरणा प्रदान करती है । जलप्लावन के पश्चात् मनु के मन में जिस आशा का आविर्भाव होता है, वह प्रकृति का स्कान्त वातावरण पाकर 'विराटसत्ता' के चिन्तन में लीन हो जाती है --

(पिछले पृष्ठ की टिप्पणी संख्या ३ का अवशिष्ट भाग)

'आलम्बननिष्ठ चिन्ता' को अहम् आत्म-संरक्षण विषयक निसर्ग वृत्ति की अभिव्यक्ति माना जाय ।

-- सिंगमंड फ्रायड : मनोविश्लेषण--अनुवादक देवेन्द्रकुमार, पृ० ३५६, ३७३ ।

१- कामायनी, पृ० २३

२- वही, पृ० २३

३- वही, पृ० २७

देखा मनु ने वह अतिरंजित
 विजय विश्व का नव स्कान्त;
 जैसे कोलाहल सौया है
 हिम-शीतल जड़ता सा श्रान्त ।

+ + +

वह विराट था हैम धोलता
 नया रंग मरने को आज;
 कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक
 और कुतूहल का था राज ।^१

इसी दार्शनिक चिन्तन के सन्दर्भ में मनु अपने अतीत को दुहराते हुए एक नये जीवन-दर्शन की ओर उन्मुख होते हैं । अब तक उन्होंने जिस जीवन के प्रति अरुचि और उपेक्षा का भाव संजो रखा था, जिसकी ओर से वे बिल्कुल उदासीन हो गये थे, अब उसी के प्रति उनके हृदय में रागात्मक भाव-बोध का उदय हो जाता है, और उन्हें अपने अस्तित्व की अनुभूति होने लगती है --

‘मैं हूँ, यह वरदान- सदृश क्यों?
 लगा गुंजने कानों में,
 मैं भी कहने लगा, मैं रहूँ
 शाश्वत नम के गानों में ।’^२

जीवन के प्रति अनुराग और अस्तित्व-रक्षा की प्रेरणा व्यक्ति में सामाजिकता के साथ-साथ साहचर्य सुख की लालसा जगा कर उसे कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करती है । ज्यों-ज्यों जीवन के प्रति उसका रागात्मक भाव-बोध गहरा होता जाता है, त्यों-त्यों उसके साहचर्य-सुख-- काम-भावना, की लालसा भी तीव्र होती जाती है । निराशाजन्य परिस्थितियों की समाप्ति पर जब मनु^३ का हृदय आशा से भर उठता है, तब वे जीवन की पुकार पर जीने का व्रत ले लेते हैं^३ । जीवन के प्रति

१- कामायनी, पृ० २४

२- वही, पृ० २७

३- वही, पृ० २८

उनका अनुराग गहरा हो जाता है, और वे शस्य-श्यामला प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में पाक-यज्ञ^१, अग्निहोत्र^२, पंचाग्नि^३ आदि यज्ञों का आयोजन कर काम्य-कर्मों में दत्तचित्त हो जाते हैं --

तप में निरत हुए मनु नियमित-

कर्म लगे अपना करने,

विश्व रंग में कर्म-जाल के

सूत्र लगे घन हो धिरने^४ ।

यहाँ से 'मनु' के हृदय में एक और सामाजिकता का भाव जागरित होता है, और दूसरी ओर साहचर्य-सुख की लालसा । सामाजिकता की भावना से प्रेरित होकर वे यज्ञों का अवशिष्ट अन्न कहीं दूर रख जाते हैं,^५ और साहचर्य-सुख के अभाव में आकुल हृदय की पुकार पर स्काकी जीवन का हल खोजने लगते हैं । बहुत दिनों की दबी हुई काम-वासना प्राकृतिक भूख के समान जग पड़ती है --

नव हो जगी अनादि वासना, मधुर प्राकृतिक भूख समान,

चिर-परिचित सा चाह रहा था, द्वन्द्व सुखद करके अनुमान ।^६

यहाँ 'अनादि वासना' से कवि का आशय प्राणियों की उस रति-भावना से है, जिसे आधुनिक मनोविज्ञान में 'युग्मभावना' (Pairing instinct) की संज्ञा दी गई है और भारतीय शास्त्रों में इसे 'मैथुन' कहा गया है । इसमें स्त्री

१- कामायनी, पृ० ३२

२- वही, पृ० ३२

३- वही, पृ० ३३

४- वही, पृ० ३३

५- वही, पृ० ३५

६- वही, पृ० ३५

और पुरुष की रागात्मक वृत्तियाँ अपने पूरे उमार पर आ जाती हैं, और वे दोनों एक-दूसरे के प्रति आकर्षण का अनुभव करने लगते हैं। 'मैथुन' हमारे जीवन का उसी प्रकार एक अभिन्न अंग है, जिस प्रकार भूख, प्यास, नींद आदि। आकर्षक प्रकृति के मनोरम वातावरण में बैठे हुए मनु के हृदय में जिस भावना का विकास होता है, उसकी पुष्टि फ्रायड के काम-सिद्धान्त से भी हो जाती है। फ्रायड ने भी यह माना है कि हमारी दमित वासनाएँ जो अचेतन मन में दबी रहती हैं, वे ही उपयुक्त और अनुकूल अवसर पा कर स्वाभाविक रूप से जाग्रत हो जाती हैं। यहाँ मनु की काम-वासना जो प्रलय की दुःखद स्मृतियों से दब गई थी, प्रकृति के उन्मद वातावरण में पुनः जाग्रत होकर उनके मन को मथने लगती है।

आशा का आधार आत्म-सुख की लालसा है, और आत्म-सुख अपनी पूर्णता साहचर्य -सुख में प्राप्त करता है। जब व्यक्ति को अपनी आशा के अनुरूप सफलता नहीं मिलती, तब उसकी आशा निराशा में बदल जाती है, यहीं पर वह भग्नाशा (Frustration) का शिकार हो जाता है। संस्कारगत भाव-स्तर की दृष्टि से इस भग्नाशा की कई कोटियाँ हो जाती हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में इसकी प्रभाव-सोमा भी भिन्न-भिन्न हुआ करती है। जो व्यक्ति अपने विचारों में अधिक दृढ़ होता है, उस पर भग्नाशा का प्रभाव कम, और जो व्यक्ति निरामावुक होता है, उस पर इसका प्रभाव अधिक होता है। भग्नाशा का प्रोत

१- "That sex love should thus combine the most purely, altruistic with the most ruthlessly egoistic tendency of human nature, seems sufficiently accounted for in the case of the woman by the great strength of the maternal impulse and the ease with which it is aroused in her in all personal relations, and in the man it is perhaps sufficiently accounted for by the fact that woman, especially at the age at which she is most strongly attractive to man, resembles in many respects, both mental and physical. "

— W. Mc Dougall : Social Psychology

अभावजन्य अनुभूतियों का दर्शन होता है । जब भावुक व्यक्ति की आवश्यकता अपूर्ण रह जाती है, तब उसमें मानसिक तनाव की स्थिति आ जाती है और उसे अवसाद घेर लेता है । मनु की मग्नाशा इसी प्रकार^१ है । उन्होंने जिस आशा और उल्लास के साथ जीवन में प्रवेश कर, काम्य-कर्मों की साधना प्रारम्भ की थी उसके पीछे आत्म तृप्ति और साहचर्य-सुख की लालसा का प्राधान्य था । उसी की प्रेरणास्वरूप यह सोच कर कि सम्भवतः मेरी तरह कोई अन्य भी बचा रह गया हो वे यज्ञ के अवशिष्ट अन्न को दूर रख आते थे, और ऐसा करते समय उन्हें सम्भावित साहचर्य-सुख की कल्पना से बड़ा आनन्द मिलता था^२ । उनका हृदय अनुराग से इतना आप्लावित हो उठा था कि मोहक प्रकृति के सरस वातावरण में उन्हें सभी ओर युग्मविलास के ही चित्र दिखाई पड़ने लगे थे । वे भावी सुख-स्वप्नों में इतने आत्म-विभोर हो उठे थे कि उन्हें उनका भावी मिलन-सुख उर्मिल सागर के पार मुस्कराता हुआ दिखाई पड़ने लगा था^३ । लेकिन लम्बी अवधि के बाद भी जब उनकी इच्छा पूरी नहीं हुई, तब उनका मनोबल टूटने लगा । दिवस-रात्रि एक एक कर बीतने लगे, उनमें न कोई आकर्षण रह गया और न कोई सरसता--

“ प्रहर-दिवस रजनी आती थी, चल जाती सन्देश-विहीन,
एक विराग-पूर्ण संसृति में, ज्यों निष्फल आरंभ नवीन । ”^३

आनन्द और अवसाद का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं से होता है । जब व्यक्ति का हृदय प्रसन्न और उत्फुल्ल रहता है, तब उसे चारों ओर आनन्द तथा उल्लास ही उल्लास दिखाई पड़ता है, लेकिन जब उसका अन्तर्मन उदास और खिन्न रहता है, तब उसे चारों ओर अवसाद की छाया दृष्टिगत होती है । उदास मनु को भी चारों ओर उदासी ही उदासी दिखाई पड़ने लगती है । निराशा के प्रभाव से^४ इतने अभिभूत हो उठते हैं कि उनके लिए प्रकृति का मनोरम वातावरण बोफिल और नीरस हो जाता है । उसमें उन्हें विषाद के ही चित्र दिखाई पड़ने लगते हैं । अन्त में निराशा का विष-प्रभाव मनु को पलायनवादी

१- कामायनी, पृ० ३२

२- वही, पृ० ३६

३- वही, पृ० ३४

का देता है, और वे गहरी निराशा में डूब जाते हैं--

‘किन्तु जीवन कितना निरुपाय ।

लिया है देख नहीं सन्देह,

निराशा है जिसका परिणाम

सफलता का वह कल्पित गेह ।’^१

यथार्थ की ठोकर खाकर जीवन से पलायन करने वाला व्यक्ति कल्पना-लोक, का आश्रय ले लेता है । जिन आकांक्षाओं को वह यथार्थ जीवन में पूरा नहीं कर पाता, उन्हें कल्पना-लोक में पूरा करने लगता है । ऐसा व्यक्ति दिवा-स्वप्न में खोया रहता है । मनु भी जीवन से हताश और अभावमूलक अनुभूतियों से डुब्य होकर, यथार्थ जीवन से दूर, कल्पना-लोक के सुख-स्वप्नों का द्वारा अपने-आप को बहलाने का प्रयास करते हैं --

‘आह कल्पना का यह सुन्दर, जगत मधुर कितना होता ।

सुख-स्वप्नों का दल छाया में, पुलकित हो जगता-सोता ।

संवेदन का और हृदय का, यह संघर्ष न हो सकता,

फिर अभाव असफलताओं की गाथा कौन कहाँ बकता ।’^२

‘मनु’ की इस पलायनवादी प्रवृत्ति का निराकरण उस समय होता है, जब वे जीवन के प्रति आशान्वित होकर आस्थापूर्वक ‘श्रद्धा’ को अपना लेते हैं ।

श्रद्धा

‘श्रद्धा’ व्यक्ति को वह आस्तिक बुद्धि है, जो सारी सिद्धियों का आधार और विश्वास का आदिम्रोत होती है । जब तक व्यक्ति में श्रद्धा का भाव नहीं आता, तब तक वह किसी कार्य के प्रति एकनिष्ठ भाव से आस्थावान नहीं हो सकता, और जब तक किसी कार्य के प्रति उसमें अटूट आस्था तथा अनन्यता का भाव बहुमूल नहीं हो जाता, तब तक उसे सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो पाती । इसीलिए ‘श्रद्धा’ को साधना का अनिवार्य अंग माना गया है ।

‘श्रद्धा’ का भाव-बोध मूलतः वैयक्तिक होता है । इसमें व्यक्ति प्रकारान्तर से अपनी ही आस्थाओं और आदर्शों के प्रति पक्षपात की दृष्टि रखने लगता है ।

१- कामायनी, पृ० ५४

२- वही, पृ० ३७ दशम संस्करण ।

जिसमें वह अपने आदर्शों की पूर्ति देखता है, उसके प्रति उसको 'श्रद्धा' हो जाती है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति वर्ग और समुदाय की श्रद्धा का आधार पृथक-पृथक होता है। कोई शान्तिप्रिय व्यक्ति को अपनी श्रद्धा का पात्र बनाता है, तो कोई क्रान्ति के पोषक व्यक्ति को, किसी को मन्दिर 'प्यारा' होता है तो किसी को मस्जिद, किसी को 'गुरुद्वारा' 'प्यारा' होता है तो किसी को 'गिरिजाघर'। किसी के 'आराध्य' राम और कृष्ण होते हैं तो किसी के रहीम, किसी के 'गौतम' होते हैं तो किसी के 'ईसा'।

स्तर-भेद की दृष्टि से 'श्रद्धा' के तीन प्रकार हो जाते हैं --

(१) सात्त्विक।

(२) राजसी।

(३) तामसी।^१

'कामायनी' में हमें श्रद्धा के उपर्युक्त तीनों पक्ष मिल जाते हैं, जिनका प्रतिनिधित्व क्रमशः श्रद्धा, इड़ा और मनु करते हैं। 'श्रद्धा' के व्यक्तित्व का समुच्चा विकास सात्त्विक श्रद्धा के परिवेश में हुआ है। 'श्रद्धा' स्वयं जड़-चेतन के रहस्य को स्पष्ट करने वाली, भूलों को सुधार कर उलझनों को सुलझाने और दुःखद प्रसंगों का शमन कर नव उत्साह प्रदान करने वाली है -- सरलता, स्मर्पण और सेवा-भाव उसकी साधना के मुख्य उपादान हैं जिनमें सरलता उसका प्रमुख पोषक तत्व है। यही सरलता स्मर्पण की पीठिका बनकर व्यक्ति के हृदय में श्रेय के प्रति अटूट आस्था को जन्म देती है। अतः 'श्रद्धा' की प्राप्ति के लिए सरलता का होना आवश्यक है। 'कामायनी' में 'काम' द्वारा, श्रद्धा को पाने के लिए मनु को उसके योग्य बनने का उपदेश देना इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। 'श्रद्धा' का सात्त्विक पक्ष संकुचित स्वार्थ से ऊपर उठकर परार्थमूलक शाश्वत सत्त्यों और स्वीकृत मानव-मूल्यों के प्रति आस्थावान होता है। उसमें स्वार्थ-संग्रह के स्थान पर त्याग और लोक-संग्रह की भावना प्रधान होती है। इस पक्ष का प्रतिनिधित्व करने वाली श्रद्धा स्वयं सब कुछ दूसरों को देकर आत्म-विस्तार कर लेती है^२। वह आत्म-सुख और स्वार्थ-सीमा से

१- 'त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभाव जा।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रुता।'

-- श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १७, श्लोक २

२- कामायनी, पृ० २३७

सम्बद्ध उपकार तथा अपकार से ऊपर उठ कर परोपकार को अपने जीवन का अमिन्न अंग बना लेती है। विश्व-कल्याण उसकी साधना का साध्य हो जाता है और उसका करुणामूलक जीवन सजातीय 'मानव' तक ही सीमित न रहकर पशु-पक्षियों तक फैल जाता है^१।

'श्रद्धा' की चुम्बकीय शक्ति में सारी संवेदनारं उसी प्रकार समाहित हो जाती हैं, जिस प्रकार विभिन्न दिशाओं से आने वाले जल-स्रोत सिमट कर जलाशय में केन्द्रित हो जाते हैं। 'कामायनी' में श्रद्धा को देखकर, उसकी ओर सारे परमाणु-बालों का दौड़ पड़ना, इसी सत्य की ओर संकेत करता है। 'श्रद्धा' का यह सात्त्विक पक्ष वाह्य की अपेक्षा अन्तर की ओर अधिक उन्मुख होता है। इसीलिए श्रद्धा ने अपने-आपको 'हृदय की बात' कहा है^२। इसका सात्त्विक स्वरूप श्रान्त चेतना को नवजीवन देकर आस्था को पुनर्जीवित कर देता है। इसकी अनुभूति से व्यक्ति की खिन्नता दूर हो जाती है, जीवन सरस हो जाता है, निराशा में आशा का संचार होने लगता है, और आंसुओं में हूबी हुई आंखों में आनन्द के चित्र उभरने लगते हैं। भुंके हृदय में उल्लास की ज्योति चमक उठती है। 'श्रद्धा' के इसी पक्ष का सान्निध्य पाकर मनु की जड़ता दूर हो जाती है और वे कर्म-क्षेत्र में उतर पड़ते हैं। जीवन की पहली सुलफाने में व्यस्त, वायु की एक मटकी तरंग सी निष्प्रयोजन दौड़ लगानेवाली उनकी चेतना को अपनी समस्याओं के समाधान का एक माध्यम मिल जाता है। लेकिन संयम और विवेक के अभाव में वे उसका उचित उपयोग नहीं कर पाते। उनकी चंचलता और विलास-भावना श्रद्धा के तमोमय पक्ष को अपना लेती है।

श्रद्धा का तामस पक्ष गर्हित भोग-वृत्तियों के प्रति गहरी आसक्ति पर आधारित होता है। व्यक्ति का स्कान्त स्वार्थ जब अपनी सुख-सुविधाओं के परिप्रेक्ष्य में जीवन के प्रति संकुचित दृष्टिकोण अपना कर उसका अन्धानुसरण करने लगता है, तब उसमें अन्धविश्वास की भावना घट्ट करने लगती है। यही अन्धविश्वास अपने-आप में रूढ़ होकर दुर्निवार हठ का रूप ले लेता है। इसी दुर्निवार हठ और दुराग्रह पर उस तामसी श्रद्धा की नींव पड़ती है, जो अपनी ही सुख-सुविधाओं और

१- कामायनी, पृ० १४६, १४७।

२- वही, पृ० २१६।

उसके महायक साधनों तक ही सीमित रह जाती है । मनु की श्रद्धा इसी कोटि की है । 'श्रद्धा' की सहानुभूति और उसका स्मर्पण तथा कामों की प्रेरणा का प्रभाव मनु के अकिंचन एकाकी जीवन को इतना अधीर बना देता है कि वे आकुल होकर भ्रान्त दिशा में भटक जाते हैं। जिस प्रकार एक-एक दाने के लिए तरसने वाला दरिद्र व्यक्ति सहसा अपार धन-राशि पाने पर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, उसी प्रकार अपने एकाकीपन से ऊबा और साहचर्य - सुख का भूखा, मनु का रिक्त जीवन अप्रत्याशित सान्निध्यसुख को पा कर भ्रान्त धारणाओं का शिकार हो जाता है

श्रद्धा के उत्साह- वचन फिर, काम -प्रेरणा मिल के;

भ्रान्त अर्थ बन आगे आए, बने ताड़ थे तिल के ।

इन्हीं भ्रान्त धारणाओं के बीच मनु जीवन के प्रति स्थूल भोगवादी दृष्टि अपना कर उसके प्रति अपनी अटूट आस्था जोड़ लेते हैं, जो तमोमयी वृत्तियों के प्रभाव से दूषित होकर तामसी श्रद्धा का रूप ले लेती है । इसकी अतिशयता से मनु के विचारों में इतनी संकीर्णता आ जाती है कि उन्हें सरल पशु से लेकर अनो हो सन्तान तक से ईर्ष्या हो जाती है । तमोमयी श्रद्धा व्यक्ति को स्कान्त- स्वार्थी बनाकर उसकी सामाजिकता समाप्त कर देती है, जिससे वह अपने सीमित उद्देश्यों में सिमट कर एकांगी जीवन अपना लेता है । तमोमयी श्रद्धा के एकांगी दृष्टिकोण की संकीर्णता तब समाप्त होती है, जब व्यक्ति व्यापक दृष्टिकोण के साथ 'श्रद्धा' के सात्त्विक पक्ष को अपना कर अपने जीवन को उदात्त बना लेता है । 'मनु' के जीवन का अन्तिम भाग इसी तथ्य का परिचायक है ।

राजसी श्रद्धा का स्तर सात्त्विक श्रद्धा से नीचे और तामसी श्रद्धा से ऊपर होता है । इसमें व्यक्ति अपनी सुख-सुविधाओं के साथ अपने सम्बन्धियों और सहयोगियों की सुख-सुविधाओं के प्रति भी सदय रहता है । 'कामायनी' में इसका प्रतिनिधित्व इड़ा करती है । जहाँ एक ओर वह अपने व्यक्तिगत हितों के लिए लड़ती है, वहीं दूसरी ओर अपनी प्रजा के अधिकारों की रक्षा के प्रति भी जागरूक रहती है । इसका विस्तार व्यक्तिगत सीमा के बाहर अन्यों तक रहता है । यह अपने और अन्यों के बीच विरोधी तत्वों को नहीं आने देती । श्रद्धा का यह स्वरूप भी अपने-आप में सीमित होता है, जो समाज के व्यापक हितों की दृष्टि से विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं होता । अतः सामूहिक सुख-संवर्द्धना की दृष्टि से श्रद्धा के तामसी और राजसी पक्षों का परिष्कार आवश्यक हो जाता है । इसी तथ्य को दृष्टि में

१- कामायनी, पृ० ११०

रख कर प्रसाद जो ने तामसी और राजसी श्रद्धा के प्रतीक क्रमशः मनु तथा इडा को श्रद्धा के सात्त्विक पदार्थ का प्रतिनिधित्व करने वाली श्रद्धा के अनुशासन में रखकर उनके स्तर को उठाने की ओर संकेत किया है। श्रद्धा का सात्त्विक पदार्थ अपने-आप में पूर्ण और परिष्कृत होता है। इसकी विस्तार-सीमा व्यक्ति से लेकर प्राणिमात्र तक होती है। श्रद्धा का यही स्वस्थ और सक्रिय पदार्थ जीवन की विविध विधाओं को एक में समेट कर उन्हें स्थिरता और पूर्णता प्रदान करने की क्षमता रखता है। इसीलिए प्रसाद जो ने जीवन की प्रमुख विधाएँ-- इच्छा, ज्ञान और कर्म को श्रद्धा के सात्त्विक स्वरूप-- उसकी मुस्कान के साथ जोड़ा है --

‘महाज्योति रेखा सी बन कर, श्रद्धा की स्थिति दीड़ी उनमें,
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा, जाग उठी थी ज्वाला उनमें।’^१

काम

ज्यों-ज्यों व्यक्ति चिन्ता के घेरे से बाहर आशा के आलोक से उद्विग्न होकर जीवन के प्रति श्रद्धालु (अनुरक्त) होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें रागात्मक भाव-बोध का विस्तार होता जाता है। उसकी सुप्त संवेदना जाग्रत हो जाती है और ‘काम’ उसके जीवन का प्रधान प्रेरक तत्त्व बन जाता है। ‘काम’ वह मौलिक मनोवेग है, जो आत्म-विस्तार की भावना को प्रेरणा प्रदान कर सारे क्रियाकलापों का केन्द्रबिन्दु बन जाता है। मनोवैज्ञानिक चिन्तकों ने इसे सारी कृतियों और उपलब्धियों का आधार माना है।

भारतीय चिन्तन में काम को मन का रेतस (वीर्य) मान कर उसे सृष्टि का मूल कारण और आदि जन्मा माना गया है।^३ मनुस्मृतिकार ने भी ‘काम’ को

१- कामायनी, पृ० २७३

२- "Erose — Kam, in this large sense, is truly parent of all the goods and presiding deity of all Sahitya and literature, which is all only the record of his play."

— Dr. Bhagawan Das : 'The Science of the Emotion'

३-(क) ‘कामास्तग्रे समवर्ताधिः मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

Page 397

सतो बन्धुमसति निरविन्दन हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।’

--कविवर, १०।१२६।४

(ख) ‘कामोज्ञे प्रथमो नैनं देवाजायुः पितरो न मत्याः ।

ततस्त्वमसि ज्यायानविश्व हा महास्तस्मै काम नम इव कणोमि ।’

जीवन का प्रेरणा स्रोत और सम्पूर्ण कार्यों का मूल माना है^१। ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में भी काम की शाश्वत सत्ता को स्वीकार कर उसे सृष्टि-रचना का मूल कारण माना गया है। 'स्तरेयब्राह्मण' में आता है कि सृष्टि-रचना के पूर्व प्रजापति ने यह कामना की कि मैं प्रजा के रूप में उत्पन्न होऊँ और इसी कामना के फलस्वरूप सृष्टि का निर्माण हुआ^२। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी सृष्टि के पूर्व ब्रह्म की 'स्को हं बहुष्याम्'^३ की कामना का उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार पुनः सृष्टि की रचना हुई^४। इस प्रकार प्रायः सभी विचारकों ने 'काम' को आदि सत्ता के रूप में स्वीकार कर उसे सृष्टि का मूलधार माना है। 'प्रसाद' जो ने काम की आदि सत्ता को स्वीकार कर उसे जीवन का प्रेरक और सृष्टि का मूल माना है^५।

यह निर्विवाद सत्य है कि काम हमारे जीवन का अभिन्न अंग है। वात्स्यायन ने इसकी सिद्धि को जीवन के लिए उतना ही आवश्यक और उपयोगी माना है, जितना भोजन प्राप्ति द्वारा दुःखा-निवृत्ति को। उन्होंने काम की उत्पत्ति शरीर के साथ ही मानी है^६। आधुनिक^{मते} वैज्ञानिक मेग्डल ने इसी को साहचर्य-भावना (Pairing instinct) कहा है, जिसमें तृष्णा और तृप्ति का सहज स्वरूप समन्वित रहता है। प्रसाद जो ने भी काम और रति की शाश्वत सत्ता को स्वीकार करते हुए उनकी उपस्थिति को भूख और प्यास के समान सहज-स्वाभाविक माना है --

हम भूख-प्यास से जाग उठे, आकांक्षा-तृप्ति समन्वय में,
रति-काम बने उस रचना में, जो रही नित्य यौवन-वय में।

+ + + +

मैं तृष्णा था विकसित करता, वह तृप्ति दिखाती थी उनको,
आनन्द-समन्वय होता था, हम ले चलते पथ पर उनको।^६

१- मनुस्मृति, दूसरा अध्याय, श्लोक ४।

२- 'प्रजापतिरकामायात् प्रजायेय भूयात्स्याप्तीति।' -- स्तरेय ब्राह्मण (४।४।२३)

३- तैत्तिरीय उपनिषद्, २।१।६

४- कामायनी, पृ० ५३, ७२

५- काम-सूत्र अध्याय २ (३१, ३२)

६- कामायनी, पृ० ७४

व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय विचारकों ने काम की दो कोटियाँ मानी हैं --

(१) साधारण काम।

(२) विशेष काम ।^१

‘साधारण काम’ को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की एक आकुल प्यास कहा गया है और विशेष काम को स्त्री-पुरुष के स्पर्श विशेष से अनुबद्ध भाव-बोध की संज्ञा दी गई है । काम का इन्द्रियपरक सामान्य पक्ष अधिक वासनात्मक और मोग-प्रधान होता है जिसमें पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन में प्रेरित हो कर अपने अपने विषयों के अनुरूप कार्यों में रत रहती है --

‘श्रोत्रत्वक् चक्षुः जिह्वा घ्राणानामात्म संयुक्तेन ।

मनसाधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेण वाञ्छु कृत्यतः प्रवृत्तिः कामः ।’^२

भारतीय चिन्तन में स्वेषु-स्वेषु-विषयेण काम के सामान्य और वासनात्मक पक्ष को गर्हित और त्याज्य ठहरा कर बार-बार उसको मर्त्सना की गई है । काम का ‘विशेषपक्ष’ अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत और अनुभूतियों से अनुप्राणित, उदात्त भाव-भूमि पर आधारित रहना है । विचारकों ने इसी पक्ष को अधिक उपादेय और वरेण्य माना है । इसे ‘धर्म’ और ‘अर्थ’ से जोड़ कर इसके स्वरूप को अधिक अनुशासित और इसके नैतिक पक्ष को और प्रौढ़ बनाया गया है । काम-शास्त्र के आचार्य वात्स्यायन ने काम के इसी पक्ष को प्रधानता देकर, इसे इन्द्रिय सुखों से ऊपर उठाने पर विशेष बल दिया है^३ । गीता में भी काम के ‘धर्माविरुद्ध’ पक्ष को प्रधानता दी गई है^४ । कामायनी का काम वैदिक मनोविज्ञान से प्रभावित है, जो मन को आनन्दमय करता है^५ । प्रसाद जी ने कामायनी में काम के दोनोंपक्षों—सामान्य और विशेष का उद्घाटन कर, उसके सात्त्विक और विशेष पक्ष को ही प्राथमिकता दी है । काम स्वयं अपने इन्द्रियपरक पक्ष का परिचय

१- काम-सूत्र, अध्याय २, सूत्र ११, १२

२- वही, अध्याय २, सूत्र ११

३- वही, अध्याय १

४- गीता, अध्याय ७ श्लोक ११

५- प्रसाद का काव्य, पृ० ३४२ डा० प्रेमशंकर

देते हुए कहता है --

‘पीता हूं, हां मैं पीता हूं, यह स्पर्श, रूप, रस, गन्ध मरा,
मधु लहरों से टकराने से, ध्वनि में है क्या गुंजारभरा ।’^१

‘काम’ का यह स्वरूप अपनी अतिशयता में इतना ऐन्द्रिक हो उठता है कि इसकी ‘वासना’ का उफान कभी दबता नहीं । जिस प्रकार घी की आहुति पाकर, अग्नि कभी शान्त नहीं होती, उसी प्रकार विषयों का अबाध भोग पा कर विषय-वासना भी कभी तृप्त नहीं होती । वासना की उपासना में लीन ‘कामायनी’ की समूची देव-सृष्टि को अपना ‘हविष्य’ बना लेने पर भी काम के विकृत-वासनात्मक पक्ष की प्यास नहीं बुझ पाती । वह प्यासा का प्यासा हो रह जाता है --

‘प्यासा हूं, मैं अब भी प्यासा, संतुष्ट ओघ से मैं न हुआ,
आया फिर भी वह चला गया, तृष्णा को तनिक न चैन हुआ ।’^२

काम की इसी पक्ष की अन्धोपासना से जहां एक ओर देव-सृष्टि का नाश होता है,^३ वहीं दूसरी ओर मनु का जीवन अतृप्ति और अशान्ति का केन्द्र बन जाता है । इसीलिए ‘कामायनी’ में काम के इस अतिमौक्तिक स्वरूप को विगर्हणा कर उसके सूक्ष्म सात्त्विक स्वरूप को स्वीकार किया गया है, जिसका स्थूल रूप क्रमशः काम से ‘अनंग और रति से ‘लज्जा’ के रूप में सूक्ष्म होता गया है । श्रद्धा काम के इसी सात्त्विक पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है । यहां यह तथ्य विचारणीय है कि प्रसाद ने कामायनी में ‘काम’ के जिस स्वरूप को ग्राह्य माना है, वह कौरा आध्यात्मिक नहीं, बल्कि काम का व्यावहारिक और सर्जनात्मक पक्ष है, जिसमें काम की तीनों विधाएं -- आध्यात्मिक, सर्जनात्मक और वासनात्मक, अत्यन्त सूक्ष्म और सन्तुलित रूप में समाविष्ट हो गई हैं । श्रद्धा उपर्युक्त तीनों स्वरूपों को अपने संयम में समेट कर स्वयं अपने आप में ‘पूर्णकाम’ हो उठी है । उसकी परार्थ-सेवा और त्याग-भावना जहां आध्यात्मिक चेतना से अनुप्राणित है, वहीं उसका दाम्पत्य-जीवन काम के मौक्तिक स्वरूप से सम्पृक्त होकर भी अतिवादों से ऊपर उठा हुआ है, जिसमें सृजनेच्छा तथा ‘वासना’ अपनी सन्तुलित अवस्था में स्थित है ।

१- कामायनी, पृ० ६६

२- वही, पृ० ७१

३- वही, पृ० ७१

वासना

‘काम’ और ‘रति-भावना’ का सम्मिलित स्वरूप आसक्ति को जन्म देता है और आसक्ति की अतिशयता ही वासना है, जिसमें मोग-वृत्ति की प्रधानता होती है । जब यौवन का आकर्षण तृष्णा को जगा कर ‘काम’ को आमंत्रित करता है, तब ‘रति’ उसकी सहचरी बनकर तृप्ति प्रदान करती है । यही रति रूपान्तरित होकर पुरुष में ‘वासना’ का रूप ले लेती है और नारी में ‘लज्जा’ का । ‘वासना’ का आवेग आकर्षण को तीव्र कर मादचक्षुर्य-सुख को मुख को और बढ़ा देता है, जिसके फलस्वरूप दो अपरिचित प्रेमी हृदय एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आते और अपने आन्तरिक अभावों की पूर्ति करते हैं । ‘कामायनी’ में श्रद्धा और मनु का मिलन-सुख, सहवास, तथा आकर्षणजन्य अनुभूतियाँ घनीभूत होकर उनके सौन्दर्य-बोध को और गहरा बना देती है और वे एक-दूसरे के प्रति आसक्त होकर मानसिक विलगाव को समाप्त करने की दिशा में चल पड़ते हैं --

‘चल रहा था विजन-पथ पर मधुर जीवन-खेल,
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल ।’

क्योंकि पुरुष की ‘वासना’ अधिक स्पष्ट और व्यक्त होती है अतः मनु ही प्रथम ‘श्रद्धा’ के प्रति आसक्त होकर उसे अपनी ‘चिन्ता’ का केन्द्र-बिन्दु बना लेते हैं और उसका संकेत उनके लिए प्रेरणा का स्रोत बन जाता है । अन्ततः उनको वासना मुखर हो उठती है और वे ‘श्रद्धा’ से पूछ बैठते हैं --

‘कौन हो तुम खींचते यों मुझे अपनी ओर,
और ललचाते स्वयं हटते उधर की ओर ?
ज्योत्स्ना-निर्झर । ठहरती ही नहीं यह आँख,
तुम्हें कुछ पहचानने की खो गई सी साख ।
कौन करुण रहस्य है तुम में क्षिपा क्विमान,
लता वीरुध दिया करतै जिसे क्वाया-दान ।
पशु कि हो पाषाण सब में नृत्य का नव कन्द,
एक आलिंगन बुलाता सभी को मानंद ।

+

+

+

वाग्ना की मधुर छाया । स्वास्थ्य बल-विश्राम ।

हृदय की सौन्दर्य-प्रतिमा । कौन तुम हवि-धाम ।^१

‘वासना’ अपना एकाधिकार चाहती है, और उसमें व्यवधान पड़ने पर वह असहिष्णु हो जाती है । ‘मनु’ का युवा हृदय भी श्रद्धा पर आसक्त होकर अपने आपको उसकी स्मृति का केन्द्र-विन्दु बना देना चाहता है । इसी लालसा से प्रेरित होकर वह उसकी सभी इच्छाओं को उत्साहपूर्वक पूरा कर उसके प्रेम को जातने का प्रयास भी करता है । लेकिन जब वह श्रद्धा को पालित पशु के प्रति विशेष मद्य पाता है, तब उसका हृदय द्रुव्य हो उठता है । उसमें ‘वेदनामय डाह’ की चिनगारी दहक उठती है और वह कराह उठता है --

‘आह ! यह पशु और इतना सरल सुन्दर स्नेह ।

पल रहा मेरे दिल जो अन्न से इस गेह ।

में ? कहाँ में ? ले लिया करते सभी निज भाग,

और देते फेंक मेरा प्राप्य तुच्छ विराग ।’^२

अपने प्रति-श्रद्धा का यह उपेक्षा-भाव देखकर मनु का अहं हुंकार कर उठता है । वे सब कुछ अपने आप में समेट कर जीने के लिए व्याकुल हो उठते हैं ।^३ उनकी वासना सभी सरल, सुन्दर विभूतियों के प्रतिदान का आग्रह करने लगती है ।

आसक्तिमूलक आक्रोश में एक प्रकार की सीझ, और रुठने का भाव बना रहता है । इसमें अपेक्षाकृत कठोरता कम और मोठेपन की अनुभूति अधिक होती है । यह जिस अनुपात में आविर्भूत होता है उसी अनुपात में इसका शमन भी हो जाता है । मनु का आक्रोश इसी कोटि का है । पहले तो पशु के प्रति श्रद्धा का अनुराग देखकर उनकी अनुरक्ति आहत हो उठती है, और वे क्रोध तथा चोम से मर जाते हैं, लेकिन दूसरे ही क्षण श्रद्धा के सरस स्पर्श और मधुर बदन से उनका सारा आक्रोश शान्त हो जाता है --

‘मन कहीं, यह क्या हुआ है? आज कैसा रंग ?

नत हुआ फण तृप्त ईर्ष्या का विलीन उमंग ।

और सहलाने लगा कर कमल कोमल कांत,^३

देखकर यह रूप-सुषमा मनु हुए कुछ शान्त ।’

१- कामायनी, पृ० ८६, ८७

२- वही, पृ० ८४

३- वही, पृ० ८५

जिस प्रकार अवरोध हट जाने पर अवरुद्ध जल-संघात होने के बह चलाता है, उसी प्रकार श्रद्धा के सरल और प्रेम-पूर्ण व्यवहार से ईर्ष्या तथा डाह का अवरोध हट जाने पर मनु की अवरुद्ध वासना भी अबाध गति से उफान पर आ जाती है और वे उससे अभिभूत होकर आकुलता का अनुभव करने लगते हैं । मनु की यह आकुलता उस समय और बढ़ जाती है जब उन्मद प्रकृति की दुग्ध-धवल चांदनी में 'श्रद्धा' मनु का हाथ अपने हाथ में लेकर मुस्कुरा उठती है^१ । आकर्षक प्रकृति के एकान्त वातावरण में प्रणय के प्यासे दो युवा हृदय के मिलन की जो मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया होती है, उनके शारीरिक और मानसिक विकारों की जितनी अवस्थाएं तथा अन्तर्दशाएं होतीं और हो सकती हैं, उन सब का बड़ा हो सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण श्रद्धा-मनु के इस मिलन-प्रसंग में हुआ है । वात्साजन्य शारीरिक और मानसिक विकारों से अभिभूत मनु का एक चित्र देखिए --

छूटती चिंगारियां उत्तजना उद्ग्रान्त,

घघक्ती ज्वाला मधुर, था वक्ष बिकल अशान्त ।

वान चक्र समान कुहू था बांधता आवेश,

धैर्य का कुहू भी न मनु के हृदय में था लेश^२ ।

यहां कवि ने 'मनु' के हृदय में स्थित रति स्थायी भाव के अनुकूल अनुभावों एवं संचारी भावों का सुन्दर निरूपण किया है । प्रायः प्रथम मिलन के अवसर पर एक युवक प्रेमी की ऐसी ही मनोवैज्ञानिक स्थिति होती है । उसकी वासना में हूबी आंखों में जब उसकी प्रेमिका का अप्रतिम रूप उभर आता है, तब उसके लिए सारी प्रकृति ही रस-सिक्त होकर सौन्दर्य के बोझ से दब सी जाती है । उसका आकुल अन्तर्मन प्रेमिका को बाहों में बांधने के लिए अवीर हो उठता है लेकिन चेतन मन सन्देह की एक रेखा खींच देता है कि कहीं मेरी इस उतावली से प्रिय रुठ न जाय, अतः वह उसका आलिंगन करने में सहम जाता है । इ उस समय उसकी मनोदशा प्यास से अवीर उस व्यक्ति जैसी हो जाती है, जिसके समीप शीतल जल-प्रोत हो, लेकिन उसके उपयोग के लिए उस पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया गया हो ।

१- कामायनी, पृ० ८८

२- वही, पृ० ६२

वासनाजन्य आवेग और संकोच -सम्भूत अवरोध की द्वन्द्वात्मक स्थिति के बीच युवा प्रेमी की प्रतिक्रिया दो प्रकार की होती है-- एक ओर वह अपने उठते भावों का बलात् दमन करने लगता है, जिसके फलस्वरूप उसकी आन्तरिक शान्ति भंग हो जाती है, हृदय आकुल और अधीर हो उठता है, उसकी घड़कन बढ़ जाती है तथा धमनियों में रक्त का प्रवाह तीव्र हो जाता है, दूसरी ओर आत्मिक की तीव्र प्रेरणा से प्रेरित होकर वह 'मनुहार' द्वारा प्रेमिका के कोमल पार्श्व को स्पर्श कर उसे अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करने लगता है । प्रेमिका की मौन स्वीकृति पर जब उसके संकोच का आवरण हट जाता है, तब उसको वासना का आवेग भी अनेक शारीरिक और मानसिक अनुभवों से संश्लिष्ट होकर उसे वात्स्यायन के समान बांध लेता है । उसमें उत्तेजना की चिंगारियाँ फूट पड़ती हैं । मनु की मानसिक अवस्थाएं और शारीरिक चेष्टाएं इसी प्रकार की हैं ।

वासनाजन्य आवेगों से अभिभूत दूसरा चित्र है 'श्रद्धा' का । 'श्रद्धा' और मनु की वासना तथा उनके रतिमूलक स्थायी भावों को अभिव्यक्ति -प्रक्रिया में मौलिक अन्तर है । 'मनु' की वासना अधिक अशान्त, अधीर और मुखर है, जब कि श्रद्धा की वासना का स्वरूप अधिक संयत, शान्त और गम्भीर । उसमें दुस्तरता का उथलापन नहीं मुक्ता की गहराई है । वासनाभिभूत मनु को अधीरता को देखकर, वह अपने आप को संयत कर उन्हें धीरे से समझाती है --

‘यह अतृप्ति अधीर मन की जाँभ-युत उन्माद,

सखे ! तुमल तरंग- सा उच्छ्वासमय संवाद ।

मत कहो, पूछो न कुछ, देखो न किसी मौन,

विमल राका मूर्ति बन कर स्तब्ध बैठा कौन ।’

‘श्रद्धा’ का यही संयम उसे साधना की ऊँची भाव-भूमि पर पहुँचाता है ।

दुर्बलता जीवन का एक अवश्यम्भावी पक्ष है । यह किसी न किसी स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति में पाया जाता है । नारी-जीवन भी उन सहज-स्वाभाविक मानवीय दुर्बलताओं से अछूता नहीं, जिससे पुरुष वर्ग प्रभावित रहता है । जिस प्रकार पुरुष अपने अहं की तृप्ति चाहता है, उसी प्रकार नारी भी । जिस प्रकार मनुष्य अपने

‘अहं’ की सन्तुष्टि पर शान्त और सदय हो जाता है उसी प्रकार नारी भी । जिस समय पुरुष का ‘अहं’ नारी से अपनी पराजय स्वीकार कर उसका मनुहार करने लगता है, उस समय नारी का स्मूचा माने दूर दूर होकर पुरुष के चरणों में बिखर जाता है । उसकी सरलता पुरुष के नर्ममय उपचार की अम्यर्थना में मुक्त जाती है ।

‘मनु’ के अनुनय-विनय पर ‘श्रद्धा’ की नारी सुलभ सरलता भी नारीत्व के मूल मधु अनुभाव के साथ, अनेक संकल्प-विकल्पनों के बीच मनु को आत्म-स्मर्पण कर देती है^१ ।

जिस समय नारी एक नारी के रूप में प्रथम अवसर पर पुरुष के हाथों में, अपने आप को सौंपती है, उस समय उसके मन में कैसे-कैसे संकल्प-विकल्प उठते हैं, उसके हावभाव की क्या गतिविधियां होती हैं, उसकी शारीरिक चेष्टाओं और मानसिक अवस्थाओं में क्या-क्या उतार-चढ़ाव होते हैं, इन सब की बड़ी हो आकर्षक और मोहक फांकी मनु के प्रति ‘श्रद्धा’ के इस स्मर्पण में मिल जाती है ।

मधुर ब्रीड़ा मिश्र चिन्ता साथ ले उल्लास,

हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास

+ - + +

गिर रहीं पलकें, मुकीं थी नासिका की नाँक,

मू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक ।

स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्णभ्र कपोल,

खिला पुलक कंदब सा था भरा गद्गद बोल ।

किन्तु बोली क्या स्मर्पण आज का हे देव !

बनेगा चिर-बन्ध नारी-हृदय हेतु सदैव ।

वाह ! मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूंगी दान,

वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान ।^२

यहां एक युवती के प्रथम प्रेमोदय पर प्रकट होने वाली चिन्ता, स्मृति, ब्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, गर्व, औत्सुक्य, अवहित्था आदि संचारी भावों तथा मृगंग, कम्प, वैवर्ण्य, रोमांच, स्वरपंग, आदि अनुभावों लभ्य द्वारा उसके स्थायी

१- कामायनी, पृ० ६४

२- वही, पृ० ६४

रतिभाव की सुन्दर व्यंजना हुई है । इसी रति का थायी भाव नारी में 'लज्जा' और पुरुष में 'कर्म' का प्रेरणा-स्रोत बनता है ।

लज्जा

लज्जा संकोच-वृत्ति को वह विधा है, जो आत्मगोपन का भाव-वृत्ति पर आधारित रहती है । व्यावहारिकता की दृष्टि से इसके दो पक्ष हो जाते हैं --

(१) वैयक्तिक पक्ष

(२) सामाजिक पक्ष

वैयक्तिक पक्ष वासना को नियंत्रित कर नैतिक पक्ष को पुष्ट करता है और सामाजिक पक्ष उच्छृंखलता पर अंकुश लगा कर सामाजिक मान्यताओं के प्रति निष्ठावान बनाता है । आत्म-नियंत्रण और नियमन के पीछे लोक-लज्जा का बहुत बड़ा हाथ होता है । 'लज्जा' की अनुभूति के अनेक आधार हैं । इन आधारों पर हम 'लज्जा' को दो कोटियों में रख सकते हैं -- (१) सामान्य, (२) विशेष । 'लज्जा' का सामान्य रूप परिस्थितिजन्य होता है । इसमें व्यक्ति अपने-आपको दूसरों की तुलना में शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और सामाजिक आदि दृष्टियों से हीन पाकर लज्जा का अनुभव करता है । इसमें आत्म-हीनता की भावना प्रधान होती है^१ । 'लज्जा' की विशेष कोटि परिस्थितिजन्य न होकर आत्मगत अनुभूतियों से उद्भूत होती है । इसका सम्बन्ध रागात्मक भावों से उत्पन्न अनुभावों से विशेष होता है । 'लज्जा' के इस स्वरूप का विकास वयः सन्धि से प्रारम्भ होता है । इसमें भाव-संकोचन और आत्म-गोपन की प्रवृत्ति के अन्तराल से आत्म प्रकाशन की एक प्रच्छन्न धारा भी प्रवाहित होती रहती है । नारी के हाव-भाव का आधार 'लज्जा' का

१- "The conduct that excites our shame is that which lowers us in the eyes of our fellows, so that we feel to be impossible for our positive self-feeling to attain satisfaction."

— W. Mc Dougall : Social Psychology, (P. 127)

यही स्वरूप है, जिसमें संकोच और सहवास का भाव साग-साथ चलता है^१। कामायनी की लज्जा इसी कोटि की है, जो रति का ही प्रतिरूप और उसको सुग्धावस्था को उपज है ।

लज्जा का यह रूप नारी के चारों ओर हल्का और सुगन्ध से सना हुआ मधुर वासना का ऐसा आवरण डाल देता है कि उसके प्रभाव से उसके सभी अंग मोम के समान सुकुमार होकर बल खाने लगते हैं और अनेक हाव-भाव के साथ वह स्वयं अपने संकोच में सिमट जाती है^२। यह प्रियतम के स्पर्श-सुख का आनन्द उठाना चाहती है लेकिन हाथ उठकर भी नहीं उठ पाते, आँखें भर आँखें देखकर अपनी प्यास बुझाना चाहती हैं, लेकिन देखकर भी नहीं देख पातीं, अनुरागी हृदय प्रिय से छेड़ छाड़ और हास-परिहास कर अपनी मूर्ख मिटा लेना चाहता है, लेकिन हृदय की बात अघराँ तक आ कर रुक जाती है --

‘छूने में हिचक, देखने में,
पलकें आँखों पर मुकती हैं ।
कलरव-परिहास मरी गुँजे,
अघराँ तक सहसा रुकती हैं’^३।

१- "The coyness of the female in the presence of the male may be accounted for insimilar fashion by the assumptions that , in the female the instinct of reproduction has specially intimate innate relation to the instincts of self display and self-abusment, so that the presence of the male excites these as well as the former instinct x x x This coyness of the female is essentially a refusal and avoidance of the sexual approaches of the male, in spite of the excitement of her sex instinct."

— W. Mc Dougall : Social Psychology (P.71, 354)

२- कामायनी, पृ० ६८

३- वही, पृ० ६६

संकोच-संवलित लज्जा का यही रूप रमणों को स्वेरिणी होने से बचा लेता है । इसी को अपना कर नारी अपने नारीत्व में महान होकर स्पृहणीय हो उठती है, और इसमें अकूती रहकर वह अपना गौरव सौ बैठती है । इसी लज्जा का अनुशासन नारी-जाति के शील-सौन्दर्य और सदाचार का आधार होता है --

‘ मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ, मैं शालीनता सिखाती हूँ ।

मतवाली सुन्दरता-पग में, तुरपुर सी लिप्ट मनाती हूँ ।

+ + +

चंचल किशोर सुन्दरता की, मैं करती रहतो रखवाली ।

मैं वह हलकी सी मनलन हूँ, जो बनती कानों की लाली^१ ।

इस प्रकार प्रसाद जी ने ‘लज्जा’ र्ग में एक वासनाभिभूत नारी के लज्जा नामक मनोभाव का बड़ा ही सूक्ष्म, मरस और भाव-पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है । यहीं पर कवि ने ‘लज्जा मनोभाव’ को ह्याया-प्रतिपा के रूप में साकार मान कर एक गूढ़ मनोवैज्ञानिक मत्स्य की ओर संकेत किया है । प्रायः विचारों की गहनता अमूर्त भावों को मूर्त रूप दे देती है । भावों में डूबा हुआ व्यक्ति जब चारों ओर से अपनी चेतना को स्पष्ट कर विषय-विशेष पर केन्द्रित कर देता है, तब उसका अचेतन मन उस पर अपने भावों का आरोप कर उसे मूर्तिमान बना देता है । वह जिस प्रकार के भावों में खोया रहता है, उन्ही प्रकार के चित्र उसकी कल्पना में साकार होने लगते हैं । हृदय का दुर्बल और मयाकुल व्यक्ति मयानक स्थान के स्कान्त अन्धकार में अपनी भावनाओं के अनुरूप ही चित्र देखता है । जिन-जिन वस्तुओं के प्रति उसके हृदय में डर समाया रहता है, वह उन्हीं-उन्हीं वस्तुओं का चित्र देखता है । उसका मय ही मूर्तिमान होकर कभी मेड़िया, कभी शेर, कभी हाथो, कभी सांप और कभी दैत्य या भूत आदि का आकार ले लेता है । मय की यही भावना जब अधिक गहरी हो जाती है तब व्यक्ति उस काल्पनिक चित्र को सही समझ कर कभी-कभी उससे लड़ने भी लगता है । आधुनिक मनोविज्ञान में इसी को अचेतन मन का ‘मूर्ति-करण-सिद्धान्त’ कहते हैं । यहां पर लज्जा मनोभाव का मूर्तिकरण भी इसी प्रकार का है । ‘लज्जा’ श्रद्धा के मनोगत भावों का ही मूर्तिमान रूप है । इसके पूर्व श्रद्धा स्कान्त में बैठी हुई

१- कामायनी, पृ० १०३

२- वही, पृ० १००

लज्जा के स्वरूप और उससे प्रभावित अपने हृदय की परवशता, आंगिक शिथिलता, संकोच आदि के विषय में सोच रही थी । उही समय सन्ध्या की लालिमा में उसे अपनी ही भावनाओं की एक प्रतिमूर्ति हंसती तथा उसके प्रश्नों का उत्तर देती हुई दिखाई दी । उस क्लायामूर्ति लज्जा ने अपना जो परिचय दिया है, वह स्वयं श्रद्धा के अन्तर्मन का ही परिचय है ।

कर्म

कामजन्य वासना की प्रतिक्रिया स्वल्प नारी में 'लज्जा' और पुरुष में 'कर्म' का सूत्रपात होता है । 'कर्म' कामना-तृप्ति का एक माध्यम है । इसके पीछे एषणाओं की प्रेरणा का प्रमुख हाथ होता है । व्यक्ति किसी आशा मत् या आकांक्षा से प्रेरित होकर ही 'कर्म' में प्रवृत्त होता है । मनु भी श्रद्धा का ग्राहव्यय्य न्युक्त माने और उसे अपना कर सुखी जीवन किताने की आशा से ही 'कर्म' की ओर आकृष्ट होते हैं^१ । अपनी इस तृषा-तृप्ति के लिए वे काम्य कर्मों का अनुष्ठान कर उसके माध्यम से सुख-स्वप्नों को पूरा करना और श्रद्धा को सानुकूल बनाना चाहते हैं--

'कर्म'-ग्रस से जीवन के सपनों का स्वर्ग मिलेगा,

इसी विपिन में मानस की आशा का कुसुम खिलेगा ।

+

+

+

एक विशेष प्रकार कुतूहल होगा श्रद्धा की भी,

प्रसन्नता से नाच उठा मन, नुतनता का लोभो^२ ।

प्रायः अनुभवहीन युवा-हृदय की कर्म-लिप्सा में विवेक-बुद्धि का अभाव तथा उत्तेजना का प्रभाव प्रमुख होता है । वह सत्य की परख तर्क को कसौटी पर न कर भावनाओं की परिधि में करता है । उसके संचित संस्कार अपनी रुचि के अनुसार कुछ सिद्धान्तों की सृष्टि कर लेते हैं और वह उन्हीं सिद्धान्तों को अपने जीवन-विकास का आधार बना लेता है । उनके प्रति उसकी अटूट आस्था हो जाती है ।

१- कामायनी, पृ० १०६, ११३

२- वही, पृ० ११३, ११५ ।

जब व्यक्ति अपने अनुकूल सिद्धान्त के प्रति निष्ठावान होकर अपनी समस्त चेतना को उगी पर केन्द्रित कर देता है, तब उसे चारों ओर उसी की प्रतिच्छाया दिखाई पड़ने लगती है। जल, जलाशय, सरिता, स्मिर, और आकाश आदि में उसे अपने हृदय में स्थित सिद्धान्त की ध्वनि ही सर्वत्र गूँजती दिखाई पड़ने लगती है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य का बड़ा सुन्दर चित्रण इन पंक्तियों में हुआ है --

‘कन जाता सिद्धान्त प्रथम फिर, दृष्टि हुआ करती है,
बुद्धि उसी गण को सबसे ऊँचा, गढ़ा भरा करती है।
मन जब निश्चित सा कर लेता, कोई मत है अपना,
बुद्धि देव-बल से प्रमाण का, मत निरस्त सपना।
पवन वहाँ हिलकोर उठाता, वहाँ तरलता जल में,
वही प्रतिध्वनि अन्तरतम की, छा जाता नम-तल में।’^१

मनु का भौतिक भोग वादो दृष्टिकोण और उसके समर्थन में प्रस्तुत उनका तर्क इसी स्वार्थ सम्पृक्त स्कान्त चिन्तन का परिचायक है। स्नेहमयी श्रद्धा द्वारा स्थूल भोगवाद और संकुचित स्वार्थ से ऊपर उठ कर सबको सुखी बनाने का सुझाव दिए जाने पर व्यक्तिवादी मनु व्यक्तिवाद के समर्थन में तर्क देते हुए कहते हैं --

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी, श्रद्धा! वह भी कुछ है,
दो दिन के इस जीवन का तो, वही चरम सब कुछ है।

+ + +

विश्व माधुरी जिसके सम्मुख, मुकुर बनी रहती हो,
वह अपना सुख स्वर्ग नहीं है, यह तुम क्या करती हो?^२

‘मनु’ का ‘कर्म’ कामजन्य वासना से अनुप्राणित है। इसका प्रारम्भ उनको प्रणयानुभूति के प्रसंग में हुआ है। प्रणय-प्रसंग के सन्दर्भ में दो युवा प्रेमी एक-दूसरे के प्रति किस प्रकार आकर्षण का अनुभव करते हैं और आपसी व्यवहार की क्रिया-प्रतिक्रिया स्वरूप उनके हृदय में कैसी-कैसी भावनाएँ उठती हैं, इसका बड़ा सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण मनु और श्रद्धा के माध्यम से यहाँ प्रस्तुत किया गया है। ‘मनु’

१- कामायनी, पृ० ११०

२- वही, पृ० १३०, १३१

एक युवा प्रेमी का प्रतिनिधित्व करते हैं। युवा प्रेमी अपनी प्रेमिका को रिक्त करने के लिए हर सम्भव प्रयास करता है। वह उसके संकेतों पर अपने-आप को न्योछावर कर उसकी प्रत्येक इच्छा को पूरी करने में अपना अहोभाग्य समझता है। उसके इस प्रयत्न के पीछे प्रेमिका का अखण्ड प्रेम पाने की लालसा काम करती रहती है। प्रेमिका का सम्पूर्ण प्रेम पाने के लिए वह एक ओर काम्य कर्मों का अनुष्ठान करता है, और दूसरी ओर प्रेमिका के प्यार को बटाने के वाले आधारों को समाप्त करने की योजना बनाता है। इस सन्दर्भ में यदि उसके व्यवहार से प्रेमिका के हृदय को कोई ठेस पहुँचती है, तो वह अपने अनुनय-विनय द्वारा उसे प्रसन्न कर अपने अनुकूल बना लेता है। मनु का प्रेमी हृदय भी प्रेयसी श्रद्धा का अखण्ड प्रेम पाने के लिए इन सभी विधियों को काम में लाता है। 'श्रद्धा' को प्रसन्न करने के लिए मनु उसके संकेत पर सब काम करते हैं। उसी को रिक्त करने के लिए वे यज्ञ-कर्म का आयोजन करते हैं और उसमें 'श्रद्धा' के प्रेम को बटाने वाले उसके पालित पशु की बलि भी चढ़ा देते हैं। 'कर्म' का स्वरूप संघर्षमूलक होता है, और संघर्ष की कठोरता हिंसात्मक हो जाती है। जब हिंसात्मक कर्मों को व्यक्ति अपने व्यक्तित्व-विकास का माध्यम बना लेता है, तब वह अपने स्वार्थ-सिद्धि में बाधक वस्तुओं के प्रति ईर्ष्या और द्वेष आदि भावों से प्रभावित होने लगता है। 'श्रद्धा' के पालित पशु को बलि देने के पीछे मनु के हृदय में उस निरीह पशु के प्रति स्थित ईर्ष्या, का भाव प्रमुख है, जिसे वे अपने और श्रद्धा के बीच बाधक समझते हैं। पालित पशु के प्रति उनके हृदय में स्थित यह ईर्ष्या-भाव उस समय व्यक्त हो जाता है, जब श्रद्धा उस हिंसामूलक यज्ञ से रूठ कर वहाँ से चली जाती है। और मनु की चेतना पालित पशु पर केन्द्रित हो जाती है, वे सोचने लगते हैं--

वही प्रसन्न नहीं? रहस्य कुछ
इसमें सुनिहित होगा,
आज वही पशु मर कर भी क्या
सुख में बाधक होगा।^१

मनु का उक्त कथन पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है । युवा प्रेमी अपेक्षाकृत अधिक भावुक और संवेदनशील होता है । उसे अपने और प्रेमिका के बीच किसी तीसरे का आना अपहृत्य हो उठता है । चूंकि वह अपनी प्रेमिका का अखण्ड प्रेम पाना चाहता है, अतः उसमें बाधा पहुंचाने वाले उन सभी आधारों को नष्ट कर देना चाहता है, अतः जिनका सम्बन्ध उसकी प्रेमिका के प्यार से होता है । उन आधारों को समाप्त कर देने पर भी यदि प्रेमिका उसके प्रति अनुरक्त न होकर अपने पूर्व आधारों के प्रति ही अपनी आसक्ति का परिचय देती है, तब भावुक प्रेमी का हृदय टूट जाता है । वह खिन्नि होकर अपनी आन्तरिक आकुलता को मुलाने के लिए मादक द्रव्यों का सेवन करने लगता है । अपने प्रति श्रद्धा के लक्षे व्यवहार पर मनु की प्रतिक्रिया इसी प्रकार की होती है । वे अपने आप को उपेक्षित पा कर कराह उठते हैं --

‘जिसका था उल्लास निरखना, वही अलग जा बैठी,
यह सब फिर क्यों? तृप्त वासना लगी गरजने ऐंठी ।’

‘श्रद्धा’ की विरक्ति से मनु का सारा उल्लास शिथिल हो जाता है, वे चिन्ता में डूब जाते हैं, और उन्हें जीवन में रिक्तता का अनुभव होने लगता है । इसी रिक्तता को दूर करने के लिए वे यज्ञ अवशिष्ट मांस के साथ सोम-पान करने लगते हैं --

‘पुरोडास के साथ सोम का पान लगे मनु करने,
लगे प्राण के रिक्त अंश को मादकता से भरने ।’

अन्त में मांस-मदिरा के प्रभाव से उद्दीप्त होकर मनु की तरल वासना उन्हें ‘श्रद्धा’ के पास खींच ले जाती है, जहां वे नीरव रात्रि के एकान्त वातावरण में सोयी श्रद्धा के उन्मद सौन्दर्य को देखकर और भी वासनाभिभूत हो उठते हैं, और उनका सारा अहं पराजित होकर नारी के सम्मुख फुक जाता है । वे वाणी में अनुनय और आंखों में उपालम्भ की छाया लेकर श्रद्धा की मनुहार करने लगते हैं । अन्त में श्रद्धा भी उनके अनुनय-विनय पर रीफ कर उन्हें आत्मसमर्पण कर देती है ।

१- कामायनी, पृ० ११६

२- वही, पृ० ११७

३- वही, पृ० १२७

यहां पर 'श्रद्धा' एक भावुक और सरल हृदया प्रेमिका का प्रतिनिधित्व करती है ।
 एक सरल और सुकुमार हृदय की युवती को उस समय सबसे गहरी ठेस पहुंचती है, जब
 उसका प्रेमी उसकी इच्छाओं के प्रतिकूल आचरण करने लगता है । उसकी यह वेदना
 उस समय और बढ़ जाती है, जब वह प्रिय को अपने अनुकूल बनाने में विवशता का
 अनुभव करती है । 'मनु' की हिंसक प्रवृत्ति को देखकर श्रद्धा का हृदय झुंझ हो उठता
 है --

‘कितना दुःख जिसे मैं चाहूं, वह कुछ और बना हो,
 मेरा मानस-चित्र खींचना, सुन्दर सा सपना हो ।’

‘श्रद्धा’ का यही अवसाद सारे वातावरण को बोझिल बनाकर उसके
 चतुर्दिक विषाद की सृष्टि कर देता है, उसे चारों ओर उदासी ही उदासी दिखाई
 पड़ने लगती है । अन्त आकाश वेदना का नीड़ बन जाता है, सारा संसार मगान्त्रान्त
 होकर विषम ताप से दहकने लगता है, सागर की लहरें व्याकुलता से लोटने लगती
 हैं, और तारे वेदना के स्फुल्लिंग से उमर आते हैं ?

‘श्रद्धा’ एक भावुक नवयुवती है, उसमें भी नारी सुलभ आकांक्षा और
 लज्जा संवलित काम-सुखों की लालसा बनी हुई है । इनका द्वन्द्व उसके हृदय को उस
 उत्कट आवेश से भर देता है, जिसमें व्याकुलता के साथ-सम्बन्ध मधुर पीड़ा की अनुभूति
 भी घुल-मिल जाती है । जिस प्रकार आकाश बादलों के से घिर जाता है, उसी
 प्रकार श्रद्धा के हृदय में भी व्याकुलता से भरी हुई उदासी घिर जाती है, जिसमें कसक
 के साथ-साथ एक मिठास भी मिली रहती है । यही मधुरता उसे प्रिय के प्रति सदैव
 बना देती है । क्रोध से प्रिय को ठुकरा देने पर भी उसके मन में मौह्यमूलक आसक्ति
 शेष रह जाती है जिसमें उलफ कर उसका हृदय प्रिय की ओर उसी प्रकार उन्मुख
 हो जाता है, जिस प्रकार ध्वनि पर्वत शिलाओं से टकरा कर पुनः वापस आ जाती
 है ? इसी अवसर पर मनु द्वारा मनुहार के साथ हथेली थाम लें पर श्रद्धा स्वेद,
 रोमांच, कम्प आदि सात्विक अनुभावों के बोझ से दब जाती है । अन्त में मनु के
 द्वारा इस मनुहार पर --

‘वही कहेंगा जो कहती हो,
 सत्य अकेला सुख क्या ?’^४

१- कामायनी, पृ० १२०

२- वही, पृ० १२०, १२१

३- वही, पृ० १२७

४- वही, पृ०

‘श्रद्धा’ का सारा मान झुर-झुर होकर बिखर जाता है और उसका ‘अहं’ अपने विजयोल्लास में आत्म-विमोह हो उठता है --

‘आखें प्रिय आंखों में, डूबै
अरुण अघर थे रस में,
हृदय काल्पनिक विजय में सुखी
चेतनता नस नस में ।’

अन्त में नारी पुरुष की सम्मोहन शक्ति के सम्मुख पराजित होकर आत्म समर्पण कर देती है । दो युवा प्रेमियों के प्रणय-प्रसंग का यह चित्रण बड़ा ही स्वाभाविक और पूर्णतया मनोवैज्ञानिक हुआ है ।

ईर्ष्या

ईर्ष्या अनुदारता तथा आत्महीनता की भाव-भूमि पर आधारित वह संकुचित और स्वार्थ-सम्पृक्त प्रवृत्ति है, जिसमें व्यक्ति अपनी सहिष्णुता खोकर निष्करुण हो जाता है । व्यक्ति अपने-आप में पूर्ण होने की बलवती स्पृहा रखता है । जब वह अपने-आप को शारीरिक, मानसिक, आर्थिक आदि दृष्टियों से हीन पाता है, तब उसे एक प्रकार का मानसिक ज़ोम होता है, और वह निराश होकर ईर्ष्यालु बन जाता है । आत्महीनता जन्य ईर्ष्या के कई रूप हो जाते हैं -- एक रूप तो वह होता है, जिसमें लोलुपता प्रधान होती है, इसमें व्यक्ति सब कुछ अपने में समेट लेना चाहता है । वह चाहता है कि जो कुछ मेरे पास है, वह दूसरे के पास न हो । इसका दूसरा रूप वह होता है, जिसमें व्यक्ति की संकुचित स्वार्थ-लिप्सा प्राप्य वस्तु से तो चिपकी ही रहती है, इसके अतिरिक्त वह उस वस्तु को भी हस्तगत करना चाहती है, जो दूसरे के पास है और जिसके द्वारा वह व्यक्ति इसकी समकक्षता में आ सकता है । ईर्ष्या का तीसरा रूप निराशाजन्य खीभ का परिणाम होता है, जिसमें व्यक्ति जब इच्छित वस्तु को दूसरे के हाथ से प्राप्त करने में अपने आप को असमर्थ और अशक्त पाता है, तब वह यह चाहने लगता है कि यदि वह वस्तु मेरे हाथ नहीं लगती तो दूसरे के पास भी न रहे, वहां से चाहे जहां जाय । इस प्रकार ईर्ष्यालु व्यक्ति ‘अहं’ को अपना कर दूसरों की सुख-सुविधाओं के प्रति

असहिष्णु और विरोध-भाव रखने वाला हो जाता है । उसमें सरलता और सहृदयता के स्थान पर शठता तथा कठोरता की प्रधानता हो जाती है । यही कठोरता उस समय क्रूरता का रूप ले लेती है, जब व्यक्ति हिंसात्मक कर्मों को अपने व्यक्तित्व विकास का माध्यम बना लेता है, जिसके फलस्वरूप उसमें अपनी स्वार्थ-सिद्धि में बाधक वस्तुओं के प्रति ईर्ष्या, द्वेष आदि भावों का समावेश हो जाता है ।

वैयक्तिक और सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में ईर्ष्या के कई रूप हो सकते हैं, ... वैयक्तिक स्तर पर इसका एक रूप हमारी काम-भावना और आसक्तिमूलक प्रवृत्ति से सम्बद्ध है । ईर्ष्या का यह स्वरूप उस समय मड़क उठता है, जब दो के बीच में कोई तीसरा आकर उनके प्रेम को बंटाने लगता है^१ । मनु की ईर्ष्या का आधार भी उनकी काम-कुण्ठा है । काम-कुण्ठा से ग्रस्त व्यक्ति की मानसिक स्थिति अव्यवस्थित हो जाती है । उसके विचारों में विखराव आ जाता है । चेतन मन में एक बात चलती है, और अचेतन मन में दूसरी । मनु की मानसिक स्थिति में हमें इसी प्रकार का तनाव मिलता है । उनका चेतन मन मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहता, लेकिन अचेतन मन अपनी अतृप्ति में आकुल हो उठता है --

निज उद्गम का मुख बन्द किए, कब तक सोयेगे अलस प्राण,
जीवन की चिर चंचल पुकार, रोये कब तक है कहाँ त्राण^२ ।

काम-जन्य ईर्ष्या का स्वरूप बड़ा अनुदार होता है । इसमें व्यक्ति अपने प्रेम को बंटाने वाले सगे से सगे व्यक्ति को भी अपने प्रेम-पथ से दूर हटा देना चाहता है । मनु में इस स्तर की कामुकता आ जाती है कि उन्हें अपनी ही भावी सन्तान

१- "Certainly full blown jealousy is only developed where some sentiment of love or attachment exists; and the conditions of its excitement, which constitute the object of the emotion, are complex, being not a single person and his situation or action, but the relations between three persons; x x x and jealousy arises when the object of the sentiment gives to another, or merely is thought to give to another, any part of the regard thus claimed for the self."

— W. Mc Dougall : Social Psychology. P. 119

के प्रति ईर्ष्या हो जाती है । वे उसे 'प्रेम बांटने का प्रकार' समझ कर उसके प्रति घृणा-भाव से भर जाते हैं । मर्यादा के अनुकूल न होने पर भी मनु की यह ईर्ष्या सहज, स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों के अनुरूप है । प्रेमी प्रेमिका के प्रति अपने संचित भाव-विशेष का सम्प्रेषण चाहता है । वह उसके व्यास को बढ़ाकर उसमें प्रेमिका के प्यार को समेट लेना चाहता है । जब उसे अपने इस प्रयास में सफलता नहीं मिलती, और उसका प्रेम प्रिय में अपने विकास का क्षेत्र न पाकर तिरस्कार का अनुभव करता हुआ प्रत्यावर्तित होकर लौट आता है, उस समय उसकी प्रतिक्रिया बड़ी तीव्र होती है, जिसके फलस्वरूप राग-विराग में, और प्रेम घृणा में बदल जाता है । प्रिय के प्रति अरुचि होती-ह जाती है । मनु के हृदय में श्रद्धा के प्रति इसी प्रकार की भावुकताजन्य आसक्ति का भाव बद्धमूल हो चुका था, जिसकी प्रेरणास्वरूप वह उत्साहपूर्ण आखेट करता और उसके द्वारा उसे प्रसन्न कर उसके अखण्ड प्रेम को प्राप्त करना चाहता था । लेकिन जब वह श्रद्धा की ओर से अपने विलासी स्वभाव के अनुकूल उत्तर नहीं पाता, तब उसकी भावुकता को गहरी ठेस पहुंचती है । मृगया से लौटने पर उसका उत्साह उदासीनता में बदल जाता है । उसका दिल यह सोच-सोच कर बैठ जाता है कि श्रद्धा के लिए अब मेरा 'अस्तित्व' केवल अतीत का विषय बन कर रह गया है । उसे बीजों का संग्रह करने, शालियां बीनने और तकली चलाने के अतिरिक्त मेरे विषय में कुछ भी सोचने का अवकाश ही नहीं मिलता^१ । 'मनु' की यही धारणा उन्हें घर के प्रति उदासीन बना देती है । घर जाने की जैसे इच्छा ही नहीं होती ।

लौटे थे मृगया से थक कर, दिखलाई पड़ता गुफा-द्वार;

पर और न आगे बढ़ने की, इच्छा होती, करते विचार ।

मृग हाल दिया फिर घनु को भी, मनु बैठ गए शिथिल शरीर;

बिखरे थे सब उपकरण वहीं आयुध, प्रत्यंचा, शृंग तीर ।^२

मनु की इस आसक्ति में स्थूल ऐन्द्रिकता की प्रधानता है, जिसमें वासना की अतिशयता, अपने पूरे उफान पर आकर मनु की सारी संवेदकशीलता को गहरी भोगवृत्ति की सीमा में सीमित कर देती है । उनकी यह वासना इस सीमा तक बढ़

१- कामायनी, पृ० १४१

२- वही, पृ० १४१

जातो है कि वे आपन्नसत्त्वा^१ श्रद्धा^२ के सहज खेदमय रूप के प्रति सदय होने की अपेक्षा उसे अपने भोग का प्रतिरोधक समझने लगते हैं^३। अन्ततः उनका विलासी हृदय पुकार उठता है --

‘ यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी ! अपना डुलार,
केवल मेरी ही चिन्ता का
तब चित्त वहन कर रहे मार ।^२

‘ मनु^१ को गहिर्त वासना का यही अतिवादी रूप उन्हें अपनी सन्तान के प्रति मनु^२ ईर्ष्यालु बना देता है । यहां पर यह तथ्य विचारणीय है कि अपनों संतान के प्रति मनु की यह ईर्ष्या आधुनिक मनोविज्ञान की ‘मातृग्रन्थि’ से सर्वथा भिन्न है । यह मातृग्रन्थि की उपज नहीं, बल्कि मनु की विलासिता का अतिवादी रूप है । मातृग्रन्थि वहां होती है जहां सन्तान उत्पन्न हो चुकी होती है । इस ग्रंथि के अनुसार माता के अचेतन मन में पुत्र के प्रति प्रेम और पुत्री के प्रति ईर्ष्या-भाव तथा पिता में पुत्री के प्रति प्रेम और पुत्र के प्रति ईर्ष्या-भाव रहता है । इसी प्रकार पुत्री पिता के प्रति और पुत्र माता के प्रति अधिक आकृष्ट रहते हैं^३ । लेकिन मनु के साथ ऐसी बात नहीं है । मनु की ईर्ष्या भावी सन्तान के प्रति है, जिसके विषय में कुछ मालूम नहीं कि वह पुत्र है या पुत्री । अतः मनु की यह ईर्ष्या पूर्णतया कामजन्य और उनकी गहिर्त विलास-भावना का अतिवादी रूप है ।

इड़ा

इड़ा को प्रसाद ने बुद्धि का प्रतीक माना है । बुद्धि बौधजन्य अनुभूति की वह प्रक्रिया है जो विचारों को जन्म देकर तर्क-वितर्क के माध्यम से वस्तुस्थिति के

१- कामायनी, पृ० १४३

२- वही, पृ० १४८

३- यह बात ओड्र कह दी जाय कि बहुतबार बालक में मातृग्रन्थि (*oedipus-complex*) पैदा करने में स्वयं माता-पिता का ही सबसे निश्चायक प्रभाव पड़ता है । वे स्वयं एक से अधिक बालक होने पर लिंग-आकर्षण से प्रभावित होते हैं--पिता अपनी छोटी लड़की के प्रति असंदिग्ध रूप में प्यार प्रदर्शित करता है, और माता पुत्र के प्रति ।^१ --सिगमंड फ्रायडः

-- ए जनरल इण्डोडक्शन टु साइकोनेलसिस

अनुवादक--देवेन्द्रकुमार वैदालकार, पृ० ३०४

स्वरूप को समझने का प्रयास करती है। इस प्रसंग में प्रसाद ने इड़ा को बुद्धि का प्रतीक मान कर उसके स्वरूप का जो निरूपण किया है, उसमें तर्क-वितर्क, ज्ञान-विज्ञान और विवेक-विचार आदि बुद्धि तत्त्व के समस्त गुणों की समष्टि हो गई है^१। बुद्धि का अतिवाद जब विवेक पर हावी हो जाता है, उस समय व्यक्ति कर्तव्याकर्तव्य के बीच की सीमा-रेखा भूलकर अपनी हठवादिता पर उतर आता है। उसकी अति बौद्धिकता हृदय की कोमलता को फुठला कर उसमें कठोरता की चाट जगा देती है, जिसके फलस्वरूप उसके जीवन की प्यास बुझ नहीं पाती और वह मृगछलना की भाग-दौड़ में ही अपना जीवन समाप्त कर देता है। जिस प्रकार एक यात्री लम्बी यात्रा तय करता हुआ, मार्ग के नये मोड़ पर पहुँच कर विश्राम करते समय राह की थकान का अनुभव करता है, उसी प्रकार संघर्षों से लड़ता हुआ व्यक्ति जब जीवन के नए मोड़ पर अपने-आपको अकेला पाता है, उस समय उसे अपने अतीत की स्मृति कचोटने लगती है। उसे अपनी भूलों पर पाश्चात्ताप होने लगता है। पश्चात्ताप की यही अनुभूति व्यक्ति को संवेदनशील बना कर उसे अपने के समीप खींच ले आती है। इस अवसर पर वह अपनी मायुक्ताजन्य भूलों को सुधार कर अपने पूर्व सहयोगियों को अपना लेना चाहता है। लेकिन उसका अहं उसमें व्यवधान डाल देता है। जिस समय 'मनु' श्रद्धा से छूट कर इड़ा की ओर बढ़ने लगते हैं, उस समय उन्हें अपना अतीत याद आ जाता है, और श्रद्धा के प्रति अपने किए हुए अत्याचार पर उन्हें पश्चात्ताप भी होता है, लेकिन उनका अहं उन्हें बौद्धिकता की ओर खींच ले जाता है।

जब तक व्यक्ति बौद्धिक अनुशासन में रह कर विवेक के सहयोग से जीवन जीता है, तब तक उसकी सहजता में कोई विकार नहीं आता। लेकिन जब उसका अहं बुद्धि को ही अनुशासन में रक्कर स्वयं स्वेच्छाचारी हो जाता है, तब उसके जीवन में विकृतियाँ आने लगती हैं, उसका सहज सन्तुलन बिगड़ जाता है और अन्ततः उसका पतन हो जाता है। बौद्धिक सन्तुलन व्यक्तित्व-विकास में सहायक होता है और उसका अतिवाद पराभव का कारण। जिस समय मनु सहज सरलता और आस्था के साथ इड़ा को अपनाते हैं, उस समय उनका सारा अवसाद समाप्त हो जाता है। जीवन में हर्षोल्लास की उषा मुस्कुरा उठती है, सुषमनोभाव विहगों के समान कलरव कर जाग उठते हैं, सब सारे विकल्प-संकल्प बन जाते हैं तथा कर्मों की पुकार

के साथ जीवन के सभी सुख-साधनों का द्वार खुल जाता है^१। जब तक व्यक्ति का 'अहं' बुद्धि के अनुशासन में रहता है, तब तक उसमें कोई व्यतिक्रम नहीं आता, इसके विपरीत आचरण से वह विशुद्ध हो जाता है। जब तक मनु' बुद्धि के अनुरूप 'इड़ा' के निर्देशन में शासन-प्रचालन करते रहते हैं, तब तक सारस्वत प्रदेश में सुख-शान्ति बनी रहती है, और वह मौक्तिक दृष्टियों से श्री सम्पन्न हो जाता है। लेकिन जब वे 'इड़ा' के सुफावों की उपेक्षा कर स्वयं उसे ही बलात् अपने अधिकार में रखने का हठ ठान लेते हैं तब उनके विरोध में प्रकृति से लेकर प्रजावर्ग तक उठ खड़ा होता है, और अन्त में उन्हें पराजित होना पड़ता है।

इस प्रकार सन्तुलित बुद्धि का जीवन-विकास में विशिष्ट स्थान है। लेकिन इसे अतिवाद से बचाए रखने के लिए 'विवेक' का होना आवश्यक है। विवेक के अभाव में 'अहं' अतिवादी होकर उच्छ्वसल हो जाता है।

स्वप्न

स्वप्न के मन्दर्म में मुख्यतः दो सिद्धान्त चलते हैं -- एक है दैहिक सिद्धान्त और दूसरा है आधुनिक सिद्धान्त जिसका सम्बन्ध मानसिकप्रक्रिया से है। दैहिक सिद्धान्त के अनुसार स्वप्नों को जन्म देने में शरीर की आन्तरिक व्यवस्थाओं तथा उसके उद्दीपनों का बहुत बड़ा हाथ होता है। ये उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं-- कुछ वाद्य विषयों से सम्बद्ध होते हैं और कुछ शरीरस्थ विकारों से। इन्हीं दोनों के सामूहिक प्रभाव से स्वप्न की सृष्टि होती है। घड़ी की टिकटिक से प्रभावित व्यक्ति स्वप्न में गिरिजाघर या मन्दिर में घण्टा बजने का स्वप्न देखेगा और भूखा व्यक्ति स्वादिष्ट पकवानों का। चरक ने भी इस तथ्य को और संकेत करते हुए लिखा है कि जब कफ, बात, तथा पित्त आदि तत्वों में सन्तुलन नहीं रह जाता, तब व्यक्ति इन दोषों के अनुसार स्वप्न देखने लगता है। जैसे बात से पीड़ित व्यक्ति अपने को हवा में उड़ता हुआ या इधर-उधर दौड़ता हुआ देख सकता है और पित्त से पीड़ित व्यक्ति उगते हुए सूर्य या सुनहले पहाड़ का स्वप्न देख सकता है। इसी प्रकार कफ प्रधान व्यक्ति नदी या समुद्र पार करने का स्वप्न देखेगा।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार स्वप्न को अचेतन मन का क्रिया-व्यापार और मानसिक वृत्तियों का वह दृश्य-बोध माना गया है, जिसमें हमारी दमित वासनाएँ जो काम-भावना तथा नैतिक और धार्मिक वृत्तियों के साथ-साथ आत्म-संस्थापन की प्रवृत्तियों से सम्बद्ध होती हैं, प्रतीकों के माध्यम से अपने-आपको प्रकट करती हैं। प्रायः ने स्वप्नों को 'इच्छा की पूर्ति' कहा है।

आधुनिक मनोविज्ञान में मन के तीन स्तर माने गये हैं -- (१) चेतन मन, (२) अर्द्ध चेतन मन, और (३) अचेतन मन।

चेतन मन सामाजिक संस्कारों से प्रभावित होता है। यह व्यावहारिक जीवन को प्रभावित करने वाली व्यवस्थाओं और मान्यताओं के प्रति विशेष सचेष्ट रहता है। चेतन मन की इस नियमन प्रक्रिया में अर्द्ध चेतन मन उसका विशेष सहायक होता है। अर्द्ध चेतन मन मूलतः नैतिक और आदर्शवादी होता है। यह-व्यवहार-नैतिक-जन्म-कर्म-प्रभावित-कर्म-बन्धि इसकी स्थिति चेतन और अचेतन मन के बीच होती है। यह दोनों के बीच प्रतिबन्धक तथा सेन्सर बोर्ड का काम करता है और अचेतन मन की उन्हीं भावनाओं को चेतना की सतह पर ले आता है, जिनको अपनी नैतिक मान्यताओं तथा आदर्शों के अनुकूल पाता है। अचेतन मन शक्ति का भ्रूत और दमित वासनाओं का आश्रय स्थल होता है। स्वप्न का सीधा सम्बन्ध इसी अचेतन मन से रहता है। स्वप्न-विकास में स्मृति का भी विशेष हाथ होता है। भारतीय चिन्तकों ने स्मृति को स्वप्न-सिद्धान्त का प्रमुख अंग माना है। सार्वभौम शास्त्र में स्वप्न को एक प्रकार की स्मृति मान कर उसका सम्बन्ध संस्कारों से जोड़ा गया है। इस प्रसंग में 'स्मृति' की दो कोटियाँ हो जाती हैं -- कुछ स्मृतियाँ ऐसी होती हैं जो चेतन मन की नैतिकता से मेल खाती हैं। इस प्रकार की स्मृतियों को चेतन मन अपनी चेतना के सतह पर लाकर उनका प्रकाशन कर देता है। लेकिन कुछ स्मृतियाँ ऐसी होती हैं जो चेतन मन की नैतिकता से मेल नहीं खाती, ऐसी स्मृतियों को चेतन मन प्रतिबन्धक की सहायता से दबा देता है। यही दमित स्मृतियाँ अचेतन मन में जाकर मानसिक ग्रन्थियों में बदल जाती हैं, और स्वप्न तथा मानसिक व शारीरिक रोगों के माध्यम से अपने-आपको अभिव्यक्त करती हैं। ये मानसिक

१- प्रायः : मनोविश्लेषण, अनुवादक- देवेन्द्रकुमार वेदालंकार, पृ० १४१

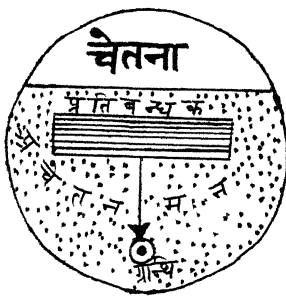
२- (क) संस्कार मात्र जन्यः स्वप्नावस्था परिणामः

(ख) संस्कार मात्र जन्यः ज्ञानं स्मृति,

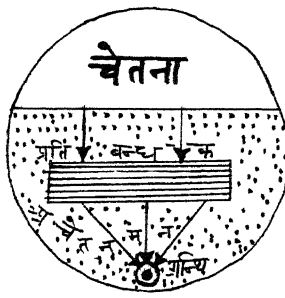
-- तर्क संग्रह

ग्रन्थियां मुख्यतः वासनात्मक वृत्तियों के विकृत स्वरूप की उपज होती हैं । इनका संघातशक्ति-प्रदर्शन का बराबर प्रयास किया करता है, जिसे दबाने के लिए चेतन मन को विशेष सचेष्ट होना पड़ता है । इस मन्दर्भ में मानसिक ग्रन्थियों के प्रकाशन और दमन की यह प्रक्रिया मुख्यतः चार अवस्थाओं से होकर गुजरती है --

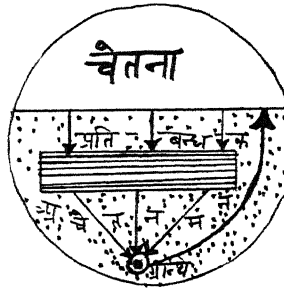
चित्र न०१



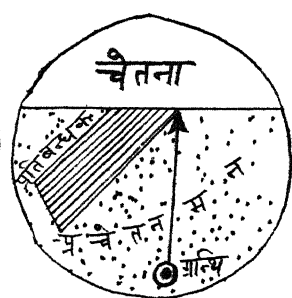
चित्र न०२



चित्र न०३



चित्र न०४



पहली अवस्था में प्रतिबन्धक अवांक्षित स्मृतियों से सम्बन्धित ग्रन्थियों को चेतना के सतह पर नहीं जाने देता (चित्र न०१) । दूसरी अवस्था में मानसिक ग्रन्थियां अपेक्षाकृत अधिक शक्ति के साथ चेतना की सतह पर जाने का प्रयास करती हैं । उस समय चेतना और प्रतिबन्धक दोनों मिल कर उसे नियंत्रित करने का प्रयास करते हैं (चित्र न०२) । इस प्रसंग में चेतन मन प्रतिबन्धक को और शक्तिशाली बनाने के लिए अपने-आप में सम्बन्धित ग्रन्थियों के प्रतिकूल शक्ति का विकास करता है, जैसे काम वासनाजन्य मानसिक ग्रन्थि को दबाने के लिए वह वैराग्य-भावना को जगाकर काम-प्रसंग की जट्ट आलोचना करने लगता है । तीसरी अवस्था में मानसिक ग्रन्थि विकृत अथवा गुप्त मार्ग से बाहर जाने का प्रयास करती है (चित्र न०३) । स्वप्न, सांकेतिक चेष्टाएं, मानसिक रोग आदि इसी प्रकार के गुप्त मार्ग हैं । जब चेतना और प्रतिबन्धक का नियंत्रण इतना झुड़ु हो जाता है कि मानसिक ग्रन्थियां उसको तोड़ कर बाहर जाने में असमर्थ हो जाती हैं, तब वे स्वप्न, संकेत आदि गुप्त मार्गों से बाहर आती हैं । चौथी अवस्था मानसिक ग्रन्थियों की वह अनियंत्रित अवस्था है, जिसमें ग्रन्थियां प्रतिबन्धक को एक ओर हटा कर चेतना की फकफोरती हुई एकदम बाहर आ जाती है (चित्र न०४) । ऐसी अवस्था में सम्पूर्ण पागलपन और

उन्माद के मानसिक रोग होते हैं । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वप्न का मुख्य कारण मन का संघर्ष और इच्छाओं का दमन है । फ्रायड ने काम वासनाओं से सम्बन्धित इच्छाओं को स्वप्न का कारण माना है । फ्रायड के अनुसार हमारे दैनिक जीवन की अनेक इच्छाएं अपूर्ण रह जाती हैं । यही अपूर्ण इच्छाएं स्वप्न में पूर्ण होने की चेष्टा करती हैं । जिन इच्छाओं को चेतन मन अवांछित समझ कर दबा देता है, वे अचेतन मन में चली जाती हैं और स्वप्न में ह्रस्व वेश में बाहर आती हैं । 'कामायनी' में मनु और श्रद्धा का स्वप्न भी उनकी दमित वासना का ही विकास है । मनु एक सुन्दर, स्वस्थ और शक्ति सम्पन्न नवयुवक है । उसकी नर्सों में अपार वीर्य ऊर्ज्वस्थित होकर बह रहा है । लेकिन प्रलय की विभीषिका में उसकी सारी आकांक्षाएं और काम-सुख की लालसाएं अधूरी रह जाती हैं । वह जीवन से ऊब कर आत्म केन्द्रित हो जाता है । इसी अवसर पर उसका परिचय नवयौवना श्रद्धा से होता है जो महज भाव से उसे आत्म समर्पण कर देती है । श्रद्धा का साहचर्य पाकर मनु की अतृप्त काम वासना उदात्त हो उठती है, लेकिन चेतन मन की मर्यादा उसे दबा देती है । यहां पर श्रद्धा को लेकर मनु के हृदय में द्वन्द्व की स्थिति आ जाती है । चेतन मन बार-बार श्रद्धा के उन्मद सौन्दर्य के प्रति उदासीन होना चाहता है , लेकिन अचेतन मन में उसकी स्मृति स्थायी हो जाती है । मनु के चेतन मन में एक बात चलती है, और अचेतन मन में दूसरी । जब उनका चेतन मन प्राकृत दृश्यों में अपने-आपको उलझा कर मानसिक द्वन्द्वों से छुटकारा पाना चाहता है, उस समय भी उनके अचेतन मन में श्रद्धा के प्रति पैठी हुई आसक्ति प्रच्छन्न रूप में उनके चेतन मन की विचार-धारा को प्रभावित करती चलती है । जिस समय मनु का चेतन मन नीले आकाश के आवरण में लिपटी हुई अनन्त आलोक की अज्ञाय निधि का चिन्तन करता है , उस समय मनु के अचेतन मन में नीलमेष के चर्मों के आवरण में लिपटी हुई अनन्त सौन्दर्य और आलोक से मरी हुई 'श्रद्धा' की स्मृति उभर आती है । इस प्रकार मनु अपने अचेतन मन में श्रद्धा का चिन्तन करते हुए निद्रा निमग्न हो जाते हैं । उस समय उनके अचेतन मन की दमित वासनाएं प्रतिबन्धक के शिथिल होने पर स्वच्छन्दता पूर्वक झीड़ा करने लगती हैं --

‘जागरण लोक था मूल चला, स्वप्नों का सुख संचार हुआ,
कौतुक सा बन मनु के मन का, वह सुन्दर क्रीड़ागार हुआ’^१।

अन्त में मनु अपने अन्तर्मान में स्थित काम की ध्वनि सुनने लगे हैं।

‘स्वप्न’ में काम ने श्रद्धा के उरी स्वरूप का निरूपण किया है जो मनु के अन्तर्मान में स्थित था और जिसके प्रति वह अपने आकर्षण को बलात् दबाने का प्रयास करते थे।

दूसरा स्वप्न ‘श्रद्धा’ का है। मनु को आत्म-समर्पण करने पर श्रद्धा आपन्नसत्त्वा हो जाती है और उसकी दैहिक वासना उदात्त हो कर अपत्य-स्नेह के परिवर्तित हो जाती है। मनु को श्रद्धा की यह सात्त्विकता अच्छी नहीं लगती, वे वासनाभिभूत होकर श्रद्धा का ‘दुलार’ मांगने और उससे यह चाहने लगते हैं कि वह केवल उन्हीं के विषय में सोचे। श्रद्धा का मातृ-हृदय इसे स्वीकार नहीं करता और वह मावी मन्तान के प्रति अधिकाधिक खिन्ता जाता है। अन्ततः श्रद्धा को मावी मन्तान की सुख-सुविधाओं के प्रति अधिक व्यस्त पाकर मनु उससे चिढ़ जाते हैं और आवेश में आकर उससे रुठ कर बंटे जाते हैं। श्रद्धा बीखती रह जाती है--

‘रुक जा, सुन ले जो निर्मोही’^२। यही पर श्रद्धा के अचेतन मन में मनु के प्रति नारी-सुलभ सन्देह का सूत्रपात हो जाना है। महान आदर्शों और ऊँचो मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करने के बावजूद श्रद्धा स्कैनारी है। जिन परिस्थितियों में मनु ने, जिन कारणों को लेकर उसका परित्याग किया है, उस सन्दर्भ में किसी भी स्त्री के हृदय में पति के प्रति सन्देह का हो जाना सहज स्वाभाविक है। ‘श्रद्धा’ के अचेतन मन में भी मनु के चरित्र को लेकर अनेक प्रकार की आशंकाएँ उठते लगती हैं, लेकिन उसका चेतन मन उन्हें दबा देता है। अन्त में जब श्रद्धा अपने अतीत जीवन की सुखद घड़ियों और सम्भोग-सुख की मधुर स्मृतियों में डूब कर सो जाती हैं, उस समय उसके अचेतन मन में मनु के प्रति दबा हुआ सन्देह साकार हो जाता है। जब एक युवा और कामुक पस्मि पति आपन्न सत्त्वा पत्नी को केवल इसलिए छोड़कर भाग जाता है कि वह उसकी वासना-पूर्ति में विवशता का अनुभव करती है, उस समय उस परित्यक्ता स्त्री के अचेतन मन में जो बात उठती है वह पति के प्रति अविश्वास और

१- कामायनी, पृ० ७०

२- वही, पृ० १५४

पराई स्त्री के प्रति उसके अवैध प्रेम-व्यवहार के सन्दर्भ में होती है । पति के दूर व्यवहार और विश्वासघात से वह दुःख हो जाती है । उसके अचेतन मन में पति के प्रति आक्रोश और उसे उसके अपराध का दण्ड देने या दिलाने का भाव भी पैठ जाता है । श्रद्धा के स्वप्न में हमें उपर्युक्त दोनों बातें मिल जाती हैं । सर्वप्रथम श्रद्धा के अचेतन मन में मनु की कामुकता जो लेकर सन्देह उत्पन्न होता है । लेकिन उसका अचेतन मन इसे दुःखद और अप्रिय प्रसंग स्मर कर दबा देता है । अन्ततः यही दमित सन्देह-भावना श्रद्धा के स्वप्न में साकार हो उठती है । श्रद्धा स्वप्न में देखती है -- ' सारा पारस्वत प्रदेश सम्पूर्ण भौतिक उपलब्धियों में सम्पन्न है । उसमें शक्ति और सौन्दर्य का अपूर्व संगम हो रहा है । एक ओर विलासिनियों की मूर्च्छना मरी तान और नूपुरों की मंकार है तो दूसरी ओर अस्त्र-शस्त्रों की टंकार । एक ओर म्वर्ण-कलशों से सुशोभित भवनों से लगे हुए स्मणीय उद्यान बने हैं, दूसरी ओर सुन्दर और प्रशस्त राजपथों पर बीच-बीच में घने लता-वितानों के आकर्षक बकुल हैं, जिनमें नव दम्पति प्यार से एक-दूसरे को गलबाहों देकर प्रेमालाप में तल्लीन हैं । जिस प्रकार प्रलम्ब देवदास की लम्बी शाखाएँ, वायु-तरंगों को अपने अंकों में लपेट लेती हैं जिससे बाँक कर उन शाखाओं पर बैठे हुए पक्षी चहचहा कर कलरव कर उठते हैं, उसी प्रकार जब-जब नायक अपनी प्रलम्ब मुजाजों में नायिका को समेट लेता है, तब तब नायिका के आभूषण मुखरित होकर वातावरण को और भी उन्मद बना देते हैं । उस प्रकार समूचा वातावरण राग-रंगों से परिपूर्ण हो उठता है ।' यहाँ पर श्रद्धा ने स्वप्न में पारस्वत प्रदेश की जो आकर्षक और उन्मद भाँकी देखी है, वह सब उसके अचेतन मन की ही अभिव्यक्ति है । नवदम्पतियों का गलबाहों देकर घूमना, देवदास की प्रलम्ब शाखाओं में हवा की लहरों का लिपटना, सभी श्रद्धा की दमित वासना का ही व्यक्त रूप है । इसी प्रकार मनु भी श्रद्धा को गलबाहों देकर प्रेमालाप करते थे और श्रद्धा भी भाव-विह्वल हो कर मनु की मुजाजों से लिपट जाती थी । पुनः 'श्रद्धा' के सामने दूसरा चित्र उभरता है, जिसमें बड़ा उत्साह से मरी हुई अग्नि-शिक्षा सी मनु का पथ-प्रदर्शन करती और उन्हें उत्साह तथा प्रेरणा प्रदान करती हुई अग्रसर होती जाती है । विजय की तारिका सी आलोक-सी० मरी

उसकी मर्ममैदिनी दृष्टि सहज ही समस्त समस्याओं का समाधान सोज लेती है^१। इसके बाद श्रद्धा के स्वप्न में मनु का वही मध्य और विलासी चित्र उभर आता है, जिसे वह इसके पूर्व देख चुकी थी। स्वप्न में वह मनु को तृप्ति कंठ से आव पीते, और इड़ा को उन्हें आव पिलाता हुई देखती है। इड़ा के मौन्दर्य पर रीफ कर मनु उसके प्रति उन्हीं शब्दों में मनुहार करते हैं, जिन शब्दों में वे श्रद्धा से किया करते थे^२। इसके बाद वासनाभिभूत मनु इड़ा से कलात्कार करना चाहते हैं, जिसके विरोध में प्रजावर्ग विद्रोह कर देता है और मनु मुमूर्ष हो कर गिर पड़ते हैं। इस प्रकार सारस्वत प्रदेश के वभव-विलास की फांका, इड़ा और मनु का साहचर्य-सम्बन्ध संघर्ष और उसमें मनु का मुमूर्ष आदि होना सभी दृश्य श्रद्धा के अचेतन मन में दबी भावनाओं के ही रूपान्तर हैं।

संघर्ष

संघर्ष, स्वार्थ सम्पृक्त काम-वासना, तथा कर्म, ईर्ष्या आदि वृत्तियों के अनुचित ग्रहण तथा बौद्धिक अतिवाद की उत्पत्ति है। इसके मूल में मौलिक विरोधों का तनाव काम करता रहता है। जहाँ दो विरोधी शक्तियाँ एक-दूसरे से टकराती हैं, वहीं संघर्ष का सूत्रपात होता है। इसका मुख्य कारण होता है स्वामित्व स्थापन की मनोवृत्ति। 'मनु' का मन जब अपनी आत्मजा-- इड़ा, पर कलात् अधिकार का प्रयास करता है तभी 'संघर्ष' होगा है। 'कामायनी' में कवि ने सभी शक्तियों का संघर्ष में लिप्त दिखलाया है। उसमें मन, बुद्धि, प्रकृति-पुरुष, राजा-प्रजा आदि सब का संघर्ष दिखलाया गया है। इसी अवसर पर मनु का सम्पूर्ण व्यवहार अनियंत्रित होकर बुद्धि और प्रकृति पर अपने अबाध अधिकार के लिए अधीर हो उठता है, जिसके फलस्वरूप संघर्ष अपरिहार्य हो जाता है। अंत में संघर्ष की विभीषिका विनाश का रूप ले लेती है, सारा सारस्वत प्रदेश उजड़ जाता है और मनु मुमूर्ष होकर गिर पड़ते हैं। उनका वह पराजित होकर निर्वैद की दिशा में भाग खड़ा होता है।

१- कामायनी, पृ० १८१

२- वही, पृ० १८४

निर्वेद

संघर्ष के बाद मनु को जो निर्वेद होता है, वह भी पूर्णतया मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों पर आधारित है। निर्वेद वह मानसिक अवस्था है, जिसमें क्षोभ, अग्नि ग्लानि, पश्चात्ताप, खेद और वैराग्य आदि भावों का विचित्र सम्मिश्रण रहता है। इन सब का सम्मिलित प्रभाव हृदय में उदासीनता का भाव जगा कर व्यक्ति को स्कान्तसेवी बना देता है। मनु के निर्वेद में हमें मुख्यरूप से तीन बातें मिलती हैं --

(१) विरागमूलक अनुराग -- श्रद्धा के प्रति ।

(२) अनुताप-- अपने अपराधों के प्रति ।

(३) आक्रोश -- इड़ा तथा सारस्वत प्रदेश के निवासियों के प्रति ।

जिस समय व्यक्ति जीवन से खिन्न होकर उसके प्रति उदासीन हो जाता है, उस समय भी उसके हृदय के एक कोने में अपनों के लिए ममत्व सुरक्षित रहता है, जिसमें एक प्रकार का विरागभाव भी मिला होता है। यह अनुराग उस समय और गहरा हो जाता है, जब व्यक्ति अपने अपराध के परिप्रेक्ष्य में अपनों को रखकर उनका मूल्यांकन करने लगता है, जो उसकी कृतज्ञता और कठोरता के बावजूद भी उसके प्रति अपनी आस्था में कमी नहीं आने देते। उस समय उसे अपनों के प्रति किए गए अपने अत्याचारों और अनुचित व्यवहारों के लिए गहरा पश्चात्ताप तथा ग्लानि होती है। जीवन से हताश और उदास मनु के हृदय में भी श्रद्धा के प्रति इसी प्रकार के भाव सुरक्षित हैं। उनकी उदासीनता के धुंधले पटल पर श्रद्धा का चित्र बार-बार उभर आता है, और उसके प्रति किए गए अपने अपराधों को सोच-सोच कर वे क्षोभ से गड़ जाते हैं। जिस समय श्रद्धा उनके अपराधों को मुलवा कर उन्हें खोजती हुई आती और उन्हें मुमुख पा कर अपने स्वर्गीय संगीत तथा परिचर्या से उन्हें सचेत कर देती है, उस समय मनु का भावुक हृदय भाव-विह्वल होकर श्रद्धा के प्रति कृतज्ञता के भाव से भर जाता है। मनु अपराधों को स्वीकार कर श्रद्धा का गुणानुवाद करने लगते हैं। ज्यों-ज्यों अपने अपकारों और श्रद्धा के उपकारों पर विचार करते हैं, त्यों-त्यों उनकी आत्म-ग्लानि बढ़ती जाती है, और उन्हें श्रद्धा को अपना कलंकी मुंह दिखाने का साहस नहीं होता --

यह प्रमात की स्वर्णकिरण सी, फिलमिल चंचल सी छाया,^१
श्रद्धा को दिखलाऊं कैसे, यह मुख या क्लृप्ति काया ।

अन्त में श्रद्धा के प्रति किये गये अपने अपराधजन्य पश्चाताप के दर्शन से पीड़ित हो, मनु श्रद्धा को सोती छोड़ कर पलायन कर जाते हैं । मनु के इस पलायन के पीछे कृतघ्न शत्रुओं से प्रतिशोध लेने की भावना भी एक कारण है, जिसे वे श्रद्धा की उपस्थिति में लेने का साहस नहीं कर सकते थे^२ ।

दर्शन

‘दर्शन’ स्काग्र चिन्तन की वह प्रक्रिया है, जो आत्म साक्षात्कार की दिशा प्रशस्त करती है । इसके लिए वहिर्मुखी वृत्तियों का अन्तर्मुखी होना आवश्यक है । जिस प्रकार स्वच्छ और शान्त जल में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब अपने समग्र स्वरूप के साथ स्पष्ट दिखाई पड़ता है, और चंचल जल में पड़कर तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार मानसिक फंफावात की समाप्ति पर, जब हृदय शान्त और स्थिर हो जाता है, तब आत्म-साक्षात्कार की सच्ची अनुभूति होती है । चंचल चित्त की विखरी विचार-धाराओं में आत्म-स्वरूप अनेक खण्डरूपों में विभक्त होकर विकृत हो जाता है, उसके समग्र स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो पाता । अतः आत्म साक्षात्कार के लिए चित्तवृत्तियों की स्थिरता, विचारों की स्काग्रता और चिन्तन की गम्भीरता अपेक्षित है । विचारों की गहराई तब आती है, जब व्यक्ति बाह्य वृत्तियों को स्मेट कर अन्तर्मुखी हो जाता है । इसीलिए ‘कामायनी’ में ‘दर्शन’ को ‘निर्वेद’ के बाद रक्खा गया है । पश्चाताप और ग्लानि का तीव्र दर्शन व्यक्ति को चिन्तनशील बना देता है । यही चिन्तनशीलता आत्मदर्शन की पीठिका बन कर आती है । इसी अवसर पर चेतना अपनी समूची शक्ति के साथ उद्बुद्ध होकर जीवन के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट कर देती है । ‘श्रद्धा’ भी इहा, मानव और मनुष्य को उनके कर्तव्यों तथा दायित्वों के प्रति सचेत करती हुई मानव-मूर्त्यों की रूप-रेखा स्पष्ट करती है । आत्मज्ञान होने पर भ्रान्त धारणाओं का स्वतः निराकरण हो जाता है । अन्तर्जगत का सारा अन्धकार समाप्त हो जाता है

१- कामायनी, पृ० २२६

२- वही, पृ० २३०

हृदय में विमल ज्ञान की ज्योति फूट पड़ती है । सारा वातावरण शान्ति और गम्भीर हो जाता है, गगन निस्तव्य तथा दिशाएं नीरव हो जाती हैं । चेतना स्वल्प श्रद्धा के सान्निध्य में मनु का अशान्त हृदय भी शान्ति का अनुभव करने लगता है । उसके सामने अखण्ड ज्योति की ज्योत्स्ना फूट पड़ती है और महान् सत्ता शिव की शक्ति अन्धकार के आवरण हटा कर उज्ज्वल प्रकाश के रूप में खिलखिला पड़ती है । इस प्रकार नटराज अपने आनन्दपूर्ण ताण्डव नृत्य में निरत होकर अखण्ड आनन्द की अमृत-वर्षा करने लगते हैं^१ । इस प्रकार श्रद्धा, विश्वास और चेतना के सम्मिलित सहयोग से आत्म-दर्शन की सुखद स्थिति सम्भव हो पाती है ।

रहस्य

दर्शन-दृष्टि^{की} अन्तिम उपलब्धि किसी वस्तु की स्थिति को स्पष्ट कर उसके रहस्य का अनुभव और उद्घाटन करना है । इस दृष्टि से रहस्य दर्शन का ही एक अविन्न अंग है । ज्यों-ज्यों व्यक्ति अपनी चेतना को एकाग्र कर आत्म-बोध की दिशा में बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसे जीवनगत रहस्यों का स्वरूप स्पष्ट होता जाता है । रहस्यों का उद्घाटन हो जाने पर व्यक्ति उन शाश्वत सत्यों को प्राप्त कर लेता है, जिन्हें प्राप्त कर मन का उद्वेग समाप्त हो जाता है । मौक्तिक परितोष के साथ-साथ आध्यात्मिक संतोष भी प्राप्त हो जाता है । आत्मज्ञान के प्रसंग में दर्शन और रहस्योद्घाटन के लिए चेतना के तीनों पक्षों-- इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सन्तुलन आवश्यक है । इसीलिए श्रद्धा मनु को इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के स्वरूप को स्पष्ट करती हुई तीनों के सामन्वय पर विशेष बल देती है^२ । चेतना के इन तीनों स्वरूपों का समन्वय आस्तिक बुद्धि के माध्यम से ही हो सकता है । इसीलिए 'प्रसाद' ने तीनों को श्रद्धा की मुस्कान से जोड़कर उनमें सामन्वय की स्थापना की है --

महाज्योति रैसा सी बकर, श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें,
वे सम्बन्ध हुए फिर सहसा, जाग उठी थी ज्वाला जिनमें ।

+

+

+

१- कामायनी, पृ० २५२, २५३

२- वही, पृ० २६२-२७२ ।

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो, इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल ल्य थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में, श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे^१।

आनन्द

आनन्द का मनोवैज्ञानिक आधार आत्म-विस्तार की भावना है । प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने ढंग से आत्म-विस्तार द्वारा आनन्द-प्राप्ति का प्रयास करता है । लेकिन सच्चे आनन्द की प्राप्ति तब होती है, जब व्यक्ति विचारों की संकीर्णता से ऊपर उठ कर आत्म साक्षात्कार द्वारा उसे पाने का प्रयत्न करता है । जब वह एकान्त साधना द्वारा जीवन-रहस्यों से अवगत होकर आत्म-साक्षात्कार कर लेता है, तब उसकी सारी भेद-बुद्धि समाप्त हो जाती है । वह सब को अपना ही अवयव समझने लगता है । इसी अभेद अनुभूति पर असण्ड आनन्द की सृष्टि होती है । जब तक मनु 'अर्थ' और 'अधिकार' के पीछे पागल होकर अपने आप को आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक संकीर्णता में बाँधे रहते हैं, तब तक उन्हें असण्ड आनन्द की प्राप्ति नहीं होती । लेकिन ज्यों ही इनसे ऊपर उठकर वे आत्म-बोध के परिप्रेक्ष्य में सब को अपना समझने लगते हैं, त्यों ही उन्हें आनन्द की प्राप्ति हो जाती है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसाद की मनोवैज्ञानिक दृष्टि उतनी ही पैनी है, जितनी गहरी उनकी दार्शनिक दृष्टि । मनोविज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने चित्तवृत्तियों और उनके विकास का जैसा सरस और काव्यात्मक अंकन कामायनी में किया है, वह हिन्दी साहित्य के लिए एक अनूठी देन है । एक ओर इसमें हमारी सांस्कृतिक समस्याओं को उठाकर उनके निदान का तर्क संगत आधार खोजा गया है, और दूसरी ओर मानव-चेतना के साथ-साथ मानव-सम्यता के क्रमिक विकास का सुन्दर निरूपण किया गया है^२ । इस प्रकार 'कामायनी' एक देशीय और एक पद्मीय काव्य-कृति न रह कर शाश्वत सत्यों तथा जीवन के विविध पक्षों को अपने-आपमें समेट कर सार्वभौमिक रचना हो गई है । इसमें प्रसाद की समन्वय-साधना

१- कामायनी, पृ० २७३

२- डा० नगेन्द्र, कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृ० ६

अमेद अनुभूति की उस उदात्त भाव-भूमि पर पहुँच गई है, जहाँ वे देशी-विदेशी सम्यता के संकीर्ण घरातल से ऊपर उठकर सम्पूर्ण विश्व की कल्याण कामना से ओत-प्रोत 'मानवता' का सच्चा सन्देश दे सके हैं ।

'कामायनी' के अतिरिक्त 'प्रसाद' की स्फुट कविताओं और उन गीतों में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं का अंकन मिलता है जो सौन्दर्य और प्रेम-प्रसंग के सन्दर्भ में लिखे गये हैं । इस सन्दर्भ में 'प्रलय की छाया', 'रमणीहृदय', 'अव्यवस्थित', 'विषाद', 'स्वप्नलोक', 'मानस' आदि कविताओं तथा नाटकों के गीत और 'आँसू' का विशेषरूप से उल्लेख किया जा सकता है ।

'प्रलय की छाया' नामक कविता में नारी-मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में 'जिजीविषा' नामक मूल प्रवृत्ति तथा उससे सम्बद्ध संवेगों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक निरूपण किया गया है । 'जिजीविषा' जीवन की मुख्य प्रवृत्ति तथा सारी शक्तियों का आधार, और सभी कार्य-कलापों का प्रेरणा-स्रोत है^१ । इसी से प्रेरित होकर व्यक्ति जीवन जीने के लोभ का संवरण नहीं कर पाता । उसके लिए वह हर मूल्य चुकाने के लिए तैयार रहता है । इस कविता की 'कमला' का समूचा जीवन 'जिजीविषा' (*Life instinct*) और 'मृमृषा' (*Death instinct*) नामक मूल प्रवृत्तियों के अन्तर्द्वन्द्वों की कहानी है ।

'कमला' गुर्जर महीप-- कर्णदेव, की युवा रानी है जो उनके जीवन में 'मरन्द वषा' करती हुई 'अनुराग-पूर्ण हृदय' के साथ प्रवेश करती है । गुर्जरनरेश उसके अनिर्घ सौन्दर्य पर रीफ कर उसकी अमर्यता में पलक-पाँवड़े बिछा देते हैं ।

कमला स्वभाव से ही स्वाभिमानिनी और रूपगर्विता रमणी है । उसका स्वाभिमान उस समय जाग उठता है, जब वह सम्मानपूर्ण जीवन के उच्चादर्श की प्रतिष्ठा करती हुई, स्वाभिमान और आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए हँसती हुई, चिता में प्रवेश कर जाने वाली महारानी पद्मिनी की गौरव-गाथा को सुनती है । उस समय उसे प्रजा की परतंत्रता और अपनी विवशता कबोटने लगती है,^२ उसकी अहंभावना

१- 'मानव जीवन की दो मूलवृत्तियाँ--सुखात्मक और दुःखात्मक संचालिका शक्तियाँ हैं । सारी सृष्टि इन्हीं मूलवृत्तियों से प्रेरित होकर सृजन और संहार की सयुक्त क्रिया में जिजीविषा की प्रकृति से प्रेरित है ।

--सिमरु प्रणयद

२- लहर, पृ० ६२

३- वही, पृ० ६३

उद्बुद्ध होकर सुल्तान को अपनी रूप-ज्वाला में जलाने का संकल्प लेती है--

“पद्मिनी जली थी स्वयं, किन्तु मैं जलाऊंगी--

वह दावानल ज्वाला

जिसमें सुल्तान जले ।

देख तो प्रचण्ड रूप, ज्वाला सी घघकती

मुझको सजीव वह अपने विरुद्ध^१

अन्ततोगत्वा^२ कमला की प्रेरणा से गुर्जर नरेश सुल्तान के विरुद्ध अपने को स्वतन्त्र घोषित कर देते हैं, फलतः सुल्तान से युद्ध होता है, और युद्ध में पराजित होने पर शरण की सौज में गुर्जर-नरेश ‘कलम कमला’ के साथ स्वदेश छोड़ने को विवश हो जाते हैं । एक दिन सुल्तान के कुछ सैनिकों द्वारा घिर जाने पर गुर्जर नरेश आत्म-रक्षार्थ युद्ध करते हुए दूर चले जाते हैं और अकेली कमला सैनिकों द्वारा बन्दी बना ली जाती है । यहीं से ‘कमला’ के हृदय में जीने और मरने-मारने (*Life and death instinct*) की प्रवृत्तियों में अन्तर्घर्ष प्रारम्भ हो जाता है ।

सुल्तान के राजमहल में बन्दिनी ‘कमला’ के राग-विराग तथा उनके बालोड़न-विलोड़न से उसका मानस-मंथन होने लगता है । सत्ता, सम्मान और सुखमय जीवन की लालसा को लेकर एक महत्वाकांक्षिणी स्त्री के हृदय में किस प्रकार की भावनाएं उठती हैं, इसके बड़ा ही सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक रूप ‘कमला’ की भावनाओं के अंकन में मिलता है । कभी कमला में प्रतिशोध की भावना भड़क उठती है और कभी अधिकार-लिप्सा का आकर्षण उसे अभिभूत कर लेता है --

कभी सोचती थी प्रतिशोध लेना पति का

कभी निज रूप सुन्दरता की अनुमति

दाण भर चाहती जगाना मैं

सुल्तान के उस निर्मम हृदय में,

नारी मैं,

कितनी अबला थी और प्रमदा थी रूप की^२ ।

१- लहर, पृ० ६४

२- वही, पृ० ६८, ६९

जिस समय कमला का साक्षात्कार सुलतान से होता है, उस समय उसके हृदय में 'जिजीविषा' और 'मूमुक्षा' को लेकर गहरा द्वन्द्व होने लगता है । पहले वह 'मूमुक्षा' से प्रेरित होकर आत्म-हत्या करना चाहती है, लेकिन कृपाण छिन जाने और सुलतान के अनुरोध करने पर आत्म-हत्या का विचार छोड़ देती है । उसकी 'जिजीविषा' पुनः जाग्रत हो जाती है, और मरने-मारने का उत्साह मन्द पड़ जाता है । वह जीवन के प्रति सद्य होकर सोचने लगती है --

“जीवन सौभाग्य है, जीवन अलम्य है ।

+ + +

इसे छिन्न करने का किसे अधिकार है ?

जीवन की सीमा मयी प्रतिमा

कितनी मधुर है ?”^१

उसे सारी सृष्टि से जीवन की सुस्का पुकार आने लगती है ।

कमला में जिजीविषा की वृत्ति इतनी बढभूल हो जाती है कि वह किसी भी मृत्यु पर अपना जीवन खोना नहीं चाहती । जिस समय उसके पति गुर्जर नरेश उसे जीवन समाप्त कर देने का संदेश भिजवाते हैं, उस समय उसमें जीवन के प्रति ममत्व जाग पड़ता है । वह गुर्जर नरेश के सन्देश को ठुकरा कर अपने प्रति किए गए उनके व्यवहार के निद्रान्বেषण में, अपने निर्णय के औचित्य का आधार भी खोज लेती है --

“जीवित है गुर्जरेश, कर्ण देव ।

मेजा सन्देश मुझे शीघ्र अन्त कर दो

जीवन की लीला ।”

+ + +

उस प्रत्यावर्त्तन में प्राण जो न दे सका, हां

जीवित स्वयं हैं ।

जिएं फिर क्यों न सब अपनी ही आशा में?

बन्दिनी हुई थी मैं अबला थी,

प्राणों का लोभ उन्हें बचा सका ?

प्रेम कहाँ मेरा था ।”^२

१- लहर, पृ० ७०

२- वही, पृ० ७५

व्यक्ति को 'जिजीविषा' स्क और आत्म-सम्मान की भूखी होती है, और दूसरी ओर आत्म-प्रदर्शन की । ये दोनों प्रवृत्तियां समाज सापेक्ष होती हैं, और इनमें गर्व की भावना प्रधान होती है^१ । यही 'गर्व' हमारे आत्मबोध को सक्रिय बनाता और उसमें अधिकार की भूख जगाकर शक्ति संवयन और स्वत्व संस्थापन की प्रवृत्ति को प्रेरणा प्रदान करता है ।

'गर्व' का अतिवादी रूप आत्म-श्लाघा तथा वृथाभिमान को जन्म देता है^२ । वृथाभिमान में खंटा हुआ व्यक्ति अपने को बढ़-चढ़ कर दिखाने और दूसरों से अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने का आदी हो जाता है । कमला का अभिमान और आत्म-श्लाघा इसी कोटि की है । वह अपनी रूप-माधुरी को लेकर इसी प्रकार की गर्वोक्तियां करती है --

रूप यह देखे तो
तुरुष्क पति मेरा भी
यह सौन्दर्य देखे, देखे यह मृत्यु भी,
कितनी महान और कितनी अमृत पूर्व^३

इसी रूप के बल पर वह भारतेश्वरी होने की महत्वाकांक्षा भी रखती है --

रूप ने काया मुझे रानी गुजरात की,
वही रूप मुझे आज प्रेरित था करुता,
भारतेश्वरी का पद लेने को ।

१- "Idea of the self and the self regarding sentiments are essentially social products. x x x the instinct of self display is essentially a social one, and is only brought in to play by the presence of spectators, such self display is popularly recognized as implying pride."

— W. Mc Dougall : Social Psychology (P.53, 155)

२- "With the growth of self consciousness, the instinct may find expression in the boasting and swaggering of boys, the vanity girls. "

— W. Mc Dougall : Social Psychology P. 54

३- लहर, पृ० ६८

४- वही, पृ० ७५, ७६ ।

व्यक्ति के जीवन का यह अहमूलक पदार्थ प्रत्येक स्थिति में अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने की स्पृहा रखता है और इस प्रकार अपने आपको दूसरों की आंखों में उठा हुआ पा कर एक विशेष प्रकार का सुखानुभव और सन्तोष का अनुभव करता है^१। उसका अहं सन्तुष्ट होकर श्रद्धा रखने और श्रेष्ठता स्वीकार करने वाले के प्रति विशेष सदाय हो जाता है। कमला का अहं भी उस समय मोम सा पिघल जाता है, जब सुलतान उससे अनुनय भरे शब्दों में कहता है --

“रानी ! तुम बन्दिनी हो मेरी प्रार्थनाओं में,

पश्चिमीनी को खो दिया है--

किन्तु तुमको नहीं ।

शासन करोगी इन मेरी कूरताओं पर

निज कोमलता से मानस की माधुरी से^२ ।”

सुलतान के मुख से इस प्रकार अपने रूप की प्रशंसा सुनकर रूपगर्विता कमला का हृदय अपनी विजय पर झूम उठता है और उसका अहं उस समय सुलतान के चरणों में और झुक जाता है, जब वह कमला के एक संकेत पर उसके शैशव-अनुचर-मानिक को मृत्यु-दण्ड से मुक्त कर देता है। अपराधी मानिक को कमला के पास लाकर उसे मृत्यु-दण्ड सुनाना, पुनः कमला के आदेश पर उसे क्षमा कर देना और सुलतान के अनुग्रह पर स्वाभिमानिनी कमला का पश्चात्ताप करना, आदि प्रसंग भी पूर्णतया मनोवैज्ञानिक हैं।

मानिक प्रारम्भ से निकट सम्पर्क में रहने वाला, कमला का विश्वस्त अनुचर है, अतः उसके प्रति कमला की आत्मीयता तथा स्नेह सहानुभूति का होना स्वाभाविक है। जिसके प्रति व्यक्ति के हृदय में आत्मीयता का भाव होता है, उसे वह हर प्रकार से सुरक्षित रखना और सुखी देखना चाहता है, उसे हानि पहुंचाने

- १- "Positive self feeling seeks merely to draw the attention of others to the self.....it finds its satisfaction simply in the fact of the self being noticed by others.....the satisfaction of the impulse is greater when the regards of others are admiring regards, or such as to express in any way the recognition of our superiority in any respect."

— W. Mc Dougall : Social Psychology, (P. 155, 170)

वह कुदृष्ट और सहायता पहुँचाने वाले के प्रति
 वाले के प्रति कृतज्ञ हो जाता है^१। सुल्तान के प्रति कमला की कृतज्ञता इसी प्रकार की है ।

सुल्तान ने भी इस तथ्य से अवगत होकर कि मानिक के प्रति कमला का विशेष अनुग्रह है मानिक को बन्दी बना कर कमला पर प्रभाव डालने की उस मनोवैज्ञानिक पद्धति का आश्रय लिया है, जिसमें व्यक्ति किसी को अपना वशानुवर्ती बनाने या उससे अपनी बात मनवाने में असफल होने पर उस व्यक्ति के किसी प्रिय को पीड़ा और यातना पहुँचा कर उससे अपनी बात मनवाना चाहता है । कमला के सामने सुल्तान का मालिक को मृत्यु-दण्ड सुनाना इसी भाव-भूमि पर आधारित है । वह कमला के सामने मानिक को मृत्यु-दण्ड सुनाकर कमला के हृदय में मानिक के प्रति दया-भाव जगाना, और पुनः उसे कमला के आग्रह पर दामा कर उसके हृदय पर अपने अनुग्रह का भार लाद देना चाहता है । इस प्रयास में उसे सफलता भी मिलती है ।

मानिक को अपने समझा देकर कमला की आंखों में उसका अतीत उमर आता है । वह मानिक के प्रति सदय होकर पृष्ठ बैठती है --

“कैसे तू अमागा यहाँ पहुँचा है मरने को^२ ।”

इसी बीच सुल्तान पहुँचकर मानिक के लिए मृत्यु-दण्ड की घोषणा कर देता है । मृत्यु-दण्ड की इस कठोर आज्ञा को सुनकर नारी का कोमल हृदय पिघल उठता है, और उसके मुँह से सहसा निकल पड़ता है --

“उसे छोड़ दीजिए ।”

१- "When a man has acquired the sentiment of love for a person or other object, he is apt to experience tender emotions in its presence, fear or anxiety when it is in danger, anger when it is threatened, sorrow when it is lost, joy when the object prospers or is restored to him, gratitude towards him who does good to him and so on. "

— W. Mc Dougall : Social Psychology (P. 106, 107)

२- लहर, पृ० ७३

३- वही, पृ० ७३

सुल्तान हंस कर कमला की बात स्वीकार कर लेता है --

‘जाने दो रानी की पहली यह आज्ञा है’^१।

सुल्तान के इस अनुग्रह को लेकर कमला के हृदय में जो अन्तर्द्वन्द्व उठा है, वह पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है, जिसमें खीभ, अपमान, लज्जा, ग्लानि आदि अनेक भावों का संगुंफन हो गया है।

स्वामिमानो व्यक्ति किसी के अनुग्रह पर जीना नहीं चाहता, वह नहीं चाहता कि कोई उसके ऊपर अपने उपकारों का बोझ लाद कर उसे अपना वशानुवर्ती बना ले। कमला का स्वामिमान भी आवेश में आकर मानिक के लिए सुल्तान से प्राण दान की मित्रता तो मांग लेता है, लेकिन बाद में उसे अपनी भूल कसकने लगती है--

‘हाय रे हृदय! तूने

कौड़ी के मोल बेचा जीवन का मधुकोष’^२।

कमला की महत्वाकांक्षा, अधिकारलिप्सा, गर्व-भावना और अपने आप को श्रेष्ठ प्रमाणित करने की प्रवृत्ति आदि सभी बातें उसके अवचेतन मन की प्रतिक्रिया स्वरूप जन्म लेती है। व्यक्ति का अवचेतन मन स्वतः अतृप्त इच्छाओं और वासनाओं का भण्डार होता है^३। अवचेतन मन की दमित वासनायें, अपनी तृप्ति के अभाव में व्यक्ति के हाव-भाव और व्यवहार के माध्यम से अभिव्यक्त होती रहती हैं। कमला के अवचेतन मन में भी उसके अभावमूलक जीवन की अतृप्त इच्छायें और वासनायें धीरे-धीरे पलतीं, और अवसर पा कर पूरे वेग से उभर पड़ती हैं। ‘कमला’ की दमित वासनाओं के स्वरूप-विकास, और उसकी प्रतिक्रिया प्रभाव आदि का मनोवैज्ञानिक विवेचन कमला के इस आत्म-कथन में हुआ है --

१- लहर, पृ० ७४

२- वही, पृ० ७४

३- डा० पद्मा अग्रवाल? मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें, पृ० १६८

अन्तर्निहित थी

लालसारं, वासनाएं जितनी अमाव में
जीवन की दीनता में और पराधीनता में
पलने लगीं वे चेतना के अनजान में ।
घोरे-घोर आती है जैसे मादकता
आंखों के अजान में, ललाई में ही क्षिप्तों,
चेतना थी जीवन की फिर प्रतिशोध की ।
किन्तु किस युग से वासना के विन्दु रहे सींचते
मेरे संवेदनों को ।

यामिनी के गूढ़ अन्धकार
सहसा जो जाग उठे तारा से
हुबलता थी मानती सी अबला में
खड़ी हुई जीवन की पिच्छिल सी भूमि पर ।
विखर प्रलोभनों को मानती-सी मत्त में
शासन की कामना में झुकी मतवाली हो ।^१

इस प्रकार कमला के आन्तरिक जीवन का अंकन, मानवीय अनुभूतियों के य
धरातल पर बड़ा ही सहज और स्वाभाविक बन पड़ा है । उसमें जीवन को विभिन्न
परिस्थितियों और वातावरण की अनेक पार्श्वभूमियों में महत्वाकांक्षा तथा अधिकार
लिप्सा के दौले पर फूलती और राग-विराग के आवर्त में चक्कर लगाती हुई रूप
गर्विता नारी के हृदय में उठने वाले भावों का सफल चित्रण कर प्रसाद ने मानव-
मनोविज्ञान की गहरी पकड़ का परिचय दिया है । कमला का वाह्यस्वरूप जितना
आकर्षक और सुन्दर है, उसका अन्तर्गत उतना ही उलफनपूर्ण और द्वन्द्व-जर्जर ।

‘इतिहास की घटनाओं में विशेष परिवर्तन न करते हुए ‘प्रसाद’ ने कमला
के हृदय के अन्तर्द्वन्द्व को काफी तटस्थता से अंकित किया है ।’

नारी-पात्रों के सन्दर्भ में ‘प्रसाद’ की एक विशिष्ट धारणा रही है,
वे नारी को मूलतः भावुक और कामाशील मान कर चले हैं, उनकी दृष्टि में नारी-

१- लहर, पृ० ७४, ७५

२- विश्वम्भर मानव, प्रसाद, पृ० १६० (डा० निर्मल तालवार द्वारा सम्पादित

‘प्रसाद’ नामक संग्रह से) ।

हृदय कोमलता का पालना और दया का उद्गम है । लेकिन मनोवैज्ञानिक स्तर पर उन्होंने नारी-हृदय की रहस्यमयता और उसके परुष पार्श्व को भी स्वीकार किया है -- कभी वह फूल से भी कोमल हो जाती है, कभी पत्थर से भी कठोर, कभी मोम-सी पिघल जाती है, कभी अंगारा बनकर धधक उठती है । 'रमणीहृदय' नामक कविता में 'प्रसाद' ने नारी जाति की इस रहस्यमयी मानसिक स्थिति की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि, 'कभी-कभी नारी अपना कठोरता में संवेदन शून्य, और कभी अतिशय स्नेहमयी हो जाती है । यद्यपि कभी-कभी उसका आक्रोश उसे कठोर और रूढ़ बना देता है, फिर भी नारी-सुलभ सुकुमार वृत्तियों को सुदम धारा उसके हृदय के अन्तराल से बहती रहती है । ममता और कठोरता का यह संगम उसके जीवन को इतना रहस्यमय बना देता है कि कभी-कभी वह ज्वालामुखी के समान भयावह हो जाती है, और कभी स्वच्छ स्नेह की सिन्धु धारा से शीतल तथा शान्तिदायिनी

रमणीहृदय की चित्तवृत्तियों की यह परिवर्तन शालता पूर्णतया मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है । यह स्वयंसिद्ध है कि व्यक्ति की मानसिक स्थिति सदैव एक सी नहीं रहती, उसमें बराबर उतार-चढ़ाव होता रहता है । विशेषरूप से भावुक व्यक्ति की मानसिक स्थिति प्रायः अधिक अस्थिर रहना करती है । क्योंकि स्त्रियाँ अपेक्षाकृत अधिक भावुक होती हैं, अतः उनकी मानसिक स्थिति अधिक उलफनपूर्ण होती है ।

'अव्यवस्थित' नामक कविता में चंचल चित्तवृत्तियों से सम्बद्ध ध्यान के स्वरूप और उसमें आने वाले व्यवधानों की ओर संकेत किया गया है । 'ध्यान' का सम्बन्ध हमारी 'चेतना' से है -- 'चेतना के प्रकाश का किसी वस्तु-विशेष पर केन्द्रीयभूत होना ध्यान कहा जाता है' । 'प्रसाद' ने भी ध्यान का सम्बन्ध विचारों के संकलन से माना है । 'ध्यान' को मुख्यतः तीन विशेषताएं होती हैं --

(१) प्रयत्नशीलता, (२) विश्लेषण की प्रवृत्ति और (३) परिवर्तनशीलता । 'ध्यान' की सकाग्रता उपर्युक्त विशेषताओं से प्रभावित होती रहती है ।

१- कानन कुसुम

२- वही, पृ० ७६, ७७

३- करना

४- लालजी राम शुक्ल: सरल मनोवैज्ञानिक, पृ० १३४

५- करना, पृ० १६

६- लालजी राम शुक्ल: सरल मनोविज्ञान

किसी वस्तु पर ध्यान को केन्द्रित करने के लिए हमें मानसिक प्रयत्न करना पड़ता है। इसी प्रसंग में हमारी चेतना का सक्रिय पक्ष उस वस्तु का विश्लेषण करने लगता है। विश्लेषण की इस प्रक्रिया के प्रसंग में हमारी चेतना विवेच्य विषय के विविध पक्षों पर विचार करने लगती है, जिसके फलस्वरूप उसकी स्काग्रता में परिवर्तनशीलता आ जाती है। एक ही पक्ष पर वह स्थायी नहीं रह पाती। 'प्रसाद' की उपर्युक्त कविता में अव्यवस्थित मानसिक स्थिति के मूल में उपर्युक्त सभी बातें मिल जाती हैं। आराधक को अपने आराध्य का ध्यान-प्रार्थना, करने के लिए उसे अपने विचारों को संकलित करने का मानसिक प्रयास करना पड़ता है। जब वह प्रकृति के नीरव वातावरण में अपने आकुल हृदय को संभाल कर, मानस को हलचल को कुछ शान्त करना चाहता है, उसी समय उसके विचारों में विखराव आ जाता है और उसका मन 'कुसुमित कानन' में भटक जाता है^१। सुकुमार वृत्तियों (कलियों की माला) का घेरा उसे अपनी सीमा में आबद्ध कर लेता है और महत्वाकांक्षा के मधुकर गुंजार कर उठते हैं^२। इस प्रकार जब जब साधक अपने विचारों को संकलित कर प्रार्थना में तत्पर होना चाहता है, तब-तब कामना के नूपुर की फनकार उसे चमत्कृत कर देती है --

जब करता हूँ कभी प्रार्थना, कर संकलित विचार,
तभी कामना के नूपुर की हो जाती फनकार,
चमत्कृत होता हूँ मन में,
विश्व के नीरव निर्जन में^३।

इस प्रकार 'कामना' की प्रबलता से 'ध्यान' की स्काग्रता खण्डित होने की यह प्रक्रिया भी मनोवैज्ञानिक है। व्यक्ति सहज संवेदनशील होता है, रागात्मक उपकरणों से बना हुआ उसका हृदय भौतिक आकर्षणों, सुख-भोग की लालसाओं, से अपने-आपको अछूता नहीं रख पाता। जीवन के प्रति उसका रागात्मक भाव-बोध इतना गहरा होता है कि बहुत चाहने पर भी उसे उसके प्रभाव कर्षे से मुक्ति नहीं मिलती। जिस प्रकार जल में पड़ी हुई नाव को वायु का मर्का अपनी दिशा में

१- करना, पृ० १५

२- वही, पृ० १५

३- वही, पृ० १६

बहा ले जाता है, उसी प्रकार चित्त की चंचल वृत्तियाँ भी मन को अपने विषयों की ओर खींच ले जाती हैं।^१

आन्तरिक अभावों की पूर्ति के अभाव में व्यक्ति का अन्तर्मन अशान्त और अवसादग्रस्त हो जाता है। अवसाद वह विषाद-पूर्ण मानसिक स्थिति है, जिसका आधार हमारी अपूर्ण इच्छायें, और अतृप्त वांछायें होती हैं। जब व्यक्ति की इच्छायें अपूर्ण रह जाती हैं और उसका सुख-स्वप्न अंध में ही टूट जाता है, तब उसका हृदय विषाद के बोझ से दब जाता है। इस विषाद की तीन अवस्थायें होती हैं-- (१) साधारण, (२) तीव्र (३) तीव्रतम।^२

विषाद की साधारण अवस्था में शारीरिक और मानसिक शिथिलता आ जाती है, व्यक्ति अनिश्चय की स्थिति में आ जाता है, तीव्रावस्था में वह अपने को बहुत हीन और तुच्छ समझने लगता है तथा तीव्रतम अवस्था में वह जीवन के प्रति बिल्कुल उदासीन होकर घण्टों तक भाव में बैठा आँसू बहाता रहता है।

उसकी आत्म-ग्लानि ऐसी तीव्र हो जाती है कि वह आत्म-हत्या तक कर लेता है।^३

'प्रसाद' की विषाद नामक कविता में विषाद की उक्त सभी अवस्थायें मिल जाती हैं। 'जीवन' का 'मारा रस' छिन जाने पर 'सूखा सुहाग' अवसाद के बोझ से दब जाता है, उसकी 'चितवन' विषय-शून्य हो जाती है।^४ वह कोलाहल पूर्ण सृष्टि के प्रति उदासीन होकर थके अहेरी की भाँति 'गोघ्रुला के मलिनांचल' में उदास और निष्क्रिय हो जमने-है कर पड़ रहा है।^५ उसकी प्रत्यक्षा शिथिल, धनुष भंग, और वंशी नीरव हो जाती है।^६ उसका अन्तरतम स्मृति के सन्नाटे से मर जाता है और अन्त में यही स्मृतियाँ आँसू बनकर ढलक पड़ती हैं--

'किसके अन्तःकरण अजिर में, अखिल व्योम का लेकर मोती।

आँसू का बादल बन जाता, फिर तुषार की वर्षा होती।'^७

१- गीता : अध्याय २, श्लोक ६७

२- डा० पद्मा अग्रवाल : मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें, पृ० ११६

३- वही, पृ० ११६

४- करना, पृ० २६

५- वही, पृ० २८

६- वही, पृ० २८

७- वही, पृ० २६

विरपांशित आकांक्षाओं की कड़ी सहसा टूट जाने पर मन मसोस उठता है और बल साकर बिलखते हुए फरने की भांति उसकी समस्त आन्तरिक पीड़ा इन शब्दों में कराह उठती है --

‘किरी हृदय का यह विषाद है, छेड़ों मत यह सुख का कण है ।

उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है ।’

हमारे जीवन का समूचा संचालन मन से होता है, मन ही सारी वृत्तियों प्रवृत्तियों और भावनाओं का अधिष्ठान होता है । आधुनिक मनोविज्ञान में मन का वर्गीकरण चेतन, अर्धचेतन और अचेतन मन के रूप में कर, अचेतन मन को दबा-दबायो इच्छाओं का भण्डार तथा सारी शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का संचालक माना गया है ।^१

‘प्रथम प्रमाते’ नामक कविता में प्रसाद जी ने मो अन्तःकरण (अचेतन मन) को मनोवृत्तियों का मनोहर नीड़ कहा है --

मनोवृत्तियाँ सग-कुल सी थीं सौ रहीं,

अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में ।

नोल गग-सा शान्त हृदय था हो रहा

वाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रहीं ।

स्यन्दन-हीन नवीन मुकुल मन तुष्ट था,^२

अपने को प्रच्छन्न विमल मकरन्द से ।

‘अचेतन मन’ में अनेक प्रकार की इच्छायें फलती रहती हैं, जिनमें काम सम्बन्धी इच्छाओं की प्रधानता^३ रहती है और इसी काम-शक्ति से हमारा मानसिक जगत प्रभावित होता रहता है ।

हमारा रागात्मक भाव-बोध, कामजन्य अनुभूतियों का ही एक अंग है ।

‘प्रथम प्रमाते’ नामक कविता में प्रसाद जी ने काव्यात्मक शैली में उसी रागात्मक भाव-बोध के मनोवैज्ञानिक विकास का सूक्ष्म विवेचन किया है । जिस प्रकार फूलों के सौरभ से लदा हुआ मल्यानिल अपने शीतल स्पर्श से गुदगुदा कर शरीर में एक

१- करना, पृ० २६

२- डा० पद्मा अग्रवाल मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें, पृ० २६, ३५

३- करना, पृ० १५

४- ‘सब इच्छायें या तो काम सम्बन्धी होती हैं या विद्रोह प्रकृति की और तुष्टी के लिए सदैव प्रसन्नशील रहती हैं ।’

-- डा० पद्मा अग्रवाल मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें, पृ० २६, ५५

सिहरन पैदा कर देता है, उसी प्रकार हृदय में स्थित रागात्मक भाव-बोध उभर कर उसे मधुर भावनाओं से भर देता है और मनोवंग मधुरों की भांति गुन गुना कर स्वर्गीय संगीत में सुख-विभोर हो जाता है^१। 'कुसुम-मकरन्द की वर्षा में 'प्राण पपीहा' पुकार उठता है, और 'बाल-अरुण सी' स्निग्ध सुषमा से अभिभूत हृदय अनुराग से पूर्ण हो जाता है। यही अनुराग स्थायी होकर 'प्रेम-सुतीर्थ' का स्थान ले लेता है, जिसका सान्निध्य पाकर मन उत्साहपूर्ण और मन-आनन्दविभोर हो उठता है --

‘सद्यः स्नात हुआ मैं प्रेम सुतीर्थ में --

मन पवित्र उत्साह पूर्ण सा हो गया,

विश्व विमल आनन्द भवन सा हो गया,

मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था।’

‘मानस’ नामक कविता में ‘प्रसाद’ ने मानवीय मनोवृत्तियों का काव्यात्मक शैली में बढ़ा द्वा गुदभा विवेचन प्रस्तुत किया है। ‘मन’ की उपमा एक सरोवर से देकर तथा उसे उसी की भांति निर्मल, विशाल और मधुर, भावना-तरंगों से परिपूर्ण मान कर उगी में चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, निर्वेद, लोभ, मोह, आनन्द आदि भावों की अवस्थिति मानी है --

चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, निर्वेद,^४

लोभ, मोह, आनन्द आदि बहुभेद।’

‘प्रसाद’ की मन सम्बन्धी धारणा भारतीय एवं पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों से मेल खाती है। वे उसमें सभी प्रकार की मनोवृत्तियों का अधिष्ठान मान कर चलते हैं। उन्होंने मन को संकल्प-विकल्प करने वाला,^५ चंचल अतृप्त,^६ और समस्त रसों का अधिष्ठाता माना है।

नाटक की संरचना में द्वन्द्व की प्रधानता होती है, इसी द्वन्द्व का और घनीभूत रूप नाटकों के गीतों में व्यक्त हुआ है। भावनात्मक संघर्ष तथा नाटकों के

१- करना, पृ० १७

२- वही, पृ० १८

३- चित्राधार, पृ० १४५ काननी-कुसुम, - पृष्ठ- २२ एवं करना- पृष्ठ २८

४- काल, पृ० १७, १८

५- चित्राधार, पृ० १७६

६- वासु, पृ० २८

सौन्दर्य और प्रेम-प्रसंग से सम्बद्ध गीतों में द्वन्द्वपूर्ण सूक्ष्म मनोभावों की विविध विवृतियों की सुन्दर व्यंजना हुई है । उदाहरण के लिए 'तुम कनक किरन के अन्तराल में,^१ 'आह ! वेदना मिली विदाई',^२ 'निर्जन गोधुली प्रान्तर में खोले पण कुटी के द्वार' आदि अनेक गीतों को लिया जा सकता है । यहाँ नमूने के तौर पर 'तुम कनक किरन के अन्तराल' में प्रारम्भ होने वाले गीत को लेना चाहूंगा । इस गीत में शोल-सौन्दर्य के सूक्ष्म स्वरूप की आकर्षक मांकी प्रस्तुत की गई है । 'कनक-किरण' के समान सुकुमार भावनाओं को स्पर्श कर, लुक-छिप कर चलने वाला संकोचशील सौन्दर्य, नम्रता, स्वामिमान, और शिष्टता आदि अनेक भाव-बोधों को अपने-आप में स्मेट कर चलाता है --

नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के धन, रस कन ढरते ।
हे लाज मरे सौन्दर्य ।
क्या तू मौन बने रहते हो क्यों ?^४

सौन्दर्य को तीव्रतम अनुभूति युवावस्था में होती है और यौवन-सम्पन्न सौन्दर्य बांध अपने उदात्त रूप में संकोच संवर्धित और सहिष्णु होता है । युवावस्था के आगमन पर स्त्री-पुरुष दोनों ही 'लज्जा विशेष' का अनुभव करते हैं--स्त्री की लज्जा में संकोचशीलता (*coyness*) और पुरुष की लज्जा में सहिष्णुता (*Submission*) की मात्रा अधिक पाई जाती है । पुरुष में सहिष्णुता का भाव वहाँ होता है, जहाँ वह नम्र होकर अपने से श्रेष्ठ और स्मर्य व्यक्तित्व के समक्ष नत मस्तक होकर उसके प्रति अपनी शिष्टता और नम्रता का परिचय देता है, उस समय उसमें 'अहंभाव' का सर्वथा अभाव हो जाता है^५ ।

१- चन्द्रगुप्त, पृ० ६३

२- स्कन्दगुप्त, पृ०

३- अजातशत्रु, पृ० ११४

४- चन्द्रगुप्त, पृ० ६३

५- "The instinct of submission, of self-abasement is excited, with its corresponding emotion of negative self feeling, by the perception that we are in the presence of a superior power, some thing greater than our self."

इस प्रकार इस भावपूर्ण गीत में सहज शान्त, संयत और गम्भीर यौवन सम्भूत सौन्दर्य भावना की मानसिक अवस्थाओं और शारीरिक चेष्टाओं का बड़ा सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है ।

‘प्रसाद’ के विरह काव्ये जांसे का वेदना-दर्शन में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है । जांसे का जालम्बन , मौक्तिक प्रेम-प्रसंग तथा उससे उत्पन्न वियोगजन्य अनुभूतियों का वह तीव्र दर्शन है, जो बार-बार कवि का हृदय-मंथन कर उसे अशान्त बनाता रहता है । जीवन के स्कान्त क्षणों में अतीत की सारी संचित स्मृतियाँ उभर कर जांसे रूप में बरस पड़ती हैं --

‘जो धनोभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई ,
‘हुर्दिन में जांसे बनकर वह आज बरसने आई ।’^१

कवि की इस धनोभूत पीड़ा की स्मृति का सम्बन्ध जीवन के उस पार्थिव पक्ष से है, जो रागात्मक भाव-बोध से अनुबद्ध, हमारी यौन अनुभूतियों का आधार होता है और यौन-अनुभूतियों का सीधा सम्बन्ध काम-भावना से है ।

रागात्मक सम्बन्ध के दो पक्ष होते हैं-- संयोग, और वियोग । ‘जांसे’ में हमें इन दोनों पक्षों की मानसिक स्थितियों और उसकी विविध भाव-भूमियों की सूक्ष्म फाँकी मिल जाती है । इसमें संयोग-सुख और विरह-वेदना की अनेक अन्तर्दशाओं का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण हुआ है ।

‘जांसे’ के पूर्व पक्ष में वैयक्तिक विरह-वेदना का उफान और उत्तरपक्ष में उसका समष्टि-साधना के गम्भीर चिन्तन में पर्यवसान, दोनों ही मनोवैज्ञानिक भाव-भूमियों पर आधारित हैं । रागात्मक सम्बन्धों की कड़ी टूट जाने पर उसकी प्रतिक्रिया प्रायः दो प्रकार की होती है -- या तो व्यक्ति असह्य मानसिक वेदना से व्याकुल होकर मानसिक रोगों से पीड़ित हो जाता है,^२ या अपने मनोवैगों को

१- जांसे, पृ० १४

२- ‘लौग स्नायुरोग (यह मानसिक रोग की ही एक विधा है) से तब पीड़ित होते हैं, जब राग की सन्तुष्टि की सम्भाव्यता उनसे दूर कर दी जाय--अर्थात् वे कुण्ठा या विफलता के परिणामस्वरूप रोगी होते हैं + + + स्नायु रोग के कारणों में राग की अत्यधिक और साथ ही समय से पूर्व बढ़ता एक अपरिहार्य कारण है ।’

--फ्रायड: मनोविश्लेषण, पृ० ३१५, ३१६

अनुवादक-- देवेन्द्रकुमार

संयमित कर जीवन की गहराइयों में उतर जाता है, इसी को काम भावना का उदात्तीकरण (*Sublimation*) कहते हैं, जिसके प्रभाव से भाव, विचार, और कार्य-कलाप में गम्भीरता आ जाती है^१। वह वैयक्तिक सुख-सुविधाओं और विरह वेदनाओं तक ही सीमित नहीं रह जाता, बल्कि अपने दुःख-दर्द के साथ सब के दुःख-दर्द को समेट लेता है। 'आंसू' के पूर्व पदा में संयोग सुख की स्मृति में आठ आठ आंसू बहाने वाला कवि^२, उत्तर पदा में आते आते, अपनी काम भावना का उदात्तीकरण कर, गम्भीर जीवन दृष्टि अपना लेता है और वैयक्तिक वेदना तथा सुख-दुःख से ऊपर उठ कर जीवन से सम्पर्कता कर लेता है। --

‘हो उदासीन दोनों में, सुख-दुःख में मेल कराये,
ममता की हानि उठा कर, दो छे हुए मनाये’^३

वह आत्म वेदना को साधना की व्यापक भाव-भूमि प्रदान कर उसे 'हंसी और आंसू को आत्मसात कर नई बरसात करने तथा जगती की सजग व्यथार्ये चुन लेने का आदेश दे देता है। उसका अहं (*Ego*) आत्म मोह से हटकर 'जगती' को 'मंगलमय उजाला' देने की कामना करने लगता है --

‘निर्मम जगती को तेरा , मंगलमय मिले उजाला,
इस जलते हुए हृदय की, कल्याणी शीतल ज्वाला’^४

१- "The result of the repression of the sex impulse effected by these influence may be described in the most general terms as an increase of seriousness and intensity in all most all fields of thought, feeling, and action, especially in all that concerns personal and social relations and the conduct of life This may be regarded as an effect of a generalised sublimation of the sex energy."

— W. Mc Dougall : Social Psychology (P. 363)

२- आंसू, पृ०७-४०

३- वही, पृ०५०

४- वही, पृ०५८

५- वही, पृ०६३

उसकी दृष्टि उन निराश नयनों के सूखे आंसू और चिरवंचित भूखे प्राणों पर टिक जाती है जो सूनी कुटिया के अंधेरे में लघुदीप के समान टिमटिमा कर बुझ जाते हैं --

फिर उन निराश नयनों की, जिनके आंसू सूखे हैं,
उस प्रलय दशा को देखा, जो चिर वंचित भूखे हैं ।

+ + +

सूनी कुटिया-कोने में, रजनी भर जलते जाना,
लघु स्नेह भरे दीपक का, देखा है फिर बुझ जाना^१ ।

अन्त में कवि अपनी समूची संवेदना के साथ 'आत्मवेदना' को सम्बोधित करता हुआ कहता है --

सब का निचोड़ लेकर तुम, सुख से सूखे जीवन में,
बरसो प्रमात हिम कन सा, आंसू इस विश्व-सदन में^२ ।

इस क्रम से आंसू में विरहजन्य अनुभूतियों की विविध भाव-भूमियों तथा रागात्मक भाव-बोधों के उदात्तीकरण का मनोवैज्ञानिक चित्रण बड़ी कुशलता से हुआ है ।

इस प्रकार प्रसाद ने अपने काव्यों में मानवीय अनुभूतियों और विविध भाव-भूमियों का सूक्ष्म चित्रण किया है । उनके साहित्य का मनोवैज्ञानिक आधार प्रौढ़तर भाव-भूमि पर विकसित हुआ है ।+++ उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इतना सूक्ष्म, पूर्ण और पुष्ट है कि किसी भी पात्र का कोई भी चारित्रिक पहलू अस्पष्ट नहीं रह जाता और पाठक की मनोवैज्ञानिक विचारधारा प्र के प्रवाह में कहीं भी कोई गतिरोध उत्पन्न नहीं होता है^३ ।

-०-

१- आंसू, पृ० ७८, ७९

२- वही, पृ० ७९

३- डा० देवेश कुमार ठाकुर: प्रसाद के नारी चरित्र, पृ० ३६६

(तृतीय सण्ड)

एकादश - अध्याय

-०-

नाटक

—————

एकादश अध्याय

-०-

नाटक

प्रसाद-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता ऐतिहासिक बोध के साथ-साथ वैयक्तिक भाव-बोध की गहरी अनुभूति है। ये दोनों पक्ष प्रसाद-साहित्य में, विशेष रूप से नाटकों में एक-दूसरे के पूरक बनकर समानान्तर गति से विकसित होते चलते हैं। ऐतिहासिक बोध के लिए जहाँ प्रसाद जी ने ऐतिहासिक घटनाओं को चुना है, वहीं वैयक्तिक भाव-बोध की तीव्रता के लिए प्रेम-प्रसंगों की योजना भी की है। इतिहास की इस प्रमुख धारा के बीच देवसेना, विजया, ध्रुवस्वामिनी आदि का प्रेम-प्रसंग तथा विरुद्धक का श्यामा के प्रति प्रेम आदि ऐसे प्रसंग हैं जो व्यक्तिगत भावावेग के गठन में सहायक होते चलते हैं। उक्त दोनों पक्षों के परस्पर संघात से 'संघर्ष' की एक धारा भी चला करती है जो राजनीतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक स्तरों पर अनेक रूपों में विभक्त होकर कहीं वाह्य द्वन्द्व और कहीं अन्तर्द्वन्द्व का रूप ले लेती है। अन्तर्द्वन्द्व भी संघर्ष का ही एक रूप है। यह आसक्ति और आकर्षण के बीच मानसिक तनाव की वह स्थिति है, जिसमें मन एक पक्ष पर स्थिर न होकर उसके विविध पहलुओं पर दौड़ा करता है। एक ओर स्वीकृत पूर्व पक्ष की ओर उसकी गहरी आसक्ति बनी रहती है, और दूसरी ओर दूसरे पक्ष का सहजाकर्षण उसे बलात् अपनी ओर खींचता रहता है। इन दोनों के खिंचाव में पड़ कर, मन किञ्चित् व्यविमुक्त सा होकर अपने चुनाव का निर्णय नहीं कर पाता। यही द्विविधा उसके जीवन को अशान्त बना देती है।

अन्तर्द्वन्द्व का शिकार प्रायः वही व्यक्ति होते हैं, जो भाव-स्तर को दृष्टि से मध्यम कोटि में आते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनमें केवल विचारों (ज्ञान

तत्त्व) की प्रधानता होती है और कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनमें केवल भावों का प्राधान्य होता है। इन दोनों के बीच की स्थितिमध्यम कोटि की स्थिति है, जिसमें भावों और विचारों की समान सन्निहितता होती है। विचार-प्रधान और भाव-प्रधान व्यक्ति अपने-आप में सन्तुष्ट और निर्द्वन्द्व होते हैं, क्योंकि विचार-प्रधान और ज्ञानी व्यक्ति सामान्य जीवन से ऊपर उठकर, दार्शनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में अपनी एक निर्दिष्ट दिशा का चुनाव कर लेता है, और भाव प्रधान व्यक्ति भी जीवन के सामान्य आकर्षणों के प्रति उदासीन होकर अपने सोमित साधनों में संतुष्ट हो जाता है। उसके जीवन की भी एक निश्चित दिशा बन जाती है, जिसपर चलकर वह अपने ढंग से अपना जीवन जी लेता है। उसे न तो सम्मान की गहरी बुझाव होती है, और न सम्पत्ति की न बुझने वाली प्यास। इस प्रकार ऐसा व्यक्ति भी अन्तर्द्वन्द्वों के कशाघात से बचा रहता है। लेकिन इन दोनों के बीच की स्थिति में रहने वाले व्यक्तियों की मानसिक अवस्था इससे भिन्न होती है। ऐसे व्यक्ति जीवन के प्रति कोई न निश्चित दृष्टिकोण नहीं बना पाते। कभी विचारों की उलफनों में उलफ जाते हैं, और कभी भावों की धारा में बह जाते हैं। कभी भावुकताजन्य रागात्मक भाव-बोध से अभिभूत होकर जीवन के प्रति गहरी आसक्ति को अपना लेते हैं, और कभी विचारों में डूबकर जीवन के प्रति विरक्ति-भावना से मर उठते हैं। इस प्रकार उनका जीवन राग और विराग के आवर्त में चक्कर लगाया करता है। ऐसे ही व्यक्ति अन्तर्द्वन्द्वों से पीड़ित रहा करते हैं, और समाज में ऐसे लोगों की बहुलता होती है। पर साहित्य में अन्तर्द्वन्द्व का विशिष्ट अंकन अधिकतर उदात्त भावना के महयोग में होता है। हैमलेट, स्कन्दगुप्त या शंकर इसी प्रकार के चरित्र हैं। प्रसाद के चरित्रप्रधान नाटक इसी कोटि में आते हैं, जिनमें अन्तर्द्वन्द्वों की प्रधानता होती है, -- स्पष्टतः ये नाटक चरित्र के द्वन्द्व को लेकर चलते हैं और इनकी सबसे बड़ी सफलता चरित्र-निर्माण में ही है^१। यहां पर काल-क्रमानुसार प्रसाद की प्रमुख नाट्य कृतियों में आने वाले प्रधान पात्रों के चारित्रिक विकास के सम्बद्ध प्रसंगों के परिप्रेक्ष्य में उनकी मानसिक अवस्थाओं और प्रतिक्रियाओं को विवेच्य विषय बनाया गया है। काल-क्रम के अनुसार प्रसाद के नाटकों की तालिका इस प्रकार है --

प्रकाश है---

१- सज्जन (१६१०-११), २- ~~कल्याणी~~ परिणय (१६१२), ३- करुणालय (१६१२), प्रायश्चित्त (१६१४), ५-राज्यश्री (१६१५), ६- विशाख (१६२१), ७-अजातशत्रु (१६२२), ८- कामना (१६२३-२४), ९- जनमेजय का नागयज्ञ (१६२६), १०-स्कन्द गुप्त (१६२८), ११- स्क घूंट (१६३०), १२- चन्द्रगुप्त (१६३१), १३- ध्रुवस्वामिनी (१६३३) ।

उपर्युक्त नाटकों में वस्तुविन्यास तथा शिल्प-शैली और चारित्रिक विकास की दृष्टि से निम्नांकित नाटक प्रमुख हैं--

१- अजातशत्रु, २-जनमेजय का नागयज्ञ, ३- स्कन्द गुप्त, ४- चन्द्रगुप्त और ५- ध्रुव स्वामिनी ।

इन्हीं नाटकों के प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशिष्टताओं के सन्दर्भ में उनकी मानसिक अवस्थाओं और प्रतिक्रियाओं पर प्रकाश डालूंगा । सर्वप्रथम मैं 'अजातशत्रु' नामक नाटक को लेता हूँ ।

अजातशत्रु

इस नाटक में चलने वाले सारे संघर्ष मूलतः अधिकारलिप्सा पर आधारित है । सत्ता-प्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा के परिप्रेक्ष्य में सभी प्रमुख पात्रों का मानसिक तनाव बढ़ जाता है, और स्वामित्व-संस्थापन की स्वामाविक स्पृहा उनमें अन्तर्द्वन्द्व की आंधी उठा देती है । इस दृष्टि से बिम्बसार, प्रसेनजित, कलना, शक्तिमता, मागन्धी, अजात और विरुद्धक आदि पात्रों का चरित्र विशेष उल्लेखनीय है । यहां पर कुछ प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशिष्टताओं के सन्दर्भ में उनकी मानसिक प्रक्रियाओं पर प्रकाश डाला जायगा ।

बिम्बसार

वयोवृद्ध बिम्बसार, अजात का पिता और सत्ता-लोलुप शासक है । उसमें पद लोलुप्ता कूट-कूट कर मरी हुई है । उसका अन्तर्गमन अधिकार-लिप्सा और विवशता जन्य विराग के बीच होने वाले अन्तर्द्वन्द्वों से जर्जर हो उठा है । वह अन्त तक अपने अधिकारों के लोभ का संवरण नहीं कर पाता । तथागत द्वारा अजात को युवराज बनाये जाने का प्रस्ताव रखने पर वह दबे स्वर में इसका प्रतिवाद करता है-- 'योग्यता होनी चाहिए महाराज । यह बड़ा गुरुतर कार्य है । नवीन रक्त राज्यश्री को सदैव

तलवार के दर्पण में देखना चाहता है^१। बिम्बसार का उक्त कथन उसके अचेतन मन को दबी हुई इच्छाओं का स्वरूप स्पष्ट कर देता है। एक ओर वह प्रस्ताव के विरोध में अपने प्रच्छन्न प्रतिवाद द्वारा अपनी अधिकार-लिप्सा का परिचय दे देता है, और दूसरी ओर उस अधिकार को सुरक्षित रखने तथा उसके औचित्य को सिद्ध करने के लिए अहिंसावादी गौतम के सामने युवा पीढ़ी पर राज्य-श्री को तलवार के दर्पण में देखने का आरोप लगा देता है। युवा पीढ़ी पर यह आरोप लगाने के पीछे, उसके मस्तिष्क में यह भावना काम करती रही है कि इस तथ्य को स्पष्ट कर देने से अहिंसावादी गौतम एक अनुमवहीन और युद्धलिप्सु युवक के हाथों में सत्ता सौंपने का अपना आग्रह छोड़ देंगे, और मेरा अधिकार अङ्गुष्ठाणा बना रहेगा। तथागत द्वारा प्रस्तुत अधिकार-सुख से निवृत्त होने के प्रस्ताव पर अधिकार-लोलुप बिम्बसार की यह प्रतिक्रिया पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है। अन्त में गौतम के दबाव पर उसे विवशतः अज्ञात को युवराज-पद दे देना पड़ता है। इस अवसर पर भी उसकी अधिकार-भावना उसके अहं को समझा लेती है। वह अज्ञात को अधिकार इसलिए दे देता है कि उसे वह अपनी ही आत्मा का भोग समझता है। वह वासवी से कहता है--^२ पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नहीं रह जाता, क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है^३। बिम्बसार का यह कथन मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है। यह स्वयं सिद्ध है कि प्रत्येक व्यक्ति की सन्तान-लालसा के पीछे आत्म-भोग की यही भावना काम करती रहती है।

व्यक्ति के संचित संस्कार समय-समय पर उभर कर उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करते रहते हैं। बिम्बसार के ऊपर अधिकार-भोग का जो संस्कार पड़ चुका है, वह अधिकारों के प्रति विराग ले लेने पर भी समाप्त नहीं होता। अज्ञात को राज्य-सिंहासन और सौंप कर, सत्ता से अलग हो जाने पर भी बिम्बसार की अधिकार-लिप्सा मरती नहीं। स्कान्तवास के समय भी उसे अपने अधिकार का अभाव खटक्का रहता है --^४ इस कुण्ठीक के व्यवहार से अपने अधिकार का ध्यान तो जाता है। तुम्हें विश्वास हो या न हो किन्तु कभी-कभी यात्रकों का लौट जाना मेरी वेदना का कारण हो जाता है^५।

१- अज्ञातशत्रु, पृ० ३८

२- वही, पृ० ४२

३- वही, पृ० ४२

इस प्रकार अधिकार-सुख और उसके त्याग से सम्बद्ध संवेदनाओं के सन्दर्भ में बिम्बसार की मानसिक अवस्थाओं तथा उसकी प्रतिक्रियाओं का बड़ा सुन्दर मनो-वैज्ञानिक चित्रण हुआ है ।

प्रसेनजित

आत्महीनता की मनोग्रन्थि से पीड़ित एक कुंठित पात्र है । उसकी आत्म-हीनता का आधार शक्तिमती के साथ उसका वैवाहिक सम्बन्ध का होना है । उसके हृदय में यह बात पैठ चुकी है कि शक्तिमती नीच-कुल जन्मा, दासी-पुत्री है, जिसे शाक्यों ने कूल द्वारा उसके साथ व्याह दिया है । अपनी मान-मर्यादा और सामाजिक प्रतिष्ठा के परिप्रेक्ष्य में रानी की अकुलीनता को लेकर उसके हृदय में एक द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है । धीरे-धीरे उसके अचेतन मन में शक्तिमती के प्रति घृणा-भावना पैठती जाती है । प्रसेनजित के अचेतन मन में शक्तिमती के प्रति दबी हुई घृणा-भावना उस समय मड़क उठती है, जब विरुद्धक अजात का पदा लेकर , पिता से पुत्र के अधिकार की मांग का समर्थन करता है । विरुद्धक के इस व्यवहार से दुःख होकर प्रसेनजित का दबा आक्रोश उमर पड़ता है --^१ तब तुम अवश्य ही नीच रक्त का मिश्रण है । उस दिन जब तेरी ननिहाल में तेरे अपमानित होने की बात मैंने सुनी थी, मुझे विश्वास नहीं हुआ, अब मुझे विश्वास हो गया कि शाक्यों के कथनानुसार तेरी माता अवश्य ही दासी पुत्री है ।^२ अन्त में विरुद्धक का युवराज-पद हान लिया जाता है और माता का राज-महिषी का पद --^३ आज से यह निर्भीक किन्तु अशिष्ट बालक अपने युवराज पद से वंचित किया गया, और इसकी माता का राजमहिषी का सा सम्मान नहीं होगा ।^४

कुंठित व्यक्ति की अवरुद्ध इच्छायें उसे असहिष्णु बना देती हैं, उसके व्यवहार में रूढ़ता और भावों में कठोरता आ जाती है, उसका दुर्बल हृदय मय, आशंका और अविश्वास का आवास बन जाता है । उसके नैतिक पक्ष में दुर्बलता आ जाती है, जिसके फलस्वरूप वह अनैतिक कार्य करने लगता है । प्रसेनजित की

१- अजातशत्रु, पृ० ६०

२- वही, पृ० ६१

मानसिक कुंठा उसे अपनों के प्रति भी शंका लु बना देती है । नैतिक दृष्टि से उसका इतना पतन हो जाता है कि वह बन्धुल जैसे विश्वास पात्र सेनापति को लोकप्रियता से भयभीत होकर कुल द्वारा उसकी हत्या करवा देता है ।

जो व्यक्ति नैतिक दृष्टि से दुर्बल होता है, उसमें सार्वजनिक रूप से अपने अपराध को स्वीकार करने का साहस नहीं होता, क्योंकि उसे पग-पग पर अपने सामाजिक प्रतिष्ठा खो देने का भय बना रहता है । प्रसेनजित का पाप-कलुषित और नैतिक दुर्बलता से जर्जर हृदय स्कान्त में मल्लिका के समक्ष अपने अपराधों को तो स्वीकार कर लेता है, लेकिन कोशल की राज-सभा में वह उसे सार्वजनिक रूप से स्वीकार करने का साहस नहीं रखता । मल्लिका के मुंह से यह सुनकर कि मैं अपना सब बदला चुकाना चाहती हूँ, मेरा भी कुछ अभियोग है, वह बिलकुल घबड़ा कर कहने लगता है--^१ वह बड़ा भयानक है देवि ! उसे आप क्षमा कर चुकी हैं ।^२

प्रसेनजित का उपर्युक्त कथन उसकी मानसिक दुर्बलता और भय-संकुल आकुलता का परिचायक है । उसकी यह मानसिक स्थिति परिस्थितिजन्य मनोवैज्ञानिक प्रभावों की सृष्टि है ।

अज्ञात

‘अज्ञातशत्रु’ में आने वाले प्रमुख पुरुष पात्रों में प्रसेनजित और जिम्बसार के बाद दो युवापात्र आते हैं -- अज्ञात और विरूद्धक । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन दोनों पात्रों का विशेष महत्व है । दोनों का चारित्रिक विकास पारिवारिक कलह तथा गस्वस्थ वातावरण के बीच विष-प्रभाव में होता है, जिसके फलस्वरूप वे उद्वण्ड और अपराधी बन जाते हैं । आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार अपराधों का आधार व्यक्ति की वे दमित इच्छायें होती हैं, जिनमें काम-कुंठा जन्य विकारों की प्रधानता रहती है ।^{३४} कुंठाओं का बीजारोपण पारिवारिक वातावरण में होता है।

१- अज्ञातशत्रु, पृ० १०१

२- वही, पृ० १५५

३- वही, पृ० १५५

४- ‘समाजविरोधी क्रियाओं का बीज अज्ञात मन में ही है । + + + जब अज्ञात मन की इच्छायें उद्वण्ड और अति उग्र हो उठती हैं, तब मानव बड़ा से बड़ा अपराध कर बैठता है । अपराध की गहराई दमन की हुई इच्छाओं की उग्रता और जटिलता पर निर्भर है । इच्छायें जितनी उग्र और विषम होंगी उसी अनुपात में मनुष्य अपराधी होगा ।’

-- डा० पद्मा अग्रवाल मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें, पृ० २१४

अपेक्षित प्यार के अभाव में बच्चों का जीवन अव्यवस्थित होकर गलत दिशा में मुड़ जाता है । आवश्यकता से अधिक प्यार और सख्त व्यवहार दोनों ही उसे अपराधों की पंक्ति में खड़ा कर देते हैं । अज्ञात और विरुद्ध का चरित्र इसी मनोवैज्ञानिक सत्य को पुष्टि करता है ।

अज्ञात का पालन-पोषण ऐसे पारिवारिक वातावरण में होता है, जहाँ सत्ता को लेकर गहरे तनाव की स्थिति बनी रहती है । एक ओर पिता अधिकार को छोड़ना नहीं चाहता, दूसरी ओर माता उस अधिकार को प्राप्त करने का हर सम्भव प्रयास करती है । अज्ञात की शिक्षा का प्रारम्भ उस महत्वाकांक्षिणी माता के नियंत्रण में होता है, जो न्याय को हिंसाभूलक और अहिंसा को भिड़ुओं की मद्दी सीख मानती है ।

पिता की उदासीनता और माता की दोष-पूर्ण शिक्षा के फलस्वरूप अज्ञात का व्यक्तित्व कुठित हो जाता है, यही कुंठा उसे प पिता के प्रति उद्वेग और प्रजा के प्रति क्रूर बर्ताव, एक निरंकुश शासक बना देती है । अन्त में अज्ञात स्वयं इस सत्य को स्वीकार करता है--^१ 'नहीं पिता । मुझे भ्रम हो गया था । मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी । मिला था केवल जंगलोपन को स्वतन्त्रता का अभिमान -- अपने को विश्वभर से स्वतन्त्र जीव समझने का कुंठा आत्म-सम्मान ।'^४

एक अनुभवहीन युवक पर पारिवारिक वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है, और उसके सन्दर्भ में उसकी मूल प्रवृत्तियों का क्या प्रतिक्रिया होती है, इसका मनोवैज्ञानिक परिचय अज्ञात के चारित्रिक विकास में मिल जाता है ।

विरुद्धक

दूसरा युवापात्र है विरुद्धक । विरुद्धक का चारित्रिक विकास भी ऐसे वातावरण में हुआ है जो पारिवारिक कलह के विष-प्रभाव से अछूता नहीं है ।

१- अज्ञातशत्रु, पृ० २६

२- वही, पृ० ३४

३- वही, पृ० ७३

४- वही, पृ० १७२

पिता सामाजिक प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में आत्महीनता की भावना से कुंठित है, और माता व्यक्तिगत सम्मान के अभाव में हीनत्व ग्रन्थि से पीड़ित । इन दोनों के विष प्रभाव से प्रभावित वातावरण में पलने वाला बालक-- विरुद्धक, उचित निर्देशन के अभाव में अपराधी बन जाता है । विरुद्धक के अपराधी जीवन के मूल में मुख्यतः दो बातें हैं --

१- काम-कुंठा और २- पिता की उपेक्षा

‘काम’ हमारे जीवन का सबसे सशक्त और प्रभावशाली पक्ष है । फ्रायड ने इसी को ‘लिविंगो’ कहा है -- ‘लिविंगो या राग बिल्कुल डुघा का तरह है, यह वह बल है, जिसके द्वारा नैसर्गिक यौनवृत्ति वैसे ही अपनी अभिव्यक्ति करती है, जैसे पोषण की निर्यातवृत्ति भूख के द्वारा आनी अभिव्यक्ति करती है ।’ इसी राग-भावना का रुद्ध हो जाना कुंठा का कारण बन जाता है, जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप अपराधों की सृष्टि होती है ।

मादक यौवन के आगमन पर विरुद्धक का भावुक हृदय एक बड़े कोमल कुसुम के साथ बंधकर नीरव अभिलाषाओं का नीड़ बन जाता है । उसकी कोमल कल्पनायें मल्लिका की अभ्यर्थना में फुक जाती हैं, लेकिन उसकी चिरपोषित आकांक्षा पूर्ण नहीं हो पाती -- वह मल्लिका को प्राप्त नहीं कर पाता । एक हृदयहीन दूर सैनिक सेनापति बन्धुल उसे -- अपने उष्णपत्र का फूल बना लेता है । यहीं से विरुद्धक की जोवन-दिशा बदल जाती है, प्रेम की असफलता उसमें नीरस्ता ला देती है, और उसका अचेतन मन पिता के प्रति विद्रोह कर देता है, जिसके फलस्वरूप मल्लिका के लिए अतीत में उसका वर्तमान बिगड़ जाता है -- ‘किन्तु मल्लिका ! अतीत में तुम्हारे ही लिए मेरा वर्तमान बिगड़ा । पिता ने जब तुम से मेरा व्याह करना अस्वीकार किया, उसी समय से मैं पिता के विरुद्ध हुआ, और उस विरोध का यह परिणाम हुआ ।’

व्यक्ति के भाव, विचार और व्यवहार उसके अचेतन मन की दमित इच्छाओं से प्रभावित होते हैं^४, और वह अपनी भावनाओं के अनुरूप ही दूसरी वस्तुओं का आकलन

१- फ्रायडः ब मनोविश्लेषण, अनुवादक देवेन्द्रकुमार, पृ० २८५

२- अज्ञातशत्रु, पृ० ६५

३- अज्ञातशत्रु, पृ० १४३

४- डा० पद्मा अग्रवालः मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें, पृ० ३५

करता है । अपने रंग में रंगी हुई उसकी आँखें दूसरों को भी उसी रंग में रंगा हुआ देखती हैं । जिस समय स्नेहमयी मल्लिका घायल विरुद्धक के प्रति सदय होकर उसकी सेवा-सुश्रूषा करती है, उस समय विरुद्धक के अचेतन मन की दमित वासना उभर आती है और वह अपनी भावनाओं के अनुरूप मल्लिका को अपने प्रति आसक्त होने का अनुमान लगाने लगता है । वह मल्लिका से कहता है -- 'तुमसे बहुत कुछ कहना है । मेरे हृदय में बड़ी खलबली है । यह तो तुम्हें विदित था कि सेनापति बन्धुल को मैंने ही मारा है, और उसी की तुमने इतनी सेवा की । इसे क्या मैं भूलूँ । क्या मेरी शंका निर्मूल नहीं है ? कह दो मल्लिका ।' विरुद्धक के इस व्यवहार पर मल्लिका ड्राव्य हो उठती है -- 'विरुद्धक ! तुम उसका मनमाना अर्थ लगाने का भ्रम मत करो । तुमने समझा होगा कि मल्लिका का हृदय कुछ विचलित है, किः तुम राजकुमार हो न, इसीलिए । अच्छी बात क्या तुम्हारे मस्तिष्क में कभी आई ही नहीं ?'

मल्लिका के प्रति विरुद्धक का उद्धत व्यवहार उसकी दमित वासना और संस्कारगत स्वभाव का परिणाम है । व्यक्ति संस्कारगत स्वभाव के अनुसार ही दूसरों के साथ व्यवहार करता है । एक शिष्ट और कुलोंन परिवार में पला हुआ व्यक्ति किसी स्त्री के प्रति जिस सम्मानपूर्ण ढंग से व्यवहार करेगा उसी प्रकार का व्यवहार एक अशिष्ट और अस्वस्थ वातावरण में पला हुआ व्यक्ति नहीं कर सकता । विरुद्धक का विषाक्त परिवारिक वातावरण उसे इतना छुंठित बना देता है कि उसे शिष्टाचार का कुछ ज्ञान नहीं रह जाता, और वह कथ्य-अकथ्य के बीच कोई भेद नहीं कर पाता ।

व्यक्ति स्वभाव से ही आत्मशोभन और सामाजिक प्रतिष्ठा का भूखा होता है, उसकी इस भूख को सबसे अधिक बल मिलता है उसके स्वस्थ पारिवारिक वातावरण से । जिसे परिवार का अपेक्षित प्यार नहीं मिलता, वह हीनत्व ग्रंथि से ग्रसित होकर या तो भग्नशा का शिकार हो जाता है या अनुचित ढंग से अपने विकृत 'अहं' को सन्तुष्ट करने लगता है । अपेक्षित विरुद्धक की प्रतिक्रियाओं में उसके उक्त दोनों प्रकार मिल जाते हैं -- पारिवारिक प्यार से वंचित विरुद्धक की सहज प्रवृत्तियों का समुचित विकास नहीं हो पाता । पिता की ओर से उसे

१- अजातशत्रु, पृ० १४३

२- वही, पृ० १४३

स्वामित्व-संस्थापन की प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने का भी अवसर नहीं मिलता बल्कि बदले में मिलता है पिता की घोर उपेक्षा से पूर्ण असह्य अपमान का दर्शन । जब सहज स्वामिभानी युवक पिता से न्याय की मांग करता है, तब पिता उसके प्रति सहानुभूति रखने के स्थान पर उसकी महत्वाकांक्षा को कुचलने की घोषणा कर देता है -- 'तेरा बड़म्पन और महत्वाकांक्षा से पूर्ण हृदय अच्छी तरह कुचल दिया जायेगा -- बस चला चल जा' ^१।

प्रेम की असफलता, सामाजिक उपेक्षा और पिता की मर्त्सना से दुःख होकर विरुद्ध आत्म सम्मोही अपराधी बन जाता है ।^२ आत्म सम्मोही अपराधी की विशेषता यह है कि वह स्वभाव से स्कान्तप्रिय और स्वार्थी होता है.... विश्लेषण करने पर पता लगता है कि इस वर्ग के अपराधी में काम-वृत्ति की दमन विशेषरूप से हुआ ^३रुस्तम रहता है... आत्म सम्मोही अपराधी को मनोदशा इस बात का द्योतक है कि उसकी काम-शक्ति का ह्रास हुआ है, या विकास अनुचित रूप से हुआ है।^४ काम-शक्ति का ह्रास होने पर व्यक्ति जीवन के प्रति निराश हो जाता है । विरुद्ध की निराशा उसकी भग्नाशा का परिणाम है । पिता के तिरस्कार से उसका हृदय बँठ जाता है, माता द्वारा फिड़की दिये जाने पर वह बड़ी ही मायूसी के साथ कहता है -- 'मां ! क्या कहती हो -- हम आज एक तिरस्कृत युवक मात्र हैं, कहां का कोशल और कौन राजकुमार' ।^५ हताश जीवन अपनी प्रतिक्रियाओं में बड़ा मयानक होता है । महत्वाकांक्षिणी माता के उत्तेजक उद्बोधन और प्रोत्साहन पर उसका कुण्ठाजन्य अवसाद आक्रोश में बदल जाता है, और उसका सुप्त अहं जाग्रत होकर प्रतिशोध को जीवन का लक्ष्य बना लेता है-- 'बस मां ! अब कुछ न कहो । आज से प्रतिशोध लेना कर्तव्य और जीवन का लक्ष्य होगा' ।^६ यही से उसका जीवन अपराध की दिशा में मुड़ जाता है और वह अनुचित ढंग से अपने विकृत अहं की सन्तुष्टि करने लगता है ।

१- अजातशत्रु, पृ० ६१

२- डा० पद्मा अग्रवाल : मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें, पृ० ३१८

३- अजातशत्रु, पृ० ६६

४- वही, पृ० ६७

इस प्रकार विरुद्धक का चरित्र ऐसे वातावरण को उपज है जो कलह, कुंठा और वैर-विरोध के विष-प्रभावों से विषाक्त हो चुका है। ऐसे ही वातावरण में पले हुए बालकों का विकास जिन प्रतिक्रियाओं के साथ होता है, वे सारी संभावनायें और प्रतिक्रियायें विरुद्धक के चरित्र में मिल जाती हैं।

मागन्धी

‘अजातशत्रु’ के प्रमुख स्त्री पात्रों में मागन्धी (श्यामा) का एक विशिष्ट स्थान है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसका चरित्र विशेष महत्वपूर्ण है, जिसका विकास तीव्र लालसा और महत्वाकांक्षा की प्रतिक्रियाओं के परप्रेक्ष्य में हुआ है। इन दोनों का सम्मिलित प्रभाव उसके जीवन को अशान्त और अधीर बना देता है।

मागन्धी में प्रतिशोध की भावना का बीजारोपण उस समय होता है, जब तथागत द्वारा उसका सौन्दर्य उपेक्षित हो जाता है। नारी का सहज स्वाभिमान अपने सौन्दर्य का सम्मान चाहता है। अपने सौन्दर्य की अवहेलना उसे अस्तर जाती है और उसका ‘अहं’ तिरस्कार करने वाले के प्रति प्रतिशोध की भावना से भर जाता है। मागन्धी का ‘अहं’ भी उस समय आकुल हो उठता है, जब बीतराग गौतम उसके साथ विवाह करना अस्वीकार कर देते हैं। गौतम के इस व्यवहार को अपने सौन्दर्य का तिरस्कार समझ कर उसका मन मसोस उठता है—‘इस रूप का इतना अपमान। सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ। मुझसे व्याह करना अस्वीकार किया। + + + गौतम यह तुम्हारी तितिक्षा तुम्हें कहां ले जायेगी? यह तुमने कभी न विचारा कि सुन्दरी स्त्रियां भी संसार में कुछ अपना अस्तित्व रखती हैं। अच्छा^{देखो} तो कौन खड़ा रहता है?’ गौतम के प्रति प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर ही वह उनके प्रमुख समर्थक उदयन को अपने रूप-जाल में उलफा कर उसे अपना बना लेती है।

व्यक्ति का ‘अहं’ अपने विरोधी के उत्कर्ष को देखना नहीं चाहता। वह उसे नीचा दिखाने का हर सम्भव प्रयास करता है। गौतम की सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रति मागन्धी की प्रतिक्रिया इसी प्रकार की है। कौशाम्बी में तथागत का बढ़ता प्रभाव उसमें कुढ़न पैदा कर देता है और उसकी यह कुढ़न उस समय और बढ़ जाती है,

जब उसे यह समाचार मिलता है कि पद्मावती के मन्दिर में गौतम का घण्टों प्रवचन चलता है, जिसमें स्वयं राजा भी भाग लेते हैं और गौतम का बड़ा आदर करते हैं^१। गौतम के इस बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने के लिए वह यथासाध्य सभी प्रयास करती है। एक ओर वह उदयन को रिफा कर उसे अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने के लिए अपने बनाव-शृंगार के प्रति विशेष सचेष्ट रहने लगती है, और दूसरी ओर पद्मावती और गौतम के सम्बन्ध को लेकर उदयन के हृदय में सन्देह का बीज बो देती है^२। जब उदयन उसके समक्ष गौतम के ऊँचे व्यक्तित्व की प्रशंसा करने लगते हैं, तब गौतम के प्रति उसका दबा आक्रोश मड़क उठता है -- 'आप पृथ्वीनाथ हैं। सब कुछ आपको सोहता है, किन्तु मैं तो अच्छी आँखों से इस गौतम को नहीं देखती। मगध के राजमन्दिर में ही मुड़ियों का स्वांग अच्छा है, कौशाम्बी इस पारण्ड से बची रहे तो बड़ा अच्छा हो^३।' मागन्धी के उक्त कथन में तथागत के प्रति उसकी घृणा तथा अपमानजन्य सिन्धिता, खीफ, और आक्रोश का भाव मूर्तमान हो उठा है। हल से वीणा में सर्प रखवाकर, सैनिक-और-आक्रोश-का-मन्त्र-मूर्तिमन्-हो-उठता-है-+ उसके माध्यम से पद्मा के प्रति उदयन की सन्देह-भावना को मड़काने के पीछे गौतम के प्रति उसकी प्रतिकार-भावना का ही हाथ है। वह पद्मा से इसलिए चिढ़ती है, क्योंकि वह गौतम को आदर-सम्मान देकर उसके प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने का अवसर देती है।

अपने आप से असन्तुष्ट व्यक्ति अव्यावहारिक हो जाता है, वह कभी किसी से सन्तुष्ट नहीं रह पाता। उसका ईर्ष्यालु स्वभाव बात-बात में अपने अपमान का अनुमान लगाकर जुाव्य रहा करता है। मागन्धी भी अपने जुाब्र अहं और आत्महीनता की भावना से पीड़ित होकर जीवन में असन्तुष्ट ही रह जाती है। राजरानी होने पर भी उसके ईर्ष्या - दग्ध हृदय की जलन जाती नहीं, उसे बार-बार दरिद्र कन्या होने की बात सटक्ती रहती है और हर अवसर पर वह इसी को अपने अपमान का आधार मान कर कुढ़ती रहती है। यदि राजा व्यस्त रहने के कारण अपने-अपमान-की-मन्त्र उसके मन्दिर में नहीं आ पाते तो, इसमें उसे दरिद्र-कन्या होने के कारण अपने अपमान की गन्ध आने लगती है। यदि दासियों से आज्ञा-पालन में थोड़ा विलम्ब हो जाता है तो, इसे वह अपने प्रति उनका उपेक्षा भाव समझने

१- अजातशत्रु, पृ० ४७

२- वही, पृ० ५१

३- वही, पृ० ५०

लगती है, और खींच कर उन पर बरस पड़ती है --^१ तुम्हें मो बुलाना होगा, क्यों ? महाराज नहीं आते हैं तो तुम सब महारानी हो गई हो न ?^२ मागन्धी की इस खींच के पीछे दो कारण हैं-- पहला कारण है गौतम के प्रति उसके अचेतन मन की घृणा, अवहेलना, तथा प्रतिशोध की भावना । दूसरा कारण है उदयनद्वारा अपने-आपको उपेक्षित समझ कर उसकी सिन्नता और आत्महीनता की भावना । इस प्रकार संयम और संतोष के अभाव में मागन्धी का जीवन प्यासा ही रह जाता है । उसकी अतृप्त वासना उसे बारकिलासिनी तक बना देती है--^३ मैं शैलेन्द्र से मिलने आयी हूँ । वह डाकू है तो क्या ? मेरी भी अतृप्त वासना है + + + + अब तो मैं श्यामा काशी की प्रसिद्ध^४ विलासिनी हूँ ।^५ अन्त में शैलेन्द्र के विश्वासघात पर उसके जीवन की दिशा बदल जाती है और वह मल्लिका के आश्रम में सात्त्विक जीवन बिताने का व्रत ले लेती है--^६ नहीं देवि ! अब मैं आपकी सेवा करूँगी, राज-सुख में बहुत भोग चुकी हूँ । अब मुझे राजकुमार विरुद्धक का सिंहसन सिंहासन में अभीष्ट नहीं है ।^७

मागन्धी के चारित्रिक विकास में तीन मोड़ आते हैं, -- पहला मोड़ उस समय आता है, जब उसका मोला शैशव संचित सपनों के साथ यौवन की सिन्न सीमा में प्रवेश करता है । यौवम सम्भूत सौन्दर्य और प्रेम की तोखों अतृप्ति उसे तथागत की ओर खींच ले जाती है । उसका भूखा 'अहं' महत्वाकांक्षा से अभिभूत हो गौतम को अपना कर आत्म-प्रतिष्ठा के लिए मचल उठता है । लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिलती, गौतम द्वारा विवाह-प्रस्ताव ठुकरा देने पर उसके मर्म को गहरी ठेस पहुँचती है । उसका 'अहं' आक्रोश और प्रतिशोध की भवन भावना से भर जाता है । यहीं से उसके जीवन में दूसरा मोड़ आता है । कुण्ठाजन्य क्रूर प्रतिहिंसा के तीव्र फंफावात में वह अपना गन्तव्य भूलकर पतन की पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है । उसे राजरानी से बारकिलासिनी बनना पड़ता है । अन्त में विरुद्धक द्वारा विश्वास किए जाने और वासना का उफान दब जाने पर उसके जीवन में तीसरा मोड़ आता है । जीवन के इस मोड़ पर आकर वह अपनी पिछली भूलों का प्रायश्चित्त कर लेती और विलासिता की पंक्तिता से ऊपर उठकर संयम और साधना का जीवन अपना लेती है ।

१- अज्ञातशत्रु पृ० ४८

२- वही : पृ० ८४

३- वही पृ० १७५

इस प्रकार मागन्धी के जीवन में आने वाले तीनों मोड़ और उनकी सहज सम्भाव्य प्रतिक्रियाओं के परिप्रेष्य में मागन्धी के चरित्र-विकास की रूपरेखा बड़े ^{मनो} वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत की गई है ।

‘अजातशत्रु’ के बाद की कृति कामना है । यह एक नाट्यरूपक है, जिसमें प्रतीकवादी परम्परा का निर्वाह करते हुए पात्रों का नामकरण वृत्तियों के नाम पर हुआ है -- अन्त में सूक्ष्म रूप से देखने पर कामना में कामायनी के आधार तत्त्व मिल जाते हैं, इस दृष्टि से भी उसका महत्त्व है । इसमें बदलता हुई परिस्थितियों और जीवनगत समस्याओं के सन्दर्भ में मानवीय अनुभूतियों और वृत्तियों के विकास की रूपरेखा स्पष्ट की गई है । ‘कामना’ सरल स्वभाव और सुकुमार कल्पनाओं वाली युवती -- मानव मन : लोक की रानी है जो विलास-भावना की प्रवचना में पड़कर विलासिता के कर्दम में फँस जाती है । वहाँ उसे मानसिक शान्ति नहीं मिलती, और उसका प्यासा हृदय सुख-शान्ति के लिए तरसता ही रह जाता है । कल-कदम से दूर ‘फूलों का द्वीप’ मौक्तिक विलासिता और राजनीति के विष-प्रभाव से प्रभावित होकर अशान्त हो जाता है । उसके सीधे-सादे लोग कुविचार, क्रूरता, प्रमाद अविश्वास आदि ~~इ~~ दुर्वृत्तियों के चंगुल में आ जाते हैं । अन्ततः विलास की विकृतियों से दुःख कामना द्वीप-वासियों सहित सन्तोष को अपना लेती है । विवेक, ज्ञान और सन्तोष के सहयोग से वह पुनः सुख-शान्ति की व्यवस्था करती है । इस नाट्यरूपक द्वारा लेखक ने इस तथ्य पर प्रकाश डालना चाहता है कि ज्यों-ज्यों जीवन की विषमताएं और हमारी आवश्यकताएं बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों हमारे जीवन में कृत्रिमता और जटिलता आती जाती है, जिसके फलस्वरूप जीवन को सहज शान्ति समाप्त हो जाती है । अन्त में जब मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटाकर सन्तोष को अपना लेता है, तभी उसे सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है विलास और लालसना के वशीभूत होकर मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है और इस प्रकार दुःख का आरम्भ होता है ^२ ।

‘कामना’ के बाद की रचना ‘जनमेजय का नागयज्ञ’ है । इसका कथानक महामारत काल से सम्बन्धित है । इसमें वाह्य संघर्षों के सन्दर्भ में मानसिक प्रतिक्रियाओं का सुन्दर निरूपण हुआ है । इस दृष्टि से तत्त्विक, माणविक, सरमा,

१- डा० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ८३

२- वही, पृ० ८३, ८४ ।

दामिनी आदि पात्रों का चरित्र विशेष उल्लेखनीय है ।

तदाक जातीय अपमान से 'जुव्य अहं' की^१ प्रतिहिंसात्मक प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है । वह अपने प्रतिशोध के लिए छल, कपट, क्रूरता, और अत्याचार आदि को अपनाने में हिचक नहीं करता । अपनी प्रतिकार-भावना से प्रेरित होकर वह क्रूरता और कठोरता की प्रतिमूर्ति बन जाता है -- प्रतिहिंसे । तू बलि चाहतो है ? तो ले ले मैं दूंगा । छल, प्रवचना, कपट, अत्याचार, सब तेरे सहायक होंगे । हाहाकार, क्रन्दन, और पीड़ा तेरी सहेलियां बनेंगी ।

माणवक का चरित्र एक उपेक्षिता नारी के आश्रय-हीन, पर स्वाभिमानी पुत्र के जीवन का प्रतिनिधित्व करता है । उसका बाल-हृदय मातृकुल द्वारा उपेक्षित और अपमानित किये जाने पर प्रतिकार को भावना से भर उठता है । उसका स्वाभिमान अपने अपमान का बदला लेने के लिए अघोर हो उठता है -- 'इतना अपमान, मां । यह अर्सेत्य है । + + + मां । मेरे हृदय में दारुण प्रतिहिंसा की ज्वाला घघक रही है । घमण्डियों के वे वक्रविलोचन बरखी की तरह लग रहे हैं । मां । मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो' ।

सरमा और दामिनी में स्त्री-सुलभ ईर्ष्या का प्राबल्य है । उनका अहं अपने प्रतिद्वन्दी को नीचा दिखाकर अपने आपको सन्तुष्ट करना चाहता है । सरमा नागों से वपुष्टमा की रक्षा कर उससे अपने अपमान का बदला चुकाना चाहती है -- 'आज तो सरमा जान पर खेलकर उस आर्य-वाला को मर्यादा की रक्षा करेगी । उस तिरस्कार का जो वपुष्टपा ने सिंहासन पर बैठ कर किया है, प्रतिफल देने का अच्छा अवसर मिला है ।' वपुष्टपा द्वारा क्षमा-याचना कर लेने पर सरमा के अहं का उफान दब जाता है । वह सारा विद्वेष भाव मूलकर नाग तथा आर्य जाति के बीच स्नेह-सम्बन्ध का मार्ग प्रशस्त करने में जुट जाती है ।

स्कन्दगुप्त

'द्वन्द्व' प्रसाद के नाटकों की एक प्रमुख विशेषता है । उनके प्रमुख नाटकों में यह द्वन्द्व -- बाह्य और आन्तरिक दोनों स्तरों पर अधिक उभर कर आया है ।

१-जनमेजय का नाग यज्ञ, पृष्ठ

२-वही, पृष्ठ ३०

३- वही, पृष्ठ ८१

४- वही, पृष्ठ ८६ ।

इस दृष्टि से स्कन्द गुप्त का विशेष स्थान है । इसके प्रमुख पात्रों में वाइय दन्तों के साथ-साथ अन्तर्दन्तों की एक गहरी धारा चलती रहती है । 'स्कन्दगुप्त' में संघर्ष को तीन स्तरों पर उठाया गया है । पहला है राजनीतिक, दूसरा है धार्मिक और तीसरा है मनोवैज्ञानिक ।

राजनीतिक संघर्ष के प्रमुख पात्र तीन हैं -- (१) स्कन्द, (२) भटार्क और (३) अनंतदेवी । और इसके प्रमुख केन्द्र दो हैं-- (१) पाटलि पुत्र तथा (२) मालवा । मन्तलि पाटलि पुत्र से अनंतदेवी अपनी योजनाओं का संचालन करती है और मालव को स्कन्द अपने राजनीतिक जीवन का केन्द्र बनाता है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्कन्द का चरित्र अपेक्षाकृत अधिक जटिल और उलझा हुआ है । वह दुहरे व्यक्तित्व की भांकी प्रस्तुत करता है । एक ओर उसका राजनीतिक जीवन है दूसरी ओर एक व्यक्तिगत । सामान्य दृष्टि से तो उसका चरित्र बड़ा सहज, सरल और शान्त प्रतीत होता है, लेकिन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसमें ऐसी अनेक ग्रन्थियां मिल जाती हैं, जिनमें दमित वासनाओं और कुंठाओं ने घर कर लिया है । उसका चिन्तन पक्ष उसकी दमित वासना का ही प्रतिफलन है ।

व्यक्ति का 'अहं' अधिकार का भूख होता है । उसकी यही अधिकार-लिप्सा विकास का अवसर पाकर जहां उसे एक ओर कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करने की प्रेरणा देती है, वहीं दूसरी ओर बाधित होकर उसमें अधिकारों के प्रति वितृष्णा पैदा कर देती है । वह सिन्न होकर अधिकार-सुख से विरक्त सा हो जाता है । 'स्कन्द' की विरक्ति इसी कौटि की है । वह संस्कार जन्य न होकर परिस्थितिजन्य है । प्रारम्भ में वह आन्तरिक प्रेरणा से प्रभावित होकर इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने तथा अधिकार-सुख पाने का उपक्रम करता है, किन्तु बाद में विलासी पिता की मौतेली मां अनंतदेवी के प्रति आसक्ति, और युवराज-पद की अव्यवस्था का प्रसंग उसके हृदय में एक आंधी उठा देते हैं । वह इस आंधी को दबाकर हृदय की महत्वाकांक्षा को डालना चाहता है, और इसीलिए अधिकार-सुख को 'मादक' व 'निस्सार' कह कर अपने मन को बहलाने का असफल प्रयास भी करता है । अधिकार

१- हमने अन्तर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए । --स्कन्द गुप्त, पृ० १५४ ।

२- अधिकार-सुख कितना मादक और सार-हीन है । अपने को नियामक और कर्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है । उत्सवों में परिवारिक और अस्त्रों के में ढाल से भी अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं?

-- स्कन्दगुप्त, पृ० ६

के प्रति उसकी इस उदासीनता में सहज वैराग्य को अपेक्षा निराशाजन्य खिन्नता का भाव प्रमुख है। वह हृदय की गूढ़ अभिलाषा को दबाने के लिए ही दार्शनिक चिन्तन का सहारा लेता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रायः निराश व्यक्ति जिस वस्तु से दूर हटना चाहता है, उसके विषय में वह छिद्रान्वेषण करने लगता है, उसकी कमियों को ढूँढ़ने लगता है और इस प्रकार अपने-आपको संतोष देकर उससे विमुख हो जाना चाहता है। कभी-कभी ऐसा भी पाया गया है कि काम-शक्ति (Libido) की धारा वाह्य विषयों की दिशा न लेकर अम्यान्तर की दिशा पकड़ती है। + + + इस श्रेणी के लोगों को अन्तर्मुखी कहते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी तो स्वभाव से ही अन्तर्मुखी रहते हैं और कभी परिस्थिति के कारण हो जाते हैं। उदाहरण के लिए निराश प्रेमी। वह अपनी काम-शक्ति को 'प्रिय' की ओर से समेट कर अपने में ही सीमित-संकेन्द्रित कर लेता है^१। उसको इस अरुचि और अपेक्षा के मूल में घृणा की मूल प्रवृत्ति काम करती रहती है, जिसमें आक्रोश अपेक्षा और मय का भाव सन्निहित रहता है^२।

स्कन्द का चेतन मन भी आक्रोश, आशंका और अपेक्षा की भावना से अभिभूत होकर अचेतन मन की अधिकार-लिप्सा पर उदासीनता का आवरण डालकर उसकी स्मृति को दबा देना चाहता है, लेकिन अचेतन मन को चिरपोषित लालसा समूल नष्ट नहीं होती, वह रह-रह कर ऊपर आ जाती है। जिसको लेकर स्कन्द के अन्तर में संघर्ष छिड़ जाता है। और अन्त में अचेतन मन की दबी हुई इच्छा उभर कर उसे अभिभूत कर लेती है। अन्ततः वह अधिकार-लिप्सा से प्रेरित होकर झुपचाप मालव का राजसिंहासन स्वीकार कर लेता है। यदि उसका विराग विवशताजन्य न होकर सहज सम्भूत होता और वह सच्चे हृदय से अधिकार-सुख को मादक तथा सारहोन समकता तो यह स्वभाविक था कि वह मालवा का राजसिंहासन स्वीकार न कर दृढ़तापूर्वक उसे ठुकरा देता, लेकिन उसका अधिकार-लिप्सा उन्हें ऐसा नहीं करता, वह

१-डा० पद्मा अग्रवाल: मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ, पृ० ५२

२- The impulse of this instinct (repulsion) is like that of fear, one of aversion, and these two instincts together account probably for all aversionsanger, fear, and disgust may be blended to form a tertiary compound, to which, if to any emotion the name 'Hate' can be most properly applied."

— W. Mc Dougall : Social Psychology (P.47, 117)

थोड़े औपचारिक शब्दों के साथ सिंहासन ग्रहण कर लेता है ।

मालव-केन्द्र से स्कन्द के जीवन में एक नया मोड़ आता है । यहीं से उसके द्वन्द्व के दो आधार हो जाते हैं -- एक अधिकार-सुख की लालसा और दूसरा प्रेम की लालसा । अधिकार-सुख की लालसा उसे राजसत्ता की ओर खींचती है और भावुक हृदय का आग्रह प्रेम-पथ की ओर । एक और राजकुल को मर्यादाओं का घेरा उसे बन्दी बना देता है, दूसरी ओर युवावस्था की प्रेम-भावना स्वच्छन्द हास-विलास के लिए अधीर हो उठती है । संयम और स्वच्छन्दता के बीच इस संघर्ष में स्कन्द का व्यक्तित्व अपेक्षाकृत अधिक बोझिल हो उठता है, और यहीं से उसमें अन्तर्द्वन्द्वों का तीव्र दर्शन प्रारम्भ हो जाता है । उसका सैनिक जीवन प्रेम के रंग में घुल-मिल कर विजया की ओर मुक्त जाता है । लेकिन उसका हृदय कुल-मर्यादा के धरे से बाहर नहीं आ पाता और वह विजया पर आसक्त होकर केवल इतना ही पूछ पाता है -- 'यह यह कौन है ?' इसके बाद वह सैनिक जीवन की कठोरता में प्रेम की स्निग्धता को मुला देना चाहता है । लेकिन इसमें उसे गफलता नहीं मिलती और वह विजया को मुला नहीं पाता । उसके अन्तर्मन में दबी हुई प्रेम-भावना उस समय उभर कर ऊपर आ जाती है, जब उसे मालूम होता है कि विजया ने मटार्क का वरण कर लिया है^१ । उसका आहत हृदय प्रश्न कर बैठता है -- 'परन्तु विजया ! तुमने यह क्या किया ?' विजया का अभाव उसकी चेतना को फक्कड़ देता है । जीवन के स्कान्त क्षणों में उसकी याद रह-रह कर कसक उठती है -- 'कोई भी मेरे अन्तःकरण का आलिंगन करके न तो रो सकता है और न तो हंस सकता है ! तब भी विजया ! ? ओह ! उसे स्मरण करके क्या होगा ? जिसे हमने सुख-शर्वरी की सन्ध्या-तारा के समान पहले देखा वही उत्का-पिण्ड होकर दिग्दाह करना चाहती है । विजया ! तूने क्या किया^२ ?'

जब व्यक्ति को इच्छित वस्तु नहीं मिलती, तब उसका हृदय अवसाद के बोझ से दब जाता है । वह कुंठित और जीवन के प्रति उदासीन होकर भग्नाशा

१- स्कन्दगुप्त, पृ० ४६

२- वही, पृ० ८३

३- वही, पृ० ८६

(Frustration) का शिकार हो जाता है । 'स्कन्द' की मानसिक स्थिति भी कुछ इसी प्रकार की हो जाती है । साम्राज्य उसके लिए एक बोझ बन जाता है और चारों ओर उसे अशान्ति ही अशान्ति दिखलाई पड़ने लगती है । विजया की ओर से निराश होने पर वह देवसेना की ओर उन्मुख होता है, लेकिन परिस्थितियाँ यहां भी साथ नहीं देती और उसका 'अहं' वहां भी पराजित हो जाता है । उसके हृदय को सबसे गहरी ठेस उस समय लगती है, जब उसकी साम्राज्य लिप्सा का स्वप्न बुर-बुर होकर बिखर जाता है, और देवसेना भी उसके जीवन से दूर चली जाती है । इस घटना से उसका अन्तर इतना आकुल हो उठता है कि वह बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सी सम्पूर्ण विस्मृति एक साथ ही चाहने लगता है^१ । उसकी चेतना चीत्कार कर उठती है, -- 'आह ! जाने दो, सब कुछ गया । मन बहलाने को कोई वस्तु न रही । कर्तव्य विस्मृत, मविष्य अंधकार पूर्ण लक्ष्यहीन दौड़, और अनन्त सागर का संतरण है^२ ।'

व्यक्ति का विचार कभी मरता नहीं । एक बार जो विचार जन्म ले लेता है वह परिस्थितियों के दबाव से थोड़े समय के लिए मले ही दब जाय, लेकिन नष्ट नहीं होता^३ । समय पाने पर वह उसी प्रकार उभर कर ऊपर आ जाता है, जिस प्रकार मंफावात के थपेड़े से झुक जाने वाला पौदा हवा का झोंका निकल जाने पर पुनः पूर्व स्थिति में आ जाता है । यही कारण है कि स्कन्द के हृदय से फूट पड़ने वाली प्रेम की धारा अक्षुण्ण बनी रहती है । परिस्थितियों के प्रभाव से उस पर विराग का झुहासा अवश्य आ जाता है, लेकिन वह अधिक समय तक स्थिर नहीं रह पाता । उसके हटते ही रागात्मक भाव-बोध की तीव्रता उसे अधीर बना देती है । देवसेना के अभाव में योगियों की समाधि चाहने वाला स्कन्द उसके पुनर्मिलन पर उससे प्रणय की भीख मांगने लगता है -- 'देवसेना ! बड़ी-बड़ी कामनायें थीं... कभी हमने भी तुम्हें अपने काम का बताया था । + + + चलो महादेवी की समाधि के

१- बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि, और पागलों की सी सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिए । -- स्कन्दगुप्त, पृ० १२८ ।

२- वही, पृ० १२८

३- किसी भी इच्छा को दबाने के लिए उसका दमन यथेष्ट नहीं होता । दमन से वे इच्छायें नष्ट नहीं होती, उल्टे अभिव्यक्ति के लिए और भी उत्सुक और सबल हो जाती हैं । -- डा० पद्मा अग्रवाल मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें, पृ० ५८

सामने प्रतिष्ठित हो, हम-तुम अब अलग न होंगे । साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ । वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उन्नत होऊंगा और स्कान्त बास करेगा^१ । स्कन्द का यह मानसिक द्वन्द्व उम्र समय और घनोभूत हो जाता है, जिस समय देवसेना उससे विदा लेती है और इस घटना के बाद ही विजया विलासिता के सभी उपकरणों के साथ अपना मरी यौवन उसके चरणों में सौंप देती है । एक ओर स्कन्द का अतृप्त और प्यासा जीवन तथा धन-सुख की कन्या विजया का नांसल सौन्दर्य, दूसरी ओर देवसेना के आदर्श प्रेम की मधुर स्मृति और आजीवन कोमार-व्रत की प्रतिज्ञा । दोनों के बीच स्कन्द का मानसिक तनाव बहुत गहरा हो जाता है और वह इन्द्रजाल सी हृदय को उलझा लेने वाली विजया को देखकर बिल्कुल अव्यवस्थित हो जाता है, उसके मुँह से सहसा निकल पड़ता है -- ' और कौन ? इन्द्रजाल मंत्र ? ओ विजया ? * + तुम कैसे ? ' पुनः विजया द्वारा प्रणय-निवेदन करने पर उसके भावों का उफान दब जाता है और वह शान्त भाव से कहता है -- ' नहीं विजया ! उस खेल को खेलने की इच्छा नहीं, यदि दूसरी बात हो तो कहो । उन बातों को रहने दो^३ । ' यहाँ विजया के सहसा आगमन पर स्कन्द का भावावेश में आ जाना और पुनः उसकी प्रणय-चर्चा पर शान्त होकर उसके प्रति कोमल हो जाना, उसके अन्तर्भन में चलने वाले पूर्व प्रेम के प्रभाव का परिचायक है । प्रायः ऐसा होता है कि प्रेमी हृदय प्रिय के विश्वासघात पर भी सहसा उसके प्रति कठोर नहीं हो जाता, उसके प्रति अपना रागात्मक सम्बन्ध बनाये रखता है । यही सम्बन्ध उसे प्रिय के प्रति कठोर होने से बचा लेता है । लेकिन यह स्थिति उस समय बदल जाती है, जब प्रेमी प्रिय के विश्वासघात की अपनी दुर्दशा का कारण मान कर अन्दर ही अन्दर घुटने लगता है । ज्यों-ज्यों उसे अपने अतीत के दुःखद प्रसंग याद आते जाते हैं, त्यों-त्यों प्रिय के प्रति उसका आक्रोश बढ़ता जाता है । इस स्तर पर आकर भावुक व्यक्ति की क्रिया जितनी तीव्र होती है, उतनी ही तीव्र उसकी प्रतिक्रिया भी होती है । वह आसक्त होकर

१- स्कन्द गुप्त, पृ० १३६, ३६ ।

२- वही, पृ० १४१ ।

३- वही, पृ० १४१ ।

जिस आवेश के साथ प्रिय को अपनाता है, विरक्त होने पर उसी आवेश के साथ उसे ठुकरा भी देता है । स्कन्द की प्रतिक्रिया भी इसी कोटि की है । पहले तो वह विजया के प्रति बहुत नम्र हो जाता है और उसका पूर्व प्रेम उसकी उग्रता पर अंकुश भी लगा देता है, लेकिन ज्यों-ज्यों अतीत के चित्र उसके मस्तिष्क में उभरते जाते हैं, ज्यों-त्यों विजया के प्रति उसकी अरुचि बढ़ती जाती है और अन्त में उसका आक्रोश इन शब्दों में फूट पड़ता है --^१ चुप रहो विजया ! यह मेरी आराधना को, तपस्या की भूमि है । इसे प्रवचना से कलुषित मत करो । तुमसे यदि स्वर्ग भी छि मिले तो मैं उससे दूर ही रहना चाहता हूं + + + चली जाओ इस निर्लज्ज प्रलोभन की आवश्यकता नहीं ।^२ अन्त में देवसेना के आदर्श प्रेम की तुलना में विजया का घृणित प्रेम-प्रस्ताव स्कन्द^३ आक्रोश को और मड़का देता है और वह मुंगफला कर कहता है --^४ विजया ! पिशाची ! हट जा ! नहीं जानती, मैंने आजीवन कौमार व्रत की प्रतिज्ञा की है ?^५ उसका यह अन्तर्द्वेष उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है, जब देवसेना सदा के लिए उसके जीवन से दूर जाने का संकल्प ले लेती है । उसकी चेतना का तार-तार फनफना उठता है । देवसेना को लेकर उसकी स्थिति उस व्यक्ति जैसी हो जाती है जो रोना चाहकर भी रो नहीं पाता, उसकी आंसू भी आंखों वरसना चाहती हैं, लेकिन बरस नहीं पातीं -- उसकी चीत्कार कण्ठ तक आ कर रुक जाती है, आंसू आंखों में थम जाते हैं । स्कन्द का आकुल हृदय एक गहरी आह ! के साथ कराह उठता है --^६ इस नंदन की वसन्तश्री, इस अमरावती की शवी, इस स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ -- सदा मैं किस मुंह से कहूं ? (कुछ सोचते हुए) और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोक्कूं ? देवसेना ! देवसेना ! तुम जाओ । हतभाग्य स्कन्दगुप्त ओह !^७

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन करने पर स्कन्द के चरित्र में हमें दो प्रमुख तत्त्व मिलते हैं-- अधिकार-लिप्सा और काम-भावना । इन्हीं दोनों तत्त्वों का सम्मिलित प्रभाव उसके समूचे जीवन का संचालन करता है । इसका आशय

१- स्कन्दपुराण ४० १७१

२- वही : ४० १७३

३- वही . ४० १२४

यह नहीं कि इससे स्कन्द का चरित्र बिल्कुल हेय और निम्न कोटि का हो गया है या कि वह पाखण्डी और घूर्त है । वस्तुतः मनोवैज्ञानिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में उसका चरित्र और सबल तथा सशक्त होकर निखर उठा है । उसमें कोरा आदर्श न होकर यथार्थ का गहरा पुट भी हाँ गया है । वही व्यक्ति हमारे जीवन के अधिक निकट होता है, जो उदात्त भावनाओं के साथ-साथ हमारी दुर्बलताओं का भी प्रतिनिधित्व करता हो । यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसका चरित्र आकाश-चन्द्रिका बनकर हमारी आँखों में झुल्लु मले हो पैदा कर दे, हमारे जीवन को छूने वाला मानस हो कर हमारी प्यास नहीं बुझा सकता । सम्भवतः इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर प्रसाद ने अपने प्रमुख पात्रों में उच्चादर्शों के साथ-साथ मानवीय दुर्बलताओं को भी मरबूर दिखलाया है । वे सीधे देवता बनकर नहीं बल्कि एक सामान्य व्यक्ति के रूप में हमारे सामने आते हैं, जो अपनी दुर्बलताओं को संवार-मुधार कर विकसित होते हैं । इस दृष्टि से कामायनी के मनु के चरित्र का विकास बड़ा ही सहज और स्वाभाविक हुआ है । उसमें ऐसा कुछ नहीं है जो हममें आपमें न हो । स्कन्द का चरित्र भी मानवीय दुर्बलताओं और सबलताओं का लेखा-जोखा है । उसके जीवन का प्रारम्भ अधिकार-लिप्सा और काम-बुभुक्षा की सहज वृत्तियों से होता है । लेकिन बाद में वह देश-प्रेम द्वारा उसका उदात्तीकरण (एक्लीमेशन) कर अपने आप को निःस्वार्थ देश सेवा और निस्पृह त्याग-भावना की उदात्त भाव-भूमि पर लाकर खड़ा कर देता है ।
 उसके जीवन की
 यही सबसे बड़ी उपलब्धि है, और यही पर वह हमारी दृष्टि में बहुत ऊँचा उठ जाता है ।

मटार्क

मटार्क एक ऐसा पात्र है, जो अपने पतन में भी पाठक की सहानुभूति नहीं खोता । उसका पतन स्वाभाविक है और उत्थान भी । व्यक्ति स्वभाव से ही सम्मान का भूखा और महत्वाकांक्षा का प्यासा होता है । जब उसको सामाजिक सम्मान नहीं मिलता और उसकी महत्वाकांक्षा अधूरी रह जाती है तब उसका अहं अपराधी हो जाता है । मटार्क के अपराधी जीवन का प्रारम्भ भी उस विन्दु से होता है जहाँ उसमें अपमान का विष धोल कर उसकी महत्वाकांक्षा की हत्या कर दी जाती है । वह अनंत देवी से कहता है-- 'महादेवी ! कल सम्राट के सम्मान जो विदूष और व्यंग्य बाण मुझ पर बरसाये गये हैं, वे अन्तःस्तल में गड़े हुए हैं । उनके निकालने का

प्रयत्न नहीं करेगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे । झुम झुम कर वे मुझे सचेत करेंगे । + + + मेरा हृदय शूलों के लौह फलक सहने के लिए है, दुर्घ्न विष-वाक्य वाण के लिखे नहीं ।^१ इसी प्रतिशोध और महत्त्वकांक्षा में प्रेरित होकर वह उस पथ पर चल पड़ता है, जहां उसे जीवन के नैतिक पदा से बार-बार लड़ना पड़ता है । जिस समय व्यक्ति को अहं को ठेग पहुंचती है, उस समय उसकी प्रतिक्रिया दो प्रकार की होती है । एक ओर जहां उसके हृदय में अपकार करने तथा ठेस पहुंचाने वाले तत्वों के प्रति आक्रोश व प्रतिशोध के भाव जागरित होते हैं वहीं दूसरी ओर अपने शुभेच्छु और सहायक के प्रति कृतज्ञता का भाव और भी उद्वृद्ध हो जाता है । मटार्क की प्रतिक्रिया इसी तरह की है । वह अनंत देवी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहता है --^२ मैं सब समझ रहा हूँ । पुण्यमित्रों के युद्ध में मुझे सेनापति की पदवी नहीं मिली, इतना कारण भी मैं जानता हूँ । मैं दूध पीने वाला शिशु नहीं हूँ और यह मुझे स्मरण है कि पृथ्वीसेन के विरोध करने पर भी आप की कृपा से मुझे महाबलाधिकृत का पद मिला है । मैं कृतघ्न हूँ नहीं हूँ, महादेवी । आप निश्चिन्त रहें ।^३

प्रायः जो व्यक्ति स्वभाव से जितना ही सरल और धर्मवीर होता है उसमें कृतज्ञता की भावना उतनी ही अधिक पाई जाती है । कृतज्ञता मात्सिक हृदय की सहज अभिव्यक्ति है । इसके प्रभाव से व्यक्ति अनेक अनैतिक काम करने से विरत हो जाता है । ऐसे व्यक्ति जिस सहजता के साथ अपनी कृतज्ञता का पालन करते हैं, उतनी ही सरलता से अन्धविश्वास के धेर में भी आ जाते हैं । उनका यह अंधविश्वास अपने-आप में इतना बृद्ध हो जाता है कि उसका निराकरण सहज सम्भव नहीं होता । वे जिस बात को पकड़ लेते हैं उसे सरलतापूर्वक नहीं छोड़ते । मटार्क का जीवन भी इसी कोटि का है उसमें सैनिक सुलभ स्वामिमान के साथ-साथ सहज सरलता भी है । लेकिन विवेक के अभाव में उसकी सरलता संकुचित स्वार्थ के विषय - प्रभाव से अन्ध होकर अन्धविश्वास पर टिक जाती है । जब शर्वनाग प्रपंचबुद्धि के प्रति शंका लु होकर उसकी आज्ञा की अवज्ञा करने लगता है तब मटार्क उसे समझता है--^४ शंका न करो, श्रद्धा करो, श्रद्धा का फल मिलेगा । शर्व । अब भी तुम विश्वास नहीं करते ?^५ उसके इसी

१- स्कन्दपुराण, पृ० २७, २८ ।

२- वही, पृ० २८

३- वही, पृ० ६०

अंधविश्वास का लाभ उठाकर प्रपंचबुद्धि और अनंतदेवी उसे अपनी ओर मोड़ ब लेंती हैं, और उसका सरल जीवन लाभ के लोभ में महत्वाकांक्षा के वशीभूत होकर अनैतिकता के धेर में घिर जाता है ।

भौतिक सुखों का आकर्षण बड़ा तीव्र होता है, इसकी तीव्र लालसा व्यक्ति का विषेक लीन लेती है । भावी सुखों की लालसा से प्रेरित होकर ही मटार्क षड्यन्त्र-रचना में अपने पुरुषार्थ का अपव्यय कर देश-द्रोही बन जाता है । उसकी आकांक्षा उसे इस स्तर तक गिरा देती है कि वह हत्याजैसे अवन्य कार्यों को करने में भी संकोच नहीं करता । मगध सम्राट कुमारगुप्त की हत्या में वह सक्रिय भाग लेता है और महादेवी को हत्या के षड्यन्त्र का सारा संवाजन भी वही करता है ।

यह जीवन का एक अनुभूत सत्य है कि जब व्यक्ति कोई अनैतिक कार्य करने की दिशा में कदम बढ़ाता है तो उस समय उसका नैतिक मन उसे रोकता -ठोंकता, और उसमें द्विधा का व्यवधान डालता है । मटार्क का आन्तरिक अन्तःस्वयं इस मनोवैज्ञानिक सत्य का साक्षी हैं । यद्यपि नकीर्ण स्वार्थ के फलकावात में उसकी नैतिक राह छूट जाती है और वह अपने कर्तव्य-मार्ग से बहुत दूर चला जाता है, फिर भी उसका नैतिक मन बराबर जागरूक रहता है, जिसका सजग स्वर समय-समय पर मुखर होकर उसको सचेत करता चलता है । यही कारण है कि जब-जब मटार्क दुष्कर्म में प्रवृत्त होता है, तब-तब उसका अन्तःकरण कराह उठता है । जिस समय महादेवी की हत्या का प्रसंग आता है, उस समय उसके अन्तर् का देवता पुछ बैठता है--^१ परन्तु महाप्रतिहार । क्या इसको अत्यन्त आवश्यकता है ? लेकिन भावी सुख-स्वप्नों की लालसा उसके इस स्वर को दबा देती है, और उसका अहं हुंकार कर उठता है--^२ मुझ कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा लूंगा । पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार और दण्डनायक की मृत्यु पर जहां उसकी सबुद्धि पश्चाताप करती है, वहीं उसकी स्वार्थ-बुद्धि उसे संतोष भी देती है । मटार्क का नैतिक मन बारबार अनैतिक पक्ष पर विजय पाना चाहता है, लेकिन अपनी दुर्बलताओं के सामने वह घुटने टेक देता है । बहुत चाह कर भी वह अनैतिकता के धेर से बाहर नहीं आ पाता । उसकी आकांक्षा और अंधविश्वास का

१- स्कन्दगुप्त, पृ० ५८

२- वही, पृ० ५८

व्यामोह उसे अनैतिक कामों की ओर खींच लेता जाता है । देवसेना की हत्या में सम्मिलित होते समय उसकी आत्मा कांप उठती है और उसका नैतिक मन इस अनैतिकता के प्रति विद्रोह कर देता है, लेकिन उसकी अन्धमक्ति पाखण्डी प्रपंचबुद्धि के आदेश की शिरोधार्य कर लेती है । उस समय उसका गहना स्वाभिमान अपनी विवशता पर कराह उठता है-- 'परन्तु मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊंगा, और स्कन्दगुप्त से मैं किस मुंह से... नहीं, नहीं... ओह ! पाप-पंक में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं । कुर्म उसे जकड़ कर अपने नाग-पाश में बांध लेता है । दुर्भाग्य !' १

यहां पर मटार्क का अन्तर्द्वन्द्व बहुत गहरा हो जाता है -- एक ओर स्वाभिमान का तोखा -वर दूसरी ओर क्लेश समर्पण, एक ओर अनंतदेवी और उरगुप्त के प्रति प्रतिष्ठित होने का वायित्व और दूसरी ओर स्कन्द के प्रति कृतज्ञता को पुकार, इन सब के बीच उसके द्वाव्य जीवन की क्रांति विवशता ।

व्यक्ति का अन्तःकरण स्वभाव से शान्त और प्रवित्र होता है । इसमें विकृति उस समय आती है, जब व्यक्ति का अहं अपनी आवश्यकता बढ़ाकर उस पर अधिकार-लिप्सा का गहरा आवरण डाल देता है । जब यही अहं चुर चुर होकर फिहर जाता है, तब व्यक्ति की वहिर्मुखी वृत्तियां अन्तर्मुखी होकर उसे उसका लेखा-जोखा समझाने लगती हैं और उन्हीं के परिप्रेक्ष्य में वह अपने अतीत का मूल्यांकन कर उसी के अनुरूप भावी जीवन की रूप-रेखा बनाने लगता है । मटार्क का अहं जब खण्ड-खण्ड होकर फिहर जाता है तब वह उसके अवशेषों को माता कमला की चरण-धूलि और स्कन्द की शरण में सोजने के लिए अधीर हो उठता है । देवकी की मृत्यु और माता की मर्त्सना का दर्शन उसे व्याकुल बना देता है । यहीं पर उसे अपने किए पर गहरा पश्चाताप होता है । पश्चाताप आन्तरिक अनुताप का ही एक रूप है । यह आत्म-परिष्कार का सर्वसुलभ साधन है । इसके द्वारा व्यक्ति का मानसिक तनाव दूर हो जाता है । उसके हृदय की गांठें खुल जाती हैं और हृदय के दबे हुए भाव सहज हो ऊपर आ जाते हैं जिससे हृदय का भार हल्का हो जाता है । इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को दृष्टि में रख कर भारतीय चिन्तन में प्रायश्चित्त का भी विधान किया गया है । मटार्क भी पश्चाताप द्वारा अपने कुर्मों का प्रायश्चित्त करता है २ इस प्रकार

१- स्कन्दगुप्त, पृ० ८८

२- अपने कुर्मों का फल खाने में कड़वा परन्तु परिणाम में मधुर होता है। ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्मत् सम्राट । परन्तु गया-- मेरी ही भूल से सब गया । +.+ + मेरी उच्च आकांक्षा, वीरता का दम्भ, पाखण्ड को सीमा तक पहुंच गया । अनंतदेवी-- एक दुष्टनारी उसके कुर्म में आशा के प्रलोभन में मैंने सब बिगाड़ दिया । --स्कन्दगुप्त, पृ० १३४, १३५ ।

मटार्क आत्ममर्त्सना द्वारा आत्म परिष्कार कर पुनः राष्ट्र-सेवा के माध्यम से अपने जीवन के सारे क्लृप्ष धो कर एक आदर्श व्यक्ति के रूप में हमारो सहानुभूति प्राप्त कर ब लेता है ।

मटार्क से ही मिलता-जुलता एक दूसरा पात्र है शर्वनाग जो स्वयं एक सरल स्वभाव का सैनिक है, और उसकी सरलता सम्मान के साथ-साथ सुख-लालसा को भूखी है । सम्मान-सुख की लालसा समाज-सापेक्ष हुआ करती है । जो व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों से जितना ही घिरा होता है, उसमें सम्मान-सुख की लालसा उतनी ही तीव्र होती है, और ज्यों-ज्यों उसके सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी सम्मान-लालसा का व्यास भी बढ़ता जाता है । इसके विपरीत जो व्यक्ति समाज से जितना ही दूर होता है, उसमें अपेक्षाकृत सामाजिक-प्रतिष्ठा की भूख उतनी ही कम होती है । समाज में रहने वाला व्यक्ति, सामाजिक प्रतिष्ठा के लोभ का संवरण नहीं कर पाता । यही कारण है कि सामान्य कोटि का व्यक्ति भी सामाजिक प्रतिष्ठा का उतना ही भूखा होता है जितना उच्चकोटि का । वह समाज में ही जीता और सामाजिकता के सन्दर्भ में ही अपने जीवन की रूप-रेखा बनाता है । शर्वनाग एक सामान्य कोटि का व्यक्ति है । अतः उसमें सामाजिक प्रतिष्ठा की भूख का होना स्वाभाविक है । व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा को सबसे गहरी ठेस उस समय लगती है, जब वह दूसरों की तुलना में अपने आपको असमर्थ और हीन पाता है । अर्थाभाव में उसकी आवश्यकतायें अधूरी रह जाती है, और यही अधूरी आशाएँ उसके लिए अभिशाप बन जाती है । उसके जीवन का सहज स्रोत अवरुद्ध हो जाता है, और उसकी आन्तरिक शान्ति भंग हो जाती है । वह अपने अभावों में अधीर हो उठता है । उसकी यह अधीरता उस समय और बढ़ जाती है, जब उसके सगे-संबंधी भी अर्थ को ही माप-दण्ड मान कर उसकी ज़ामताओं का आकलन और उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने लगते हैं । उस समय उसमें सम्पत्ति की प्यास बढ़ जाती है, और वह अर्थ - लोलुप हो जाता है । यही लोलुपता उसके स्वसन का कारण भी बन जाती है । शर्वनाग का पतन इसी अर्थ-लोलुपता के कारण होता है । अर्थ-लिप्सा के पूर्व उसका सरल जीवन अपने-आप में सन्तुष्ट रहता है । लेकिन पत्नी की मर्त्सना और उसके अभावों के अदाय मण्डार से उसमें आत्महीनता की ग्रन्थि बन जाती है, उसका अन्तर्भन

अर्थ के प्रति आसक्त हो जाता है और अभावों के दर्शन से उसका जीवन प्रभावित होने लगता है^१। यद्यपि शर्वनाग के अचेतन मन में अर्थ की भूख बनी हुई है लेकिन उसके चेतन मन का सात्त्विक संस्कार उसे अवैध ढंग से अर्थोपार्जन की अनुमति नहीं देता। यही कारण है कि वह 'अर्थ' के लिए कोई अनैतिक काम नहीं करता। जिस समय महादेवी देवकी की हत्या का भार उसे सौंपा जाता है, उस समय उसका चेतन मन चीख उठता है-- 'मुझे ? मैं कदापि नहीं..... नाप-तौल में नहीं जानता, मुझे शत्रु दिखा दो, मैं भूखे भेड़िये की भांति उसका रक्त-पान कर लूंगा, चाहे मैं ही क्यों न मारा जाऊँ। परन्तु निरीह हत्या यह मुझसे नहीं^२।' भटार्क द्वारा लाम का लोभ दिखाने पर वह कहता है -- 'नहीं भटार्क ! लाम ही के लिए मनुष्य सब काम करता है तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था। मुझसे यह नहीं होने का^३।' लेकिन उसकी यह दृढ़ता अन्त तक स्थिर नहीं रह पाती। अन्त में अचेतन मन की दबी हुई लालसा विजयी हो जाती है और वह मदिरा द्वारा चेतन मन के स्वर को दबा कर 'सोने के संसार' को पाने के लिए व्यग्र हो जाता है -- 'कादम्ब, कामिनी, कंचन, वर्णमाला के पहले अक्षर, करना होगा, इन्हीं के लिए कर्म करना होगा। मनुष्य को यदि 'क' वर्णों की चाट नहीं तो कर्म क्यों करे ? + + + लाल मदिरा, लाल नेत्रों से, लाल लाल रक्त देखना चाहती है। किसका ? एक प्राणी का -- जिसके कौमल मांस में रक्त मिला हो। ओरे, नहीं दुर्बल नारी। ऊँह, यह तेरो दुर्बलता है। चल, अपना काम देख, देख-- सामने सोने का संसार खड़ा है।^४

व्यक्ति का अचेतन मन स्वप्न और प्रलाप के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति किया करता है। उसमें जो कुछ दबा रहता है, वह इनके माध्यम से ऊपर आ जाता है। मदिराभक्त शर्वनाग का प्रलाप भी उसके अचेतन मन की दबी हुई बातों को बाहर ला देता है। अपनी पत्नी रामा को देखकर वह कहता है -- 'तुमको रानी बनाऊंगा। + + + तुम्हें सोने से लाद दूंगा। तुम नित्य कहती आती हो कि तुम निकम्मे हो, कुछ नहीं हो, तो मैं कुछ कर दिखाना चाहता हूँ।' रामा के प्रतिरोध पर

१- मैं नहीं जानता कि और भी कुछ सुन्दर है। वह मेरी स्त्री-- जिसके अभावों का कोष कभी खाली नहीं, जिसकी मत्सर्नाओं का भण्डार अक्षय है उससे मेरी अन्तरात्मा कांप उठती है। आज मेरा पहरा है। घर से जान हटो।

--- स्कन्दगुप्त, पृ० ३२।

२-स्कन्दगुप्त, पृ० ५८

३- वही, पृ० ५६

४- वही, पृ० ६२

५- वही, पृ० ६३

वह फाल्ला उठता है --^१ अच्छा, तू इसमें विघ्न डालेगी ? तू तो क्या विघ्नों का पहाड़ भी होगा तो ठोकरों से हटा दिया जायगा । मुझे सोना और सम्मान मिलने में कौन बाधा देगा ? अन्त में मटार्क द्वारा पद-वृद्धि और पुरस्कार का प्रमाणपत्र दिसलाने पर उसकी अर्थ-पिपासा और प्रदीप्त हो उठती है और वह हत्या जैसे जघन्य कृत्य को करने के लिए तैयार हो जाता है^२ । यद्यपि शर्व का सात्त्विक जीवन कुचक्रियों के फेर में पड़ कर अर्थहीनता और कुसंग के प्रभाव से क्लृप्त हो गया है, फिर भी उसके अन्तःकरण की सात्त्विकता बनी हुई है । बाद में उसे अपने किये पर गहरी आत्म-ग्लानि होती है । ग्लानि की इस अनुभूति से उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । और सार्वजनिक रूप से वह अपना अपराध स्वीकार कर अपने अन्तर्द्वन्द्वों का शमन कर लेता है^३ । उसका जीवन विशेष घटना-प्रधान न होने पर भी अपने सीमित सन्दर्भ में विशेष महत्वपूर्ण है, और उसके चढ़ाव-उतार की प्रक्रिया बड़ी ही स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक है । मटार्क और शर्वनाग के अपराधों जीवन का मुख्य कारण उनका अभावमूलक होना है । अर्थ और अधिकार के अभाव में वे कुंठित होकर अपने अहं की सन्तुष्टि के लिए अनुचित साधनों का आश्रय ले लेते हैं ।

देवसेना

देवसेना वह नीरमरी बदली है, जो प्रिय के चरणों में बूंद-बूंद बरस कर अपना अस्तित्व मिटा देती है । उसका समूचा जीवन असफल प्रेम की अतृप्ति जन्य कसक की एक करुण कहानी है । यौवन की देहली पर पैर रखते ही वह रंगीन सपनों का थाल सजाकर प्रेम-मन्दिर में प्रवेश करती है । लेकिन प्रिय-अर्चना के पूर्व ही प्रिय को अपने प्रति उदासीन पा कर उसके हाथों से पूजा की थाली छूट जाती है^४ । उसके संचित सपने प्रिय के चरणों में बिखर जाते हैं, उसका आहत हृदय एक गहरो सांस खींच कर चुप हो जाता है और अन्त तक चुप रहता है^५ । यहीं से उसके प्रेम का उफान दब कर उसके जीवन में आत्महीनता की घुटन पैदा कर देता है और उसके जीवन

१- स्कन्दगुप्त, पृ० ६४

२- वही, पृ० ६५

३- वही, पृ० ८२

४- देवसेना-- आह ! जिसकी मुझे आशंका थी, वही है विजया ! आज तू हार कर भी जीत गई । -- स्कन्दगुप्त, पृ० ८३ ।

५- नहीं प्यारी सखी ! आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोल कर रोती हूँ, बस फिर नहीं । यह एक दाण का रुदन अनन्त स्वर्ग का सृजन करेगा । स्कन्दगुप्त, पृ० ८७ ।

का सारा कलरव उदा के लिए सो जाता है । देवसेना का यही 'मौन' मानिनी का 'मान' और स्वामिमानी का स्वामिमान बन कर उसके प्रणय-निवेदन पर अंकुश लगा देता है । वह कभी प्रिय से प्रेम-चर्चा नहीं करती --^१ मैंने कभी उनसे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है । बीरव जीवन और स्कान्त व्याकुलता कचोटने का सुख मिलता है । जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है तब संगीत की वीणा मिला लेतो हूँ । उसी में सब कुछ छिप जाता है ।^२ उसका अहं दीन भिक्षारी की भांति गिड़गिड़ा कर प्रेम की भिक्षा नहीं चाहता, बल्कि एक स्वामिमानी पुजारी की तरह अपने प्रिय को उपासना करना चाहता है^३ ।

देवसेना की स्कान्त-प्रियता और उदासीनता के पीछे उसकी दमित भावनाओं का बहुत बड़ा हाथ है । जीवन की अपूर्ण इच्छायें व्यक्ति को उदास और स्कान्तप्रिय बना देती हैं । जीवन के प्रति उसकी गहरी अनास्था हो जाती है । स्त्रियों का भावुक हृदय इस प्रसंग से विशेष प्रभावित होता है ।^४ स्त्रियां विशेषकर स्वभावतः अन्तर्मुखी होती हैं । यही कारण है कि वे अपनी 'काम-शक्ति' को अपने में ही कैन्धित रखती हैं, और पेंसिवे भी रहती हैं । यह बात अधिकांश स्त्रियों में स्त्रियों के साथ लागू होती है^५ । देवसेना का उपेक्षित प्रेम भी अन्तर्मुखी होकर गहरी टीस में बदल जाता है, उसके जीवन में एक कसक पैदा हो जाती है । यही कसक उसे कोलाहल से दूर सींचकर जीवन के प्रति बिल्कुल उदासीन बना देती है, उसकी यह उदासीनता इतनी घनीभूत हो उठती है कि उसे ईश्वर के प्रति भी कोई आकर्षण नहीं रह जाता --^६ परन्तु मुझे सिद्ध से क्या प्रयोजन ? जब मेरी कामनाएं विस्मृति के नीचे दबा दी गईं, तब वह चाहे स्वयं ईश्वर ही हो तो क्या ?^७ उसकी चेतना उपेक्षित प्रेम की कसक को भूल जाना चाहती है, इसीलिए वह प्रेम-चर्चा से बचना चाहती है । जब सखियां स्कन्द को लेकर उसके साथ हास-परिहास करने लगती हैं, तब उसका अचेतन मन कराह उठता है--^८ तेरा मुंह काला और क्या ? निर्दय होकर आघात

१- स्कन्दगुप्त, पृ० ६७

२- सम्राट् जमी हो । इस हृदय में... जाह । कहना ही पड़ा, स्कन्द को छोड़ कर न तो कोई दूसरा आया है और न वह ब जाया । अमिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए, उसे कामना के मंवर में फंसा कर कलुषित न कीजिए । -- स्कन्दगुप्त, पृ० १४०

३- डॉ० पद्मा अग्रवाल: मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें, पृ० ५०

४- स्कन्दगुप्त, पृ० ६०

मत कर, मर्म बड़ा कोमल है । कोई दूसरी हंसी तुम्हें नहीं आती ?^१ देवसेना के उक्त कथन में गहरा ज़ोम, वितृष्णा और दबे आक्रोश का मोठा भाव छिपा हुआ है । एक और विजया को तुलना में अपनी पराजय पर उसे गहरा ज़ोम है, दूसरी और विजया और स्कन्द के प्रेम को लेकर उनके प्रति अरुचि के साथ-साथ घृणाजन्य आक्रोश का भाव भी । जब-जब प्रेम की चर्चा आती है, तब तब विजया और स्कन्द के प्रेम-सम्बन्ध का चित्र उसकी आंखों में उभर आता है और उसका अहं उन दोनों के प्रति घृणा तथा क्रोध से भर उठता है । इसी आक्रोश की अज्ञात प्रेरणा से वह विजया को फटकारती मो है--^२ शीघ्रता करने वाली स्त्री । अपनी असावधानी का दोष दूसरे पर नफेंक । देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती^३ । स्कन्द के प्रति उसका दबा आक्रोश उस स्थल पर फूट पड़ता है जहां वह उससे प्रणय-निवेदन करते हुए उसके साथ स्कान्तवास की बात करने लगता है । देवसेना स्कन्द के उस प्रस्ताव पर झुक्क होकर कहती है --^४ परन्तु सम्राट । जामा हो, उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे , अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न करूंगी मैं आजीवन दासी बनी रहूंगी, परन्तु आपके प्राप्य में भाग न लूंगी^३ । देवसेना की सहज सरलता , उसकी कुलीनता और संयमशीलता उसके इस आक्रोश की ज्वाला को दबा देती है । वह भीतर ही भीतर जलती रहती है, उसका धुआं भी बाहर नहीं निकल पाता । उसका अवसाद इतना गहरा हो जाता है कि उसकी हंसी मो विषाद की सृष्टि करने लगती है । उसकी इस दयनीय दशा पर दयार्द्र हो कर जयमाला कहती है --^४ तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नहीं आता ? जब तू गाती है तो तेरे भीतर ही रागिनी झूती है और जब हंसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है ।^४

देवसेना का स्वामिमान स्कन्द को भूल जाना चाहता है, लेकिन हृदय की संवेदना उसे झोड़ना नहीं चाहती । स्कन्दगुप्त के प्रति आकर्षण और विकर्षण की इस खींच-तान में उसका अन्तर्द्वन्द्व गहरा हो जाता है । हृदय का अनुरोध, आंखों का आग्रह, चित्त की ज्वलता और बुद्धि का अनुशासन सब मिलकर उसके अन्तर्मन

१- स्कन्दगुप्त, पृ० ६६

२- वही, पृ० ८७

३- वही, पृ० १४०

४- वही, पृ० ६६

को मथ डालते हैं । उसके हृदय में एक बरसाती नदी वेग से भर जाती है, उसका आभ्यन्तर कितना अशान्त है? उसी के शब्दों में द्वन्द्वों का संघात कितना गहन हो उठा है--^१ मेरा हृदय मुझसे अवरोध करता है, मचलता है, रुठता है, मैं उसे मनाती हूँ । जैसे प्रणय-कलह उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि फिड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं । मैं सबको समझाती हूँ, विषाद मिटाती हूँ । सखी ! फिर मो में इसी मगड़ाहूँ कुटुम्ब के में गृहस्थी संस्र्हाल कर, स्वस्थ होकर बैठती हूँ ।^२ अवसाद की अतिशयता उसे उदासीनता के उस स्तर तक पहुँचा देती है, जहाँ वह जीवन के प्रति अपना ममत्त्व खो कर तुमुल तरंग, प्रचण्ड पवन और मथानक वर्षा के बीच उफन कर बहने वाली नदी में अपनी जोवन-नौका छोड़ देती है ।^३

देवसेना का अन्तर्द्वन्द्व उस समय अपनी चरम सोभा पर पहुँच जाता है, जब वह स्कन्द का प्रणय-प्रस्ताव ठुकरा कर स्कान्त जीवन बिताने का व्रत ले लेती है । उस समय उसके हृदय का तार तार कसक उठता है, और उसकी रागात्मक वृत्तियाँ विद्रोह कर देती हैं । वह बड़े ही करुण स्वर में हृदय पर हाथ रखकर उन्हें समझाती है --^४ हृदय की कोमल कल्पना । सो जा । जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है ? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा-- सबसे मैं विदा लेती हूँ ।^३ उसका हृदय अपनी उपलब्धि पर सिसक उठता है --

‘आह ! वेदना मिली विदाई ।

मैंने अमवश जीवन संकित,

मधुकरियों को मीस लुटाई ।

+ + +

चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर,

प्रलय चल रहा अपने पथ पर ।

मैंने निज दुर्बल पद-बल पर,

उससे हारी होड़ लगाई ।^४

१- स्कन्दगुप्त, पृ० ६७

२- वही, पृ० ६७

३- वही, पृ० १५३

४- वही, पृ० १५३

देवसेना अपनी आन्तरिक पीड़ा को भुल जाने और जीवन को नयी दिशा देने के लिए भावों के उदात्तीकरण (*Sublimation*) की मनोवैज्ञानिक पद्धति का सहारा लेती है । इस पद्धति के माध्यम से अचेतन मन की दबी वासनाओं और भावनाओं को कला-साधना तथा संगीत और समाज-सेवा आदि के माध्यम से संस्कृत कर जीवन को उदात्त भाव-भूमि पर ले जाने का प्रयत्न किया जाता है, जिसमें भावों का दमन न होकर उनका उन्नयन हो सके । देवसेना ने भी इसी सन्धि में संगीत और देश-सेवा का घुनाव किया है । संगीत उसके जीवन का अभिन्न अंग और प्रियव्यसन है तो समाज-सेवा उसके जीने की प्रेरणा ।

विजया

विजया का चरित्र देवसेना के चरित्र से सर्वथा भिन्न है। उसमें मनोविज्ञान की गहरी गुत्थियों और नारी-सुलभ सहज प्रवृत्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है । विजया का व्यक्तित्व भी उसकी पैतृकता और वातावरण के बीच की उपज है । वह एक वणिज कन्या है, अतः उसमें पैतृक संस्कार स्वरूप वणिज वृत्ति की प्रधानता है । वणिज वृत्ति वाले धनी व्यक्तियों की प्रधानतः दो विशेषताएँ हैं -- पहली है अर्थ लोलुपता और दूसरी है विलास-भावना । यही 'अर्थ' और 'विलास' उनके जीवन का आधार होता है । वे 'अर्थ' को ही आधार बनाकर अपने सामाजिक संबंधों की सृष्टि करते हैं, और उसी की तुला पर व्यक्ति का मूल्यांकन भी । उनकी दृष्टि पूर्णतया उपयोगिता पर टिकी होती है । 'अर्थ' और अधिकार से वंचित व्यक्ति उनकी दृष्टि में अपना मूल्य खो देता है । अर्थ-लोलुपता और विलास-भावना के प्रभाव से उनमें आसक्ति, मिथ्याभिमान, ईर्ष्या तथा सन्देह-भावना के साथ-साथ मनुकरी वृत्ति भी आ जाती है । उनका जीवन अपने-आपमें सिमट कर एकान्त स्वार्थ में सीमित हो जाता है । घन कुवेर को कन्या विजया में हमें उक्त सभी बातें मिल जाती हैं । सर्वप्रथम स्कन्द के सौन्दर्य पर उसका मन ढीला होता है और वह उसपर रीफ उठती है -- 'आहा ! कैसी भयानक और सुन्दर मूर्ति है' । लेकिन उसकी चंचल विलास-भावना स्कन्द के प्रति अनन्य नहीं रह पाती । अधिकारों के प्रति स्कन्द की उदासीनता उसे खटकने लगती है, और वह अधीर होकर देवसेना से पूछ बैठती है -- 'यह क्या राजकुमारी ! युवराज तो उदासीन हैं + + +

दुर्बलता इन्हें राज से हटा रही है^१। स्कन्द के प्रति सशंक होते ही विजया की चंचल वृत्ति स्कन्द से हटकर महत्वाकांक्षी चक्रपालित पर टिक जाती है। जिसे वह अपने वैभव से खरीद सकती है^२। लेकिन वहां भी यह स्थिर नहीं रह पाती और अन्त में विलास तथा प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर मटार्क को आत्मसमर्पण कर देती है^३। रूप-लिप्सा और वैभव-विलास की आगक्ति के सन्दर्भ में विजया की यह मानसिक प्रतिक्रिया, सहज, स्वाभाविक और पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है।

व्यक्ति का जीवन संस्कारगत प्रभावों से परिचालित होता है, और वह अपनी आकांक्षाओं तथा आदर्शों के अनुरूप अपने जीवनसाथी का चुनाव करना चाहता है। लेकिन यह चुनाव उस समय असफल हो जाता है, जब वह विवेक के आधार पर न होकर, केवल आवेश के आधार पर होता है। आवेश जीवन की एक सहज प्रवृत्ति है, जिसका आधार अहं होता है। यहां अहं से आशय उस ममत्व-बोध से है, जिसमें आत्म-सम्मान की स्वाभाविक स्पृहा बनी रहती है। जब व्यक्ति के इस ममत्वमय अहं को किसी प्रकार की ठेस पहुंचाती है, या किसी कोमल स्पर्श से उद्बुद्ध होकर वह भाव-विह्वल हो उठता है, उस समय आवेश में आकर वह ऐसे काम कर बैठता है जिन्हें वह सामान्य स्थिति में नहीं कर सकता। प्रायः भावुकव्यक्तियों में आवेश की मात्रा अधिक पाई जाती है। क्योंकि उनमें अपेक्षाकृत अहं की भावना अधिक होती है। इस दृष्टि से स्त्रियां अधिक भावुक होती हैं अतः वे बहुत जल्द आवेश में आ जाती हैं। विजया द्वारा मटार्क का वरण भी सुविचारित न होकर उसकी भावुक्ताजन्य आवेश पर आधारित है। विजया के इस आवेश में उसका सन्देह, स्वाभिमान और प्रतिहिंसा का भाव बद्धमूल हो जाता है। उसके अहं प्रधान

१- स्कन्दगुप्त, पृ०५३

२- देवसेना-- और सबसे अच्छी एक बात है। तुम समझती हो कि वह महत्वाकांक्षी है, उसे तुम अपने वैभव से खरीद कर सकते हो क्यों?
-- स्कन्दगुप्त, पृ०५३।

३- अहा! कैसी वीरत्व-व्यंजक मनोहर मूर्ति है। और गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत + + + परन्तु मैंने मटार्क को वरण किया है।
-- स्कन्द गुप्त, पृ०८२।

स्वामिमान को सबसे गहरी ठेस उस समय लगती है, जब उसे इस बात का सन्देह हो जाता है कि उसकी सहेली देवसेना ने अपने उपकारों की ओट से उसके स्वर्ग को ढंक दिया है। उसका यह सन्देह उस समय पुष्ट हो जाता है, जब देवसेना का माई बन्धु वर्मा स्कन्द को अपना राज्य-सिंहासन सौंप देता है, उस समय विजया तिलमिला उठती है और उसका अन्तिम आकुल हो उठता है -- ओह ! इस आनन्द महोत्सव में मुझे कौन पकता है, मैं मालव में अब किस काम की हूँ? जिसके माई ने समस्त राज्य अर्पण कर दिया है-- वह देवसेना और कहाँ मैं ? तब तो मेरा यही (मटार्क की ओर देती है।)^१ यही से उसका नाभ प्रतिशोध में बदल जाता है। वह प्रतिहिंसा में प्रेरित होकर देवसेना को अपना शत्रु समझने लगती है^२। अन्त में वह देवसेना की हत्या के षड्यन्त्र में संलग्न हो जाती है। विजया का यह प्रतिशोध भी आज सहज स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। यहां पर उसका निराश प्रेम प्रतिकार को भावना से प्रेरित होकर मटार्क के वरण और देवसेना की हत्या के षड्यन्त्र द्वारा स्कन्द के मर्म पर दुहरा आघात करता है। हताश जीवन जिससे प्रतिशोध लेना चाहता है, उसके प्रति उसके आक्रोश की अभिव्यक्ति प्रायः दो रूपों में होती है। एक ओर वह उसे नोचा दिखाने के लिए उसके विरोधियों से साठ-गांठ कर लेता है और दूसरी ओर उसके शुभेच्छु आत्मीय जनों को हानि पहुंचा कर उसके मर्म को आहत कर देना चाहता है। विजया भी स्कन्द से प्रतिशोध लेने के लिए इन्हीं उपायों को काम में लाती है। पहले वह स्कन्द के विरोधी मटार्क का वरण करती है, और बाद में देवसेना की हत्या का षड्यन्त्र रचती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि व्यक्ति प्रतिकार भावना से प्रेरित होकर अपने अप्रिय को अपमानित करने और उसे दण्ड देने के लिए स्वयं अपने आप को कठिनाइयों में डाल देता है। उसकी इस प्रक्रिया के मूल में अपने आप को श्रेष्ठ प्रमाणित करने की बलवती स्पृहा काम करती रहती है। विजया का प्रतिशोध

१- स्कन्द गुप्त, पृ० ७६

२- हताश जीवन कितना मथानक होता है -- यह नहीं जानती हो ? + + राजकुमारी मुझे न डेड़ना । मैं तुम्हारी शत्रु हूँ । -- स्कन्द गुप्त, पृ० ८६

३- आर्य ! मेरा भी एक स्वार्थ है ।... राजकुमारी देवसेना का अन्त ।

-- स्कन्दगुप्त, पृ० ८७ ।

भी यह दिखाना चाहता है कि 'मैं भी कुछ हूँ'।^१ प्रतिहिंसा की आंधी उसे अंधी बना देती है, उसे कर्तव्या-कर्तव्य का ज्ञान नहीं रह जाता और वह विवेक की राह भुलकर अविवेक की दिशा में भटक जाती है। वह दूसरों को नीचा दिखाने के लिए अपने सुख-शान्ति से भी हाथ धो बैठती है^२। जिस प्रकार तूफान थम जाने पर रास्ता साफ हो जाता है और ज्वार उतर जाने पर किनारा स्पष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मानसिक भ्रम-भावों की शान्ति और आवेश के उफान की समाप्ति पर व्यक्ति को चिन्तन-दिशा स्पष्ट हो जाती है, तथा उसकी विवेक-बुद्धि जागरित होकर अतीत का आकलन करने लगती है। प्रतिहिंसा में अंधी होकर अविवेक की दिशा में भागने वाली विजया भी, परिस्थितियों की मार से आवेश का उफान दब जाने पर अपने अतीत का सर्वेक्षण करने लगती है और अपनी भूलों के लिए उसे गहरा पश्चात्ताप होता है।

विजया के जीवन का एक दूसरा पड़ा भी है -- उसका पत्नी-रूप^{पत्नीरूप} में भी उसके निराश-प्रेम की प्रतिक्रिया उतनी तीव्र होती है, जितनी प्रेमिका रूप में। जब अनंत देवी भटार्क को अपने प्रेम-पाश में बांधकर उसे विजया से बहुत दूर खींच ले जाती है, उस समय उसका नारी-हृदय मसौस उठता है, और वह अपनी अधीरता से चीख उठती है -- 'भटार्क मेरा है.... कहती हूँ और फिर कहूँगी। प्रलोभन से, धमकी से, मय से कोई भी मुझे भटार्क से नहीं वंचित कर सकता। प्रणय-वंचिता स्त्री स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े-- विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हूत सर्वस्व रमणी पहाड़ी नदियों से मयान्नक, ज्वालामुखी के विस्फोट से बीभत्स और प्रलय की अनल-शिखा से भी लहरदार होती है। कहे देती हट जाओ, नहीं तो तुम्हारी समस्त कुमंत्रणाओं

१-शान्ति कहाँ ? अपनों को दण्ड देने के लिए मैं स्वयं उनसे अलग हुई, उन्हें दिखाने के लिए -- 'मैं भी कुछ हूँ।' अपनी भूल थी उसे अभिमान से उनके सिर दोष के रूप में मढ़ रक्खा था। उन पर कुठा अभियोग लगाकर नीच हृदय को नित्य उत्तेजित कर रही थी। -- स्कन्द गुप्त, पृ० १११।

२- सैह्यमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमण्ड से तुच्छ समझा। देवतुल्य स्कन्दगुप्त से विद्रोह किया, किस लिए ? केवल अपना रूप, धन, यौवन दूसरों को दान करके उन्हें नीचा दिखाने के लिए ? स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़कर खो दिया -- इस लोक का सुख, उस लोक का शान्ति ओह ! -- स्कन्दगुप्त, पृ० १११।

को एक फुंक में उड़ा हूंगी^१। यहीं से विजया के जीवन में पुनः एक नया मोड़ आता है। यह विश्वास हो जाने पर कि 'भटार्क अब मेरा नहीं रहा' विजया को स्मृति में स्कन्द का चित्र उभर आता है।

व्यक्ति की चुनाव-दृष्टि तुलनात्मक होती है। वह दो वस्तुओं के सापेक्षिक महत्व को दृष्टि में रखकर अपना चुनाव करता है। कभी-कभी ऐसा मा होता है कि व्यक्ति जिस वस्तु का चुनाव करता है, उसे बीच में व्यवधान आ जाने पर प्राप्त नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में वह पहली वस्तु से मिलता-जुलती दूसरी वस्तु को लेकर अपने-आपको सन्तोष देना चाहता है। यदि दूसरी वस्तु पहली वस्तु से श्रेष्ठ या कम से कम उसके समकक्ष सिद्ध हुई तो उसे पहली वस्तु का अभाव खलता नहीं और वह दूसरी वस्तु को अपना कर अपने आप में सन्तुष्ट हो जाता है। लेकिन यदि परिणाम इसके प्रतिकूल हुआ और चयन की गई वस्तु पहली अप्राप्य वस्तु की तुलना में निम्नकोटि की ठहरी या उसमें कोई कमी दिखाई पड़ी तो चुनाव करने वाले को क्षोभ होता है और उसका ध्यान सहज ही पहली वस्तु की ओर चला जाता है। उसे उसकी मीठी स्मृति कबोटन लगती है। इसमें व्यक्ति के संस्कारगत स्वभाव का भी विशेष हाथ होता है। स्वभाव से गम्भीर व्यक्ति, ऐसी स्थिति में या तो बिल्कुल तटस्थ होकर आत्मलौन हो जाता है या उसमें अपेक्षित सुधार करने का प्रयत्न करता है। लेकिन स्वभाव से चंचल और विलासी व्यक्ति की प्रतिक्रिया इससे भिन्न होती है। वह चुनी हुई, दूसरी वस्तु से असंतुष्ट होने पर अपने पूर्व पर, अप्राप्य चयन की ओर मुड़ जाता है और उसे पाने का हर सम्भव प्रयास मा करता है। विजया के हताश प्रेम की प्रतिक्रिया इसी प्रकार की है। भटार्क की ओर से विरक्त होकर वह स्कन्द को पुनः पाने के लिए अधोर हो उठती है। इसके लिए वह अपने प्रभूत धन और भरे यौवन का सहारा लेती है। यहां पर उसके संचित संस्कार के साथ नारी-सुलभ विलास भावना का गठबन्धन हो जाता है। उसका पैतृक संस्कार धन का प्रलोभन देता है, और सुख-विलास को सहज

प्रवृत्ति भरे यौवन के पाथ वह प्रणय-निवेदन करतो है^१। अन्त में स्कन्द की फटकार और मटार्क की भर्त्सना पर वह आत्महत्या के लिए विवश हो जाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आत्महत्या मानसिक क्षोभ की चरम अभिव्यक्ति का प्रतीक है। जब व्यक्ति का मानसिक आघात उसके लिए अमह्य हो जाता है, तब वह उससे छुटकारा पाने के लिए आत्म-हत्या कर लेता है। विजया का आत्महत्या भी उसके हताश जीवन और मानसिक आघात की तीव्र प्रतिक्रिया का परिणाम है।

इस प्रकार विजया का समूचा जीवन उसकी मानसिक उथल-पुथल की तीव्र प्रतिक्रिया का एक संघात है, जिसके दो क्षोर हैं -- एक ओर उसके पैतृक संस्कारों का संघात है और दूसरी ओर जीवन की सहज प्रवृत्तियों का आकर्षण। इन्हीं दोनों के बीच से होकर उसका जीवन प्रवहमान होता है।

चन्द्रगुप्त

'चन्द्रगुप्त' की कथा -वस्तु मूलतः बाह्य बन्धों पर आधारित है। इसमें राजनीतिक संघर्षों के घात-प्रतिघात का अंकन प्रधान है। आन्तरिक संघर्षों की दृष्टि से प्रमुख पात्र दो हैं -- चाणक्य और कल्याणो।

चाणक्य

चाणक्य एक कुशल कूटनीतिज्ञ और अर्थशास्त्र का पंडित है। वह स्वभावसे रुद्धा है और व्यवहार से कठोर। उसको मान्यता है -- "महत्वाकांक्षा का मोती

१- (क)- मेरे पास अभी दो रत्न गृह छिपे हैं, जिनसे मैना स्कन्न करके तुम सहज ही उन हूणों को परास्त कर सकते हो।" -- स्कन्द गुप्त, पृ० १४१।

(ख)- "जाओ हमारे साथ बड़े हुए जीवन का आनन्द लो। + + + प्रियतम। यह मरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उगकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील नीरद मण्डल में दो विजलियों के समान क्रोड़ा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जायें।" -- स्कन्दगुप्त, पृ० १४२।

निष्ठुरता

कुर्रों की सीपी में पलता है । चाणक्य की इस रुद्धता और कठोरता के पीछे मनोवैज्ञानिक कारणों का विशेष हाथ है । उसका शैशव मां की ममता और पिता के अपेक्षित प्यार से अछूता रह जाता है, क्योंकि विद्या-व्यसन उसे परिवार से दूर खींच ले जाता है, और विद्याध्ययन को समाप्ति कर वापस आने पर भी उसे पारिवारिक सुख नहीं मिल पाता । पिता के निर्वासन और प्रेयसी सुवासिनी की दुर्दशा का समाचार पाकर उसका हृदय अवगाद के बोझ से दब जाता है । यहीं से चाणक्य के जीवन में नया मोड़ प्रारम्भ हो जाता है । उसकी कुण्ठा कृत्या बनकर मगध की उलट देने का संकल्प ले लेती है^१ । यहीं से उसके स्वभाव में रुद्धता और व्यवहार में कठोरता आ जाती है । वह जीवन के प्रति उदास और खिन्न होकर शैशव के शेष स्मृति-चिह्नों को भी मिटा देता है^२ । परिस्थितियों की मार उसे और उग्र बना देती है । उसकी यह उग्रता उस समय कठोरता का रूप ले लेती है, जब निरपराध होने पर भी नन्द के दरबार में उसकी शिखा खींचकर उसे बन्दी गृह में डाल दिया जाता है । असह्य अपमान और कारागार की प्रताड़नाओं से दुःख होकर उसका 'अहं' प्रतिशोध लेने के लिए आकुल हो उठता है -- एक बार निकलने पाता तो दिखा देता कि इन दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलटने की शक्ति है, और ब्राह्मण के कोमल हृदय में कर्तव्य के लिए प्रलय की आंधी चला देने की भी कठोरता है । + + + तब मैं आज से प्रण करता हूँ कि दया किसी से न मांगूंगा, और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूंगा ।... मैं प्रलय के समान अबाध गति और कर्तव्य में द्रुम के वज्र के समान मयानक बनूंगा । इसी प्रतिशोध भावना से प्रेरित होकर वह

१- पिता का पता नहीं । फोपड़ी भी न रही । सुवासिनी अभिनेत्री हो गई --

सम्भवतः पेट की ज्वाला में । एक गाय दो-दो कुटुम्बों का सर्वनाश और

कुसुमपुर फूलों की मेज में घ ऊँघ रहा है ।... मगध! मगध! सावधान ।

इतना अत्याचार । सहन असम्भव है । तुम्हें उलट दूंगा । नया बनाऊंगा, नहीं तो नाश ही करूंगा । -- चन्द्रगुप्त, पृ० ६७ ।

२- यह एक लकड़ी का स्तम्भ अभी उसी फोपड़ी का खड़ा है । इसके साथ मेरे बाल्य काल की सहस्रों भावरियाँ लिपटी हुई हैं जिन पर मेरी धवल मधुर हंसी का आवरण चढ़ा रहता है था । शैशव को स्निग्ध हंसी विलीन हो जा । (स्मृता खींचकर गिरता हुआ चला जाता है ।) -- चन्द्रगुप्त, पृ० ६८

३- चन्द्रगुप्त, पृ० ८३

कुटिल और कठोर राजनीति का आश्रय लेता है । उसकी कोमल वृत्तियाँ दब जाती हैं , मस्तिष्क हृदय को पराभूत कर देता है । फिर भी हृदय हार नहीं मानता ।

व्यक्ति प्रौढ़ मस्तिष्क के साथ-साथ एक संवेदनशील हृदय भी रखता है जिसका एक एक कम्पन अनुभूतियों का आकलन किया करता है । यदि व्यक्ति विचारों में प्रौढ़ होता है तो भावों में जीता भी है । कुछ समय के लिए मस्तिष्क की बौद्धिक कामता हृदय की सहज संवेदनशीलता को भले ही दबा दे, लेकिन उसका अन्त नहीं कर सकती । चाणक्य का मस्तिष्क भा हृदय को दबा कर उस^{पर} अंकुश लगा देना चाहता है, लेकिन हृदय बार-बार उसके अंकुश को हटा कर बाहर फाँक लेता है । उसकी कोमल वृत्तियाँ सी जाती हैं, मरती नहीं । समय-समयपर अन्तस्थ रागात्मक वृत्तियाँ अन्तः खिली मरस्वती सी ऊपर आकर उसके संघर्ष - संकुल जीवन-संघर्ष को राग-रंजित बना देती हैं । सुवासिनी के प्रति उसका पोषित प्रेम रह-रह कर उसके मानस में स्मृति की लहरें उठा ~~क~~ देता है और उसका अतीत उसकी आँखों में उभर आता है । वह सामने कुसुमपुर है, जहाँ मेरे जीवन का प्रभात हुआ था । मेरे उस सरल हृदय में उत्कण्ठ इच्छा थी कि कोई भी सुन्दर मन मेरा साथी हो । प्रत्येक नवीन परिचय में उत्सुकता थी और उसके लिए मन में सर्वस्व लुटा देने की सन्नद्धता थी । परन्तु संसार -- कठोर संसार ने सिखा दिया है कि तुम्हें परखना होगा ।.... आह ! तो इस विश्व में मेरा कोई सुहृद नहीं ? है मेरा संकल्प, अब मेरा आत्माभिमान ही मेरा मित्र है और थी एक क्षीण रेखा वह जीवन पट से धुल चली है । धुल जाने हूँ ? सुवासिनी न न न, वह कोई नहीं । मैं अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त हूँ । मयानक रमणीयता है । आज उस प्रतिज्ञा में जन्मभूमि के प्रति कर्तव्य का भी यौवन चमक रहा है । तृण-शय्या पर आधे पेट साकर सो रहने वाले के सिर पर दिव्य यश का स्वर्ण मुकुट और सामने सफलता का स्मृति-सौध^१ । यही से चाणक्य का अन्तर्द्वन्द्व गहरा होने लगता है -- एक ओर प्रेम है दूसरी ओर कर्तव्य, एक ओर त्याग है, दूसरी ओर ग्रहण । इनका द्वन्द्व चाणक्य के जीवन को मथ डालता है ।

व्यक्ति स्वभाव से हो शान्ति का इच्छुक और प्रेम का भूखा होता है । उसकी सहज संवेदनशीलता अपनों का स्नेह और सहानुभूति पाना चाहती है । अपनों के प्रति उसका गहरा लगाव हो जाता है , जो ममत्व को जगाकर आसक्ति का आधार बन जाता है । इस ममत्व को बसे सबसे गहरा आघात उस समय पहुँचता है, जब उसका आलम्बन, आत्मीयता को कुचल कर कूटघन हो जाता है और अपने ऐसे व्यवहार से मर्म को आहत कर देता है । ऐसे अवसरों पर प्रायः अपनों को उपेक्षा और प्रिय की उदासीनता में खिन्न होकर व्यक्ति जीवन के प्रति विरक्त हो जाता है । चाणक्य का प्रेमातुर हृदय भी उस समय टूट जाता है जब सुवासिनी उसकी उपेक्षा कर उसके मर्म को आहत कर देती है और चन्द्रगुप्त उसकी व्यवस्था का विरोध कर उसके 'गर्ह' को कुचल देता है^१ । चाणक्य की आसक्ति विरक्ति में बदल जाती है और अनुराग विराग में^२ । अन्त में वह अन्तर्मुखी हो जाता है और आत्म निरीक्षण द्वारा त्र्यम्बकसिन्धु पर पहुँचता है कि --- 'मैंने आज तक जो किया वह न करना चाहिए था'^३ । इसी आत्म निरीक्षण द्वारा वह निवृत्ति के उस ऊँचे घरातल पर पहुँच जाता है, जहाँ उसका 'अस्मत्' अपना कुछ नहीं रह जाता । एक ओर वह अभ्यास द्वारा अपनी चिर प्राणयिनी सुवासिनी को भूलने का व्रत ले लेता है और दूसरी ओर अपने हाथों बनाया हुआ बड़े साम्राज्य का शासन, हृदय की आकांक्षाओं के साथ अपने प्रतिद्वन्दी राजास को सौंप देता है । उसकी सारी क्रूरता करुणा में बदल जाती है । हृदय की आकांक्षाओं को कुचल कर आश्रम का पथ खोजने वाला चाणक्य जिससमय कलकलायी आँखों से सुवासिनी को विदा देता है, उस समय उसका सारा विराग अनुराग बनकर ढलक पड़ता है । और वह पाषाण प्रतिमा से ऊपर उठकर मानवता की प्रतिमूर्ति बन जाता है ।

१- (क) - सुवासिनी ! वह स्वप्न टूट गया -- इस विजन-वालुका-सिन्धु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी, किन्तु तुम्हारे एक भ्रमंग ने उसे लौटा दिया । मैं कंगाल हूँ । -- चन्द्रगुप्त, पृ० १६७ ।

(ख)- 'ले लो चन्द्रगुप्त मौर्य ! अपना अधिकार खीन लो । यह मेरा पुनर्जन्म होगा । मेरा जीवन राजनीतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है , किसी क्लृप्ता चित्र किसी काल्पनिक महत्त्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसंधान करता दौड़ रहा हूँ । शान्ति खो गई, स्वरूप विस्मृत हो गया । मैं कहाँ और कितने नीचे हूँ ।' -- चन्द्रगुप्त, पृ० १८८

कल्याणी

कल्याणी का व्यक्तित्व बिजली की उस रेखा के समान है, जो घटनाओं के घटाटोप में सहसा उभरती और अपना आलोक बिखेर कर तिरोहित हो जाती है। यौवन के प्रथम उन्मेष में उसका परिचय होता है चन्द्रगुप्त से, और वह उसके हृदय-मन्दिर में अपना स्थान भी बना लेता है। लेकिन परिस्थितियाँ साथ नहीं देती -- चन्द्रगुप्त की महत्वाकांक्षाएँ उसे नन्द का विरोधी बना देती हैं, और पिता के प्रति पुत्री की सहानुभूति कल्याणी को चन्द्रगुप्त के प्रति उदासीन। विवश होकर वह अपने उभरते प्रेम को सदा के लिए दबा देती है वहीं से उसमें मानसिक द्वन्द्व का सूत्रपात हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा पाने का इच्छुक होता है। इसी की प्राप्ति के लिए वह शारीरिक, मानसिक और आर्थिक उन्नति के माध्यम से शक्ति-संचय करने का प्रयास करता है। व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा के अन्य आधारों में एक आधार उसकी कुलीनता भी रही है। कुलीनता के अभाव में व्यक्ति अपने आपको हीन समझने लगता है, और धीरे धीरे उसमें आत्म हीनता की ग्रन्थि बन जाती है। आत्महीनता की यह भावना उस समय और घनाभूत हो जाती है, जब व्यक्ति की पैतृकता लोक-निन्दा का विषय बन जाती है, और उसी आधार पर उसकी सामाजिक उपेक्षा होने लगती है। कल्याणी की आत्महीनता का एक आधार यह भी है। पिता की लोकनिन्दा और सर्वसाधारण द्वारा अपनी पैतृक-परम्परा को मर्त्सना सुनकर उसका हृदय डुल्लभ हो उठता है, उसमें आत्महीनता की भावना घर कर जाती है

१- मौर्य कल्याणी ने वरण किया था, केवल एक पुरुष को -- वह था चन्द्रगुप्त।

...परन्तु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए, इसलिए उस प्रणय को प्रेम-पीड़ा को -- मैं पैरों से कुचल कर दबा कर सड़ी रही। -- चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ० १७६।

२-(क) ब्रह्मचारी -- महापद्म का जारज-पुत्र नन्द केवल शस्त्र-बल और कूट नीति के ब. द्वारा सदाचारों के सिर पर ताण्डव नृत्य कर रहा है। वह सिद्धान्त-विहीन नृशस, कमी बौद्धों का पक्षपात, कमी वैदिकों का अनुयायी बनकर दोनों में भेद नीति चलाकर बल-संचय करता रहता है। -- चन्द्रगुप्त, पृ० ७१।

(ख) कल्याणी -- मुझे इसका बड़ा दुःख है। देखती हूँ कि समस्त प्रजा उनसे त्रस्त और मयभीत रहती है, प्रचण्ड शासन करने से उनका बड़ा दुर्गम है... सुनकर हृदय की गति रुकने लगती है। इतना कदर्थित राज-पद। जिसे साधारण नागरिक भी घृणा की दृष्टि से देखता है -- कितने मूल्य का है लीला।

-- चन्द्रगुप्त, पृ० ७२

और यह भावना उस समय और गहरी हो जाती है, जब पर्वतेश्वर उसे नीच कुल का कन्या ठहरा कर उसके साथ विवाह करने के प्रस्ताव को ठुकरा देता है ।

सामान्य दृष्टि से सभी लोगों में किसी न किसी स्तर पर आत्महीनता की भावना बनी रहती है, और व्यक्ति अपनी 'हीनता' को हटाने के लिए अनेक उपायों का सहारा लेता रहता है, जिसे जाति-पूति का सिद्धान्त कहते हैं। जाति-पूति का सिद्धान्त आत्महीनता की अनुमति से मुक्ति पाने की बलवती स्पृहा का सक्रिय पक्ष है ।^१ प्रत्येक व्यक्ति अपनी हीनता और असमर्थता से छुटकारा पाने के लिए अपने अज्ञात में छुटपटाता रहता है और किसी न किसी रूप में अपनी उस स्वाभाविक जाति की पूति अवश्य करता है । अपनी जन्मजात अज्ञानता को दूर करने के उद्देश्य से उसके अन्तर्मन में शक्ति प्राप्त करने की अदम्य आकांक्षा जागरित हो उठती है, और वह जीवन भर नाना उपायों से शक्ति-संचय करने की चेष्टा करता हुआ विभिन्न रूपों में अपनी इस संचित शक्ति का प्रदर्शन करता च रहता है^२ । स्त्रियों में जाति-पूति की यह प्रक्रिया मुख्यतः तीन रूपों में होती है --

(१) पुरुष प्रवृत्ति के रूप में ।

(२) त्याग और आत्म अलिप्तान के रूप में ।

(३) शृंगार प्रसाधन तथा बनाव-शृंगार के रूप में ।^३

कल्याणी ने अपनी हीनता को भावना को मिटाने के लिए प्रथम प्रकार की जाति-पूति के माध्यम का आश्रय लिया है । इसमें स्वामिमानिनी स्त्रियाँ उपेक्षित होने पर शक्ति-संचय द्वारा पुरुषों की तुलना में अपने-आपको श्रेष्ठ सिद्ध कर उनसे अपने अपमान का बदला चुकाना चाहती हैं । पर्वतेश्वर द्वारा विवाह-प्रस्ताव ठुकरा देने पर कल्याणी का स्वामिमान भी पर्वतेश्वर को नीचा दिखाने का संकल्प ले लेता है -- 'पिता जी ! मैं -- पर्वतेश्वर के गर्व को परीक्षा लूंगी । मैं वृषल कन्या हूँ । उस जात्रिय को यह सिखा दूंगी कि राजकन्या कल्याणी किसी जात्राणी से कम नहीं । सेनापति को आज्ञा दीजिए कि आसन्न गान्धार युद्ध में मगध की एक सेना अवश्य जाय, और मैं स्वयं उसका संचालन करूँगी । पराजित पर्वतेश्वर को सहायता देकर उसे नीचा दिखाऊँगी ।'^३

१-इलाचन्द्र जोशी : 'दैनिक जीवन और मनोविज्ञान', पृ० ३५

२-वही, पृ० ८१-८४

३-चन्द्रगुप्त, पृ० ७५

पर्वतेश्वर को नीचा दिखाने के उद्देश्य से ही कल्याणी सिकन्दर और पर्वतेश्वर के बीच होने वाले युद्ध में स्वयं सेनापति बनकर पुरुष-वेष में मगध सेना के नवयुवक सैन्य-दल का संचालन करती है । अन्त में पर्वतेश्वर को नीचा दिखाकर आत्म-गौरव को उठाने और चन्द्रगुप्त को पाने की असफलता उसके जीवन को इतना झुंझ बना देती है कि वह अधीर होकर आत्म हत्या कर लेती है^१ ।

चन्द्रगुप्त नाटक में उक्त प्रसंगों के अतिरिक्त अन्य मनोवैज्ञानिक स्थल भी आए हैं, जिनमें कुछ का उल्लेख किया जा सकता है --

(१) नन्द का चाणक्य के प्रति क्रोध

(२) युद्ध के वातावरण से ऊब कर चन्द्रगुप्त की संगीत द्वारा मनोरंजन करने की लालसा ।

(३) लड़कियाँ से बातें करते हुए चन्द्रगुप्त को चाणक्य का फिटकना ।

चाणक्य के प्रति नन्द का क्रोध साधारण और संवेग-संक्रमण का परिचायक है । जो संवेग एक बार उठता है, वह कहीं न कहीं किसी पर उतरने के बाद ही शान्त हो पाता है । पति के व्यवहार में रुष्ट पत्नी के क्रोध का संवेग अधीनस्थ, नौकरों, बच्चों या घर के सामानों पर उतरता है, और उच्च अधिकारियों का अपने अधीन कर्मचारियों पर । चाणक्य के प्रति नन्द का क्रोध भी इसी प्रकार उसके पुत्र चाणक्य पर जा कर उतरता है । चाणक्य का पिता चणक एक कट्टर जातीयतावादी ब्राह्मण है । वह जातीयता के आधार पर नन्द का विरोध करता है और सर्वमान्य जनों में उसके नीच जन्मा होने का प्रचार करता है । अन्ततः नन्द उसके इस विद्रोही व्यवहार से झुंझ और अप्रसन्न होकर उसे राज्य से निष्कासित कर देता है । यहीं से^{उसे} चणक के साथ-साथ मसूची ब्राह्मण जाति से घृणा हो जाती है जिसमें समय समय

१- मेरे जीवन के दो स्वप्न थे-- दुर्दिन के बाद आकाश के नक्षत्रविलास सी चन्द्रगुप्त की छवि और पर्वतेश्वर से प्रतिशोध, किन्तु मगध की राजकुमारी आज अपने ही उपवन में वन्दिनी है । मैं वही तो हूँ--जिसके संकेत पर मगध का साम्राज्य चल सकता था । वही शरीर है, वही रूप है, वही हृदय है, पर खिन गया अधिकार और मनुष्य का मान-दण्ड ऐश्वर्य । अब तुलना में सबसे छोटी हूँ । जीवन, लज्जा की रंगभूमि बन रहा है । अब मेरे लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा । पिता ! लो मैं भी जाती हूँ ।

-- चन्द्रगुप्त, पृ० १७६

पर आहुति पड़ती रहती है। ब्राह्मणों के प्रति नन्द की यह घृणा उस समय और बढ़ जाती है जब पर्वतेश्वर अपने जातीय घमण्ड में आकर उसे नीचे, जारज-पुत्र, और शूद्र कह कर उसकी कन्या कल्याणी के साथ पाणिग्रहण का प्रस्ताव ठुकरा देता है। पर्वतेश्वर के इस व्यवहार की सूचना पर कर नन्द का अहं आहत होकर आक्रोश में भर जाता है, और वह इसका प्रतिशोध लेने की योजना बनाने लगता है। जिस समय नन्द राजास और समासदों के साथ पर्वतेश्वर द्वारा किए गए अपने जातीय अपमान पर विचार कर रहा था, और राजास उसके मस्तिष्क में यह बात बैठा हुआ था कि 'पर्वतेश्वर का सारा व्यवहार ब्राह्मणों के संकेत पर हुआ है' ठीक उसी समय चाणक्य राज देवार् में प्रवेश करता है और परिचय में अपने को एक ब्राह्मण बताता है। 'ब्राह्मण' शब्द को सुनते ही नन्द के अंतर्गत मन में ब्राह्मण जाति के प्रति बद्धमूल घृणा तथा क्रोध का भाव बाहर आ जाता है और वह क्रोधान्ध होकर चीख पड़ता है -- 'ब्राह्मण ! ब्राह्मण !!' जिधर देखे कृत्या के समान उनकी शक्ति-ज्वाला पधक रही है^१। जब उसे यह मालूम होता है कि यह ब्राह्मण विद्रोही चणक का पुत्र है, तब उसका क्रोध और भी बढ़क उठता है और चणक के प्रति उसका विर-पोषित आक्रोश चाणक्य की मर्त्यता का आधार बन जाता है -- 'क्या उसी विद्रोही ब्राह्मण की सन्तान ? निकालो इसे अभी यहाँ से... प्रतिहारी ! निकालो इस ब्राह्मण को यह बड़ा ही कुचक्री मालूम पड़ता है^२।' चाणक्य के प्रति नन्द के इस व्यवहार में उसकी कुटन तथा जातीय अपमान जन्य कुण्ठा, क्रोध और दौम आदि अनेक भावों का संयोग हो गया है।

युद्ध के वातावरण से ऊब कर चन्द्रगुप्त का मनोरंजन की ओर मुक जाना एक सहज, स्वामाविक और मनोवैज्ञानिक घटना है। यह एक मनोवैज्ञानिक सभ सत्य है कि युद्ध तथा अशान्ति के वातावरण में व्यक्ति का मानसिक तनाव बढ़ जाता है। मानसिक तनाव के अनुपात में उसकी मानसिक थकान का सीमांकन भी होता जाता है। मानसिक तनाव जितना अधिक होता है, मानसिक थकान भी उतनी ही अधिक होती है। जब तक व्यक्ति कार्य में व्यस्त रहता है, तब तक उसे

१- चन्द्रगुप्त, ग्यारहवां संस्करण, पृ० ७४

२- वही, पृ० ७६

मानसिक थकान का अनुभव नहीं होता, क्योंकि उस समय उसकी मानसिक शक्तियाँ सक्रिय रहती हैं, और उनका तनाव बना रहता है। लेकिन जब बीच में व्यवधान पाकर मानसिक संस्थान काम करने से अवकाश पा जाता है, उस समय उसमें शिथिलता आ जाती है। इससे मानसिक थकान का बोझ उस समय और बढ़ जाता है, जब आन्तरिक प्रशान्ति के साथ-साथ एक ही प्रकार के घटना-क्रमों की आवृत्ति बार-बार होने लगती है। चन्द्रगुप्त की मानसिक थकान इसी प्रकार की परिस्थितियों का प्रतिफल है^१। जिस प्रकार स्वाद की स्मरसता अरुचिकर हो जाती है, उसी प्रकार घिसा-पिटा जीवन भी तबा देने वाला होता है। एक ही प्रकार के कार्य-कलाप और दिनचर्या से वह एकपक्षीय होकर अपना आकर्षण खो देता है। उसमें नीरसता आ जाती है। इसी नीरसता को दूर करने के लिए मनोरंजन की आवश्यकता पड़ती है। इससे मानसिक तनावों को दूर करने में विशेष सहायता मिलती है और व्यक्ति कुछ समय के लिए मानसिक चिन्ताओं से मुक्ति पा जाता है। चन्द्रगुप्त भी अध्यवसाय के बोझ से दबे हुए अपने शिथिल मन को थोड़ा विश्राम देने के लिए मालविका से मुरली की एक तान सुनाने का आग्रह करता है, 'रणभेरी के पहले यदि मधुर मुरली की एक तान सुन लूं तो कोई हानि न होगी। मालविका ! न जाने क्यों ऐसी कामना जाग पड़ी है^२।'

मालविका-+न-जाने-क्यों-अफ-ऐसी-कामना-जाग-पड़ी-है-+
विचारों के बोझ से दबे हुए चन्द्रगुप्त का इस प्रकार संगीत के प्रति आकर्षित होना उसकी मानसिक व्याकुलता का परिचायक है, जो सर्वथा स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। जिस समय चन्द्रगुप्त मालविका से गाना सुनना चाहता है, उसी समय चाणक्य आकर उसे फटकारता है--'हौकरियों से बात करने का समय नहीं है मौर्य^३।' चाणक्य का यह वाक्य उसके अतीत का पूरा रेखा-चित्र उतार देता है। चाणक्य के इस कथन में उसके असफल प्रेम की कुट्टन और नारी जाति के प्रति दबो घृणा का भाव सन्निहित है। असफल प्रेम से पीड़ित व्यक्ति स्त्री मात्र से घृणा करने लगता है। युगल प्रेमियों के प्रेमालाप से उसे अपने अतीत के प्रेम-प्रसंग की याद आ जाती है जिसके फलस्वरूप उसके अचेतन मन की कसक उभर कर उसे व्याकुल बना

१- चन्द्रगुप्त, पृ० १८४

२- वही, पृ० ११७, ११८

३- वही, पृ० ११८

देती है । इसीलिए वह ऐसे प्रसंगों की मर्त्सना करने लगता है, जो उसे पूर्व प्रेम की स्मृति दिला कर उसे ज़ुल्लु बनाव देते हैं । चाणक्य की कुदृष्टि इसी सत्य को और सकेत करती है।

ध्रुवस्वामिनो

ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनो एक कुलीन और स्वाभिमानिनी स्त्री है । स्वाभिमान चाहता अपने सम्मान की रक्षा करता है । सम्मान-सुख की यह भूख स्त्री और पुरुष दोनों में समान रूप से पाई जाती है अतः उसे अपने पति से प्रेम और सुरक्षा पाने का पूरा अधिकार है । पति ही पत्नी का सर्वस्व और उसके सुख-स्वप्नों का आधार होता है, उगी पर उसका सारा स्वाभिमान टिका होता है । पति की उपेक्षा और उसके प्यार के अभाव में उसका सारा स्वाभिमान झुर-झुर होकर बिखर जाता है, जीवन सूना होकर अवसाद के बोझ से दब जाता है । उसमें आत्महीनता की भावना घर कर जाती है, और पति की उदासीनता उसके लिए असह्य हो उठती है । मानिनी ध्रुवस्वामिनी को पति के प्रेम का अभाव खर जाता है, और वह अपनी विवशता पर ज़ुल्लु हो उठती है-- 'मला में क्या कर सकूंगी ? मैं तो अपने ही प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती । मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह है, यह भी मैं आज तक न जान सकी । मैंने तो कभी उनका मधुर सम्भाषण सुना ही नहीं । विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहाँ ? नारी का अहं उस समय और ज़ुल्लु हो उठता है, जब उसका प्रिय उसकी इच्छाओं के प्रतिकूल आचरण कर दूसरी स्त्रियों के हाथों में अपने आप को सौंप देता है । पति के इस विश्वासघात पर उसका आहूत अहं फूटकार कर उठता है, लेकिन उसकी नारी सुलभ सरलता और उसका शील सौजन्य उसके आक्रोश को दबा देता है । यही दमित आक्रोश अपनी

अभिव्यक्ति का अवसर न पा कर कुढ़न में बदल जाता है । वह भीतर ही भीतर घुलने लगती है । उसके स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता है और व्यवहार में कठोरता ।

व्यक्ति का चिड़चिड़ापन उस समय और बढ़ जाता है जब उसके सामने उस वस्तु की चर्चा आ जाती है, जिसके प्रति उसके अन्तर्मन में घृणा और वितृष्णा का भाव बढ़भूल हो जाता है । ध्रुवस्वामिनी की कुढ़न और उसका चिड़चिड़ापन उसकी दमित भावनाओं का परिणाम है । वह रामगुप्त के विलासी स्वभाव, और वारविलासिनियों के साथ उसके हास-विलास से दुःख होकर जीवन के प्रति निराश हो जाती है, उसके अन्तर्मन में रामगुप्त के प्रति घृणा और उपेक्षा के भाव दृढ़ हो जाते हैं, जिन्हें वह दबा कर भीतर ही भीतर घुलने लगती है । जब जब रामगुप्त का प्रसंग आता है, तब-तब उसके हृदय में रामगुप्त के प्रति उसका दबा हुआ घृणा-भाव चिड़चिड़े स्वभाव की कट्टकियों के रूप में बाहर फूट पड़ता है । प्रतिहारी द्वारा यह पूछे जाने पर कि -- 'मट्टारक इधर आये हैं क्या ?' वह खीफ कर कहती है, 'मेरे अंचल में तो छिपे नहीं हैं । देखो किसी कुंजर में दूढ़ो' । उसकी यह कुढ़न और कठोरता उस समय अपनी सीमा पार कर जाती है, जब उसका आहत स्वामिमान सिसक कर रामगुप्त के से अपने गौरव-रक्षा, की मोख मांगता है, रामगुप्त उपेक्षापूर्वक उसे ठुकरा देता है^१ । रामगुप्त द्वारा सम्मान-रक्षा की मांग ठुकरा दिस जाने पर ध्रुवस्वामिनी के अन्तर्मन का सारा दमित आक्रोश ज्वाला-मुखी के समान फूट पड़ता है । और वह घायल सिंहनी के समान गरज उठती है -- 'निलज्ज ! मघप ! ! क्लीव ! ! ! ओह ! तो मेरा कोई रक्षाक नहीं ? नहीं मैं अपनी रक्षा स्वयं करूंगी । मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतल मणि नहीं हूँ । मुझमें रक्त की तरल लालिमा है । मेरा हृदय ऊष्ण है और उसमें आत्म-सम्मान

१-ध्रुवस्वामिनी, पृ० १७

२- 'मेरी रक्षा करो । मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो । राजा ! आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ । मैं स्वीकार करती हूँ कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई, किन्तु वह मेरा अहंकार बूझ हो गया है । मैं तुम्हारी होकर रहूंगी ।' -- ध्रुवस्वामिनी, पृ० २८

३- ध्रुवस्वामिनी, पृ० २८

की ज्योति है । उसकी रक्षा में ही कहेगो ।^१

व्यक्ति का प्रेम एक आधार चाहता है । जिस प्रकार जलका सहज प्रवाह, पथ में अवरोध आने पर दूसरी दिशा में मुड़ जाता है, उसी प्रकार प्रेम भी एक ओर से निराश होने पर या तो कुंठित हो जाता है, या दूसरी दिशा में मुड़ जाता है । उसकी इस परिवर्तन प्रक्रिया में उस समय और तोव्रता आ जाती है, जब प्रथम प्रेम-पात्र की तुलना में दूसरा प्रेम-पात्र अधिक अनुकूल और स्पृहणीय होता है । ध्रुवस्वामिनी के प्रेम-परिवर्तन की प्रक्रिया उसी प्रकार का है । रामगुप्त की उपेक्षा से उसका आहत अन्तर्मन अपने आन्तरिक अभावों की पूर्ति के लिए अवलम्ब खोजने लगता है । वह रामगुप्त की विलास-प्रियता और कामुकता से द्रुव्य होकर, अपने अभावों की अधीरता में कुमार चन्द्रगुप्त की ओर झुक जाती है । उसकी व्यावहारिक बुद्धि दोनों का तुलनात्मक मूल्यांकन करने लगती है :- 'आह ! कितनी कठोरता है ? मनुष्य के हृदय में देवता को हटाकर राजस कहां से घुस आता है ? कुमार की स्निग्ध, सरल, और सुन्दर मूर्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है । किन्तु उन्हीं का भाई ? आश्चर्य ?' यहीं से ध्रुवस्वामिनी के जीवन में कुमार के प्रति प्रेम अधिक मुखर होने लगता है । रामगुप्त की तुलना में कुमार को अधिक सेवेदनशील और प्रेमी हृदय पाकर उसके प्रति उसका अनुराग और बढ़ जाता है । परिस्थितियों के सहयोग से दोनों एक-दूसरे के अधिक समीप आते-जाते हैं । और रामगुप्त उतना ही दूर होतजाता है । ध्रुवस्वामिनी और कुमार का प्रेम-सम्बन्ध स्वभाव-साम्य के साथ-साथ, समान परिस्थितियों पर आधारित है । स्वभाव से दोनों ही संयत और स्वामिमानी हैं । परिस्थितियों ने दोनों को राजकीय नियन्त्रण में डाल रखा है । व्यक्ति जिन परिस्थितियों में रहता है, उन्हीं परिस्थितियों में पड़ने वाले व्यक्ति के प्रति उसकी सहज सहानुभूति हो जाती है ; और वह उसे अपना समझने लगता है । उसकी यह सहानुभूति उस समय और बढ़ जाती है, जब वह उस व्यक्ति को अपना झुमेच्छु और अपने प्रति सदैव पाता है । जिस समय ध्रुवस्वामिनी को यह ज्ञात होता है कि कुमारचन्द्रगुप्त को भी राज्य-नियंत्रण में रखा गया है, उस समय

१- ध्रुवस्वामिनी, पृ० २८

२- वही, पृ० १६

कुमार के प्रति उसके हृदय में गहरी आत्मीयता का भाव जागरित हो जाता है, और वह उसके प्रति सदा हो उठती है ।^१ 'हां, मैंने उन्हें देखा था, वह निरभ्र प्राची का बाल अरुण।' 'मि आह । राजचक्र सब को पीसता है, पिसने दो, हम निस्सहायों और दुर्बलों को पिसने दो ।' यही आत्मीयता कृतज्ञता के भाव से पुष्ट होकर प्रणय में परिवर्तित हो जाती है । दुर्दिन में साथ देने वाला व्यक्ति हृदय के अधिक समीप आ जाता है । असहाय व्यक्ति अपनी दयनीय दशा में सहायता करने और सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति के प्रति कृतज्ञ होकर उस पर अपना सारा संक्षिप्त स्नेह उड़ल देता है । कृतज्ञता अपनी सूक्ष्मता में आत्म-समर्पण की हा एक विधा है, जिसमें व्यक्ति को वह द्रवित होकर उपकारी के प्रति सदा और स्नेहशोल हो जाता है । कुमार के प्रति ध्रुवस्वामिनी की कृतज्ञता इसी प्रकार की है, और यहाँ कृतज्ञता कुमार के प्रति उसके आकर्षण का कारण भी है । उसे कुमार से वह सब कुछ मिल जाता है, जो रामगुप्त से नहीं मिला था । जिस समय अपनी निरीहता में असहाय होकर वह रामगुप्त से अपने स्त्री होने के अधिकार की रक्षा की मांग करती है और वह उसे उपेक्षापूर्वक ठुकरा कर उसे उपहारस्वरूप शक-शिविर में जाने के लिए विवश कर देता है, उस समय चन्द्रगुप्त ही ध्रुवस्वामिनी का गाय देकर उसके नारीत्व और स्वामिमान की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देता है । पुरुष की उस आत्मीयता से नारी का सहज संवेदनशोल और मातृक हृदय अभिभूत हो उठता है । वह कुमार के प्रति उपकृत होकर गद्गद कण्ठ से कहती है -- 'कुमार । तुमने वही -- किया, जिसे मैं बचाती रही । तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भीगी जा रही हूँ । ओह ।' यहाँ पर मावी निर्णय को लेकर ध्रुवस्वामिनी के हृदय में एक गहरा अन्तर्द्वन्द्व छिड़ जाता है । उसका अतृप्त अचेतन मन चन्द्रगुप्त से को अपना कर

१- ध्रुवस्वामिनी, पृ० १५, १६

२- Into gratitude there enters some sympathetic sorrow for the person who excites it, on account of the loss or sacrifice sustained by him in give us that for which we are grateful."

— W. Mc Dougall : Social Psychology
(P. 114)

३- ध्रुवस्वामिनी, पृ० ३३ ।

अपनी प्यास बुझाने का आग्रह करता है, लेकिन अचेतन मन उसे दबा देना चाहता है । वह अपने घड़कते हुए हृदय पर उंगली रखकर पूछती है -- 'इस वक्तास्थल में दो हृदय हैं क्या ? जब अन्तरंग 'हाँ' करना चाहता है, तब ऊपरी मन 'ना' क्यों कहला देता है ?' लेकिन अन्त में अचेतन मन की ही विजय होती है और ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त को अपना कर अपने मानसिक तनावों से मुक्ति पा जाती है । इस प्रसंग द्वारा प्रसाद ने इस मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर संकेत किया है कि स्त्रों का हृदय प्रेम का भूखा होना है, और उसके चरित्र की रक्षा का बहुत बड़ा दायित्व उसके पति और उसके प्रेमपूर्ण व्यवहार पर है । पति का प्रेम न पाने पर ही प्रायः स्त्रियाँ परपुरुष की ओर मुक्त जाती हैं । यदि ध्रुवस्वामिनी को प्रारम्भ से ही रामगुप्त का सहज प्रेम मिलता गया होता तो वह कुमार की ओर ^{इस} किस रूप में कभी आकृष्ट न हुई होती । रामगुप्त द्वारा यह कहे जाने पर कि 'ध्रुवस्वामिनी निर्लज्जता की भी एक सीमा होती है ।' प्रत्युत्तर में ध्रुवस्वामिनी स्वयं कहती है-- 'मेरी निर्लज्जता का दायित्व क्लीव का पुरुष पर है ।'

ध्रुवस्वामिनी की दूसरी स्त्रोपात्र कोमा है जो आचार्य मिहिरदेव की प्रतिपालिता कुमारी और शकराज की भावी पत्नी है । उसके पास चिन्तनशील स्वभाव के साथ एक नारी सुलभ संवेदनशील हृदय भी है, जो उसे शकराज की ओर खींच ले जाता है, और वह उसकी महत्वमयी मूर्ति के प्रति आकर्षित हो जाती है । उसके हृदय में सुख-स्वप्नों की दीवाली जल उठती है, और वह प्रेम का बन्दनवार सजाकर प्रिय की प्रतीक्षा करने लगती है । उसका स्नेह-सिक्त भावुक हृदय एक आदर्श सहवर्णिनी के समान प्रिय के दुःख-सुख में अभिमिलित होकर उसका हाथ बटाने के लिए ललक उठता है, लेकिन प्रिय की उपेक्षा और उदासीनता से उसके सुख स्वप्नों का संसार उजड़ जाता है । प्रेम का बन्दनवार क्षिन्न भिन्न होकर धूल में ल लोटने लगता है । उस कभी प्रिय से प्रेमालाप करने और खिन्ने-रुठाने का सुहाग नहीं मिल पाता । उसका जीवन रीता का रीता रह जाता है । जोवन की यही

१- ध्रुवस्वामिनी, पृ० ३३

२- वही, पृ० ६२ ६०

३- शकराज--'तुम रुठी हुईं सी क्यों बोल रही हो ?

कोमा --'रुठने का सुहाग मुझे मिला कब ?'

-- ध्रुवस्वामिनी, पृ० ३८

अतृप्ति उसके अवेतन मन में पैठ कर गहरे अवसाद की सृष्टि करती है । उसके दार्शनिक स्वभाव में और एकान्तता आ जाती है । कोमा का यह दार्शनिक स्वभाव ही उसकी उग्रता पर नम्रता का अंकुश लगा देता है । वह सब कुछ सहज भाव से सहन कर लेती है, उसका प्रतिरोध नहीं करती । यहां ध्रुवस्वामिनी और कोमा के चरित्रों की समानान्तर स्थिति है, लेकिन दोनों की प्रतिक्रियाओं का वेग भिन्न स्तर का है । एक पति के अपमान को चुपचाप पी जाती है, और दूसरी उसका तीव्र प्रतिरोध करती है । नारी के लिए सबसे पीड़ा-प्रसंग वह होता है, जब उसका प्रिय उसके सुख-सुहाग को छीन कर परायी स्त्री को दे देना चाहता है । उस समय उसका सहज स्वाभिमान अपनी निरीहता में तड़प उठता है । कोमा इस कराह को मो दबा लेती है, और शकराज से केवल इतना ही पूछती है --^१ राजा ! तुम्हारी स्नेह सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने जिस दिन मन के नीरस और नीरव शून्य में संगीत की वसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुमति मयी बन गई हूँ । क्या वह मेरा प्रेम था ? कह दो -- कह दो कि वह तेरी मूल थी^१ ।

यह स्पष्ट हो जाने पर कि शकराज का प्रेम, प्रेम नहीं एक दिखावा मात्र था, एक प्रवचना थी, कोमा की सहज सरलता उसका परित्याग करने के लिए तैयार नहीं होती । शकराज को छोड़ने और अपना ने के प्रश्न को लेकर उसके भीतर अन्तर्द्वन्द्व खिड़ जाता है । यह अन्तर्द्वन्द्व उस समय और तीव्र हो जाता है, जब आचार्य मिहिरदेव उसे हृदय को सम्हालने और इस प्रेम-बन्धन को तोड़ डालने का आदेश देते हैं^२ । उस समय कोमा अपने मन की बात एक मार्मिक भाव-चित्र के माध्यम से बड़े ही करुण स्वर में कहती है --^३ तोड़ डालूँ पिता जी । मैंने जिसे अपने आंसुओं से सींचा, वही दुलार मरी बल्लरी, मेरे आंस बन्द कर चलने में मेरे ही पैरों से उलफ गई है । दे दूँ एक फटका-- उसकी हरी हरी पत्तियां कुचल जायें और वह क्षिन्न भिन्न होकर घुल खे लोटने लगे ? न, ऐसी कठोर आज्ञा न दो^३ । अन्त में कोमा

१- ध्रुवस्वामिनी, पृ०४३

२- वही, पृ०४५

३- वही, पृ०४५

उस समय शंकराज का साथ छोड़ने पर विवश हो जाती है, जब शंकराज अपने कामोन्माद में उसके सुकुमार स्वाभिमान को कुचल कर ध्रुवस्वामिनी से मिलने के लिए जधीर हो उठता है कोमा धर्मपिता के पास जाने का संकल्प ले लेती है और उसकी चेतना उसे बोध भी दे देती है --^१ प्रेम का नाम न लो । वह एक पीड़ा थी जो छूट गई । उसकी कसक भी धीरे-धीरे दूर हो जायगी^२ ।

रामगुप्त

पुरुष पात्रों में प्रमुख पात्र रामगुप्त है । आदर्श की दृष्टि से उसका चरित्र गिरा होने पर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत ही स्वाभाविक बन पड़ा है । उसमें मनोविज्ञान की वे सभी सम्भावनाएँ मिल जाती हैं, जो उस परिस्थिति में पड़े हुए किसी भी व्यक्ति में जन्म ले सकती हैं । रामगुप्त स्वभाव से विलासी है । विलासी व्यक्ति स्कान्त स्वार्थी होने के साथ ही सन्देही भी होता-रहता है । उसका स्कान्त स्वार्थ उसकी दृष्टि को संकुचित करता है और सन्देह उसे और कठोर बना देता है । ज्यों-ज्यों उसका सन्देह पुष्ट होता जाता है , त्यों-त्यों उसका मानसिक तनाव भी बढ़ता जाता है, जिसको दूर करने के लिए वह एक ओर अपने मन को राग-रंगों व नाच-गानों में उलका देता है, दूसरी ओर भीतर की कबोट और अवसाद की पीड़ा को मदिरा के प्याले में डुबोने लगता है । रामगुप्त के जोवन में हमें उक्त सभी बातें मिल जाती हैं । ध्रुवस्वामिनी के महादेवी बनने के बाद से ही रामगुप्त के हृदय में चन्द्रगुप्त को लेकर ध्रुवस्वामिनी के प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाता है । उसके हृदय में यह बात पैठ जाती है कि --^३ ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त की आकांक्षा धीरे-धीरे जाग रही है^२ । रामगुप्त का यह सन्देह साधारण भी है । वह इस तथ्य से अवगत है कि ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता पत्नी है जिसे बलात् और क्लृ द्वारा महादेवी बनाया गया है । अतः उसका यह सन्देह सर्वथा स्वाभाविक है ।

व्यक्ति वस्तुस्थिति से अवगत होते हुए भी उसके अप्रिय अंश पर आवरण डालना चाहता है । क्योंकि उसका चेतन मन अप्रिय प्रसंगों से बचने का प्रयास करता है

१- ध्रुवस्वामिनी, पृ० ४६

२- वही, पृ० २०

३- वही, पृ० ६२

जब कोई दुःखद प्रसंग आ जाता है, तब वह उसके सत्यस्वरूप को फुठलाने के लिए कोई न कोई आधार खोज लेता है। उसके माध्यम से वह अपने आपको यह बोध दे देना चाहता कि मेरा चिंतित विषय मेरे ही अनुकूल है। प्रिय के प्रति जांच-पड़ताल की प्रक्रिया के पीछे यही भावना काम करती रहती है। व्यक्ति अपने विश्वास को सुदृढ़ आधार देने के लिए, अपने सन्देहों का निराकरण करने पर विवश हो जाता है। रामगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी के प्रति अपने सन्देहों के सन्दर्भ में सङ्गधारिणी को नियुक्त करना और स्वयं कुपकर उसके साथ होने वाली ध्रुवस्वामिनी की बातों को सुनना इसी तथ्य का परिचायक है। यह जानते हुए कि उसका सन्देह बिल्कुल ठीक है, रामगुप्त अपने आप को सन्तुष्ट देने के लिए कुपकर यह जानकारी पाना चाहता है कि ध्रुवस्वामिनी अब भी चन्द्रगुप्त को प्यार करता है या नहीं। उसका चेतन मन चाहता है कि उसका सन्देह असत्य हो जाता, जिससे उसे अपने अहं को सन्तुष्ट करने का अवसर मिल जाता।

ज्यों-ज्यों घटना-क्रम का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों उसके सन्देह की सीमा भी बढ़ती जाती है। अन्ततः कुमार और ध्रुवस्वामिनी के व्यवहारों से उसके सन्देह को और सुदृढ़ आधार मिल जाता है। जिस समय ध्रुवस्वामिनी का पता लेकर कुमार रामगुप्त को फटकारता है, उस समय वह कुमार के प्रति और संदिग्ध हो उठता है -- 'देखो कुमार के हृदय में छिपा हुआ कलुष कितना... कितना... मयानक है^१।' अन्त में ध्रुवस्वामिनी का भावावेश में आकर चन्द्रगुप्त को अपनी बांहों में भर लेना और उसके जाने पर से पड़ना, उसके सन्देह को और पुष्ट कर देता है^२।

प्रत्येक व्यक्ति मूलतः आस्थावान होता है, विषय और रुचि के अनुसार इसके कई स्तर हो जाते हैं। यही आस्था अपनी के प्रति एक धारणा बना लेती है, और विश्वास उसका पोषण करता है। लेकिन जब एक बार व्यक्ति का विश्वास उस पर से उठ जाता है, तब फिर जमता नहीं और उसकी आस्था अधर में ही टूट जाती है। अविश्वास का बीजारोपण उस समय होता है, जब व्यक्ति को यह सन्देह हो जाता है कि उसके प्रिय की रुम्हान केवल उसी के प्रति नहीं अन्यो के प्रति भी है। उस समय उसका अहं ज़ुव्य हो उठता है, और प्रिय के प्रति उसे

१- ध्रुवस्वामिनी, पृ० ३१

२- वही, पृ० ३३।

अरुचि सी हो जाती है। यही अरुचि उसे प्रिय की सुरक्षा-व्यवस्था, तथा सम्मान - रक्षा के प्रति उदासीन बना देती है। विलासी रामगुप्त की ध्रुवस्वामिनी के प्रति वासनात्मक आसक्ति उस समय सीमा और सिन्नता में बदल जाती है, जब उसे इस बात का सन्देह हो जाता है कि ध्रुवस्वामिनी उसके प्रति अनन्य न होकर चन्द्रगुप्त के प्रति आसक्त है। व्यक्ति की यह मानसिक स्थिति काम-कुण्ठा का ही एक रूप है, जिसका सक्रिय पक्ष उसे दूर और अव्यवस्थित बना देता है। काम-कुंठित व्यक्ति का विकृत 'अहं' स्कान्त स्वार्थ में सिमट कर असहिष्णु हो जाता है। रामगुप्त की कुंठा इसी प्रकार होने की है। परिस्थितियों से प्रभावित होकर उसकी कामुकता यौन-विकृतियों का रूप ले लेती है और वह अव्यावहारिक हो जाता है।

रामगुप्त की दूरता और अव्यवहारिकता उसकी काम-कुण्ठा की ही उपज है। उसकी अतृप्त वासना ध्रुवस्वामिनी पर स्वाधिकार पाने के लिए अधीर हो उठती है, लेकिन उसे अपने प्रति उदासीन और चन्द्रगुप्त के प्रति आसक्त पाकर उसका 'अहं' तिलमिला उठता है, यहीं से उसमें यौन-विकृतियाँ आने लगती हैं।

काम-कुण्ठा जन्य यौन विकृतियों से ग्रसित व्यक्ति दूर और पर पीड़ा का जाता है उसका उद्देश्य आलम्बन को पीड़ा और कष्ट पहुँचाना होता है^१। रामगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी की उपेक्षा कर उसे मानसिक पीड़ा पहुँचाना, उसकी यौन विकृति का ही परिचायक है। उसकी यह दूरता उस समय अपनी सीमा पार कर जाती है, जब वह शक-शिविर में निरपराध कोमा और मिहिरकुल की नृशंस हत्या करा कर चन्द्रगुप्त पर कायरों की मांति पीढ़े से छिपकर आक्रमण करता है। रामगुप्त का यह व्यवहार उसके मानसिक दोष तथा तज्जन्य अपराध की उस कोटि में आ जाता है, जिसमें व्यक्ति काम-वासना की सन्तुष्टि न होने पर अपने प्रतिद्वंद्वी की हत्या कर डालता है^२।

१- 'पर पीड़न अर्थात् पीड़ा पहुँचा कर परितुष्टि करने वालों में वे लोग आते हैं जिनकी सारी अतुराग-भावना का एक ही उद्देश्य होता है कि अपने आलम्बन को पीड़ा और कष्ट पहुँचाया जाय। यह भावना हल्के रूप में दूसरों को अपमानित करने की प्रवृत्ति के रूपमें दिखाई देती है।'

-- प्रायडः मनोविश्लेषण, अनुवादक देवेन्द्र कुमार, पृ० २७६

२- डा० पद्मा अग्रवालः मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें, पृ० २१६

इस प्रकार रामगुप्त के चरित्र का विकास परिस्थितियों की सारी सम्भावनाओं के अनुरूप हुआ है। वह एक ऐसे विलास-जर्जर व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है जो काम-कुंठा जन्य जोम कष्टमय ग्लानि, आक्रोश, अधीरता तथा खिन्नता आदि भावावस्थाओं के कक्षाघातों से व्याकुल होकर अपना विवेक लौ बैठा है। लेखक ने इसके चारित्रिक विकास के द्वारा विलासिता के कर्म में पड़े हुए व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं और उसकी प्रतिक्रियाओं का बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। उसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जैसे हम असम्भव और अस्वाभाविक कह सकें।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसाद ने अपने प्रमुख पात्रों के अंतस्सल में बैठकर उन्हें देखा और विभिन्न परिस्थितियों के बीच उनमें उठने वाली विविध भाव-धाराओं के घात-प्रतिघात का बड़ा सुन्दर मनोवैज्ञानिक निरूपण किया है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उन्होंने अतीत भारत की जो मंकांकी प्रस्तुत की है, वह अपने-आप में पूर्ण और अप्रतिम है। उसपर उमरने वाले उदात्त चरित्रों की सृष्टि में भारतीय संस्कृति साकार हो उठती है। ये पात्र आदर्श होते हुए भी, कौरे आदर्श के टीले पर खड़े न होकर जीवन के यथार्थ घरातल पर खड़े हैं -- बिल्कुल हमारे-आपके बीच। उनमें छिप-खंड की जड़ता नहीं, जीवन की तरलता और सहज संवेदनशीलता है। जिस प्रकार सागर अपने अन्तर में आकुल तरंगों का संघात स्मैट कर गुरुगम्भीर और मर्यादित बना रहता है, उसी प्रकार ये पात्र भी अपने मनोविकारों -- विविध भाव-बोधों के द्वन्द्व को संयम-सीमा में स्मैट कर उनके उदात्तीकरण द्वारा जीवन की गहराइयों में उतर जाते हैं। मल्लिका, देवसेना, स्कन्द, चन्द्रगुप्त, चाणक्य जैसे उदात्त चरित्रों को कौन मूल सकता है? जो अन्तर्द्वन्द्वों के तीव्र मंकावात में भी अपने पथ से विचलित नहीं होते। भारतीय शील-स्वभाव का प्रतिनिधित्व करने वाले ये पात्र युग-युग तक ह अपर रहेंगे।

(तृतीय खण्ड)

द्वादश - अध्याय

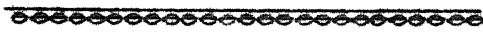
-०-

कहानी तथा उपन्यास-साहित्य

द्वादश - अध्याय

-०-

कहानी तथा उपन्यास - साहित्य



मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'प्रसाद' के कथा-साहित्य का भी एक विशेष स्थान है। उनकी कहानियों और उपन्यासों में, जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में पड़े हुए व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं और उसकी प्रतिक्रियाओं का बड़ा सुन्दर निरूपण हुआ है। सर्वप्रथम मैं 'प्रसाद' के कहानी-साहित्य पर विचार करना चाहूंगा।

'प्रसाद' का कहानी-साहित्य पांच संग्रहों में विभक्त है -- 'ह्याया', 'प्रतिध्वनि', 'आंधी', 'आकाशदीप' और 'इन्द्रजाल'। चूंकि 'प्रसाद' जो मूलतः कवि थे और कवि प्रधानतया भाव-लोक का प्राणी होता है, अतः प्रसाद की अधिकांश कहानियां भावात्मक हैं। प्रत्येक कहानी किसी-न-किसी भाव-बोध के स्तर-विशेष को स्पर्श करती हुई चलती है। प्रसाद की इन भावात्मक कहानियों को हम मुख्यरूप से दो वर्गों में रख सकते हैं -- (१) प्रेममूलक कहानियां और (२) सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित कहानियां। प्रेममूलक कहानियों के पुनः दो वर्ग हो जाते हैं-- (१) प्रेम-प्रसंग से सम्बन्धित कहानियां, जिनमें पुरस्कार, आकाशदीप, आंधी, ग्रामगीत आदि कहानियां प्रमुख हैं। और (२) दाम्पत्य-जीवन से सम्बन्धित कहानियां, जिनमें 'विजया', 'बूढ़ीवाली', 'भीख में' आदि कहानियां विशेष उल्लेखनीय हैं। 'प्रसाद' की प्रेम-प्रसंग तथा सामाजिक दायित्व-बोध के परिवेश में लिखी गई कहानियों में मनोवैज्ञानिक स्थितियों और मानसिक अवस्थाओं तथा अन्तर्द्वन्द्वों का चित्र अधिक उमर कर आया है। अतः यहां हम प्रेम-प्रसंग तथा सामाजिक समस्याओं से सम्बद्ध उनकी कुछ चुनी कहानियों को लेकर उनका मनोवैज्ञानिक विवेचन करेंगे।

प्रेम-प्रसंग से सम्बन्धित कहानियाँ : पुरस्कार--

‘पुरस्कार’ नामक कहानी काकेन्द्रविन्दु मधुलिका के अन्तर्भूत को मथने वाले अन्तर्द्वन्द्वों का वह संघात है, जिसमें एक ओर ‘सुख-स्वप्नों’ से अनुप्राणित स्नेह-सम्बन्ध का अनुरोध मरा आग्रह है और दूसरी ओर देश-प्रेम से ओत-प्रोत कर्तव्य को पुकार । मधुलिका मगध के सामने कोशल की लाज रखने वाले वीर सिंहमित्र की कन्या है^१ । कोशल के परम्परा-केशल गत पर्व -- कृषि महोत्सव के लिए उसके पितृ-पितामहों की भूमि का चुनाव हो जाता है, जिसके बदले में वह राजा के अनुग्रह की अधिकारिणी हो जाती है, लेकिन उसका स्वामिमान इस अनुग्रह को स्वीकार नहीं करता है और वह विनम्रतापूर्वक केवल पितृ-सेत की देख-रेख का भार अपने ऊपर ले लेती है । महोत्सव में सम्मिलित मगध का राजकुमार उत्सव की संचालिका मधुलिका के मोले सौन्दर्य पर रीफ उठता है, और महोत्सव-समाप्ति के दूसरे दिन वह स्कान्त में उससे प्रणय-निवेदन करता है^२ । मधुलिका उसके प्रेम-प्रस्ताव को ठुकरा कर उसे मर्माहत कर देती है, और वह चोट खाकर लौट जाता है^३ । यहीं से मधुलिका के हृदय में अरुण के प्रति प्रेम का सूत्रपात हो जाता है । जिस प्रकार जल से भरे हुए पात्र को तह में पैठी हुई वस्तुएं उस पात्र को फक्कटोर देने पर ऊपर आ जाती हैं, उसी प्रकार अरुण के प्रेम-प्रलाप और अनुनयभरे अनुरोध का स्पर्श पाकर मधुलिका के अन्तःस्थल में पलते प्रेम की स्निग्ध अनुभूतियाँ ऊपर आ जाती हैं । राजकुमार को चोट पहुंचा कर वह स्वयं आहत हो उठती है, हृदय कबोटने लगता है, आँसू छलछला उठती हैं और हृदय करुणा से भर जाता है -- चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा अश्व वेग से चला जा रहा था और मधुलिका निष्पूर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई ? उसके हृदय में टीस-सी होने लगी । वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी ।^४

१-पुरस्कार(आंधी) पृ० १४५

२- मेरा हृदय तुम्हारी उस कवि का भक्त बन गया है देवि । + + +

सरलता की देवि । मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ ।

-- पुरस्कार (आंधी), पृ० १४७

३- पुरस्कार (आंधी) , पृ० १४७

४- पुरस्कार (आंधी) , पृ० १४७

जीवनगत अमावों की अनुमृति अतीत के सुखद क्षणों की स्मृति जगा कर हृदय को और व्याकुल बना देती है । यह आकुलता उस समय और बढ़ जाती है, जब उसमें अतीत जीवन की मूलों का दर्शन भी मिल जाता है । उस समय व्यक्ति की अधीरता अपने अतीत के उन सुखद क्षणों को पुनः पा जाने के लिए विकल हो उठती है, जिन्हें उसने अपनी मूलों से खो दिया था । अमावों की मार से जर्जर होकर मधुलिका भी अपने अतीत के सुखद प्रसंगों की स्मृति में खो जाती है और उसकी निरीह भावुकता उन क्षणों को पुनः लौटा लेने के लिए व्यग्र हो उठती है -- शीत काल की रजनी, मेघों से मरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप ।

मधुलिका का हाजन टपक रहा था । ओढ़ने की कमी थी । वह ठिठुर कर स्क कोने में बैठी थी । + + + आज बहुत दिनों पर उसे बीते हुई बात स्मरण हुई -- दो नहीं नहीं तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधुक के नीचे प्रभात में-- तरुण राजकुमार ने क्या कहा था ? + + + आज मधुलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी । दारिद्र्य की ठोकरी ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया था । प्रासाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र-- उन सुखे डंठलों के रन्ध्रों से, तम में-- बिजली के आलोक में -- नाचता हुआ दिखाई देने लगा ।^१

अभावमूलक जीवन में सुख-स्वप्नों के भाव-चित्रों की रेखाएं और गहरी हो जाती हैं, व्यक्ति का जीवन आन्दोलित हो उठता है । युवक राजकुमार के प्रणय प्रस्ताव की छोटी-सी घटना मधुलिका के समूचे जीवन को आन्दोलित कर देती है । उसका अचेतन मन, उसे आधार बनाकर, मावी सुख-स्वप्नों का संसार बसाने लगता है । राजकुमार के पुनरागमन पर, उसके बाहुबल द्वारा अपने सुख-स्वप्नों को साकार देखने की उसकी अधीर लालसा राजकुमार को आत्म-समर्पण कर देती है । -- 'आह ! मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी राजकुमार ।' आकांक्षा का अन्तरंग लाम का लोभी होता है, और इसकी अतिशयता व्यक्ति की नैतिकता को दबा देती है । जिस समय चतुर राजकुमार अपने प्रेम-व्यवहार और बाहुबल का विश्वास दिलाकर

१- पुरस्कार (बांधी), पृ० १४८

२- वही० (बांधी), पृ० १५०

मधुलिका को प्रभावित कर लेता है, उस समय मधुलिका का भावुक हृदय, मावी सुख-स्वप्नों में खो जाता है और वह अपनी समूची शक्ति से नैतिकता के स्वर को दबाकर मातृभूमि के प्रति होने वाले षड्यन्त्र में अरुण का साथ देना स्वीकार कर लेती है--

‘मधुलिका की आंखों के आगे विजलियां हंसने लगीं -- जो कहोगे वही कहेगी, मन्त्रमुग्ध सी मधुलिका ने कहा’^१। यद्यपि मधुलिका की सौस्थ्य-लालसा उसके अन्तःकरण के स्वर को दबा देती है, लेकिन वह स्वर समाप्त नहीं होता, उसे वह दबाने का जितना ही प्रयास करती है, वह उतना ही सशक्त होता जाता है। यही से मधुलिका के जीवन में तीव्र अन्तर्द्वन्द्वों का घात-प्रतिघात प्रारम्भ हो जाता है। मधुलिका का अन्तर्द्वन्द्व उस समय बहुत गहरा हो जाता है, जब कोशल दुर्ग के दक्षिण मधुलिका द्वारा प्राप्त भूमि के मार्ग से होकर अरुण दुर्ग-विजय की योजना बनाकर आक्रमण की पूरी तैयारी कर लेता है। जिस समय मधुलिका अरुण से विदा होकर सुनसान पथ से होती हुई अपनी फोपड़ी की ओर बढ़ती है, उस समय नीरव-निशा का शान्त वातावरण उसके मानसिक जगत में विविध भाव-चित्रों की सृष्टि करने लगता है, उसमें अनेक चित्र बनने-बिगड़ने लगते हैं। उसकी आंखों में सहसा दो चित्र उमर जाते हैं -- “पहला देशभक्त पिता का, जिन्होंने मगध के सामने कोशल की लाज बचायी थी और दूसरा कोशल के चिर शत्रु मगध के राजकुमार का। दोनों एक-दूसरे से भिन्न दो विरोधी पक्षों के प्रतिनिधि और इन दोनों से जुड़ा हुआ मधुलिका का जीवन। एक से उसके स्वाभिमान और राष्ट्रीय सम्मान का प्रश्न जुड़ा हुआ है, और दूसरे से हृदय की सुकुमार कल्पनाओं से पोषित स्नेह-सूत्र। एक ओर देश-प्रेम की पुनीत भावनार्यें हैं, दूसरी ओर देश-द्रोह का दर्शन, एक ओर कर्तव्य का आह्वान है, दूसरी ओर प्रेम की पुकार। दोनों के आलोड़न-विलोड़न से उसका जीवन डुल्ल हो उठता है, -- चेतना-पटल पर पिता और प्रेमी के चित्र तेजी से उमरने और दबने लगते हैं। अन्ततः देश-भक्ति से ओत-प्रोत कर्तव्य-परायण पिता का चित्र अपने विराट परिवेश में उसकी सारी चेतना को समेट लेता है। सहसा मधुलिका का मन

विवर्धित हो जाता है, मधुरता नष्ट हो जाती है, सारे सुख-स्वप्न तिरोहित हो जाते हैं, और उसका सुप्त स्वामिमान जाग उठता है -- पहला मय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो ? फिर सहसा सोचने लगी -- वह क्यों सफल हो ? श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के हाथ में क्यों चला जाय ? मगध कोशल का विर शत्रु, ओह ! उसकी विजय^१ । इसी समय उसे कोशल-नरेश का कथन स्मरण हो आता है -- कोशल-नरेश ने क्या कहा था ? सिंह मित्र की कन्या । सिंह मित्र कोशल का रक्षक वीर उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है ? नहीं नहीं । मधूलिका । मधूलिका ॥ जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे । वह पगली की तरह चिल्ला उठी । रास्ता भूल गई^२ । अन्त में देश-द्रोह की मर्मन्तिक पीड़ा उसे विजिप्त बना देती है और वह अपनी व्याकुलता में चीख उठती है --, बांध लो, मुझे बांध लो ? मेरी हत्या करो । मैंने अपराध ही ऐसा किया है ।.... मुझे बांध लो, राजा के पास ले चलो^३ ।

अन्ततोगत्वा प्रणय-प्रेम पर देश-प्रेम विजयो होता है । मधूलिका के रहस्योद्घाटन पर अरुण का विजय-अभियान असफल हो जाता है, और वह कोशल सैनिकों द्वारा बन्दी बना लिया जाता है ।

मधूलिका के जीवन में बन्दी का दूसरा दौर उस समय आता है जब जनता की मांग पर अरुण को प्राण-दण्ड देने की घोषणा कर दी जाती है, और मधूलिका को गुप्त सूचना देकर राष्ट्र की रक्षा करने के लिए पुरस्कार स्वरूप मन-चाही मांग मांगने की छूट । जिस समय मधूलिका भीड़-संकुल समा-मण्डप में प्रवेश करती है, उस समय बन्दी अरुण को देखकर उसे अपने विश्वास-घात पर ज़ोम भी होता है और अपनी राष्ट्र-भक्ति पर गर्व भी । अरुण के सम्मुख वह घुणा और लज्जा से गड़ जाती है । इसी समय राजा घोषणा करता है -- मधूलिका ।

१- पुरस्कार (आंधी), पृ० १५३

२- वही० (आंधी), पृ० १५३

३- वही (आंधी), पृ० १५४

तुम्हें जो पुरस्कार लेना हो मांग लो । + + + मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुम्हें देता हूँ ।^१ मधुलिका के सुप्त सुखों की लालसा एक बार पुनः अंगड़ाई लेती है, लेकिन बन्दी अरुण से आँख मिलते ही वह संकुचित हो कर सिमट जाती है । और मधुलिका अपना निर्णय दे देती है --^२ तुम्हें रुक न चाहिए । अन्त में राजा के बहुत आग्रह पर वह यह कहती हुई बन्दी अरुण के पाम जाकर खड़ी हो जाती है --^३ तो तुम्हें भी प्राण-दण्ड मिले ।^३ इस प्रकार वह राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए, प्रिय के प्रति किए गए विश्वासघात का प्रायश्चित्त कर लेती है ।

उक्त कहानी में वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के बीच होने वाले अन्तर्द्वन्द्वों के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सुन्दर और सूक्ष्म विवेचन हुआ है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहानी बड़ी ही सफल बन पड़ी है ।

आकाश- दीप

‘आकाश-दीप’ का मूल स्वर ‘पुरस्कार’ से थोड़ा भिन्न है । ‘पुरस्कार’ में कर्तव्य और प्रेम को लेकर अन्तर्द्वन्द्व प्रारम्भ होता है । उसमें एक ओर व्यक्तिगत जीवन का आग्रह है और दूसरी ओर सामाजिक जीवन का । ‘आकाश-दीप’ में केवल व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध प्रेम-प्रसंग के उतार-चढ़ाव का चित्रांकन है । ‘आकाश-दीप’ की नायिका ‘चम्पा’ जाम्बवी तट पर स्थित चम्पा नगरी की एक जात्रिय बालिका है । माता के देहावसान पर वह अपने विधुर पिता के साथ रहने लगती है जो पोताध्यक्षा मणिमद्व के यहाँ प्रहरी है । जल-दस्युओं के आक्रमण में पिता की मृत्यु हो जाने पर वह अकेली हो जाती है, और एक दिन मणिमद्व के घृणित प्रस्ताव का प्रतिवाद करने पर वह मणिमद्व द्वारा बन्दिनी बना ली जाती है । महानायक बुद्ध गुप्त ताम्रलिप्त का एक जात्रिय कुमार है, जो परिस्थितिवश जल-दस्यु बनकर मणिमद्व के पोत पर आक्रमण करता है, और उसमें बन्दी बना लिया जाता है । एक रात समुद्री तूफान के बीच दोनों बन्दी -- चम्पा और बुद्ध गुप्त, बन्धन-मुक्त होकर एक द्वीप पर पहुँच जाते हैं, और उसका नाम चम्पा-द्वीप रख दिया जाता है

- १- पुरस्कार (आंधी), पृ० १५६
 २- वही (आंधी), पृ० १५६
 ३- वही (आंधी), पृ० १५६

यहीं से दोनों के परिचय का दक्षिण प्रोत प्रेम-पयस्विनी में बदल जाता है, जिसकी ऊपरी स्तर तो शान्त रहती है, लेकिन अन्तःस्थल अशान्त बना रहता है। पिता और पितृ हन्ता प्रेमी को लेकर चलने वाले अन्तर्द्वन्द्वों के आघात से चम्पा विकर्तव्य-विमूढ़ हो जाती है। पिता की स्मृति, आहत अभिमान, और प्रेमाकर्षण का उद्वेलन, उसके मानस का मन्थन करने लगता है। एक ओर स्वर्गीय पिता के प्रति भक्ति-भावना का आवेग, दूसरी ओर पितृहन्ता प्रेमी के प्रति घृणा, प्रेम तथा कृतज्ञता का भाव, इन सब का सम्मिलित फंफावात उसके जीवन को जुाव्य बना देता है। चम्पा का यह क्षण उस समय अपनी सीमा का अतिक्रमण कर जाता है, जब बुद्ध गुप्त उसके 'आकाश दीप' का उपहास कर उसके मर्मस्थल को आहत कर देता है।

व्यक्ति अपनी आस्थाओं की सुरक्षा के लिए भावों का संरक्षण चाहता है, वह चाहता है कि उसके साथ-साथ उसके अपने भी उसकी आस्थाओं के प्रति सदैव होकर उनका सम्मान करें। जब अपनी द्वारा ही उसकी आस्थाओं की उपेक्षा होने लगती है, तब उसका हृदय अवसाद के बोझ से दब जाता है, उसको गहरी ठेस पहुँचती है। यदि व्यक्ति की आस्था किसी ऐसी वस्तु के प्रति है, जिसके साथ उसके जीवन का अटूट सम्बन्ध है और उस आस्था पर चोट पहुँचाने वाला स्वयं उससे उस वस्तु को छीनने वाला है, तो उसके प्रति व्यक्ति के जुाव्य आक्रोश की प्रतिक्रिया बड़ी तीव्र हो जाती है। वह आस्था को चोट पहुँचाने वाले उस व्यक्ति की मर्त्सना कर अपने हृदय की जलन को शान्त करने के लिए अवीर हो उठता है और उसके प्रति उसे गहरी वितृष्णा हो जाती है। जिस समय पितृ हन्ता बुद्धगुप्त स्वर्गीय पिता की स्मृति में जलार जाने वाले चम्पा के 'आकाश दीप' का उपहास कर उसका अपमान करता है, उस समय चम्पा की आंखों में अतीत के चित्र उमर आते हैं-- एक ओर पिता का चित्र खिलखिला उठता है, दूसरी ओर पितृ हन्ता बुद्धगुप्त का। चम्पा का हृदय पिता के हत्यारे बुद्धगुप्त के प्रति घृणा-भाव से भर जाता है और उसके प्रति उसका बना हुआ आक्रोश इन शब्दों में फूट पड़ता है-- 'नहीं, नहीं, तुमने दस्युवृत्ति छोड़ दी, परन्तु हृदय वैसा ही अकरुण, सतृष्ण और ज्वलन-शील है। तुम भगवान के नाम पर हमें उड़ाते हो। मेरे आकाशदीप पर व्यंग्य करते हो। नाविक! उस प्रचण्ड आंधी में प्रकाश की एक-एक किरण के लिए हम

लोग कितने व्याकुल थे ? मुझे स्मरण है, जब मैं छोटी थी, मेरे पिता नौकरी पर ससुद्र में जाते थे -- मेरी माता मिट्टी का दोपक बांस को पिटारो में भागीरथी के तट पर बांस के साथ ऊंचे टांग देती थी । + + + आह ! नाविक ! यह उगी की पुण्य स्मृति है । मेरे पिता, वीर पिता, को मृत्यु के निष्ठुर कारण जलदस्यु हट जाओ^१ । चम्पा के अन्तर्द्वन्द्वों का दर्शन उस समय और तीव्र हो जाता है, जब बुद्ध गुप्त क्लृकलायी आंखों से उसके सामने घुटनों के बल बैठ जाता है और उसके इस अनुय पर नारी का सहज संवेदनशील हृदय पसीज उठता है । जिस प्रकार शीतल जल के क्लृटे से दूध का उफान दब जाता है, लेकिन उसको उष्णता ज्यों की त्यों बनी रहती है, उसी प्रकार बुद्ध गुप्त के प्रेम-पूर्ण व्यवहार और मनुहार कर्ने से चम्पा का आक्रोश ठंडा पड़ जाता है और वह अपना प्रतिशोध लेने के लिए कृपाण को अतल जल में डुबो भी देती है, फिर भी पितृ-हन्ता के प्रति उसके अन्तर्मन में पैठी हुई प्रतिशोध की भावना मरती नहीं । बुद्ध गुप्त के द्वारा यह पूछे जाने पर किंतो आज से मैं विश्वास करूं, क्षमा कर दिया गया^२ । चम्पा का द्बन्द्वजर्जर हृदय सिसक पड़ता है-- विश्वास ? कदापि नहीं बुद्ध गुप्त । जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूं । मैं तुम्हें घृणा करती हूं, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूं । अन्धेर है जलदस्यु । तुम्हें प्यार करती हूं^३ चम्पा रो पड़ी ।

चम्पा के उक्त कथन का स्क-स्क शब्द उसकी आकुल आत्मा की कराह में डूबा हुआ है । हृदय बुद्धगुप्त पर विश्वास कर लेना चाहता है, लेकिन बुद्धि उसका विश्लेषण कर उसे यथार्थ के कठोर घरातल पर खड़ा कर देती है । बुद्धगुप्त द्वारा बार-बार यह विश्वास दिलाने पर कि मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूं चम्पा^४ उसकी बुद्धि इस पर विश्वास नहीं करती और वह अपनी विवशता पर आह खींच कर रह जाती है -- यदि मैं इसका विश्वास कर सकती बुद्धगुप्त, वह दिन कितना सुन्दर होता ? वह क्षण कितना स्पृहणीय । आह ! तुम इस निष्ठुरता में भी

१- आकाश दी, पृ० १५, १६

२- वही पृ० १८

३- वही पृ० १८

४- वही पृ० १६

कितने महान होते^१? जिस प्रकार एक ही स्थान पर बार-बार चोट लगने से वह स्थान कठोर हो जाता है, उसी प्रकार हृदय भी द्वन्द्वाघातों के अतिरेक से जानी संवेदना खो देता है और व्यक्ति को काम-शक्ति अन्तर्मुखी हो जाती है, जिसके फलस्वरूप वह जीवन के प्रति उदासीन होकर आत्मकेन्द्रित हो जाता है^२। वम्पा की काम-शक्ति भी अन्तर्मुखी हो-हो कर उसे वाह्य विषयों के प्रति उदासीन बना देती है और उसके हृदय में चलने वाला अन्तर्द्वन्द्व उसे आसक्ति से ऊपर उठा कर जीवन के प्रति बिलकुल तटस्थ बना देता है। बुद्धगुप्त द्वारा स्वदेश लौटने के प्रस्ताव पर वह अनासक्त भाव से कहती है -- 'बुद्ध गुप्त ! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है, सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ, विमर्षों का सुख भोगने के लिए, और मुझे छोड़ दो इन निरीह मोले-माले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिए^३।'

इस प्रकार घृणा और प्रेम के बीच चलने वाले अन्तर्द्वन्द्वों की जितनी दिशाएं और विधाएं हो सकती हैं, उन सब का बड़ा ही सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक निरूपण इस कहानी में हुआ है।

आंधी

इस कहानी का प्रेम-प्रसंग विवाहित रामेश्वर और अविवाहित लैला के मधुर सम्बन्ध से प्रारम्भ होता है। लैला प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में पली हुई एक सुकुमार और सरल हृदय की नवयुवती है। उसके स्वभाव में शिशु की सरलता है और भावों में सहज गम्भीरता। उसका जीवन एक ऐसी खुली पुस्तक है, जिसे कहीं से भी पढ़ा जा सकता है, उसमें कोई डराव-छिपाव नहीं, कोई विरोध-विकार नहीं। उसका मोला हृदय सहज ही किसी बात का विश्वास कर लेता है, उसे सदा के लिए अपनी पूरी आस्था और विश्वास के साथ अपना लेता है। उसकी सरलता

१- आकाश दीप, (पृ० १६)

२- 'काम-शक्ति के अन्तर्मुख हो जाने से मनुष्य वाह्य वस्तुओं के प्रति आकर्षित होने के स्थान पर अपने ही कल्पित जगत में लीन, मग्न और सन्तुष्ट रहने लगता है। वह अपने में ही समा-भूला रहता है। उसका 'अहं' उसके ध्यान, सोच, विचार का केन्द्र होता है।' -- डा० पद्मा अग्रवाल: मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएं

३- आकाश-दीप, पृ० २०

रामेश्वर के प्रथम प्रेम को अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाकर उसे आत्मसमर्पण कर देती है। प्रिय के अभाव में प्रिय-पत्र ही उसके मातृक हृदय का आधार बन जाता है, और उसे वह स्मृति स्वरूपमिस्रजो कर अपने हृदय से लगाये रहती है। उस पत्र की भाषा और उसमें निहित भावों से अनभिज्ञ होते हुए भी उसके स्पर्श-सुख की पुलक से उसे स्वर्गीय सुखानुभव होता रहता है। श्रीनाथ के मुख से यह सुनकर कि 'उसने लिखा है कि मैं तुमको प्यार करता हूँ, लैला की आँखों में स्वर्ग हंसने लगता है। उसका मोला हृदय आह्लादित होकर खिलखिला पड़ता है। लेकिन उसका सारा हर्ष उस समय विषाद में बदल जाता है, जब उसे यह मालूम होता है कि 'रामेश्वर उसे नहीं चाहता उसके बाल-बच्चे हैं।' श्रीनाथ की झूठी बात पर उसका खून खौल उठता है। वह दांत पीस कर खड़ी हो जाती है। नारी-हृदय में क्रोध का तीव्र ज्वार आता है और वह मरने-मारने पर उतारू हो जाती है। लेकिन आक्रोश का यह आवेग स्वतः शान्त होकर आँखों की राह से बाहर आ जाता है। लैला का आहत हृदय सिसक उठता है, -- 'तुम मेरे दिल से दिल्लगी करते थे कितने रंज की बात है?... वह कुछ कह न सकी। वहीं बैठ कर रोने लगी।'

हृदय का आवेग अवरुद्ध होकर मानसिक संक्रावात में बदल जाता है लैला के हृदय में भी तीव्र अन्तर्द्वन्द्वों की आंधी चलने लगती है। वह हृदय की आंधी को दबा कर एक बार प्रिय का दर्शन पाने के लिए अधीर हो उठती है, -- 'मैं उसको एक बार देखना चाहती हूँ। उसने व्याकुलता से देखते हुए कहा।' लैला की इस आकुलता में प्रिय के प्रति गहरी आस्था और अपनी निरीहता का भाव, बद्धमूल हो गया है। जिस व्यक्ति के प्रति हृदय का सीधा और सच्चा लगाव हो जाता है, उसे वह सहज ही छोड़ना नहीं चाहता। प्रिय के ऐसे व्यवहार से दुःख होने पर भी वह

१- आंधी, पृ० ३१

२- वही, पृ० ३१

३- 'उसने गहरी सांस लेकर कहा-- वह जो तेज हवा चलती है, जिसमें बिजली चमकती है, बरफ गिरती है, जो बड़े बड़े पेड़ों को तोड़ डालती है... हम लोगों के घरों को उड़ा ले जाती है आंधी, हाँ वही मेरे यहाँ चल रही है--' कह कर लैला ने अपनी छाती पर हाथ रख दिया।' -- आंधी, पृ० ३१

४- आंधी, पृ० ३२

प्रिय की आँखों में आँस डाल कर एक बार अपनी मूक प्रार्थना को दुहरा लेना चाहता है । इस तथ्य से अवगत होने पर कि 'रामेश्वर मुझे नहीं चाहता' लैला अपने हृदय की आँधी को दबा कर रामेश्वर से मिलती है । रामेश्वर के साथ लैला का यह मिलन उस समय बड़ा ही कारुणिक हो उठता है, जब वह अपने गले से एक ताबीज निकाल कर, उसमें रखी चिदंठी रामेश्वर के हाथों में रखती हुई बड़े ही शान्त स्वर में कहती है -- 'पहले बाबू जी ! इस चिदंठी को पढ़ दीजिए । + + + मैं आपही के मुँह से सुना चाहती हूँ ।' लैला के इस आग्रह के पीछे उसके प्रेम की अनन्यता, आकुलता, निरीहता और शिकायत-शिकावा का जो तीव्र संभावना है, वह उसके जीवन को फकफोर देता है । फिर भी वह शान्त और स्थिर बनी रहती है । जब रामेश्वर उसके कहने पर उस पत्र को टुकड़े-टुकड़े कर देता है, उस समय वह उसी प्रकार एक गहरी साँस खींचकर उदास हो जाती है, जिस प्रकार एक माली अपनी चिरपोषित लतिका को सहसा हवा के फों-फों से क्षिन्न-भिन्न होकर, धूल में लोटती हुई देख कर आह खींच लेता है । अन्त में लैला रामेश्वर की झौटी लड़की 'कमलो' के गले में अपनी 'मूंग' की माला डाल कर और उसका मुँह झूम कर उठ खड़ी होती है । वह बिना दाम लिए ही वापस चली जाती है । इस प्रकार वह रामेश्वर की प्रेम-थाती उसे लौटाकर, और उसके रक्त-पिण्ड पर अपने प्यार को लुटाकर अपने हृदय का बोझ उतार लेना चाहती है, लेकिन उसके जीवन में जो रिक्तता आ गई है वह भरती नहीं । यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब व्यक्ति का मानसिक तनाव अपने विकास का मार्ग नहीं पाता, तब वह मृत्यु या पागलपन का कारण बन जाता है । लैला भी अपने असफल प्रेम के मानसिक आघात को सहन नहीं कर पाती और उसकी असह्य वेदना में ही अपना दम तोड़ देती है ।

'ग्राम गीत' और 'प्रतिध्वनि'

प्रेम की असफलता और अमावों की अतिशयता से व्यक्ति की आन्तरिक शान्ति भंग हो जाती है, उसका मानसिक तनाव बढ़ जाता है, और यही तनाव

अनियंत्रित होकर उन्माद तथा पागलपन का रूप ले लेता है^१। 'ग्रामगीत' की रोहिणी और 'प्रतिध्वनि' की श्यामा का उन्माद मानसिक आघात का ही परिणाम है।

नन्दनभाट की बालविधवा पुत्री रोहिणी का प्यासा जीवन, यौवन की ऊष्मा से व्याकुल होकर ठाकुर 'जीवन' का सान्निध्य पाने के लिए ललक उठता है। लेकिन सामाजिक मर्यादा की दीवार उसकी राह में व्यवधान डालती है। वह मिलना चाहती है, लेकिन खुल कर मिल नहीं पाती। एक बार विजया के त्योहार पर उसके अचेतन मन में पैठी स्पर्श-सुख की लालसा उभर कर ऊपर आ जाती है, और वह ठाकुर जीवनसिंह के कानों पर जवारा की पत्तियाँ रख देती है। पीछे उसे इस धृष्टता के लिए गहरी फटकार मिलती है और उसी दिन से कोट में उसका आना भी बन्द हो जाता है^२। इस अप्रिय प्रसंग से रोहिणी का हृदय आहत हो उठता है। और उसका अनुराग अवरुद्ध होकर उसके जीवन को मथने लगता है। जिस प्रकार अग्नि के एक स्फुल्लिंग से बाख़्द का ढेर मड़क उठता है, उसी प्रकार ठाकुर जीवनसिंह से लगाकर, सहेलियों द्वारा की गई ठिठोली से उसके अचेतन मन का दबा आँक, उभर कर अनियंत्रित हो जाता है और वह बकने लगती है। उसे उन्माद का दौर आ जाता है^३। जिस प्रकार अचेतन मन की दबी भावनाएँ स्वप्न में स्वच्छन्द होकर बाहर आ जाती हैं, उसी प्रकार पागलपन की अवस्था में पागल व्यक्ति का हाव-भाव तथा उसका व्यवहार भी उसके अचेतन मन की दबी भावनाओं का प्रकाशन करता है। उसके एक-एक शब्द में उसके अचेतन मन का स्वर समाहित

१- 'यह रोग (उन्माद) स्त्रियों से सम्बन्धित है। प्रायः नवयुवतियों को होता है। इसका कारण मानसिक असन्तोष है, जो मनोविच्छेद का प्रधान कारण है।
+ + + अन्य मानसिक रोगों की तरह मूल प्रवृत्तियों का दमन ही इस रोग का कारण है + + + प्रायः वे ही स्त्रियाँ उन्माद के रोग की शिकार होती हैं, जिनकी काम-शक्ति का उचित विकास नहीं हो पाता।'
--डा० पद्मा अग्रवाल: मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ
पृ० ८६, ६२, ६३

२- आंधी, पृ० ११०

३- मैंने सुना उसी की सहेलियाँ उससे मेरे सम्बन्ध में हंसी कर रही थीं। वह सहसा अत्यन्त उत्तेजित हो उठी और बोली-- तो इसमें तुम लोगों का क्या? मैं मरती हूँ, प्यार करती हूँ उन्हें तो तुम्हारी बला से। सहेलियों ने कहा-- बापरे! इसकी ढिठाई तो देखो। वह और भी गरम होती गई। यहाँ तक उन लोगों ने रोहिणी को झेड़ा कि वह बकने लगी। उसी दिन से उसका बकना बन्द न हुआ।
--आंधी, पृ० ११०

रहता है । फाली रोहिणी के गीत की प्रत्येक पंक्ति में उसके अतीत जीवन की कसक और अतृप्त प्रेम की पीड़ा साकार हो उठी है । अब तक जिन भावों को वह लौक-लज्जा की भारी शिलाओं से दबाए थी, अब वही भाव उस शिला को दूर हटा कर निर्बन्ध हो जाते हैं । उसे अब किसी बात के लिए लज्जा-संकौच नहीं होता । जब जी में आता है, गाती हुई घुमा करती है --

‘बरजोरी बसे हो नयनवां में ।

ढीठ बिसारे विसरत नाहीं

कैसे बसूँ जाय कनवां में^१ ।’

इस प्रकार रोहिणी के पागलपन का कारण उसके अतृप्त जीवन का दर्शन है । इसी प्रकार ‘प्रतिध्वनि’ की श्यामा का पागलपन भी उसकी अतृप्ति और अभावगत आकुलता का प्रतिफलन है । यौवन की देहली पर पैर रखते ही विधवा माता की ह्याया भी उसके ऊपर से उठ जाती है । वह पारिवारिक सुखों से वंचित होकर अभावों में अपना जीवन जीना प्रारम्भ कर देती है । जिस प्रकार वाह्य स्रोतों के अभाव में जलाशय की शेष जल-राशि धीरे-धीरे सूखती हुई एक स्थान पर सिमट जाती है, उसी प्रकार सभी सहारे समाप्त हो जाने पर व्यक्ति की चेतना भी अपने आस में सिमट कर शेष सहारे पर केन्द्रित हो जाती है । उसके जीवन की सारी साधें उसी से लिपट जाती हैं । अभावों की मार से जर्जर, असहायावस्था में अकेली श्यामा के जीवन का एकमात्र आधार उसकी आम की बारी शेष रह जाती है । अन्य साधनों के अभाव में वह उसी पर आश्रित होकर अपना जीवन बिताने लगती है । लेकिन दुर्दिन उसे भी नहीं छोड़ता और उसकी नीलाभी हो जाती है । अनाथ लड़की के बैठने का ठिकाना भी चला जाता है । इस दुःखद घटना के असह्य आघात से श्यामा का मानसिक तनाव इतना बढ़ जाता है कि वह अपना सन्तुलन खो बैठती है । उसकी आंखों में बरसात की सी गीली चिता जल उठती है । उसके अचेतन मन की दबी हुई भावनाएं ऊपर आ जाती हैं, और वह उन्मादिनी हो जाती है । उसकी आंखों में नीलाभी का दृश्य अपना स्थायी स्थान बना लेता है, और कानों

में नीलामी की बोली -- स्क, दो, तीन-- बराबर गूँजती रहती है ।^१ स्क पगली गंगा के तट के ऊपर की ओर चढ़ रही थी । वह अपने प्रत्येक पाद-विक्षेप पर स्क,दो,तीन अस्फुट स्वर से कह देती, फिर आकाश की ओर देखने लगती थी । अमराई के खुले फाटक से वह घुस आई, और पास के वृक्षांश के नीचे घूमती हुई-- स्क,दो,तीन करके गिनने लगी । + + + महोखा स्क डाल से बोलने लगा । डुग्गी के समान उसका 'हूप हूप हूप' शब्द पगली को पहचाना हुआ-सा मालूम पड़ा । वह फिर गिनने लगी-- स्क,दो, तीन । उसके चुप हो जाने पर पगली ने डालों की ओर देखा और प्रसन्न होकर बोली -- स्क,दो, तीन^२ । पगली श्यामा द्वारा संस्था स्क, दो और तीन की आवृत्ति, उसके अंतर्गत मन में दबी हुई भावना की प्रतिक्रिया का परिणाम है ।^३ जब किसी संस्था को बार-बार दुहराया जाता है, तब उसका कुछ मतलब रहता है^४ ।

इस प्रकार माता की मृत्यु यौवन को जर्जर बना देने वाली दरिद्रता और जीविकोपार्जन का एकमात्र सहारा 'वारी' की नीलामी, इन सब के सामूहिक प्रभाव से श्यामा पागल हो जाती है ।

प्रेम को स्थायी और गम्भीर बनाने के लिए भावों पर विचारों का अंकुश आवश्यक है । विवेक के अभाव में प्रेम उच्छ्वल होकर भावुकता की लहरों में बह जाता है जिसकी परिणति पश्चात्ताप में होती है । 'सालवती' का प्रेम-प्रसंग इसी कोटि में जाता है । 'सालवती' एक ऐसे स्वाभिमानि पिता की पुत्री है, जिसे किसी का अनुग्रह स्वीकार नहीं । हिरण्य के उपासक पिता की मृत्यु पर स्वच्छन्द 'सालवती' आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होकर स्काकी जीवन बिताने लगती है । वय-विकास के साथ-साथ उसकी सहज सुख-लालसा भी बढ़ती जाती है । सम्मान-सुख और वैभव-विलास का आकर्षण उसे स्वच्छन्द प्रेम की दिशा में खींच ले जाता है ।

१- आकाशदीप, पृ० ७७

२- डा० पद्मा अग्रवाल : मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएं, पृ० २१२

वैशाली के दार्शनिक कुलपुत्रों द्वारा अनंग-पूजा के प्रसंग में होने वाली सौन्दर्य-प्रतियोगिता में भाग लेने का आग्रह किये जाने पर उसके सम्मान-सुख की प्यास और बढ़ जाती है, और भाग लेने पर वह निर्विरोध बज्जिराष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी घोषित कर दी जाती है । इसी प्रसंग अवसर पर वैशाली का उपराजा अमयकुमार उसके साथ पाणिग्रहण का प्रस्ताव रखता है, लेकिन सालवती का स्वामिमान इसे अनुग्रह समझ कर स्वीकार नहीं करता । अन्त में प्रजा तंत्र की मांग पर वह वैशाली की नगरवधू घोषित कर दी जाती है । जिस समय 'सालवती' को वैशाली की नगर वधू घोषित कर स्क रात्रि के लिए १०० स्वर्ण मुद्रा लेने की व्यवस्था कर दी जाती है, उस समय उसके हृदय में अन्तर्द्वन्द्वों का तीव्र भंकावात उठ खड़ा होता है -- स्क और सुख-साधन और वैभव-विलास का आकर्षण, दूसरी ओर कुलवधू का अधिकार छिन जाने का जोष । दोनों की द्विविधा में उसके मन की अवस्था बड़ी विचित्र हो जाती है । -- कभी तो वह सौचती-- पिता हिरण्य के उपासक थे । स्वर्ण ही संसार में प्रभु है --स्वतन्त्रता का बीज है । वही १०० स्वर्ण मुद्राएं उसकी दक्षिणा हैं, और अनुग्रह करेगी वही तिस पर इतनी संवर्धना, इतना आदर ? दूसरे क्षण उसके मन में यह बात सटकने लगती कि वह कितनी दयनीया है, जो कुलवधू का अधिकार उसके अधिकार से छीन लिया गया और उसने ही तो अपय का अपमान किया था । किसलिए? अनुग्रह न लेने का अभिमान । तो क्या मनुष्य को प्रायः वही करना पड़ता है जिसे वह नहीं चाहता । उसी ने मगध के महामंत्री के सामने प्रजातंत्र का उत्कर्ष बतलाया था । वह स्क राज मगध का प्रतिनिधि यहां बैठा है वह विरोध करना चाहती थी, परन्तु कर न सकी^१ । अन्त में विलास भावना की विजय होती है और सालवती नगरवधू होना स्वीकार कर लेती है । उसके सौन्दर्य-सरोवर में सम्पत्ति का सारा झोत सिमट जाता है, और वैशाली का भरा यौवन उसके चरणों में लोटने लगता है, जिसका प्रतिनिधित्व करता है वैशाली का प्रधान सेनापति मणिधर । वह 'सालवती' का अन्य उपासक बनकर अपने दायित्वों के प्रति उदासीन हो जाता है, जिसके फलस्वरूप युद्ध में उसका मन

१- इन्द्रजाल, पृ० १२७

२- वही, पृ० १२६

नहीं लगता ।

सालवती के स्वच्छन्द प्रेम-व्यापार में उस समय गहरा मोड़ आ जाता है, जब समाज उसे मणिघर की मृत्यु के लिए उत्तरदायी ठहरा कर उसकी मर्त्सना करने लगता है^१ । नयी सैना का संचालन करने के लिए नये सैन्यापति के चुनाव समारोह में सम्मिलित होने पर उसकी जो सामाजिक निन्दा होती है, उससे उसका 'अहं' अपमानित होता है और वह उस तिरस्कार से ज़ुल्लु होकर अपने उपवन में लौट आती है । तिरस्कार का तीव्र आघात उसे अन्तर्मुखी बना देता है और उसकी चेतना अपने अतीत में लौट जाती है । उस समय उसके सामने दो चित्र उभर आते हैं--एक कुलवधू का अधिकार दिलाने और पाणिग्रहण का प्रस्ताव रखने वाले अमयकुमार का, दूसरा कुलवधू का अधिकार छीन कर उसे वारांगना बना देने वाले मणिघर का । यहीं से सालवती के अचेतन मन में अमयकुमार के प्रति प्रेम और मणिघर के प्रति घृणा तथा तिरस्कार का भाव जन्म लेता है । मणिघर के प्रति संचित घृणा की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही वह उसके 'औरसे' से उत्पन्न अपने नवजात शिशु के प्रति उदासीन होकर उसे दूर फिंक्वा देती है । जिस समय सालवती अपने रक्तपिण्ड को अपने से अलग करने लगती है, उस समय उसका नारी-हृदय तिलमिला उठता है । मान और मोह के बीच होने वाले अन्तर्द्वन्द्वों से वह तड़प उड़ती है । यद्यपि अन्त में मान, मोह को पराजित कर देता है और नवजात शिशु सुरक्षित ढंग से दूर रखवा दिया जाता है, लेकिन माता का हृदय उसे भुला नहीं पाता । उसकी स्मृति उसे रह-रह कर कबोटने लगती है । हृदय की यह कसक उस समय और बढ़ जाती है, जब आठ बरस बाद वह पुनः सौन्दर्य प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए बाहर निकलती है और मार्ग में कुलवधू उसे वेश्यावृत्ति को जन्म देने के लिए दोषी ठहराती हुई, उसकी मर्त्सना करती और अपने शिशुओं को दिखा कर कहती है--'राष्ट्र के इन अनाथ पुत्रों की ओर देख पिशाचिनी ।' इस अवसर पर सालवती का मातृ-हृदय उमड़ पड़ता है।

१- 'एक ने कहा -- यह मणिघर की काल मुजंगिनी है ।' दूसरे ने कहा -- 'यह वैशाली का अधिशाप है ।' तीसरे ने कहा -- 'यह विचार-स्वातन्त्र्य के स्फुट्ट का-- हलाहल है ।' -- इन्द्रजाल, पृ० १३०

२- इन्द्रजाल, पृ० १३२, १३३

३- वही, पृ० १३६

उसे अपनी सुन्दर सन्तान की याद आ जाती है और वह उन बालकों की ओर देख कर रो देती है । अन्त में जब उसके अनुरोध पर, वैशाली में वेश्यावृत्ति समाप्त कर दी जाती है और आठों वेश्याएं आठों गण पुत्रों को वरण कर कुलवधुरं बन जाती है, उस समय सालवती की मानसिक स्थिति और जटिल हो जाती है । उसे अपने अतीत की वह घड़ी याद आ जाती है, जब उसने नौ बरस पहले अमय कुमार के प्रणय-प्रस्ताव को ठुकरा कर उसका अपमान किया था । वह अपने स्थान पर पाषाणी प्रतिमा सी निश्चेष्ट खड़ी रह जाती है । उसके पांव शिथिल हो जाते हैं और वातावरण और बोझिल हो उठता है । उसकी कलकलायी आंखें अमय पर टिक जाती हैं । इसी समय अमयकुमार घोषणा करता है -- 'मुझे पत्नी तो नहीं चाहिए । हां, इस बालक की मां को खोज रहा हूं, जिसको प्रसव रात्रि में ही उसकी मानिनी मां ने लज्जा-पिण्ड की तरह अपने सौन्दर्य की रक्षा के लिए फेंक दिया था । उस चतुर वैद्य ने उसकी दक्षिण भुजा पर एक अमिट चिह्न अंकित कर दिया है । उसे यदि कोई पहचान सके, तो वह इसे गोद में ले^१ ।' अमय की इस घोषणा पर सालवती के धैर्य का बांध टूट जाता है । वह बालक की ओर पागलों की तरह फफटती और चिह्न द्वारा उसे पहचान कर, अधीरतापूर्वक अमय के चरणों पर अपना सिर टेक देती है --, 'यह मेरा है देव । क्या तुम भी मेरे होगे ? ' अमय ने उसका हाथ पकड़ कर उठा लिया ।^२ इस प्रकार उच्छ्वल प्रेम की प्रताड़ना से द्रुव्य सालवती दाम्पत्य जीवन को अपना कर अपने आप को अनुशासित कर लेती है । उसके चिर प्यासे प्राण तृप्त हो जाते हैं और उसके जीवन को दिशा बदल जाती है । यह कहानी इस मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर संकेत करती है कि जब व्यक्ति विलास-भावना से प्रेरित होकर अपने संस्कारगत स्वभाव के प्रतिकूल आचरण करने लगता है, तब उसकी आन्तरिक शान्ति भंग हो जाती है । वह अपने आप को बोध देने का चाहे कितना ही प्रयास करे लेकिन उसे सच्ची सुख-शान्ति नहीं मिलती -- उसका सारा सन्तोष समाप्त हो जाता है । अर्थ, अधिकार, और आनन्द-लिप्सा की प्रेरणास्वरूप सालवती को अपने स्वभाव के प्रतिकूल

१- इन्द्राजाल, पृ० १३६

२- वही, पृ० १४०

आचरण करना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप उसका जीवन स्वयं उगी के लिए भारस्वरूप हो जाता है। अन्त में उसे सच्ची सुख-शान्ति तब मिलती है, जब पुनः वह अपने संस्कारगत स्वभाव के अनुरूप जीवन जीना प्रारम्भ कर देती है।

दाम्पत्य जीवन से सम्बन्ध कहानियाँ

प्रेम का पूर्ण परिपाक दाम्पत्य जीवन में होता है। इसमें प्रेम का स्वरूप संयम-सीमा में आबद्ध होकर अधिक गहरा और उदात्त हो उठता है। प्रसाद जी ने दाम्पत्य जीवन के सन्दर्भ में तीन बातों पर विशेष बल दिया है -- स्वस्थ सौन्दर्य बोध, रागात्मकता तथा अनन्यता। स्वस्थ सौन्दर्य बोध सात्विक जीवन की धुरी और दाम्पत्य सुख की आधार शिला है। इसके अभाव में दाम्पत्य जीवन निर्जीव हो जाता है। व्यक्ति के सौन्दर्य बोध पर मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ता है। जब व्यक्ति के जीवनगत अभावों की पूर्ति होती जाती है, और वह सभी चिन्ताओं से मुक्त रहता है, तब उसके सौन्दर्य बोध का स्तर भिन्न कोटि का होता है और अभावों से ग्रस्त तथा चिन्ताओं से व्याकुल रहने पर अन्य कोटि का। 'प्रसाद' की 'पाप की पराजय' नामक कहानी से इस मनोवैज्ञानिक सत्य पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। एक दिन युवा शिकारी धनश्याम आखेट की खोज में जंगल में जाता है। पहले तो शिकार पाने और प्राप्त शिकार द्वारा जुधा-तृप्ति की चिन्ता में उसे वन प्रदेश के मोहक दृश्य की कोई सुधि नहीं होती, लेकिन बाद में, जुधा तृप्ति हो जाने पर उसका सौन्दर्य बोध जाग्रत हो जाता है, और उसे चारों ओर सौन्दर्य ही सौन्दर्य दिखाई देने लगता है। तृप्ति और विजयोल्लास से उद्बुद्ध उसका सौन्दर्य-बोध विलास भावना के रंग में रंग जाता है^१। प्रकृति के उद्दीपक वातावरण में उसकी वासनाभिभूत आत्मा एक सामान्य मिल्ली की अम्यर्थता करने के लिए अधीर हो उठती है, उसका सामान्य सौन्दर्य उसके लिए साक्षात् वनदेवी का अनिर्घ सौन्दर्य बन जाता है और धनश्याम की बाहें उसके आलिंगन के लिए फैल जाती हैं^२।

१- प्रतिध्वनि, पृ० ३१

२- वही, पृ० ३२

घनश्याम का यह सौन्दर्य-बोध उस उथले यौवन के आवेग का परिणाम है, जिसमें आवेश अधिक और आवेक कम हुआ करता है । इस अवस्था का सौन्दर्य-बोध अनियंत्रित होकर नैतिकता से इतनी दूर चला जाता है कि वह पाप की कोटि में आ जाता है और उसका स्कान्त स्वार्थ वासना को अपना कर निश्चुर हो जाता है । लेखक के शब्दों में --^१ पाप का यह रूप जब वासना को फाँस कर अपनी ओर मिला चुकता है, बड़ा कोमल अथवा कठोर एवं भयानक होता है और तब पाप का मुख कितना सुन्दर होता है । सुन्दर ही नहीं, आकर्षक भी, वह भी कितना प्रलोभनपूर्ण और कितना शक्तिशाली जो अनुभव में नहीं आ सकता । उसमें विजय का दर्प मरा रहता है । वह अपने एक मुस्कान से सुदृढ़ विवेक को अवहेलना करता है ।^१ भावावेश की समाप्ति पर जब व्यक्ति को विवेक-बुद्धि उसका विश्लेषण कर उसकी असंगतियों को स्पष्ट कर देती है, तब व्यक्ति को अपने भूलों पर गहरा पश्चात्ताप होता है और पश्चात्ताप की पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए^{वह} आत्मनिवेदन का आश्रय लेता है । घनश्याम को भी अपने भूल बार-बार खटकते रहते हैं और वह अपनी इस भूल पर क्षमा-याचना करने के लिए कई बार मरने पर जाता है, लेकिन वहाँ उसे कोई मिलता नहीं^२ ।

परिस्थितियों के प्रभाव से व्यक्ति के विचारों में भी अन्तर आ जाता है । जीवन का राग विराग में बदल जाता है और आसक्ति उदासी में । घनश्याम के सौन्दर्य-बोध में भी उस समय बड़ा अन्तर आ जाता है जब उसकी पत्नी की मृत्यु हो जाती है । पत्नी की मृत्यु पर उसका बहिर्मुखी व्यक्तित्व अन्तर्मुखी हो कर वाह्याकर्षण के स्थान पर आन्तरिक गुणों पर टिक जाता है । इसके पूर्व एक दिन प्रकृति के जिस वातावरण में सामान्य भिल्ली पर रीझ कर उसने अपना संयम खो दिया था विधुरावस्था में उसी स्थान पर उसी वातावरण में, उस वन प्रदेश की सुन्दरी रानी के मधुर सौन्दर्य के प्रति उसके हृदय में कोई आकर्षण उत्पन्न नहीं होता । वह रानी की उदारता और उसकी प्रजा वत्सलता पर रीझ कर उसका उपासक बन जाता है । वासना पर विवेक का अंकुश लग जाता है और स्वस्थ

१- प्रतिध्वनि, पृ० ३२

२- वही, पृ० ३२

सौन्दर्य-बोध के लिए भावुकता पर विवेक का अंश आवश्यक भी है ।

दाम्पत्य जीवन में उस समय दरार पड़ने लगती है, जब उसमें प्रेम की अनन्यता नहीं रह जाती, और प्रेम की अनन्यता सपिंडत उस समय होती है, जब 'दोनों' के बीच में कोई तौसरा आ कर सन्देह का सूत्रपात कर देता है । 'बुड़ीवाली' और 'मीख' में नामक कहानियां इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं ।

बुड़ीवाली

बाबू विजयकृष्ण एक जमींदार हैं और उनकी वधू एक दुलीन कन्या । दोनों में एक-दूसरे के प्रति अगाध प्रेम है । कुछ समय पश्चात् उन दोनों के बीच विलासिनी नामक बुड़ीवाली का प्रवेश होता है । बाबू विजय उसे बहू को बुड़ियां पहनाने के लिए नियुक्त कर देते हैं, और वह उ इसी बहाने सरकार का सान्निध्य सुख पाने के लिए नित्य आया करती है । उसका आकर्षक सौन्दर्य और मोहक हंसी बहू जी की जांघों में खटकने लगती है । इसका भी एक मनोवैज्ञानिक कारण है-- धीरे धीरे बुड़ी वाली सरकार की मुहल्लि हो जाती है, और सरकार भी उनकी बातों में रस लेने लगते हैं । वह रोज नयी बुड़ियां पहनाने के बहाने उपस्थित हो जाती हैं, और सरकार भी छपते-फिरते वहां आ जाते हैं^१ । सरकार और बुड़ीवाली के बीच यह बढ़ता हुआ सम्बन्ध बहू जी को अनहय हो जाता है, और वे सन्देह में घुलने लगती हैं । एक दिन, प्रणय पर अपने स्वाधिपत्य का भुसा नारी-हृदय, उस समय तिलमिला उठता है, जब बुड़ीवाली बुड़ी पहनाते समय बातें करती हुई सरकार को कनसियों से देखकर मुस्करा देती है, और उसके सलज्ज सौन्दर्य को देखकर सरकार के हृदय में भी हलचल मच जाती है । इस अवसर पर बुड़ीवाली के प्रति बहू जी का दबा आक्रोश बाहर आ जाता है, और वे झुंफला उठती हैं --^२ अच्छा तुम अभी जाओ सरकार और बुड़ी वाली दोनों की ओर देखते हुए बहू जी ने झुंफलाकर कहा ।^३ बहू जी की इस झुंफलाहट के पीछे बुड़ी वाली की तुलना में अपनी पराजय

१- 'कुछ ही दिनों से यह बुड़ीवाली आने लगी है । कभी कभी तो बिना बुलाए ही चली जाती और ऐसे ढंग फैलाती कि बिना सरकार के आए निबटारा न होता ।' -- आकाश दीप, पृ० १२८

२- आकाशदीप, पृ० १२६

का ज़ोम, उसके प्रति ईर्ष्या और उसकी ओर सरकार के सिंचाव से उत्पन्न खीफ, आक्रोश, आकुलता आदि अनेक भावों का हाथ है। बहू जी की यह खीफ उस समय और बढ़ जाती है, जब चुड़ीवाली शराबत भरे शब्दों में कहती है--^१ तो क्या मैं लौट जाऊँ ? आप तो कहती थीं न कि सरकार को ही पहनाओं तो ज़रा उनसे पहनने के लिए कह दीजिए। चुड़ीवाली की इस घृष्टता पर बहूजी मर्माहत होकर चीख उठती हैं --^२ निकल मेरे यहाँ से। कहते हुए बहू जी की आँखों तिलमिला उठीं। सरकार धीरे से निकल गए। अपराधी के समान सर नीचा किए चुड़ी वाली अपनी चुड़ियाँ बटोर कर उठी। हृदय की घड़कन में अपनी रहस्यपूर्ण निश्वास छोड़ती हुई चली गयी। चुड़ीवाली के प्रति बहू जी का यह आक्रोश बिल्कुल स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है। नारी-हृदय सब कुछ सहन कर सकता है, लेकिन पति के प्रेम का बटवारा उसे सह्य नहीं। पत्नी पति-प्रेम पर अपना स्काधिकार चाहती है और उस स्काधिकार को हानिने वाले के प्रति उसका आह्वान अहं फूटकार कर उठता है।

व्यक्ति में बदले की भावना बहुत तीव्र होती है। वह अनुकूल पड़ने वाले के प्रति सदय होकर उसे अपना बना लेना चाहता है और प्रतिकूल पड़ने वाले के प्रति प्रतिद्वन्द्विता चलाकर उसे नीचा दिखाने का प्रयास करता है। बहू जी द्वारा अपमानित होने पर चुड़ीवाली की प्रतिक्रिया इसी प्रकार की होती है। वह अपनी समूची शक्ति लगाकर सरकार को अपनी ओर खींचने का प्रयास करती है और सरकार भी बहू जी के रस्से व्यवहार से डुब्य होकर चुड़ीवाली की ओर अधिकाधिक झुकते जाते हैं। जिस प्रकार पति के प्रेम के अभाव में पत्नी का अन्तर्मन उसे चाहने वाले पर पुरुष की ओर झुकने लगता है, उसी प्रकार पत्नी के रस्से व्यवहार से हताश होकर पुरुष का प्यासा हृदय भी अपने प्रति सदय रहने वाली स्त्री के प्रति झुक जाता है। हृदय में यह सन्देह पैठ जाने पर कि सरकार चुड़ीवाली को चाहने लगी हैं, बहू जी सरकार के प्रति उदासीन रहने लगती हैं, उनका डुब्य जीवन अपने-आप में सिमट कर कुंठित हो जाता है। उनके रस्से व्यवहार से रुष्ट होकर सरकार स्पष्टरूप से चुड़ीवाली के यहाँ आने-जाने लगते हैं^३। अन्त में सरकार के इस व्यवहार

१- आकाशदीप, पृ० १२६

२- वही०, पृ० १२६

३- वही०, पृ० १३०

का निष्क्रिय प्रतिरोध करती हुई बहू जी राजयक्ष्मा के मयानक रोग में घुल-घुलकर अपना दम तोड़ देती हैं और वैभव-विलास का आधार अर्थ, अल्हड़ यौवन और बहूजी का कारुणिक अन्त सरकार के जीवन में नया मोड़ ला देता है । उन्हें विलासिनी बूझी वाली के प्रति वितृष्णा, और उससे सम्बद्ध वेश्या-वृत्ति के प्रति घृणा हो जाती है । यौवन का उन्माद उतर जाने पर विलासिनी को भी अपनी मूलों के लिए गहरी आत्म-ग्लानि होती है । उसका हृदय उसे धिक्कारने लगता है^२ । अन्त में दोनों अपनी मूलों का प्रायश्चित्त कर हृदय की कसक मिटाने का प्रयास करते हैं । विलासिनी अपनी जीवनचर्या बदल कर सरकार से प्राप्त सम्पत्ति द्वारा भूमि लेकर आदर्श हिन्दू गृहस्थ सी तपस्या में अपना विखरा मन लगा देती है, और सरकार ममत्व से मुक्त मोड़कर आत्म-प्रताड़ना द्वारा अपने आप को जर्जर बना देते हैं । उन्हें उनकी मूल रह-रह कर कसकती रहती है । पश्चात्पकी अग्नि में छूटपटाते हुए उनके मावुक हृदय को शान्ति उस समय मिलती है, जब उन्हें इस बात का विश्वास हो जाता है कि उनके 'अपराधजनक तामस त्याग में पुण्य का भी भाग था'^३ ।

'सन्देह' की यही भावना स्थायी होकर मानसिक भ्रम का रूप ले लेती है । मानसिक भ्रम के अन्तर्गत व्यक्ति वाह्य विषयों पर अपने ही भावों का आरोप करने लगता है । यदि वह किसी के प्रति आसक्त होता है तो सोचता है कि मैं नहीं बल्कि वही मुझ पर आसक्त है । आधुनिक मनोविज्ञान में इस मानसिक स्थिति को 'कामात्मक स्थिरभ्रम' (*Erotic paranoia*) की संज्ञा दी गई है, 'इसमें रोगी को यह भ्रम होता है कि परवर्ग (*opposite sex*) उसके प्रति आकर्षित है । प्रायः वह व्यक्ति जिसके प्रति उसकी यह भावना होती है आर्थिक और

१- 'तुम कौन हो ?'

'पहले की एक वेश्या ।'

'हि: मुझे पड़े रहने दो, मैं नहीं चाहता कि तुम मुझसे बोलो भी, क्योंकि तुम्हारा व्यवसाय कितने ही सुखी घरों को उजाड़ कर श्मशान बना देता है।'

-- आकाशदीप, पृ० १३३

२- वही ०, पृ० १३२

३- वही ०, पृ० १३४

सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से उससे ऊंचा होता है^१। 'सन्देह'^२ नामक कहानी में निहाल बाबू का यह सन्देह कि 'मनोरमा मुझे प्यार करती है, इसी प्रकार का है, जिसका निराकरण करती हुई श्यामा कहती है, -- 'तो क्या तुम समझते हो कि मनोरमा तुमको प्यार करती है, और वह दुश्चरित्रा है ?' हिः रामनिहाल यह तुम क्यों सोच रहे हो ? + + + यह सब तुम्हारा भ्रम था, सन्देह था ।'

जीवनगत अपावों से अशान्त और असफल प्रेम से पीड़ित व्यक्ति प्रायः अपराधी हो जाता है । 'आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार अपराध का प्रमुख कारण मूल अथवा सहज वृत्ति का संतुष्ट न होना है । कोई भी व्यक्ति अच्छा या बुरा पैदा नहीं होता । परिस्थितियाँ ही उसे अच्छा या बुरा बनाती हैं'^३। 'गुण्डा' नामक कहानी में नन्हू सिंह का उच्छ्वसल जीवन उसके असफल प्रेम की प्रतिक्रिया का ही परिणाम है । मानसिक चोट से घायल होकर वह गुंडा हो जाता है । स्वयं लेखक के शब्दों में -- 'जीवन की किसी अलम्य कमिलाषा से वंचित होकर जैसे प्रायः लोग विरक्त हो जाते हैं, ठीक उसी तरह किसी मानसिक चोट से घायल होकर एक प्रतिष्ठित जमींदार का पुत्र होने पर भी नन्हू सिंह गुण्डा हो गया था'^४।

नन्हू सिंह प्रतिष्ठित जमींदार बाबू निरंजन सिंह का एकलौता बेटा है । किशोरावस्था में उसका परिचय 'पन्ना' से होता है । पन्ना का मोला सौन्दर्य उसे आकृष्ट कर लेता है । पन्ना भी उसके शौर्य पर मुग्ध होकर उसे मूक समर्पण कर देती है । इस प्रकार दोनों के हृदय में एक-दूसरे के प्रति प्रेम पलने लगता है । लेकिन बलवन्त सिंह की वासना बीच में ही उसका गला घोट देती है । बलवन्त सिंह बलपूर्वक पन्ना को अपनी रानी बना लेते हैं और नन्हू सिंह इस घटना से दुःख्य होकर 'गुंडा' बन जाता है । वह अपने हृदय की आकुलता को मुलाने के लिए अपराधी जीवनग्रन्थ लेता है ।

१- डा० पद्मा अग्रवाल : मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएं, पृ० १०२

२- इन्द्रजाल, पृ० ५५

३- वही, पृ० ५५

४- डा० पद्मा अग्रवाल : मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएं, पृ० २१६

५- इन्द्रजाल -- पंचम संस्करण, पृ० ८५

स्नेह का सूत्र सहसा टूट जाने पर व्यक्ति जीवन के प्रति उदासीन हो जाता है । प्रेम की पावन प्रतिमा क्षिप्त होने पर नन्हू सिंह भी जान हथेली पर लेकर घूमा करता है । जीवन के प्रति उसे कोई मोह नहीं रह जाता । दुलारी द्वारा प्रेम-प्रेम के आशय का प्रश्न किये जाने पर, लौह पुरुष नन्हू का कज्र हृदय मोम सा पिघल जाता है, स्वर भारी हो जाता है और उसका स्क-स्क शब्द आहों में डूब जाता है, वह मर्राई हुई आवाज़ में कहता है, -- 'उसे न पूछो दुलारी । हृदय को बेकार समझ कर तो उसे हाथ में लिए फिर रहा हूँ । कोई कुछ कर देता -- कुचलता -- चीरता -- उछालता । मर जाने के लिए सब कुछ तो करता हूँ, पर मरने नहीं पाता ।'

नन्हू सिंह पन्ना को भूल जाना चाहता है, लेकिन उसके अचेतन मन में पैठी हुई पन्ना की स्मृति रह-रह कर उमर आती है । जब-जब मनोरंजन का प्रसंग आता है, पन्ना की याद आकर उसे उदास बना देती है -- उसकी आँखें तर हो जाती हैं । जब कभी लोग उसे कोठे के ऊपर चलने के लिए कहते हैं, तो वह उदासी की साँस खींचकर चुप हो जाता है । नन्हू सिंह के हृदय में पन्ना के प्रति राग-विराग को लेकर चलने वाला अन्तर्द्वन्द्व उस समय और गहरा हो जाता है, जब दुलारी से उसे यह सूचना मिलती है कि लार्ड हेस्टिंग्स द्वारा राजा चेत सिंह और राजमाता पन्ना बन्दी बनाए जाने वाले हैं । उसका हृदय पूर्व प्रेम की स्मृति से तड़प उठता है और वह व्याकुल होकर कहता है -- 'दुलारी । जीवन में आज पहला ही दिन है कि स्कान्त रात में एक स्त्री मेरे पलंग पर आकर बैठ गई है, मैं चिरकुमार । अपनी एक प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए सैकड़ों असत्य, अपराध करता फिर रहा हूँ । क्यों ? तुम जानती हो ? मैं स्त्रियों का घोर विद्वोधी हूँ और पन्ना ।.... किन्तु उसका क्या अपराध । अत्याचारी बलवन्तसिंह के कलेजे में बिछुवा मैं न उतार सका । किन्तु पन्ना । उसे पकड़ कर गोरे कलकत्ते भेज देंगे । वही.....^१ अन्त में वह उन्मत्त होकर गंगा की उमड़ती धारा को चीरता हुआ अपनी डाँगी शिवालय घाट पर लाकर, तिलों से लड़ता हुआ राजमाता पन्ना के स्वाभिमान - रक्षा में तन्मय होकर अपने स्क-स्क अंग की आहुति दे देता है ।

१- इन्द्रजात -- पंचम संस्करण, पृ० ६३

२- वही -- ,, पृ० ६३

३- वही -- ,, पृ० ६४

राजमाता पन्ना के हृदय में भी नन्हकू सिंह की स्मृति रह-रहकर कसक उठती है । डुलारी द्वारा नन्हकू की चर्चा चलाने पर राजमाता को अपने व्याह की आरम्भिक चर्चा का स्मरण हो आता है, और वे अपने अतीत में खो जाती है ।--
 'छोटे से मंच पर बैठी, गंगा की उमड़ती हुई धारा को पन्ना अन्यमनस्क होकर देखने लगी । उस बात को, जो अतीत में एक बार, हाथ से अनजाने में खिसक जाने वाली वस्तु की तरह गुप्त हो गयी हो, सोचने का कोई कारण नहीं । उससे कुछ बनता-बिगड़ता भी नहीं । परन्तु मानव-स्वभाव हिसाब रखने की प्रथाानुसार कभी-कभी वह बैठता है कि, 'यदि वह बात हो गयी होती तो ?' ठीक उसी तरह पन्ना भी राजा बलवन्त सिंह द्वारा कलपूर्वक रानी बनायी जाने के पहले की एक सम्भावना को सोचने लगी थी । सो भी बाबू नन्हकू सिंह का नाम सुन लेने पर^१ ।

संकट-समय में काम आने वाले व्यक्ति के प्रति कृतज्ञता की भावना घनीभूत होकर उसकी स्मृति को और स्थायी बना देती है । राजमाता पन्ना के हृदय में शैशव की वह घटना नन्हकू के प्रति अनुराग उत्पन्न कर देती है, जब उसने बिगड़े हाथी से पन्ना की प्राण-रक्षा की थी । यह अनुराग उस समय और गहरा हो जाता है, जब दूसरी बार नन्हकू सिंह पुनः अपने-आप को मौत के मुंह में डालकर राजमाता के सम्मान की रक्षा करता है । इस अवसर पर राजमाता पन्ना का हृदय जाह खींच लेता है-- पन्ना के मुंह से हलकी-सी एक सांस निकल कर रह गयी । उसने पहचान लिया । इतने वर्षों के बाद । वही नन्हकू सिंह^२ ।

इस प्रकार नन्हकू सिंह का उच्छ्वल जीवन उसके आन्तरिक अभावों का परिणाम है । इसी अभाव से पीड़ित होने पर सलीम भी अपराधी हो जाता है । सलीम घुमक्कड़ी जीवन की लालसाओं से सन्तप्त, व्यक्तिगत आवश्यकताओं से असंतुष्ट युक्तप्रान्त का मुसलमान था । कुछ-न-कुछ करते रहना उसका स्वभाव था । जब वह चारों ओर से असफल हो रहा था तभी तुर्की की सहानुभूति में हिजरत का आंदोलन

१- इन्द्रजाल : पंचम संस्करण, पृ० ६१

२- वही : ,, पृ० ६६

३- वही : ,, पृ० १२

खड़ा हुआ था । सलीम भी उसी में जुट पड़ा + + + वह फिर से कट्टर मुसलमान हो उठा । धर्म की प्रेरणा से नहीं लालसा की ज्वाला से^१ । उसका प्यासा जीवन प्रेमा को पाने के लिए, वजीरियों से मिलकर शरण देने वाले नन्दराम के साथ विश्वासघात करता है । जिसके फलस्वरूप उसे अपमानित होकर वहाँ से निकलना पड़ता है । सलीम में हमें, व्यक्तिगत अमावों से अमन्तुष्ट व्यक्ति के मानसिक चढ़ाव-उतार की सारी सम्भावनाएं मिल जाती हैं ।

स्वस्थ संस्कार के अभाव में व्यक्ति का रागात्मक भाव-बोध और यौन विकृतियों में बदल जाता है । 'फ्रायड' ने यौन विकृतियों के दो रूप माने हैं--

(१) पर-पीड़न-सुख (सेज्जिज्म) और (२) आत्म-पीड़न-सुख (मैसोचिज्म)

पर-पीड़न-सुख में व्यक्ति प्रेम के आलम्बन को पीड़ा पहुंचाने में आत्म-सुख का^{अनुभव} करता है और आत्म-पीड़न-सुख में वह स्वयं आलम्बन के हाथों पीड़ित और अपमानित होना चाहता है । 'देवदासी' नामक कहानी में पद्मा के प्रति राम-स्वामी का कठोर व्यवहार उसकी यौन-विकृति के पर-पीड़न-सुख का परिचायक है । चिदम्बरम् द्वारा पद्मा के प्रति सदैव होने का सुफाव दिये जाने पर वह उससे कहता है -- 'सुनो चिदम्बरम् । सुन्दरियों की कमी नहीं, पर न जाने क्यों मेरा हृदय उसे छोड़कर दूसरी ओर नहीं जाता । वह इतनी निरीह है कि उसे मसलने में आनन्द आता है ।'^४

अभावजन्य आकुलता से मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति प्रायः मादक द्रव्यों का सेवन करने लगता है । 'मधुजा' नामक कहानी का शराबी भी अपना मानसिक

१- इन्द्रजाल : पंचम संस्करण, पृ० २०-२१

२- पर-पीड़न-सुख अर्थात् पीड़ा पहुंचाकर परितुष्टि हासिल करने वालों में वे लोग आते हैं, जिनकी सारी अनुराग-भावना का एक ही उद्देश्य होता है कि अपने आलम्बन को पीड़ा और कष्ट पहुंचाया जाय । यह भावना हल्के रूप में दूसरे को अपमानित करने की प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पड़ती है और उग्ररूप में सख्त शारीरिक चोट पहुंचाने का रूप ग्रहण करती है । इसके बाद आत्मपीड़क लोग आते हैं--ये मर्दानों पीड़क तोषों के पूरक हैं, जिनकी स्क्मात्र यह लालसा रहती है कि अपने प्रेम के आलम्बन के हाथों वास्तविक रूप में या प्रतीक रूप में अपमान और पीड़ा सहें ।
--फ्रायड : मनोविश्लेषण, अनु०-देवेन्द्रकुमार, पृ० २७६

३- आकाशदीप

४- वही, पृ० ६६

५- आंधी

तनाव दूर करने और अवसाद की कसक मुलाने के लिए शराब पीने लगता है । इस कहानी में एक बेसहारा बालक की दयनीय दशा से अभिभूत शराबी के जीवन में नया मोड़ लाकर लेखक ने इस मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर संकेत किया है कि व्यक्ति मूलतः सद्य और संवेदनशील होता है । कठोर से कठोर व्यक्ति के हृदय में भी करुणा, प्रेम, दया और सहानुभूति आदि कोमल भाव नैवेद्य सुरक्षित रहते हैं, जो अक्सर विशेष पर बाहर फूट पड़ते हैं । मौज-बहार में दिन बिता देने और 'पीने' का आदी शराबी जब एक अर्ध-असहाय बालक की दयनीय दशा देखता है, तब उसके हृदय में उस बालक के प्रति सहानुभूति का भाव उमड़ पड़ता है, वह दयालु होकर उसके विषय में सोचने लगता है—'किसने ऐसे सुकुमार फूलों को कष्ट देने के लिए निर्दयता की सृष्टि की ?'

करुणा की भावना हृदय की वह कोमल संवेदना है जो सहानुभूति संवर्धित सुकुमार भावों से ओत-प्रोत रहती है, और यही भावना घनीभूत होकर उस प्यार को जन्म देती है, जिसमें व्यक्ति प्यार की जाने वाली वस्तु के प्रति विशेष सद्य होकर उसे हर प्रकार की सुरक्षा रक्षित रखना चाहता है^१ । मधुबा के प्रति शराबी की सद्य सहानुभूति भी घनीभूत होकर उसके प्रति प्यार में बदल जाती है और शराबी उसके लिए घरबारी बनने का निर्णय ले लेता है । जिस समय व्यक्ति एक निश्चित और चिर-परिचित दिशा को नया मोड़ देने लगता है, उस समय उसकी पूर्व और परवर्ती भाव-प्रतियोगियों के बीच आन्तरिक संघर्ष छिड़ जाता है । जिस समय शराबी मधुबा के प्रति सद्य हो, शराब छोड़ने के लिए और घरबारी बनने का निर्णय लेकर उसके लिए खाने की सामग्री लेने जाता है, उस समय उसके शराब पीने के पुराने संस्कार और असहाय बालक को संरक्षण देने के लिए संस्कार के बीच अन्तर्द्वन्द्व होने लगता है । शराबी के

१- आंधी, पृ० ५०

२- "Pity in its simplest form is tender emotion tinged with sympathetically induced pain, x x x active sympathy is the most sure foundation of love and is an essential feature of any completely satisfying affection."

— W. Mc Dougall : Social Psychology (P.131,145)

इस मानसिक झन्झ का बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण इन पंक्तियों में हुआ है-- 'शराबी गली के बाहर भागा । उसके हाथ में एक रुपया था । बारह आने का एक देशी अढ़ा और दो आने की चाय, ... दो आने की पकौड़ी, नहीं नहीं, आलू-मटर... अच्छा, न सही । चारों आने का मांस ही ले लूंगा पर यह छोकरा । इसका गढ़ा जो भरना होगा , यह कितना खायेगा और क्या खायेगा । ओह । आज तक तो कभी मैंने दूसरों के खाने का सोच-विचार किया ही नहीं । तो क्या ले चलूं ? पहले एक अढ़ा ही ले लूं । -- इतना सोचते-सोचते उसकी आंखों पर बिजली के प्रकाश की फलक पड़ी । उसने अपने को मिठाई की दुकान पर खड़ा पाया । वह शराब का अढ़ा लेना मूल कर मिठाई-पूरी खरीदने लगा ।'

इस प्रकार शराबी के हृदय में सुप्त करुणामूलक सहानुभूति उसे एक उत्तरदायी व्यक्ति बना देती है और वह अपनी चिरपोषित प्रवृत्तियों का शोधन कर निठल्ले जीवन को छोड़कर एक अच्छा और उपयोगी नागरिक बन जाता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'प्रसाद' के कहानो-साहित्य में मनोविज्ञान की गूढ़ कुत्थियां भले ही न मिलें, पर सामान्य जीवन में आने वाले मनोवैज्ञानिक मोड़ों के परिप्रेक्ष्य में भावों के उतार-चढ़ाव का बड़ा सुन्दर निरूपण हुआ है । कहानियों में उन्होंने कथानकों को चुना गया है, जो हृदय को स्पर्श कर पाठक को उस भाव-भूमि में पहुंचा देते हैं, जहां वह भावों को संकीर्णता से ऊपर उठकर जीवन को गहराई से देखने लगता है ।

'प्रसाद' का उपन्यास-साहित्य परिमाण में सीमित होते हुए भी हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है । प्रसाद ने कुल तीन उपन्यास लिखे हैं -- (१) कंकाल (१९२६ई०), तितली (१९३४), इरावती (१९३६)^१ । प्रथम दो सामाजिक और तीसरा ऐतिहासिक है । 'कंकाल' यथार्थ के अधिक समीप है और 'तितली' आदर्श के । इन दोनों कृतियों में सामाजिक विकृतियों का निरूपण दो भिन्न दृष्टियों से किया गया है । कंकाल बड़े ही सशक्त स्वर में सामाजिक बुराईयों का मंडाफोड़ करता हुआ उसकी विकृतियों का विश्लेषण

१- आंधी, पृ० ४६

२- किशोरीलाल गुप्त : प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन , पृ० २४५-२४८

कर उसके जर्जर कंकाल को उधार कर रख देता है, 'तितली' में इन तथ्यों को अपेक्षाकृत अधिक संयत ढंग से प्रस्तुत किया गया है । इरावती में राजनीतिक हलचलों की प्रधानता है-- चूंकि यह उपन्यास अधूरा है, अतः इसकी उपलब्धियां दबी ही रह गई हैं । जहां तक मनोविज्ञान का प्रश्न है, प्रसाद के उपन्यास-साहित्य में उस स्तर का मनोविज्ञान नहीं मिलता, जिस स्तर का नाटकों और कहानियों में उभर कर आया है । प्रसाद ने अपने नाटकों में 'संघर्ष' को एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में ग्रहण किया है, अतः उनके नाटकों का मनोविज्ञान अधिक तीव्र और अन्धात्मक स्थितियों से पूर्ण है । प्रेम-प्रसंग से सम्बन्धित कहानियों में भोलागण यही स्थिति पाई जाती है । लेकिन उपन्यासों के मनोविज्ञान की स्थिति इससे थोड़ी भिन्न है । जिस प्रकार शिला-संधियों के संघर्ष संकुल मार्ग से बाहर विस्तृत मैदान में आने पर जल प्रवाह की विप्रता में मन्थरता आ जाती है । उसी प्रकार उपन्यासों के व्यापक परिवेश में आकर, परिस्थितिजन्य प्रभावों से प्रभावित मनोवैज्ञानिक भाव-धाराओं के वेग में भी मन्थरता आ जाती है । प्रसाद के उपन्यासों का मनोविज्ञान अपेक्षाकृत वाह्य परिस्थितियों से विशेष प्रभावित है । परिस्थिति-जन्य प्रभावों के परिप्रेक्ष्य में ही पात्रों की मानसिक अवस्थाओं का विकास हुआ है । इस दृष्टि से विजय, मंगल, तारा, धन्टी, गाला, तितली, शैला, मधुबन, रामजस, इरावती आदि पात्रों का चरित्र विशेष उल्लेखनीय है । यहां पर उक्त पात्रों में से कुछ प्रधान पात्रों को लेकर सामाजिक स्थितियों और पारिवारिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में उनकी मानसिक अवस्थाओं पर प्रकाश डाला जायेगा ।

(१) कंकाल

एक सामाजिक उपन्यास है, जिसमें दूषित समाज की विकृत परम्पराओं और धर्माडम्बरों के पीछे फलने वाले अनैतिक व्यापारों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है । 'कंकाल' का सारा कथानक विजय, मंगल और तारा के केन्द्र में रखकर चलता है । विजय-विद्रोही स्वभाव का एक उच्छ्वसल नवयुवक है । इसकी उच्छ्वसलता उसकी आत्महीनता की भावना का परिणाम है, जिसके मूल में मुख्यतः दो कारण हैं --पहला है, उसकी माता की चरित्रहीनता और दूसरा है, उसके प्रति पिता की उदासीनता । विजय की माता किशोरी व्यवसायी श्रीचन्द की मानिनी और महत्वाकांक्षिणी स्त्री है । सन्तान-सुख की लालसा उसे तीर्थस्थलों और साधु

महात्माओं के दर्शन की चाट लगा देती है । इसी सन्दर्भ में वह अपने बाल-सहचर महात्मा निरंजन के सम्पर्क में आती है । बाद में दोनों के अवैध सम्बन्ध से विजय का जन्म होता है । किशोरी के इस चारित्रिक पतन से श्रीचन्द का हृदय द्रुव्य हो उठता है, और वे किशोरी तथा उसकी अवैध पत्नान की ओर से उदासीन हो जाते हैं^१।

व्यक्ति स्वभाव से ही सामाजिक प्रतिष्ठा और सहाय्यता का भूखा होता है^२ । सामाजिक प्रतिष्ठा के अन्य आधारों के में पारिवारिक प्रतिष्ठा और उसके स्तर का भी अपना विशिष्ट स्थान है । यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार को सम्पन्न बनाकर उसे दूसरे की आंखों में ऊंचा उठाना चाहता है^३ । परिवार की गिरती हुई प्रतिष्ठा से जब उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा प्रभावित होने लगती है, तब उसमें आत्म-हीनता की भावना घर कर जाती है । सम्मान और स्नेह के अभाव में उसका व्यक्तित्व दबकर आत्महीनता की भावना से कुंठित हो जाता है । इसी कुंठा का सक्रिय प्रतिरोध व्यक्ति को उग्र और उच्छ्वसल बना देता है । वह उन व्यक्तियों और व्यवस्थाओं के प्रति विद्रोही हो जाता है, जिनके कारण उसकी पारिवारिक प्रतिष्ठा गिर जाती है और उसे अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मान से वंचित होना पड़ता है^३ । किशोरी और निरंजन के प्रति विजय की

१- जब हरद्वार से श्रीचन्द किशोरी को लिवा ले गये और छः महीने बाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ, तभी से किशोरी के प्रति उसकी घृणा बढ़ गयी । वे अपने भाव समाज में तो प्रकट नहीं कर सकते, पर मन में एक दरार पड़ गई । बहुत सोचने पर श्रीचन्द ने यही स्थिर किया कि किशोरी काशी जाकर अपनी जारज सन्तान के साथ रहे । और उसके सर्व के लिए कुछ भेजा करे । -- ककाल, पृ० ५८ ।

२- "We desire that others shall share our emotion, and find a certain satisfaction when they do so."

— W. Mc Dougall : Social Psychology (P.146)

३- "A man realises, more especially perhaps in societies less complex than our own, that the family of which he is a part has a capacity for collective suffering and collective prosperity.....therefore, he desires that his family shall prosper and shall stand well in the eyes of men."

— W. Mc Dougall : Social Psychology (P.177-178)

अवज्ञा तथा हिन्दू धर्म के प्रति उसकी विद्रोह-भावना इसी तथ्य के परिचायक है । दुराचारिणी माता के अवैध^{प्रम} सम्बन्ध से एक ओर उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा गिर जाती है और दूसरी ओर वह पिता के प्यार से वंचित हो जाता है । फलतः वह लोक-लज्जा तथा सामाजिक निन्दा से ज़ुल्लु होकर निरंजन तथा किशोरी के प्रति विद्रोही हो जाता है । उसके स्वभाव में रुक़ता आ जाती है और वह बात-बात पर उनका तिरस्कार करने लगता है । अन्नकूट के समारोह में जब निरंजन देवमन्दिर में तारा के प्रवेश पर उसे फिड़क कर बाहर कर देते हैं, उस समय विजय का विद्रोही हृदय उबल पड़ता है और वह देवनिरंजन के अशिष्ट व्यवहार का तीव्र प्रतिवाद करते हुए धर्म के बाह्याडम्बर को तीव्र भर्त्सना करता है^१ । निरंजन के प्रति विजय का यह आक्रोश उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, जब निरंजन उसे मथप कह कर उसके संसर्ग से दूर रहने की घोषणा करता है । विजय बड़ी ही उपेक्षापूर्वक निरंजन का प्रत्युत्तर देते हुए कहता है --^२ ठीक है दूसरा स्यान खोल लीजिए । ढोंग से दूर रहना मुझे भी रुचिकर है^३ । निरंजन के आहम्बरपूर्ण जीवन के प्रति गहरी घृणा के फलस्वरूप ही विजय को हिन्दू धर्म से भी घृणा हो जाती है और वह उसका कटु आलोचक बन जाता है । मंगल से वह हिन्दू धर्म की तीसरी आलोचना करते हुए कहता है--^४ क्यों मंगल, क्या और भी किसी देश में इसी प्रकार का धर्म संचय होता है ? जिन्हें आवश्यकता नहीं उनको बिठा कर आदर से भोजन कराया जाय, केवल इस आशा से कि परलोक में वे पुण्य-संचय का प्रमाणपत्र देंगे । साक्षी देंगे । और उन्हें जिन्हें पेट ने सता रक्खा है, जिनको मूख ने अक्षम बना दिया है, जिनकी आवश्यकता नंगी होकर भीमत्स नृत्य कर रही है-- वे मनुष्य कुत्तों के साथ झूठी पत्तों के लिए लड़ें, यही तो तुम्हारे धर्म का उदाहरण है । + + + धर्म के स्थापति विभीषिका उत्पन्न करके साधारण जनता से अपनी वृत्ति कमाते हैं, और उन्हीं की गालियाँ भी सुनाते हैं । यह गुरुत्म कितने दिन चलेगा ? विजय के

१- कंकाल, पृ० ७२, ७३

२- वही, पृ० ११०

३- वही, पृ० ६५, ७३

उक्त कथन में निरंजन के प्रति उसकी दबी घृणा की हा प्रतिध्वनि है । इसी प्रकार किशोरी के प्रति भी उसके अचेतन मन में घृणा की भावना बहमूल हो गई है, इसीलिए हर बात में वह उसकी ह अवहेलना करने लगता है। जब कभी किशोरी उसके सामने साधुओं का प्रसंग उठाती है, वह उत्तेजित हो उठता है--^१ , किशोरी ने कहा-- आज न जा , साधुओं का भोजन है, उनकी सेवा बोच में हो बात काट कर विजय ने कहा -- आज फुटबाल है, मुझे शीघ्र जाना है, विजय बड़ी उत्तेजित अवस्था में स्कूल चला गया है । किशोरी के प्रति विजय की दबी घृणा उस समय और मड़क उठती है, जब वह एक दिन निरंजन के साथ वाद-विवाद करने पर विजय को फटकारती हुई कहती है--^२ विजय । तुम इतने निर्लज्ज हो ? अपने अपराधों को समझ कर लज्जित क्यों नहीं होते ?^३ विजय नशे की छुगारी में किशोरी की ओर देखकर बड़ी ही लापरवाही से कहता है--^४ मैं अपने कर्मों पर हंसा हूँ, लज्जित नहीं होता । जिन्हें लज्जा बड़ी प्रिय हो वे उसे अपने कर्मों में खोजें । किशोरी मर्माहत होकर उठ गई^५ । विजय की दृष्टि में किशोरी का मातृमूर्ति उस समय और विकृत हो जाती है, जब वह उसे अकेला ही छोड़कर चली जाती है । एक ओर वह मातृ-स्नेह से विह्वल होकर माता को मना लेना चाहता है, लेकिन उसके अचेतन मन की घृणा और स्वाभिमान की भावना उसे ऐसा करने से रोक लेती है । और वह सोचने लगता है--^६ मां मुझे पुत्र के नाते कुछ नहीं समझती, मुझे भी अपने स्वार्थ, गौरव और अधिकार -दम्भ के मोतर ही देखना चाहती हैं । शान्तान स्नेह होता तो यों ही मुझे छोड़कर चली जाती^७ ?

अवस्था-विशेष भी हमारे विचारों को प्रभावित करती चलती है । विचारों का जो स्तर शैशव में रहता है, वह युवावस्था में नहीं रहता, और जो युवावस्था में रहता है, वह वृद्धावस्था में नहीं रहता । युवावस्था में व्यक्ति अधिक

१- कंकाल , पृ० ६३

२- वही, पृ० ११०

३- वही, पृ० ११०

४- वही, पृ० १११

भावुक और संवेदनशील हो उठता है। उसके विचारों में कोमलता और भावों में स्निग्धता आ जाती है। विजय भी युवावस्था की उस सीमा में प्रवेश कर चुका था जिसे जीवन का वसन्त कहते हैं, जो प्रेम का प्यासा और सौन्दर्य का भूखा होता है।^१ जिसमें अशुद्ध पत्रिकाओं के टूटे-फूटे शब्दों के लिए हृदय में शब्दकोश प्रस्तुत रहता है। जो अपने साथ बाढ़ में बहुत ~~ही~~ अच्छी ^{वहाँ} वस्तु ले जाता है, और जो संसार को प्यारा देखने का चश्मा लगा देता है। शैशव से अम्यस्त सौन्दर्य को खिलौना समझ कर तोड़ना ही नहीं, वरंच उसमें हृदय देखने की चाट उत्पन्न कर देता है। + + इसी समय मानव-जीवन में जिज्ञासा ^१जगती है। स्नेह, संवेदन, सहानुभूति का ज्वार आता है।^२ विजय का प्यासा जीवन इस ज्वार को अपने-आप में समेट लेने के लिए गंभीर होकर बाहें फैला देता है। स्नेह, सहानुभूति और संवेदना की भुल उसे युवती यमुना की ओर खींच ले जाती है। वह अज्ञात प्रेरणा से प्रेरित होकर यमुना का पत्र लेने लगता है। युवा प्रेमी प्रिय को रिफ्ताने के लिए हर सम्भव प्रयास करता है। उसके मान-सम्मान की रक्षा का अवसर पाकर वह अपनी समूची शक्ति से उसे उपकृत कर उसकी सहानुभूति पर लेना चाहता है। युवक विजय भी यमुना के हृदय में अपना स्थायी स्थान बनाने की प्रेरणा से प्रेरित होकर यमुना को अपमानित करने वाले देवनिर्जन को अपमानित कर उसके अपमान का बदला चुका लेने में गर्व का अनुभव करता है --^३ उसके सम्पूर्ण उत्साह के मोतर यह गर्व हंस रहा था कि मैंने यमुना का अच्छा बदला निर्जन से लिया।^३

व्यक्ति अपनी आस्थाओं के अनुरूप हो किसी वस्तु का आकलन करता है। उसे वह अपने ही पक्ष के परिप्रेक्ष्य में परखने का शौको होजाता है। ज्यों-ज्यों यमुना विजय के प्रति सद्य होती जाती है, त्यों त्यों विजय उसके प्रति आसक्त होता हुआ, उस पर अपनी क दमित काम भावना का अधिन्यास (*Projection*) करने लगता है। मोली यमुना की सरलता, स्नेहशीलता और उदारता में उसे प्रणय की गन्ध आने लगती है। उसकी आसक्ति एकाधिकार का रूप ले लेती है, और उसको यह स्वार्थ सम्पूक्त अधिकार-भावना इस सीमा तक पहुँच जाती है कि उसे यमुना का

१- कंकाल, पृ० ७१

२- वही, पृ० ७५

किसी अन्य व्यक्ति के साथ बात करना भी अमह्य हो बैठता है । एक बार मंगल से यमुना को बात करते हुए देखकर उसकी आँखें लाल हो जाती हैं , मुख तमतमा उठता है, और इस घटना ने उसे इतना मानसिक आघात पहुंचा है कि वह बोमार पड़ जाता है^१ । युवा व्यक्ति में विवेक की अपेक्षा भावुकता की अधिकता होती है, उसके सभी सम्बन्ध भावुकता की भिन्नि पर टिके होते हैं । चूंकि भावुकता भ्रम-वैश की स्थिति-विशेष है, अतः उसमें स्थिरता का अभाव पाया जाता है । यही कारण है कि कोरी भावुकता पर टिका हुआ प्रेम स्थायी नहीं होता और अपनी आस्थाओं के अनुकूल उत्तर न पाकर भावुक व्यक्ति का प्रेम निराशाजन्य विरक्ति में बदल जाता है । युवा विजय का भावुक हृदय भी अपनी धारणाओं के प्रति आश्वस्त होकर यमुना के प्रति प्रणय-निवेदन का प्रस्ताव करता है, लेकिन दुर्दिन की मारी^{यमुना} विजय के प्रणय-प्रस्ताव को ठुकरा कर सिसक पड़ती है -- 'किसी के हृदय की शोतलता और किसी के यौवन की उष्णता-- मैं सब फेल चुकी हूँ । उसमें सफल नहीं हुई , उसकी साथ भी नहीं रही । विजय बाबू । मैं दया की पात्री एक बहन होना चाहती हूँ । है किसी के पास इतनी निःस्वार्थ स्नेह-सम्पत्ति जो मुझे दे सके ? -- कहते-कहते यमुना की आँखों से आँसू टपक पड़े^२ । यहीं से विजय के अतृप्त जीवन में एक नया मोड़ आता है । अपनी चिरपोषित कोमल कल्पनाओं के प्रतिबुल्यमुना का उत्तर पाकर उसका दिल टूट जाता है और वह जीवन के प्रति उदासीन होकर एक अपराधी का जीवन जीना प्रारम्भ कर देता है । उसकी प्रेम भावनाएं कुंठित हो जाती हैं ।

काम कुंठित व्यक्ति प्रेम को निराशा में निष्करुण होकर प्रिय से प्रतिकार लेने का भ्रूषा हो जाता है । इसीलिए वह ऐसे आचरण अपना लेता है जिसे उसका प्रिय पसन्द नहीं करता । इसमें वह आत्मपीड़न द्वारा प्रिय का ध्यान अपनी ओर खींचना चाहता है । विजय का घण्टी के प्रति प्रेम व्यापार और मदिरा पान इसी प्रतिशोध का भूमिका है । -- घण्टी और मंगल के परदे में यमुना अधिक

१- कंकाल, पृ० ८३

२- वही, पृ० १०४

स्पष्ट हो चुकी थी । उसका आकर्षण अजर की सांस के समान उसे खींच रहा था । विजय का हृदय प्रतिहिंसा और कुतूहल से भर गया था । अपने सिड़की से फांक कर देखा, घण्टी आ रही है । वह घर से बाहर ही उससे जा मिला^१ ।

यमुना की ओर से निराश होकर विजय असामयिक मनोद्वेष से पीड़ित हो जाता है, जिसमें व्यक्ति वाह्य वस्तुओं के प्रति उदासीन रहता है और उसमें आकांक्षाओं का अभाव हो जाता है । बाहरी वस्तुओं के प्रति उदासीन होने का कारण प्रमुखतः यह है कि उसको सारी शक्ति वाह्य वस्तुओं से खींच कर अहं (Ego) में केन्द्रित हो जाती है^२ । विजय भी अपने आन्तरिक अभावों में सिपट कर स्वातसेवी हो जाता है, किसी से बोलता नहीं । भोजन करता और सो रहता है । उनका अधिकांश समय मकान के पास करील की फाड़ियों के बीच कदम्ब के नीचे बीतता है, जहाँ वह कभी उपन्यास पढ़ता, और कभी हारमोनियम बजाया करता है ।^३ मानसिक अशान्ति और आकुलता की कसक भूलने के लिए वह मदिरा का सेवन करने लगता है ।

किशोरी के प्रति श्रीचन्द का व्यवहार भी इसी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया का परिणाम है । वह भी किशोरी की ओर से निराश और उसके आचरण से दुःख होकर चन्दा की ओर आकर्षित हो जाता है । श्रीचन्द के इस व्यवहार के पीछे किशोरी के मर्म को चोट पहुँचाने की भावना का बहुत बड़ा हाथ है । जिस समय किशोरी श्रीचन्द को चन्दा के साथ देखकर स्त्री-सुलभ ईर्ष्या से कुढ़ जाता है, उस समय श्रीचन्द को किशोरी की इस कुढ़न पर बड़ा संतोष मिलता है, जैसे उसे उसकी ईर्ष्यात वस्तु मिल गयी हो^४ । पारिवारिक जीवन को असफलता से श्रीचन्द व्यवसायीमात्र बनकर रह जाता है । वह घन को अपना अन्तरंग बनाकर बोतल और प्याले में अपने हृदय की पीड़ा डुबाने लगता है^५ । काम-भावना के समुचित विकास के

१- कंकाल, पृ० १०२

२- डा० पद्मा अग्रवाल १ मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियायें, पृ० १०५

३- कंकाल, पृ० १०५, १०८

४- वही, पृ० १६१

५- वही, पृ० १५३

अभाव में विजय का व्यक्तित्व विखर जाता है , और वह उसे समेट कर समाज से सामन्तस्य नहीं बैठा पाता, जिसके फलस्वरूप वह अपने-आप से लड़ता हुआ 'कंकाल' मात्र रह जाता है और चिन्ता में घुल-घुल कर अपना दम तोड़ देता है । इस प्रकार विजय का व्यक्तित्व काम-कुण्ठा और आत्महीनता की भावना से ग्रसित व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है ।

कथा का दूसरा सूत्र मंगल और तारा के प्रेम-प्रसंग को लेकर चलता है । दोनों की पारिवारिक परिस्थितियां एक सी हैं । दोनों ही अपने बचपन में माता-पिता से बिछड़ कर पारिवारिक सुखों के से वंचित रह जाते हैं । ये परिस्थितियों का घटना-चक्र दोनों को एक-दूसरे के निकट ला देता है और धीरे-धीरे दोनों एक-दूसरे के प्रति आकर्षण का अनुभव करने लगते हैं । सान्निध्य सुख और संरक्षण का मूला नारी-हृदय कृतज्ञता के बोझ से दब कर मंगल के चरणों में आत्मसमर्पण कर देता है । 'कोठे' के कुत्सित वातावरण से बाहर आकर तारा में सुगृहिणी बनने की नारी-सुलभ लालसाएं उठने लगती हैं , जिनकी प्रेरणा से वह मंगल के अधिकाधिक समीप आती जाती है । उसका प्यासा हृदय मंगल से अधिक बात चीत करने के लोभ का संवरण नहीं कर पाता । वह उसके अध्ययन में बाधा डाल कर उसे बातों में उलझाने लगती है^१ । अन्त में दोनों एक-दूसरे को अपना कर अपने आप को हल्का कर लेते हैं -- 'मंगल सपना देख रहा था , बराँता था -- कौन कहती है कि तारा मेरी नहीं है ? मैं भी उसी का हूँ ।....तारा फल पर मुक गयी थी सहसा मंगल ने उसी प्रकार सपने में बराँते हुए कहा -- मेरी तारा, प्यारी तारा आओ । उसके दोनों हाथ उठ रहे थे कि आंस बन्द तारा ने अपने को मंगल के अंक में डाल दिया ।... मंगल की आंखों खुलीं, जैसे उसने रात भर एक मनोहर सपना देखा हो... जंगल में पहली लाल किरणें तारा के कपोल पर पड़ रही थी । मंगल ने उसे झूम लिया । तारा जाग पड़ी । वह लजाती हुई मुस्कराने लगी । दोनों का मन हल्का था । यहीं से दोनों के जीवन में नया मोड़ आ जाता है । उनके आन्तरिक अभावों की पूर्ति हो जाती है और उनका जीवन उत्साह से बीतने लगता है^२ । अन्ततः तारा मंगल के संसर्ग से

१- कंकाल, पृ० ४१

२- वही, पृ० ४३, ४४

३- वही, पृ० ४४

आपन्न सत्त्वा हो जाती है । इसी बीच जब दोनों अपने प्रेम सम्बन्ध को सामाजिक मान्यता देने के लिए विवाह की योजना बनाते हैं, कुलटा चाची मंगल के हृदय में सन्देह के बीज बो देती है । मंगल के हृदय में प्रेम और प्रतिष्ठा को लेकर द्वन्द्व छिड़ जाता है । वह तारा की उत्पत्ति के विषय में विचार करने लगता है--^१ तारा दुराचारिणी की सन्तान है । वह वेश्या के यहां रहा, फिर मेरे साथ भाग आई । मुझसे अनुचित सम्बन्ध हुआ और वह गर्भवती है । मैं आज व्याह करके कई कुकर्मों के अनुचित सन्तान का पिता कहलाऊंगा । ... समाज को कल्पित लांछना और अत्याचार ने उसे विचलित कर दिया ।^२ मंगल द्वारा तारा की चारित्रिक उलटियों का देखा जाना मंगल की मानसिक ग्रन्थि के विकृत रूप का परिचायक है । जब व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थि प्रकृत रूप में प्रकट नहीं हो पाती तो वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए अन्य विकृत उपायों का अवलम्बन ले लेती है, जिनमें आरोपण, आरोपण आदि उपाय प्रमुख हैं । यहां पर मंगल की मानसिक ग्रन्थि आरोपण (*Projection*) के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है । आरोपण पद्धति के अन्तर्गत व्यक्ति अपने आन्तरिक दोषों को अपने से बाहर देखने का आदी हो जाता है । वह अपनी चारित्रिक उलटियों और नैतिक दुर्बलताओं को दूसरों पर आरोपित करने लगता है । मंगल भी तारा पर अपनी नैतिक दुर्बलता का आरोपण कर , उसे गर्भावस्था में झोड़ कर पलायन कर जाता है । तारा दर-दर की ठोकरें खाने लगती है । मंगल द्वारा त्यक्ता तारा का जीवन उपेक्षित नारी की मानसिक स्थितियों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है । प्रेमी के विश्वासघात से दुःख युवती प्रायः आत्म केन्द्रित हो जाती है । प्रेमी के साथ-साथ उससे सम्बद्ध विषयों के प्रति भी उसे विराग हो जाता है । मंगल के विश्वासघात से आहत होकर तारा (यमुना) अपने - आप में सिमट कर जीवन के प्रति उदासीन हो जाती है । विजय की भावुक उक्तियों पर उसका मुक्तभोगी हृदय उच्छ्वसित हो उठता है --^३ किसी के हृदय को शीतलता और किसी के यौवन की उष्णता -- मैं सब फेल चुकी हूं । उसमें सफल नहीं हुई । उसकी साथ भी नहीं रही ।^४ मंगल के प्रति उसके अचेतन मन की घृणा मंगल के साथ-साथ उससे

१- कंकाल: पृ० ५६

२- कंकाल: पृ० ५०

३- कंकाल, पृ० १०४

उत्पन्न शिशु तथा समूची पुरुष जाति के प्रति घृणा का रूप ले लेती है^१। लेकिन नारी का मातृ-हृदय न तो पुत्र को ही मुला पाता है, और न मंगल को हो। जिस समय मंगल ब्रज भूमि को अपना कार्य-क्षेत्र बनाकर अपने ऋषि-कुल के लिए ब्रज में तीर्थारदन पर आए किशोरी और निरंजन के पास सहायता के लिए आता है और वे लोग केवल मौखिक आश्वासन देकर उसे विदा कर देते हैं -- जलपान के लिए भी नहीं पूछते, उस समय यमुना (तारा) को बड़ा दर्द होता है और उसका हृदय भारी हो जाता है -- यमुना अपने भारी हृदय से बार-बार यही पूछती थी कि इन लोगों ने मंगल को जलपान करने तक के लिए न पूछा। इसका कारण क्या उसका प्रार्थी होकर आना है।^२

बिछड़े शिशु की स्मृति यमुना को बार-बार कचोटती रहती है। जब जब वह अपने को स्कान्त में पाती है, तब तब उसके मानस में शिशु सरोज लहरा उठता है। और वह रो पड़ती है। गोस्वामी कृष्णशरणार के आश्रम में कृष्ण के बालचरित्र की कथा पर उसे अपने शिशु की स्मृति हो आती है। मनोविज्ञान में इस प्रकार की स्मृति को विचार-साहचर्य की संज्ञा दी गई है, इसमें एक वस्तु या घटना को देखकर उससे मिलती-जुलती अतीत की किसी वस्तु या घटना की स्मृति हो आती है। तारा को भी कृष्ण-चरित्र के प्रसंग में उसके बिछड़े शिशु का शैशव काल याद आ जाता है। वह उसी के परिप्रेक्ष्य में अपने अतीत को दुहराने लगती है -- ऐसे मगवान भी बाल्यकाल में अपनी माता से अलग कर दिए गए थे। उसका हृदय व्याकुल हो उठा + + + अपने हृदय के टुकड़े के लिए वह मचल उठी -- वह अब कहां है ? क्या जीवित है ? उसका पालन कौन करता होगा ? वह जिखना अवश्य। ऐसे बिना यत्न के बालक जीते हैं -- इसका तो इतना बड़ा प्रमाण मिल गया है^३। व्यक्ति का नैतिक मन उसे उसकी मूलों के लिए कोसा करता है। मंगल की अंतरात्मा भी उसे तारा के प्रति किए गए उसके विश्वासघात के लिए बराबर कोसा करती है।

१- कंकाल, पृ० ५६, ६६

२- वही, पृ० १००

३- वही, पृ० १४०

वह पाठशाला खोलकर समाज-सेवा द्वारा अपने-आप को व्यवस्थित कर मानसिक विप्लव से बचना चाहता है, लेकिन उसे कहीं शान्ति नहीं मिलती । स्कान्त में उसकी मूल की कचोट बढ़ जाती है, और वह पश्चाताप की अग्नि में फुलसने लगता है । प्रायश्चित्त, पश्चाताप और आत्म-प्रतारणा के मानसिक फंफावात में पड़े हुए मंगल की मानसिक स्थिति का स्वयं लेखक ने बड़ा सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है -- मंगल आज गम्भीर चिन्ता में निमग्न है । वह सोच रहा था... कलंक पश्चाताप और प्रवचनाओं की कमी नहीं । उस अबला की मलाई करने के लिए जब जब मैने पैर बढ़ाया, धक्के खा कर पीछे हटा और उसे भी ठोकरें लगाईं । + + मैने साहस किया होता, तारा को न छोड़ देता, तो क्या समाज और धर्म मुझे इससे भी पीषण दण्ड देता ? कायर मंगल । तुम्हें लज्जा नहीं आती ? सोचते सोचते वह उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे शून्यपथ पर निरुद्देश्य चलने लगा । चिन्ता जब अधिक हो जाती है, तब उसकी शास्त्र-प्रशास्त्र इतनी निकलती हैं कि मस्तिष्क उनके साथ दौड़ने में थक जाता है । किसी विशेष चिन्ता की वास्तविक गुरुता लुप्त होकर विचार को यान्त्रिक और चेतना-वेदना-विहीन बना देती है । तब पैरों से चलने में, मस्तिष्क से विचार करने में, कोई विशेष भिन्नता नहीं रह जाती । मंगलदेव की वही अवस्था थी । वह बिना संकल्प के ही बाजार गया, तब खरीदने-बेचने वालों की बातचीत उसे केवल मन्नाहट सी सुनाई पड़ती है । वह कुछ समझने में असमर्थ था ।

(२) तितली

जिस प्रकार विजय का अपराधी जीवन उसकी प्रतिकूल परिस्थितियों की देन है, उसी प्रकार तितली में मधुबन और रामजस का अपराधी जीवन भी परिस्थितियों से बाधित है । मधुबन ग्रामीण वातावरण में पला हुआ एक स्वाभिमानी और सरल स्वभाव का नवयुवक है । बचपन में ही माता-पिता की ह्याया उठ जाने पर उसका बाल-हृदय बड़ी बहन राजी की स्नेहमयी ह्याया में माँ की ममता, और पिता का प्यार पाने का प्रयास करने लगता है । तदनन्तर रेशव की सीमा पार कर , बाबा

रामनाथ की देख-रेख में चारित्रिक दृढ़ता और कर्मठता की शिक्षा लेकर तितली के साथ दाम्पत्य-जीवन में प्रवेश करता है । यहीं से उसके जीवन में नया मोड़ प्रारम्भ हो जाता है । वह तितली के साहचर्य-सुख से उत्फुल्ल होकर अपने अमावों में भी पूर्ण आनन्द का अनुभव करने लगता है । लेकिन जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियाँ उसके सहज प्रवाह को प्रतिकूल दिशा में बहा ले जाती हैं । मधुबन का शान्त, संत और सन्तुष्ट जीवन, उस समय झुँव्य हो उठता है, जब सुखदेव चौबे उसकी विधवा बहन राजो की विवशता और दुर्बलता का अनुचित लाभ उठाने का प्रयास करने लगता है तथा राजकुमारी भी चौबे के प्रति आसक्त होकर अपने संयम से छिग्ने लगती है--

उस दिन चौबे विदा हुए । किन्तु राजकुमारी के मन में मथानक हलचल हुई । संयम के प्रौढ़ भाव की प्राचीर के भीतर जिस चारित्र्य की रक्षा हुई थी, आज वह सन्धि खोजने लगा था । + + + उसका हृदय काव्यनिक सुखों का स्वप्न देखकर चंचल हो गया था । सुखदेव चौबे ने अकाल जलद की तरह उसके संयम के दिन को मलिन कर दिया था + + + कभी-कभी अपनी मर्यादा के खोए हुए गौरव की क्षीण प्रतिध्वनि उसे सुनायी पड़ती, पर वह प्रत्यक्षा सुख की आशा को -- जिसे जीवन में कभी प्राप्त न कर सकी थी -- छोड़ने में असमर्थ थी^१ । एक रात सुखदेव चौबे को घर की कुंटी खटखटाते और यह कहते हुए सुन कर^२ -- 'खोल दो राजो । मैं दो बात करके चला जाऊँगा । तुमको मेरी सौगन्ध' मधुबन के हृदय में सुखदेव चौबे और राजकुमारी के अवैध सम्बन्ध का सन्देह उत्पन्न हो जाता है । इस घटना के से उसके चारों ओर चिंगारियाँ नाचने लगती हैं और वह क्रोधमिश्रित में आकर लात-धूसों से चौबे को अघमरा कर देता है । यहीं से मधुबन के हृदय में राजो और चौबे के प्रति घृणा तथा क्रोध का भाव बद्धमूल हो जाता है ।

व्यक्ति का सहज स्वामिमान हर मूल्य पर अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाए रखना चाहता है । जिस समय व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा पर किसी प्रकार की आंच आती है, उस समय उसका स्वामिमान आवृत हो उठता है । व्यक्ति

१- तितली, पृ० ६१, १५४, १५५

२- वही, पृ० १६३

की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रायः दो प्रकार से प्रभावित होती है-- एक तो जात्मीयजनों के ऐसे व्यवहारों से जो सामाजिक व्यवस्थाओं और नैतिक मान्यताओं के प्रतिकूल पड़ते हैं । दूसरे ईर्ष्या रखने वाले विरोधी तत्वों द्वारा प्रचारित मिथ्या प्रवाद से । मधुबन की सामाजिक प्रतिष्ठा गिराने में इन दोनों तत्वों का हाथ था । एक ओर उसकी विधवा बहिन राजो का अवैध प्रेम-- व्यापार समाज में चर्चा का विषय बन कर उसे लज्जित कर रहा था, दूसरी ओर उसके विरोधी सुखदेव चौबे और तहगीलदार उसके विरुद्ध दीनानाथ की लड़की की शादी में गड़बड़ करने और वेश्या मैना को लेकर भागने का प्रवाद फैलाकर उसे केंफाने का प्रयत्न कर रहे थे । इन दोनों बातों से दुःख हो कर वह उनसे प्रतिकार लेने के लिए अधीर हो उठता है, लेकिन अपनी स्थिति और भावी परिस्थितियों को सोच कर वह हृदय की कुड़न हृदय में ही छिपा लेता है, किसी से कह भी नहीं पाता । एक दिन रामजस को अपना अभिन्न साथी और शुभेच्छु समझ कर उसका हृदय फूट पड़ता है -- ' रामजस न कहने से पेट में हूक सी होती है । तुमसे कहूँ ? लज्जा मेरा गला दबा रहो है + + + माँ जब मैना के सामने यह बात खुल गई तो तुम से कहने में क्या संकोच ? उस मगदड़ में जब मैं.... जा पहुँचा शेकोट और वहाँ देखा किमीतर से किवाड़ बन्द है, बाहर सुखदेव चौबे खड़ा होकर कह रहा है -- ' राजो ! किवाड़ खोलो । ' मेरा खून खौल उठा.... मैंने उसे दो-चार हाथ जमाया हो था कि मैना ने रोक लिया और मैं तो उसकी हत्या ही कर बैठता । पर यही जानकर कि जब राजो के साथ चौबे का कोई सम्बन्ध था, तभी तो यह बात हुई मैं रुक गया । + + + मेरा हृदय जला जा रहा है । मैं जानता हूँ कि यह चौबे ही इसकी जड़ में है पर क्या करूँ? लोक-लाज और अपना कलंक मेरा गला घोट रहा है । '

व्यक्ति को अपनी गिरती हुई सामाजिक प्रतिष्ठा उस समय असर जाती है, जब उसके अभिन्न अन्तरंग और अपने सगे भी मिथ्या प्रवादों पर विश्वास कर उसकी ओर से उदासीन रहने लगते हैं । मधुबन को जब यह मालूम होता है कि मेरे विषय में मैना को लेकर चलने वाले प्रवाद में तितली को भी विश्वास होने लगा है, तब

उसका साहस टूट जाता है, और वह बहुत ही दुःखी होकर रामजस से कहता है--
 "तेरी भाभी भी तो यही बात मानती है?" मधुबन को यह बात रह-रह कर डुमती
 रहती है कि --, 'मैना को लेकर जो कांड अकस्मात् खड़ा हो गया है, उसको जैसे
 वह आजकल दिन-रात सोचती है। छठी हुई, शान्त सी, किन्तु भीतर भीतर जैसे
 उबल पड़ने की दशा। बोलती है तो जैसे बाणी हृदय का स्पर्श करके नहीं आती।
 मैं अपनी सफाई देता हूँ, उसकी गांठ खोलना चाहता हूँ, किन्तु वह तो जैसे मयमीत
 और चौकन्नी सी हो गई है^१। तितली को उदासीनता मधुबन के हृदय में छींक
 और खिन्नता उत्पन्न कर देती है। सब के प्रति उसे विरक्ति सी हो जाती और वह
 मानसिक उलफनों में उलफ जाता है। उसका हृदय उस समय दूर-दूर हो उठता है
 जब तितली उसकी ओर लक्ष्य कर राजी से व्यंग्य करती हुई कहती है -- "उनकी बात
 क्या प्रकृति हो। तुम्हीं तो मुझसे चिढ़ कर उनके लिए मैना को खोज लायी हो,
 जीजी।" लोकापवाद के प्रसंग में जिस वस्तु या व्यक्ति के साथ व्यक्ति का नाम
 जुड़ जाता है, न चाहते हुए भी वह उसके विषय में सोचने लगता है। मधुबन के
 मस्तिष्क में भी अब मैना की स्मृति और स्पष्टता के साथ उमर आती है -- वह
 मैना की बात सोचने लगा था। ... कितनी चंचल, हंसमुख, और सुन्दर है, और
 मुझे मानती है। चाहती भी होगी। उस दिन हजारों के सामने उसने मुझे
 जब बौल दिया था, तभी उसके मन में कुछ था^४। कब और किस अवसर पर व्यक्ति में
 कौन सा विचार प्रबल हो उठेगा, कहा नहीं जा सकता। लेखक के शब्दों में -- "न
 जानें कब हृदय की भूमि सौंधी होकर बट-बीज सा बुराई की कौटी सी बात अपने
 में जमा लेती है। उसकी जड़ें गहरी और गहरी भीतर भीतर घुस कर अन्य मनोवृत्तियों
 का रस बूस लेती है। दूसरा पौधा आस-पास का निर्बल ही रह जाता है"^५।

जिस समय मधुबन मानसिक उलफनों का हल खोजने के में व्यस्त रहता है,
 उसी समय रामजस के खेत को लेकर फाँजदारी हो जाती है, जिसमें मधुबन भी फाँस

१- तितली, पृ० १७०

२- वही, पृ० १७३

३- वही, पृ० १७५

४- वही, पृ० १७५

५- वही, पृ० १७५

दिया जाता है । यहां से मधुबन के जावन में तीसरा मोड़ आता है -- बिगड़ती हुई परिस्थितियां उसे अपराधी बना देती हैं ।

रामजस और मधुबन का अपराधी जीवन संस्कार जन्म न होकर परिस्थितिजन्म है । परिस्थितियों का आग्रह उन्हें अपराधी बना देता है । रामजस अमावों से पीड़ित एक निर्धन नवयुवक है । उसका भाई पथ्य के लिए भूखों मर जाता है ।^१ मां दरिद्रता की घोर पीड़ा और अभिमान के कारण पागल होकर दम तोड़ देती है ।^२ -- इस पर भी सुखदेव और तहसीलदार के षड़यन्त्र से उसका खेत नीलामकर उसे गांव छोड़ने पर विवश कर दिया जाता है । समाज की इस निर्दयता पर युवक रामजस का हृदय संकल्प ले लेता है --^३ मैं तो अब कलकत्ते नहीं जाता । देखूं कौन मेरा खेत काटता है ? मैं तो आज से प्रतिज्ञा करता हूं कि बिना इसका सर फाँड़े नहीं जाता ।^४ मधुबन से मिल कर लौटने पर वह अपने 'कुकी' हुए खेत का होला जला कर गांव मर के लड़कों को दावत देने लगता है ।

रामजस के इस व्यवहार के पीछे भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य है जो वस्तु व्यक्ति के हाथ से निकलने लगती है, वह उसके प्रति उदास होकर उसके संघर्ष का मोह छोड़ देता है । अवसर पाने पर उसे लुटा देने में उसे एक प्रकार का संतोष मिलता है । रामजस की भी अपने हाथ से निकलते खेत को लुटा देने में कोई हिचक नहीं होती । जिस समय रामजस अपनी फसल का 'होला' जला जला कर लड़कों की मण्डली में भोज का आनन्द ले रहा था, उसी समय सुखदेव चौबे ने आकर उसे डांटना फटकारना प्रारम्भ कर दिया । जिस समय रामजस चौबे को अपने सामने देखता है उस समय चौबे के प्रति उसका दबा क्रोध उबल पड़ता है --^५ तो तुमने मुझको भी मधुबन भैया समझ रक्खा है ? अच्छा तो लेते जाओ बच्चा । कहकर रामजस ने लाठी घुमा कर हाथ उसके मोढ़े पर जड़ दिया ।^६ रामजस के इस काण्ड पर छावनी के दस लट्ठबाज आ कर उसे घेर लेते हैं । इसी बीच मधुबन बीच-बचाव करने के लिए वहां आ जाता है, लेकिन पुराना विरौधी तहसीलदार उसी को दोषी करार कर उस पर अपने लट्ठबाज छोड़ देता है । वे दसों लट्ठबाज मधुबन पर टूट पड़ते हैं । अन्त में विवश होकर उसे भी लाठी चलानी पड़ती है, जिसमें लट्ठबाजों को धराशायी कर

१- तितली, पृ० १७१

२- वही, पृ० १७१

३- वही, पृ० १७१

४- वही, पृ० १७७, १७८

वह रामजस को सहारा देता हुआ बजरिया की ओर चल देता है ।

✓ मधुबन और तहसीलदार का विरोध मनोपैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है । व्यक्ति का 'जह' अपने गौरवपूर्ण जतीन को सुलाना नहीं चाहता । परिस्थितियों की मार से जर्जर हो जाने पर भी उसका वंश-गौरव का अभिमान मरता नहीं, वह अपने बीते वैभव की चर्चा द्वारा अपनी हीन-भावना को दूर हटाने का प्रयत्न किया करता है । ज्यों-ज्यों वह विगत वैभव की चर्चा बढ़ाकर अपने वर्तमान अभावों को छोटा करने का प्रयास करता जाता है, त्यों-त्यों उसके 'जह' की ऊंचाई बढ़ती जाती है । अन्ततः यही 'जह' अनियंत्रित होकर अपराध का आधार बन जाता है । व्यक्ति के इस 'जह' में उस समय और उबाल आ जाता है, जब वह इस तथ्य से अवगत हो जाता है कि उससे विरोध करने वाला व्यक्ति स्वयं उसके पूर्वजों के अधीन रह चुका है । जब व्यक्ति के हृदय में यह धारणा पैठ जाती है कि 'मुझ व्यक्ति तो मेरा नौकर रह चुका है तब वह उसे अपने से छोटा समझ कर उसके प्रति उपेक्षा का भाव रखने लगता है । उस समय उसे अपने विरोध में पा कर उसे दण्ड देने में वह आगा पीछा भी नहीं सोचता । मधुबन के हृदय में भी यह बात पैठ चुकी है कि 'मेरे टुकड़ों से पला हुआ कुत्ता आज जमींदार का तहसीलदार बन गया । उसको मैं समझता क्या हूँ ?' तहसीलदार के प्रति मधुबन के हृदय में पैठो हुई यही उपेक्षा-भावना उसे तहसीलदार को पीट देने की प्रेरणा देती है । वह बड़ी अकड़ के साथ शैला से कहता है -- 'फिर आप तो जानती नहीं । यह तहसीलदार मेरे यहां काम करता था । + + इसको दानव की तरह लड़ने का शौक है । शौ भी अदालत का ही । नहीं किसी दिन इसकी लड़ने की साधना मिटा देता । मैं किसी दिन इसकी नस तोड़ दूँ तो मुझे चैन मिले ।' मधुबन की गवौक्तियों के प्रति तहसीलदार की जो प्रतिक्रिया होती है, वह भी सहज और स्वामायिक है । जिस प्रकार सम्पन्न स्थिति से विपन्न स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति अपनी पूर्वस्थिति का सहारा लेकर अपनी वर्तमान लघुता को कम कर सामाजिक प्रतिष्ठा पाना चाहता है, उसी प्रकार लघुता से उठकर प्रभुता प्राप्त करने वाला अपनी पूर्व स्थिति की चर्चा मिटाने के लिए अपनी वर्तमान स्थिति की प्रभुता को सुरक्षित रखना और समाज को आतंकित करना चाहता है । तहसीलदार के मन में भी लघुता को -- पहले मधुबन के पिता के यहां की हुई नौकरी के

१- तितली, पृ० १७६

२- वही, पृ० ६८, ६९

कलंक को, घों डालने के लिए बलवती प्रेरणा हुई -- यह कल का होकरा सबसे कहता फिरता है तो उसको भी मालूम हो जाय कि मैं क्या कहूँ ? मधुबन और तहसीलदार के इसी 'मैं' के संघर्ष के बीच से दोनों के बीच विरोध की साईं चौड़ी होती जाती है ।

रामजस के विषय में फौजदारी करने से लेकर जेल जाने तक, मधुबन के जीवन में जितने मोड़ आते हैं, वे सभी उसकी प्रतिकूल परिस्थितियों के परिणाम हैं । परिस्थितियों से बाध्य होकर अकस्मात् बड़ा अपराध कर देने पर स्क सरल, सुशील और मौले-भाले मयाकुल व्यक्ति की मानसिक स्थिति क्या होती है, इसका बड़ा सुन्दर चित्रण हमें मधुबन की मानसिक स्थितियों में मिल जाता है ।

मय की भावना बड़ी तीव्र और प्रबल होती है, इससे आक्रान्त व्यक्ति की मानसिक सक्रियता समाप्त हो जाती है, और उसका चेतना चारों ओर से सिमट कर विषय विशेष पर टिक जाती है^१ । जिस समय मधुबन राजो की रक्षा में कामुक महन्त का गला दबा कर हत्या के अभियोग से बचने के लिए चलायन कर जाता है, उस समय उसकी मानसिक स्थिति अव्यवस्थित होकर अपना विवेक खो देती है । उसकी समस्त चेतना गला घोटने के प्रसंग को अपना केन्द्रबिन्दु बना लेती है ।

अस्तिष्क में तर्क-वितर्क का एक तूफान उठ खड़ा होता है । हृदय शंका करता है, बुद्धि उसका समाधान कर देती है -- तो क्या वह मर गया ? नहीं मैंने तो उसका गला ही दबाया था । गला घोटने से मूर्छित हो गया होगा । चेतन्य हो जायगा अवश्य ।^२ उसके हृदय में मय, क्रोध, घृणा का मयानक संघर्ष चलने लगता है । उसके मय की भावना घनीभूत होकर उसकी ज्ञानेन्द्रियों को अभिभूत कर लेती है । स्कान्त में --^३ उसके सामने महन्त की निकली हुई आंखों का चित्र नाचने

१- तितली, पृ० १७६

२- "Fear, whether its impulse be to flight or to concealment, is characterised by the fact that its excitement, more than that of any other instinct tends to bring to an end at once all other mental activity, riveting the attention upon its object to the exclusion of all others."

३- तितली, पृ० १८८

—W. Mc Dougall : Social Psychology, P. 47

लगा । फिर तितली का निष्पाप और भोला-सा मुखड़ा हाय हाय मधुबन तूने क्या किया? वह क्या करेगी? कौन उसकी रक्षा करेगा ? उसका गला मर आया । वह चलता जाता था और भीतर ही भीतर अपने रोने को, सांसों को दबाता जाता था । उसे दूर से किसी के दौड़ने का और ललकारने का भ्रम हुआ । + + + मधुबन सिरस के ऊपर चढ़ी हुई मालती की छाया में ठिठक गया । पीछा करने वालों की आहट लेंने लगा । किन्तु वहाँ तो कोई नहीं आया । अपने गहम में हृदय के निश्वास किया यह सब मेरा भ्रम है ।^१

निराशा की अतिस्थिति से जीवन की मधुरता नष्ट हो जाती है । व्यक्ति हृदय-हीन होकर अपना के प्रति भी कठोर हो जाता है । उसे सब पर सन्देह होने लगता है । इस प्रकार वह पीड़ात्मकस्थिर भ्रम (*Persecutory Paranoia*) का शिकार हो जाता है, जिसमें व्यक्ति के मन में, यह विश्वास जम जाता है कि मित्र तथा लोक समाज उसके विरुद्ध हैं, और उसका अनहित चाहते हैं^२ । जीवन से हताश मधुबन के हृदय में भी यह बात पैठ जाती है कि सारा समाज और सभी सौ-संबंधी अपना स्वार्थ चाहने वाले हैं, कोई उसका झुमेच्छु नहीं ।^३ मुझे पिशाच के मयानक बंगुल में फंसा कर सब निर्विघ्न आनन्द ले रहे हैं । कौन ! राजो .. तितली..... मेना..... सुखदेव..... तहमीलदार... और शैला ! सब चुपचाप । तब मैं कितने दिनों तक छिपा छिपा फिरंगा ?^४ मधुबन इसी उधेड़-झुन में विगत घटनाओं का चिन्तन करता हुआ सो जाता है । उस समय स्वप्नावस्था में, उसके अवैतन मन के दबे चित्र एक-एक कर उभरने लगते हैं । पहले इन्द्रदेव का स्वागत करती हुई तितली का चित्र उभरता है, फिर सुखदेव के स्वागत में बत-ठन कर बैठी राजो का । स्वप्न में सुखदेव को दरवाजा खटखटाते देखकर उसका सपने का वीर हुंकार कर उठता है और वह हत्या पर उतारू हो जाता है । मधुबन का स्वप्न उसके द्वन्द्व-जर्जर जीवन का समूचा चित्र उभार देता है । इस प्रकार उसकी मानसिक स्थितियों के विविध आयाम मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं । तितली में एक छोटा-सा पात्र आता है रामदीन । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसका भी विशेष स्थान है । उसके माध्यम से लेखक ने इस तथ्य की पुष्टि की है कि प्यार और उचित

१- तितली, पृ० १८८, १८९

२- डा० पद्मा अग्रवाल: मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएं, पृ० १००

३- तितली, पृ० २१३

४- वही, पृ० २१३, २१४ ।

व्यवहार के अभाव में बच्चों का व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है । --'या तो वे आत्म - सम्प्रीही बन कर दबबू हो जाते हैं, या अनुशासन-हीन होकर उच्छ्वसल । शैला की उचित देख-रेख और प्यार में पलने वाला रामदीन शैला के चले जाने पर बीबी रानी और अनवरी के ऐसे व्यवहार से दुःख होकर उद्वण्ड होस जाता है-- 'शैला के पास को' उपाय न था । वह तो चली गयी । किन्तु रामदीन उत्पाती^१ जीव बन गया । दूसरे ही दिन उसने लैंप गिरा दिया । पानों भरने का ताँबे का घड़ा लेकर गिर पड़ा । तरकारी घौने ले जाकर सब कीचड़ से भर लाया । मलिया की चिकोटी काट कर मागा । और सबसे अधिक बुरा काम किया उसने माधुरी के सामने तरेर कर देखने का, जब उसको अनवरी को मुँह चिढ़ाने के लिए वह डांट रही थी ।' रामदीन का उत्पात इतना बढ़ जाता है कि अन्त में विवश होकर इन्द्रदेव को उसे रिफार्मेटरी में भेजना पड़ता है ।

३- इरावती

'इरावती' नामक उपन्यास में इरावती का व्यक्तित्व संस्कारगत स्वभाव का प्रतिनिधित्व करता है । 'इरावती' देवमन्दिर की एक नर्तकी है । नृत्य-कला को उसने अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लिया है । जिस समय उसे देव-मन्दिर से बलात् छीन कर बौद्ध विहार में दे दिया जाता है, उस समय उसका काला-प्रिय हृदय तड़प उठता है । वहाँ उसे कठोर इन्द्रिय -निग्रह की शिक्षा दी जाती है । कठोर नियमन और इन्द्रियन्मन उसके संचित संस्कार को दबा नहीं पाता । एक दिन शिप्रा-तट पर शारदीय सुषमा के मादकवातावरण में अनुकूल अवसर पाकर उसका पूर्व संचित संस्कार उभर आता है, वह नाचने के लोभ का संवरण नहीं कर पाती । एक भिक्षुणी द्वारा सौन्दर्य-वर्चा से विरत रहने के सुझाव पर उसका राग-रंजित हृदय उसका विरोध कर उठता है --'वाह ! ~~कस~~ यह कौमुदी -महोत्सव और इसकी प्रशंसा भी न की जाय ? यह रात तो नाचने की है भगिनी । मैं निर्दोष इसी चांदनी की तरह ~~ब~~ शुभ्र अपने जीवन की बन्दना करती हूँ । मैं उसकी अभ्यर्थना में नाचूंगी ' इसका कला-पूर्ण हृदय उल्लसित हो रहा था....उसने नीला को अपना

दर्शक बनाया और नक्षत्र-विजडित ज़ुद्र आकाश-खण्ड की तरह अपने को झूली हुई
भी नाचने लगी । + + + अकेली इरावती आंस मूंद कर नाच रही थी ।
चक्रम के नीचे शिप्रा ऊपर आकाश में चन्द्र, शिप्रा के कुंजों में स्निग्ध, पवन सब
स्तब्ध थे ।^१

भावों का बलात् नियमन कुछ समय के लिए जीवन के सहज प्रवाह को
अवरुद्ध मंल कर दे, उसकी मूल संवेदना को समाप्त नहीं कर सकता ।^२ जिस प्रकार
चांदनी से प्रभा, नदी से प्रवाह, और विश्व में से उसकी मूर्तिमत्ता^३, को पृथक् नहीं
किया जा सकता, उसी प्रकार जीवन से उसकी अनुभूतियों और भावनाओं को अलग
नहीं किया जा सकता । इरावती के साथ भी यही होता है । वह भिडुणी बनकर
भावना से ऊपर उठने और स्कान्त चिन्तन करने का प्रयत्न करती है, लेकिन उसे
सफलता नहीं मिलती । उसका मानसिक पक्ष यह निर्णय ले लेता है --^४ मैं बलपूर्वक
अपने हृदय से उन कोमल अनुभूतियों को निकाल दूंगी । काम-सुखों की स्मृतियों
को कड़ी से कड़ी फटकार दूंगी ।^५ लेकिन उसका हृदय उस समय अपनी पराजय
स्वीकार कर लेता है, जब बलिष्ठ ब्रह्मचारी उसे आनन्द का आशामय सन्देश सुना
कर स्वानुभूति जगाने की प्रेरणा प्रदान करता है --^६ मां तुम । शक्ति-स्वरूपा हो,
अन्तर्निहित ष आनन्द की अग्नि को प्रज्ज्वलित करो । सब मलिन कर्म उसमें मग्न
हो जायेंगे । उस आनन्द के समीप पाप जाने से हरेगा ।^७

ब्रह्मचारी के उद्बोधन से इरावती की सुप्त संवेदना जागृत होकर
अपने पूर्व संस्कार पर लौट आती है । अन्त में वह भिडुणी विहार के निराशापूर्ण
और दम घोटने वाले वातावरण का परित्याग कर देती है । नृत्य निपुणा इरा
का नृत्य संस्कार जो परिस्थितियों की मार से दब गया था, उस समय सहसा पुनः
उभर आता है । जब श्रेष्ठ धनदत्त के यहां संगीत-स्मारोह में मणिमाला उससे नृत्य
करने का आग्रह करती हुई उसके पैरों में नूपुर पहना देती है --^८ युवक ने वीणा
उठा ली । अद्भुत स्वरों का नृत्य प्रारम्भ हुआ । वह कलिंग का युवक वीणा को

१- इरावती : पंचम संस्करण, पृ० १७, १८

२- वही : , , पृ० २०

३- वही : , , पृ० ३६

४- वही , पृ० ५६

दुत, मध्य और विलम्बित गतियों में इस प्रकार चढ़ा-उतार रहा था कि सुनने वाले आश्चर्य और स्वर-संचार से मुग्ध हो रहे थे । किन्तु चंचल मणिमाला, वह झुकने वाली नहीं । उसने धीरे से इरावती के पैरों में नूपुर पहना ही दिया । अभी विलम्बित से मध्य लय में वीणा बढ़ रही थी । महसा इरावती उठ खड़ी हुई । हां, जैसे अपने को भूलो हुई । उसके पैरों में एक अद्भुत प्रेरणा उत्पन्न हो गई थी । वह नृत्य करने लगी ।^१

इरावती के अतिरिक्त एक दूसरा नारी-पात्र है — मणिमाला । सीमित पर तुली हुई रेखाओं के माध्यम से लेखक ने उसके चरित्र को उभार कर, उसकी स्त्री-सुलभ भावनाओं का सुन्दर चित्रांकन किया है । मणिमाला, सुन्दर और सरल स्वभाव की एक युवती है । उसका पति प्रौढ़ावस्था का एक कुशल व्यवसायी । उसकी अर्थ-लोलुपता उसे मणिमाला के प्रति उदासीन बनाए रखती है । मणिमाला को अपने प्रति पति की यह उदासीनता अक्षर जाती है --^२ जैसे बहुत से निठल्ले अन्न-वस्त्र पाते हैं, उसी तरह क्या मैं भी हूँ ।^३ मणिमाला ने उक्त आत्मकथन में कई मनोवैज्ञानिक सत्यों का उद्घाटन कर दिया है । हमारे जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता 'कामेच्छा' की वृत्ति है । कामेच्छा हो हमारे सभी भाव-बोधों का मूल स्रोत है, दया, करुणा, ममता, प्रेम, प्रीति, सहानुभूति आदि मनोभाव इसी काम-भावना के विविध रूप हैं ।^४ इस काम-भावना का दमन अनेक मानसिक विकृतियों को जन्म देकर जीवन के सहज प्रवाह को अवरुद्ध कर देता है, और इसका उन्नयन जीवन को व्यवस्थित कर स्वस्थ जीवन-दर्शन की दिशा प्रदान करता है । दाम्पत्य जीवन काम-भावना के उन्नयन का सबसे स्वस्थ माध्यम है, जिसका आधार है प्रेम और साहचर्य ।

१- इरावती, पृ० १०६

२- वही, पृ० ८७

३- काम (काम) शब्द में सब प्रकार का निस्वार्थ भाव--सहानुभूति, आकर्षण तथा दया आदि निहित है ।

-- डा० पद्मा अग्रवाल : मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएं, पृ० १८४

४- वह वृत्ति जिसके दमन का मानसिक स्वास्थ्य पर सबसे प्रमत्त अधिक प्रभाव पड़ता है, 'काम-वृत्ति' है । इसका प्रमाण मानसिक रोग में मिलता है... सब का यही मूल कारण है ।

-- डा० पद्मा अग्रवाल : मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएं
पृ० १५४

साहचर्य-सुख की लालसा व्यक्ति की एक सहज लालसा है, इसके अभाव में वह उदासीनता का अनुभव करने लगता है^१। दाम्पत्य-जीवन भी इसके प्रभाव से अछूता नहीं है। साहचर्य सम्बन्ध के अभाव में दाम्पत्य जीवन हीजने लगता है, उसमें ~~निरस्त~~ नीरस्ता आने लगती है। युवावस्था इस साहचर्य-सुख की विशेष भूखी होती है, और स्त्रियों का भावुक हृदय इसके प्रति अधिक आकर्षित रहता है। वे प्रिय के सान्निध्य में विशेष आनन्द का अनुभव करती हैं और उसके अभाव में उनके भावों का उफान अभावों से टकरा कर अवसाद की सीमा में सिमट जाता है। उसकी दृष्टि धुंधली हो जाती है और वह यौवन के आवेग में पति का प्यार न पाकर उसी प्रकार अपने पथ से फिसल जाती है, जिस प्रकार वारिद से बिछड़ कर नीचे आने वाली बूंद जलाशय में स्थान न पाकर किनारे की ढलान से ढलकती हुई उससे दूर जा पड़ती है। अपने प्रति पति को उदासीनता पर युवती मणिमाला का यह कथन कितना मनोवैज्ञानिक है -- "इतनी बड़ी सम्पत्ति और युवती स्त्री की व्यवस्था जो पुरुष स्वयं नहीं करता और मूल हो जाने पर उसी को तिरस्कृत करता है, वह भी क्या बुद्धिमान है^२ ? आत्म रक्षार्थ नौकर के साथ गृह नगर से मणि माला का फलायन कर जाना सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। उसके इस फलायन में जिजीविषा^{नामक} मूल प्रवृत्ति का विशेष हाथ है। वह स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करती है -- "मैं भी यदि प्राण बचाने के लिए भयभीत होकर कहीं चली ही गई तो इसमें कौन सा अधर्म हो गया ? उस दिन से मुझसे बोलते भी नहीं^३ ।"

कभी-कभी ऐसा होता है कि व्यक्ति अपनी जिस मूल के लिए प्रिय के प्रति लज्जा का अनुभव करता है, यदि प्रिय के भी उसी प्रकार की मूल हो जाय तो उसका मानसिक तनाव कुत्क्रम हो जाता है। मणिमाला ने भावावेश में आकर

ब-----

१--" The gregarious instinct is one of the human instincts of greatest social importance.....there we see the working of the gregarious instinct in all its simplicity, a mere uneasiness in isolation and satisfaction in being one of a herd."

-- W. Mc. Dougall : 'Social Psychology (P. 72)

२- इरावती, पृ० ८७

३- वही, पृ० ८७

यह भूल की थी कि वह जीवन-रत्ना के लिए पर पुरुष के साथ नगर के बाहर चली गयी थी । इस भूल के लिए वह बहुत लज्जित थी और प्रिय के प्रति अपने को अपराधी समझती थी । लेकिन जब उसे मालूम होता है कि धनदत्त राजगणिका के पास जाता और उसकी चाटुकारी करता है , तब उसकी लज्जा से झुकी आंखें उठ कर धनदत्त से मिल जाती हैं और अघरों में स्क रेखा उभर आती है । वह धनदत्त को अपराधी मान कर अपने - आप को हलका कर लेती है । यहीं से धनदत्त के प्रति उसके हृदय में स्नेह भी पैदा होती है । जब धनदत्त उसे महारानी के पास जाने और सहायता मांगने को कहता है, तब वह स्नेह कर कहती है --^१ " राजगणिका के पास तो तुम जा सकते हो, महारानी के पास मैं जाऊं ? नहीं^३ ।" उसकी यह स्नेह उस समय और बढ़ जाती है, जब धनदत्त महिला-ग्राहकों के प्रति विशेष आग्रह दिखाते हुए उनकी चाटुकारिता करने लगता है । मणिमाला उसके इस व्यवहार पर झुंमला उठती है --^४ " वह क्यों उन लोगों के प्रति इतना आकृष्ट है ? न लेंगी तो क्या ?"

यहां पर धनदत्त की महिला ग्राहकों में विशेष रुचि लेता हुआ देखकर मणिमाला का झुड़ना उसकी नारी-सुलभ ईर्ष्या और पति-भ्रम पर स्वाधिकार पाने की प्रवृत्ति का परिचायक है । नारी का रहस्य स्वामिमान कभी इस बात को

१-^१ उसके धैर्य का बांध टूट गया । मानसिक उत्तेजना से विवश होकर वह चली गयी ।

परन्तु अदृष्ट । उसी दिन धनदत्त अकस्मात् नगर के बाहर ही मिला और मणिमाला लौट कर अपने विशाल भवन में आ गयी । आयी तो, परन्तु वह अपराधी की तरह । उसकी आंखें धनदत्त के सामने नहीं होती थी ।^२

-- इरावती, पृ० ८६

२- वही, पृ० ८८

३- वही, पृ० ९०

४- वही, पृ० ९३

स्वीकार नहीं करता कि कोई दूसरा उसके पति का प्रेम बटा कर उसके 'अहं' को ठेस पहुंचाये । पति का प्रेम बटाने वाले के प्रति वह बहुत कठोर और असहिष्णु हो जाती है । जिस समय धनदत्त को वह ग्राहक सुन्दरियों की ओर स्तृष्ण नेत्रों से निहारते हुई देखती है, उस समय उसका 'अहं' तिलमिला उठता है, और उसके हृदय में उन सुन्दरियों के प्रति गहरी ईर्ष्या और घृणा का भाव पैठ जाता है, जो अक्सर पा कर उस समय फूट पड़ता है, जब दोनों महिलाओं में से एक महिला ब्रह्मचारी के प्रति कुटुम्ब अपमान सूचक शब्द कह देती है । मणिमाला उसे फटकारती हुई कहती है -- 'तो अपना व घृणा अपने तक ही परिमित नहीं रख सकते भीहो । किसी का अपमान करने में यदि आपको सुख मिलता हो, तो व थोड़ी-सी दसियां मोल ले लीजिए ।'

इस प्रकार मणिमाला की सभी प्रतिक्रियायें सहज, स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों के अनुकूल हैं ।

इस प्रकार प्रसाद ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में मानवीय अनुभूतियों को स्पर्श करने का पूरा-पूरा प्रयास किया है । कहानियां हमारे भाव-विशेष को स्पर्श^{कर} हृदय को भाव-विभोर बना देती हैं और उपन्यास उन अनुभूतियों को स्मेट कर गहरेभाव-बोध की पीठिका तैयार करते चलते हैं ।

(तृतीय खण्ड)

त्रयोदश - अध्याय

-0-

दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य
में

कामायनी का अध्ययन

त्रयोदश - अध्याय

-०-

दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य

में

कामायनी का अध्ययन

‘प्रसाद’ की दार्शनिक चेतना अनुभूतियों के अन्तराल में फूट पड़ने वाली वह जीवन-धारा है, जो जीवन से सम्पृक्त होकर समन्वय-साधना की उदात्त भाव-भूमि पर पहुँच कर, विविध भाव-बोधों की धाराओं को आत्मसात कर ‘गोमुखी गंगा’ से ‘गंगासागर’ हो जाती है। ‘प्रसाद’ की इस समन्वय-साधना की चरम परिणति ‘कामायनी’ में हुई है। ‘कामायनी’ उनको समूची साधना और दार्शनिक चेतना की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। इस कृति में उन्होंने भारतीय दर्शन के गूढ़ चिन्तन, मनन और मंथन से प्राप्त दार्शनिक तथ्यों तथा शाश्वत सत्यों में स्वानुभूतियों का पुट ढ़ेकर, उन्हें व्यावहारिकता के घरातल पर लाने का स्तुत्य प्रयास किया है, जिसके फलस्वरूप ‘कामायनी’ का दार्शनिक पक्ष मात्र बौद्धिक व्यायाम न होकर, अतीत के युगसत्त्व को स्मेटता हुआ, वर्तमान भाव-बोध का प्रतिमान बन गया है। इस प्रकार प्रसाद ने एक ओर चिन्तन के सैद्धान्तिक स्तर पर प्रमुख दार्शनिक समस्याओं को उठाया है, और दूसरी ओर व्यावहारिक स्तर पर उनके समाधान का संकेत प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

‘प्रसाद’ मूलतः कवि हैं। कवि की दार्शनिक दृष्टि हृदय की अनुभूति से अनुशासित होती है। वह जीवन को रागात्मक व भाव-बोधों के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करता है। यही रागात्मक अनुभूतियाँ उसको समन्वय-साधना की पीठिका बन जाती हैं, और उन्हीं के सहयोग से वह भिन्न दृष्टिकोणों के बीच समीकरण लाकर जीवन को समरस बना लेता है। इस सन्दर्भ में प्रसाद सबसे अधिक प्रेरणा प्रत्यभिज्ञादर्शन से ग्रहण की है। ‘कामायनी’ का प्रारम्भ प्रत्यभिज्ञा दर्शन के इस ‘अभेदवाद’ से होता है --

‘नीचे जल था, ऊपर हिम था,
 एक तरल था, एक सघन,
 एक तत्त्व की ही प्रधानता
 कहो उसे जड़ या चेतन^१ ।’

‘दर्शन’ निरीक्षण की ही एक विधा है, जिसके दो पक्ष हो जाते हैं--

(१) बाह्य पक्ष और (२) आभ्यान्तरिक पक्ष । इन दोनों पक्षों के बीच की कड़ी है ‘जिज्ञासा’ । ‘जिज्ञासा’ हमारी दर्शन-दृष्टि को विस्तार दे देती है । ‘जिज्ञासा’ आत्मबोध की पहली सीढ़ी बनकर संवेदना-सम्भूत अनुभूतियों के परिप्रेक्ष्य में चिन्तन के उस स्वरूप को जन्म देती है, जिसको प्रवृत्ति मूलतः अन्तर्मुखी होती है । अन्तर्मुखी ‘जिज्ञासा’ का आविर्भाव उस समय होता है, जब व्यक्ति को ‘अहं’ अपनी अपूर्णता में असमर्थ होकर असहाय सा अपनी पराजय स्वीकार कर लेता है । उसकी सारी ज़ामता अपनी विवशता पर चीत्कार कर उठती है और उसका समूचा पौरुष पंगु हो जाता है । उस समय व्यक्ति की सीमा बोधवृत्ति अन्तर्मुखी होकर असीमसत्ता की संप्रभुता पर विचार करने और तर्क-वितर्क द्वारा उसके स्वरूप का विवेचन करने लगती है । तर्क-वितर्क की यह प्रक्रिया चिरन्तन सत्यों को सोंज कर आत्मबोध की दिशा को प्रशस्त करती है, जिसके परिवेश में व्यक्ति अपने-आप को निरखने और परखने का प्रयास करता है । ‘कामायनी’ की दार्शनिक चेतना का आधार इसी प्रकार की जिज्ञासा है । सम्पूर्ण साधन-शक्ति और सम्पन्नता को त्याग कर, एकान्त स्वार्थ-सम्पृक्त तथा संयशीलता पर फलने-फूलने वाली सुरवर्ग की ‘अहं’ प्रधान विलासी संस्कृति के विनाश पर ही मनु को सजातीय बन्धु-सुरवर्ग को सीमित शक्ति और विराट सत्ता की अजय शक्ति का मान होता है^२ । उनको चेतना उस असीम सत्ता के विविध स्वरूपों के सन्दर्भ में तर्क-वितर्क करने लगती है और ‘जिज्ञासा’ पूछ बैठती है --

‘विश्वदेव, सविता या पूषा
 सोम, मरुत, चंचल पवमान,
 वरुण आदि सब घूम रहे हैं
 किसके शासन में अम्लान ।

+ + +

१- कामायनी, पृ० ३
 २- कामायनी, पृ० ७-१५ ।

महानील इस परम व्योम में,
 अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
 ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण
 किसका करते से संधान ?
 छिप जाते हैं और निकलते
 आकर्षण में खिंचे हुए,
 तृण, वीरुघ लहलहे हो रहे,
 किसके रस में सिंचे हुए ।
 सिर नीचा कर किसकी सत्ता
 सब करते स्वीकार यहां,
 सदा मौन हो प्रवचन करते
 जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?^१

अन्त में उनकी तर्कना-शक्ति यह स्वीकार कर लेती है --

‘ हे विराट । हे विश्वदेव । तुम्हें
 कुछ हो ऐसा होता मान ।’

ज्यों-ज्यों व्यक्ति के विखरे विचार सिमट कर गहरे और गम्भीर होते जाते हैं, त्यों-त्यों उसकी चेतना भी विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों की ओर से अपनी आस्था को हटा कर ‘सत्ताविशेष’ की ओर उन्मुख होती जाती है, और अन्त में व्यक्ति उसी को अपनी साधना का केन्द्रविन्दु बना लेता है । इस प्रकार उसके चिन्तन के प्रारम्भिक स्तर का ‘बहुदेववाद’ ‘एकेश्वरवाद’ का रूप ले लेता है, जैसे वह ‘परमसत्ता’ या ‘ब्रह्म’ के रूप में स्वीकार कर लेता है । ‘ब्रह्म’ के स्वरूप की यह समस्या दर्शन की एक प्रमुख समस्या रही है । सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपने-अपने ढंग से इसके स्वरूप और शक्ति का निर्धारण किया है । ‘प्रसाद’ का ब्रह्मचिन्तन

१- कामायनी, पृ० २५, २६

२- वही, पृ० २६

प्रत्यभिज्ञादर्शन से विशेष प्रभावित है, अतः 'कामायनी' की दार्शनिक चेतना के सन्दर्भ में प्रत्यभिज्ञादर्शन की प्रमुख समस्याओं और सिद्धान्तों का सिंहावलोकन अधिक समीचीन होगा ।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में 'शिव' को विराट सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है, जो चैतन्य स्वरूप, चिरन्तन और देश-काल उपाधियों से परे अमेष तथा अखण्ड है । अवस्थाविशेष की दृष्टि से इसके दो स्वरूप हो जाते हैं -- (१) विश्वोत्तीर्ण रूप और (२) विश्वात्मक रूप । प्रथम स्वरूप में 'शिव' सबसे परे अपनी शक्ति के साथ साम्यावस्था में स्थित रहता है, जिसे 'परमशिव' कहते हैं और दूसरी अवस्था में वह अपने अनेक रूपों के साथ सब में व्याप्त रहता है । शिवतत्त्व के विश्वात्मक स्वरूप के विविध रूप 'परमशिव' के ही अभिन्न रूप हैं । 'परमशिव' ही अपनी शक्ति द्वारा छत्तीस तत्त्वों के माध्यम से अपने विश्वात्मक स्वरूप की सृष्टि करता है^१ । 'परमशिव' के इस आत्म विस्तार का आधार उसकी 'विमर्शिनीशक्ति' है । यह शक्ति 'शिव' से उभी प्रकार अभिन्न है जिस प्रकार अग्नि से उसकी दाहकता^२ । 'शिव' की शक्तियाँ अनेक हैं, जिनमें आनन्द, इच्छा, चित्, ज्ञान और क्रियाशक्ति प्रमुख हैं, जिनका विशेष गुण क्रमशः स्वतंत्रता, अमत्कार, प्रकाशरूपता, आमर्शात्मकता तथा सर्वाकारयोगित्व^३ है । इन्हीं शक्तियों के माध्यम से परमशिव अपने-आप को जगत रूप में अभिव्यक्त करता है । इन शक्तियों के अभाव में वह निष्क्रिय हो जाता है^४ । 'शिव' को उक्त शक्तियों में चित् शक्ति प्रधान है^५, यही स्वतन्त्ररूप में अपने आप में विश्व का उन्मेष और निमेष करती रहती है ।

'कामायनी' में 'ब्रह्म' का स्वरूप प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुरूप है । उसमें 'शिव' को परम सत्ता के रूप में स्वीकार कर उसे ही सृष्टि का आधार माना गया है, जो अपनी 'चित्शक्ति' द्वारा सृष्टि का उन्मोलन किया करता है --

१-(क) शिवदृष्टि (१-२)

(ख) प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र ३ वृत्ति ।

२- प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र ४

३- ईश्वर प्रत्यभिज्ञा (१।५।४)

४- तत्रसार, अध्याय १ उपोद्घात

५- शिवदृष्टि (३।२।३)

६- प्रत्यभिज्ञा हृदयम् सूत्र १, २

कर रही लीलामय आनंद

महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,

विश्व का उन्मीलन अभिराम

इसी में सब होते अनुरक्त^१ ।

उस आलोक पुरुष के ताण्डव नृत्य से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अनाहतनाद से भर जाता है और वह चित्शक्ति स्वरूप शिव सघन अन्धकार को चीर कर अपने शुभ्र स्वरूप के साथ आविर्भूत हो जाते हैं --

‘बन गया तमस था जलक जाल,

सर्वांग ज्योतिमय था विशाल,

अन्तर्निनाद ध्वनि से पुरित,

थी शून्यमेदिनी सत्ताचिद

नटराज स्वयं थे नृत्यनिरत,

था अन्तरिक्षा प्रहसित मुस्सरित,

स्वरलय हो कर दे रहे ताल

थे लुप्त हो रहे दिशाकाल^२ ।

‘शिव’ का यह सर्जनात्मक स्वरूप उनके विश्वात्मक रूप को फाँकी प्रस्तुत करता है । ‘आशा’ सर्व में इसी स्वरूप के प्रति आकृष्ट होकर मनु की ‘जिज्ञासा’ जाग पड़ी थी --

‘यह सैकत कर रही सत्ता

किसकी सरल विकास मयी,

जीवन की लालसा आज क्यों^३

इतनी प्रखर विलासमयी ।’

जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन में विश्व को उस परम आत्मा में हो व्यक्त और शक्ति द्वारा स्फुरित मना गया है, उसी प्रकार ‘प्रसाद’ ने भी सृष्टि के उन्मीलन की ओर सैकत किया है --

१- कामायनी, पृ० ५३

२- वही, पृ० २५३

३- वही, पृ० २८

वह विराट था हैम धोलता
 नया रंग मरने को आज ,
 + + +
 एक यवनिका हटी, पवन से
 प्रेरित मायापट जैसी,
 और आवरण-सुक्त प्रकृति थी
 हरी मरी फिर भी वैसी^१ ।

‘परमशिव’ का यह स्वरूप उस समय संकुचित हो जाता है, जब ‘माया’ उस पर अपने कंचुकों का आवरण डाल देती है । वह पुरुष (जीव) रूप में संकुचित होकर अपना व्यापकत्व खो देता है, उसका नित्य तृप्तित्व राग में, व्यापकता नियति में, सर्वज्ञता विद्या में, सर्वकर्तृत्वशक्ति कला में और नित्यता काल में परिणत होकर संकीर्णता को प्राप्त कर लेती है । ‘काम’ ने अपने शाप में इसी सत्य की ओर संकेत किया है --

‘संकुचित असीम अमोघ शक्ति’
 जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से मरी मक्ति
 या कमी अपूर्ण अहंता ने हो रागमयी-सी महम्महि महाशक्ति
व्यापकता नियति प्रेरणा जन अपनी सीमा में रहे बंद
सर्वज्ञान का ड्राद्र अंश विद्या बनकर कुछ रहे हृन्द
कर्तृत्व सकल बनकर आवे नश्वर छाया सी ललित कला
नित्यता विभाजित हो पल-पल में काल निरंतर चले ढला
 तुम समझ न सको, डुराई से शुभ इच्छा की है बड़ी शक्ति^२
 हो विफल तर्क से मरी युक्ति ।

‘पुरुष’ (जीव) के शुभ्र स्वरूप पर अपने विकारों का आवरण डाल, उसे विकृत करने वाले तत्त्वों को विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने भिन्न-भिन्न संज्ञाएं दी हैं । किसी ने उन्हें ‘बन्धन’ कहा है तो किसी ने ‘माया’, किसी ने पाश-

१- कामायनी, पृ० २४, २८

२- वही, पृ० १६५

पुद्गल कहा है तो किसी ने अविधा^१ । प्रत्यभिज्ञादर्शन में इन तत्त्वों को 'मल' या 'पाश' तथा 'कंचुकों' की संज्ञा दी गई है । ये मल या पाश तीन प्रकार के होते हैं -- (१) आणव, (२) कर्म और (३) मायीय -- इन्हीं को पाश भी कहते हैं और इनसे युक्त होने के कारण 'जीव' को पशु भी कहते हैं । 'कंचुकों' की संख्या पांच है-- कला, विद्या, राग, काल, नियति । ये सब माया के अंग हैं । हमारे चेतना के इच्छा और एषणामूलक पक्ष इन्हीं कंचुकों से प्रभावित रहते हैं । 'कामायनी' में प्रसाद ने इसका निरूपण बड़ी काव्यात्मक शैली में किया है । हमारे जीवन की मध्यभूमि भावलोक की भूमिका 'रागारुणचेतनउपासना' में लीन रहती है, जिसमें माया अपने राग पाश को जिक्रा कर जीवों को फाँसती रहती है । कर्मलोक का संचालन नियति के नियंत्रण में होता है, जिसमें एषणाओं का संघर्ष चला करता है । इन दोनों से ऊपर^२ ज्ञान लोक है, जिसमें न्याय की निर्ममता और विवेक की कठोरता का दौर रहना है । इन तीनों के ऊपर उस अखण्ड आनन्द की स्थिति आती है, जिसमें 'जीव' कंचुकों से मुक्त होकर निष्कलष हो जाता है । उसको सारी द्वयता समाप्त हो जाती है, और वह अमद-स्थिति में पहुँच कर सब को अपना अंग तथा अपनी ही कला का अंश समझने लगता है^३ । यही 'जीव' का सात्त्विक स्वरूप है, यहाँ आकर वह स्वयं 'शिवमय' हो जाता है । इस प्रकार वह सकल 'प्रलयाकल' और 'विज्ञानाकल' नाशक जीवों की दशाओं को पार कर अपने शुद्ध स्वरूप की पूर्वस्थिति में आकर आत्मबोध द्वारा 'शिवत्व' को प्राप्त कर लेता है जिसमें स्वप्न, स्वाप और जागरण मत्त हो इच्छा, ज्ञान और क्रिया के साथ लय होकर एकाकार हो जाते हैं ।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में पुरुष (जीव) की प्रमुख अवस्थाएँ पांच मानी गई हैं-- (१) जाग्रत, (२) स्वप्न, (३) सुषुप्ति, (४) तुरीय और (५) तुर्यातीत । जाग्रत अवस्था 'जीव' की भेदावस्था है, इसमें पुरुष (जीव) को प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, तथा प्रमा का पार्थक्य-बोध बना रहता है और वह इन्हीं से संयुक्त विश्व की स्थिति को स्वीकार कर, उनमें जड़-चेतन का भेद करता चलता है^३ । स्वप्नावस्था में

१- कामायनी, पृ० २६६

२- वही, पृ० २८७, २६४

३- तंत्रालोक भाग ७ (१५६)

जीव विकल्पात्मक बुद्धि को अपनी अनुमति का आधार बनाकर प्रमाण को प्रधानता देता है, जिसमें अविवेक, माया व मोह का प्राधान्य होता है^१। चौथी अवस्था है तुरीयावस्था, इसमें पुरुष को प्रमात्मक स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है, जिसमें प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण तीनों का श्मन होकर केवल प्रमा ही शेष रह जाती है^२। अन्तिम अवस्था तुर्यातीत की अवस्था है। यह अवस्था पूर्णता प्राप्ति की अवस्था का द्योतन करती है। इसमें 'पुरुष' पूर्ण और अखण्ड आनन्द की प्राप्ति करता है। इसी अवस्था को 'परमपद' कहा गया है। जब तक जीव कंचुकों से आवृत भेदाभेद और संकल्प-विकल्प की स्थिति में रहता है, तब तक उसे शिवत्व की प्राप्ति नहीं होती। 'मनु' को तब तक अपने स्वरूप का बोध नहीं हुआ जब तक वे कंचुकों से आवृत भेदाभेद की स्थिति में पड़े रहे। जब उन्होंने श्रद्धा-- शुद्धविद्या के सहयोग से कंचुकों के पाश को हटाकर अपने-आप को भेदाभेद की स्थिति से ऊपर उठा लिया, तभी उन्हें नटेश्वर के ताण्डव-नृत्य को देखने का सुखसर प्राप्त हो सका और वे आलोक पुरुष की भाँकों 'विश्वोत्तारिणी' में पाकर चिदानन्द में लीन हो गए^३।

ब्रह्म और जीव की समस्या से जुड़ी हुई दर्शन की तीसरी समस्या जगत की समस्या है। इसके पूर्व इस बात का संकेत हो चुका है कि कामायनी का दर्शन जीवन से सम्पृक्त है और जीवन का आधार आस्थामूलक होता है। व्यक्ति की आस्था आधार चाहती है, और आधार की नित्यता तथा अनित्यता से उसका भाव-बोध प्रभावित होता रहता है। इसीलिए जीवन के शाश्वत सत्य को स्वीकार करने वाले दर्शनों ने जीवन के साथ-साथ जगत की नित्यता को भी स्वीकार किया है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में सृष्टि को शाश्वत और चिदात्मा का ही अभिन्न रूप माना गया है। जिस प्रकार दर्पण में नगर, वृक्षा आदि प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, उसी प्रकार यह सृष्टि चिदात्मा में प्रकट हुई है। अतः यह जगत भी उतना ही सत्य है, जितना सत्य चिदात्मा। 'कामायनी' में भी महान्विति को सृष्टि का आधार स्वीकार कर उसे सत्य, शाश्वत और सहज सुन्दर माना गया है^४।

१- शिवसूत्रविमर्शिनी : १।६, १०

२- तंत्रालोक भाग ७, पृ० १७६, १८१

३- कामायनी, पृ० २५३

४- वही, पृ० ५३, २८८

५- वही, पृ० २३५

हर्ष-शोक का भाव-बोध केवल कल्पना मात्र है । मूल सत्ता अपने आप में आह्लादमूलक है और उसका अमेद रूप जगत उन्मथनुष के समान मृत्यु, जीवन, उन्नति अवनति आदि के द्वारा नानारूप बदलता हुआ अपनी सौन्दर्य सत्ता के साथ बिजली की भांति चमकता और आकाश-सरोवर में विहार करने वाले मञ्जुमराल-- चन्द्रमा की भांति गतिशील होता हुआ अपनी शीतलता से शान्ति प्रदान करता है --

‘सुरधनु-सा अपना रंग बदल,
मृति, संसृति, नति, उन्नति में ढल
अपनी सुषमा में यह फलमल,
इस पर खिलता, करता उडुदल
अवकाश सरोवर का मराल,
कितना सुन्दर कितना विशाल^१ ।’

‘श्रद्धा’ को इसके कोने-कोने में असीम शान्ति और अक्षय मंगल की फांकी मिलती है, जिसमें जीवन की रागात्मक अनुभूतियों की मलज्ज मुस्कान हृदय को सिग्ध बना देती है और आशा का आह्लाद खिलखिला कर अन्तस्तल को उल्लास से भर देता है --

‘इसके स्तर स्तर में मौन शान्ति,
शीतल अगाध है, ताप भ्रान्ति,
परिवर्तनमय यह चिर मंगल,
मुसक्याते इसमें भाव-सकल
हंसता है इसमें कोलाहल
उल्लास भरा-सा अन्तस्तल,
मेरा निवास अति मधुर कान्ति,
यह एक नीड़ है सुखद शान्ति^२ ।’

१- कामायनी, पृ० २३५

२- वही, पृ० २३६

तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म, जीव, जगत का यह स्वरूप-भेद एक ही सत्ता का रूपान्तर मात्र है । जिस प्रकार प्रकाश की तरंग अपने मौलिक स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए विभिन्न रंगों के संयोग से अपने बाह्यस्वरूप को परिवर्तित कर लेती है, और उन रंगों का प्रभाव समाप्त हो जाने पर वह पुनः अपने शुभ्र स्वरूप में आ जाती है, उसी प्रकार 'परमशिव' शक्ति, माया और मलों के प्रभाव से अपने स्वरूप को जीव और जगत के रूप में आभासित कर देता है तथा हमारी भेदक बुद्धि को उसमें व पार्थक्य को प्रतीति होने लगती है । पुरुष (जीव) में भेदाभेद की स्थिति उस समय आती है, जब कंचुक और मल-पाशों के प्रभाव में उसकी स्मरसता समाप्त हो जाती है ।

स्मरसता विरोधी वृत्तियों के बीच स्मीकरण की वह अवस्था है, जो हमारे जीवन के विविध पक्षों में पूर्ण सामंजस्य की स्थिति ला देती है । जब 'पुरुष' पाशों से मुक्त होकर पुनः स्मरसता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है, तब उसकी भेद-बुद्धि समाप्त हो जाती है और उसकी दृष्टि में जड़-चेतन का भेद मिट जाता है । सभी पदार्थों में उसे एक ही सत्ता का मान होने लगता है । मनु भी जब भेदाभेद से ऊपर उठकर अभेद-अनुभूति को अपनी साधना का आधार बना लेते हैं, तब उन्हें परमशिव के विश्वात्मकस्वरूप में पूर्ण सामरस्य और अद्वैत के दर्शन होने लगते हैं :--

स्मरस थे जड़ या चेतन

सुन्दर साकार बना था,

चेतनता एक बिलसती

आनन्द अखण्ड घना था ।^१

'महाचिति' की शक्तियों के पार्थक्य से उत्पन्न वैषम्य व भेद की समाप्ति पर, जब इन शक्तियों में पुनः सामरस्य आ जाता है, तब 'पुरुष' को 'शिवत्व' की प्राप्ति हो जाती है, उसका प्रातिमिज्ञान उद्बुद्ध हो जाता है । वह आत्म-साक्षात्कार द्वारा आत्मस्थ शिव में लीन होकर अखण्ड आनन्द की प्राप्ति कर लेता है, जहाँ भेदाभेद और वैषम्य की सारी सीमारें समाप्त हो जाती हैं । इस प्रकार स्मरसता, प्रसाद की साधना का साध्य उनके आनन्द^{वाद} की आधारशिला बन जाती है ।

इसी स्मरसता की बेलि पर प्रसाद के आनन्दवाद का वह पुष्प विकसित होता है, जो रसात्मक अनुभूतियों से ओत-प्रोत, आदिनन्ता शिव से अभिन्न, स्तु, चित्, और आनन्द की एक स्मृष्टि है। यह जीवन के विविध पक्षों के समायोजन, सन्तुलन, तथा चित्तवृत्तियों के उन्मूलन पर आधारित जीवन को श्रेष्ठतम उपलब्धि है। जीवन में सन्तुलन और समायोजन स्मरसता द्वारा ही सम्भव है। इसीलिए प्रसाद ने स्मरसता को वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर उठाकर, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में आनन्दवाद की व्याख्या की है।

जीवन का वैयक्तिक पक्ष शेष पक्षों का सूत्रधार होता है। इसका विकास जीवन के शेष पक्षों को अपने आप में समेटता चलता है। व्यक्तिगत जीवन विकास पाकर पारिवारिक जीवन के माध्यम से अपना विस्तार करता और अन्त में एक वृहद् समाज का अभिन्न अंग बन जाता है। समाज हमारी व्यक्तिमूलक इकाई की ही स्मृष्टि है। हमारी व्यक्तिगत इकाई का जैसा स्वरूप होगा उन्हीं के अनुरूप हमारी सामाजिक रचना का स्तर भी होगा। अतः आदर्श समाज को रचना के लिए व्यक्तिगत जीवन का उदात्त विकास भी आवश्यक है। वैयक्तिक जीवन के सुधार और परिष्कार के सन्दर्भ में प्रसाद ने चेतना के तीनों स्तर-- इच्छा, ज्ञान और क्रिया को सन्तुलित कर जीवन की मध्यमूमि इच्छालोक के स्वस्थ विकास की ओर संकेत किया है। यदि इच्छालोक हमारे व्यक्तिगत जीवन की मध्यमूमि है, तो हमारा व्यक्तिगत जीवन पारिवारिक और सामाजिक जीवन का मध्यविन्दु। जिस प्रकार इच्छा-लोक के विविध भाव-बोधों का नियमन हमारे व्यक्तिगत जीवन में सन्तुलन लाकर उसे सुव्यवस्थित बनाता है, उसी प्रकार हमारे वैयक्तिक जीवन का सुधार और परिष्कार पारिवारिक तथा सामाजिक सम्बन्धों में सामन्जस्य की स्थिति लाकर उसे सुख शान्तिपूर्ण बनाता है। इस प्रकार पारिवारिक तथा सामाजिक संगठन को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए वैयक्तिक जीवन का परिष्कार आवश्यक हो जाता है और व्यक्तिगत जीवन को व्यवस्थित रखने के लिए उसकी अन्तर्वृत्तियों का समायोजन अपेक्षित है।

इच्छालोक को जीवन की मध्यमूमि मान कर कवि ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि इसकी स्थिति दो अंतियों के बीच है। इसके एक छोर पर पंचभूत की उपासना में लीन, अन्ध-प्रवृत्तियों द्वारा संचालित 'कर्मलोक' की स्थिति है और

दूसरे छोर पर सुख-दुःख से उदासीन तर्कप्रधान ज्ञानलोक स्थित है । एक में एषणाओं के संघर्ष की लपटें हैं, तो दूसरे में भेदक बुद्धि द्वारा निर्मित विषमता की साक्ष्यां इन दोनों के बीच घुटघुट कर दम तोड़ने वाला इच्छालोक । इस प्रकार तीनों के पार्थक्य और विषमस्थिति के फलस्वरूप जीवन का प्राप्ततव्य उससे बहुत दूर जला जाता है--

ज्ञान दूर कुछ, क्रियाभिन्न है

इच्छा क्यों पूरी हो मन की,

एक-दूसरे से न मिल सकें

यह विडम्बना है जीवन की ।

इस पार्थक्य को मिटाकर, तीनों लोकों में सामंजस्य लाने पर ही आनन्द की प्राप्ति होती है । जब तक मन की इच्छा (रागात्मक भाव-बोध) का सम्पर्क ज्ञान (विवेक) और कर्म (जीवन का सक्रियपक्ष) से नहीं होता, तब तक जीवन में पूर्णता नहीं आती । तीनों में समन्वय और सामरस्य की स्थिति लाकर उन्हें एक लय में स्थित कर देना जीवन-साधना का चरम साध्य है । इस प्रकार भेद में भेद और विषमता में समता आ जाती है । जीवन में विस्मरण की स्थिति समाप्त हो जाती है और अतिवादों से ऊपर-- चेतना के तीनों पक्षों के समन्वय पर अखण्ड आनन्द की प्रतिष्ठा हो जाती है । श्रद्धा का जीवन इस सन्तुलन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है । वह सभी परिस्थितियों में समरस रहकर अखण्ड आलोक तक पहुँच जाती है । इसके विपरीत मनु अपने जीवन में समरसता न ला पाने के कारण आनन्द की खोज में भटकते ही रह जाते हैं ।

मनु के जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि वे जिस दिशा में बढ़ते थे, उसे अति तक पहुँचा कर दम लेते थे । प्रलय के उपरान्त अन्तिमुत्थी होकर वे चिन्तन की जिस दिशा में बढ़ते हैं, उसमें उनकी तपश्चर्या चरम सीमा पर पहुँच जाती है । वे जीवन की अनित्यता और शाश्वतसत्ता की चिरन्तनता पर चिन्तन करते हुए यौवन की रागात्मक अनुभूतियों को कुचल कर घोर तपस्या में लीन हो जाते हैं । अन्त में तपश्चार्य के संयम से संचित बल जब प्राकृतभूत के समान जग पड़ने

वाली अनादि वासना के पाथ मिलकर साहचर्य सुख के लिस अधोर हो उठता ह,
तब उनका सारा विवेक वासना की लहरों में बह जाता है और काम का अतिरिक्त
उनमें अबाध भोग की बुझता जगा देता है, वे दम-संयम को बन्धन समझने लगते
हैं --

‘जो कुछ हो, मैं न सम्हालूंगा इस मधुर मार को जीवन के,
आने दो कितनी आती है, बाधाएं दम-संयम बन के ।’

इस प्रकार मनु का जीवन रागोपासना में लीन हो जाता है । इस
क्षेत्र में भी वे अति की उस सीमा तक पहुंच जाते हैं कि उन्हें अपनी ही भावी
सन्तान के प्रति ईर्ष्या हो जाती है और उसे वे प्रेम बांटने का प्रकार समझने
लगते हैं^२ । उनकी यह जलन यहां तक बढ़ जाती है कि वे अन्त में आपन्नसद्वा
श्रद्धा से रूठ कर उससे दूर चले जाते हैं । यहीं से मनु इच्छा-लोक से पलायन कर
कर्मलोक सारस्वत प्रदेश में प्रवेश करते हैं । वहां भी भौतिक उपलब्धियों को चरम
सीमा पर पहुंचा कर सारे सुख-साधन को स्वायत्त कर लेते हैं, लेकिन सन्तुलन के
अभाव में उन्हें वहां भी सन्तोष नहीं मिलता और वे निर्वेद की दिशा में भाग
सड़े होते हैं । इस^{प्रकार} अखण्ड आनन्द का शान्तिप्रद दृश्य उनकी अतिवादी दृष्टि से
ओझल हो जाता है । अन्त में उन्हें अखण्ड आनन्द को प्राप्ति तब होती है,
जब उनके स्कांगी दृष्टिकोण और भेद-बुद्धि की समाप्ति पर तीनों लोकों में
समन्वय की स्थिति आ जाती है और वे श्रद्धा सहित ‘दिव्यअनाहत’ निनाद में तन्मय
हो जाते हैं --

‘स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में^३
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे ।’

१- कामायनी, पृ० ६६

२- वही, पृ० १५३

३- वही, पृ० २७३

व्यक्तिगत जीवन के आन्तरिक अपावों का आग्रह पारिवारिक जीवन को जन्म देता है । नर-नारी का संसर्ग सृष्टि-विस्तार का आधार है और इन दोनों के सहवास से पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ होता है । पारिवारिक जीवन व्यष्टि-विकास का सर्वोत्तम माध्यम है । इसके सहयोग से व्यक्ति अखण्ड आनन्द को प्राप्त कर 'पूर्ण काम' हो जाता है । श्रद्धा मनु को पारिवारिक जीवन की परिधि में हो आनन्द प्राप्त करने का गुफाव देती है । इसमें व्यक्ति की भोग-वृत्तियों का उदात्तीकरण हो जाता है । रागात्मक अनुभूतियाँ उभर कर संयमपूर्ण और सन्तुलित ढंग से आत्मीयता के परिवेश में परिवार, कुटुम्ब, समाज, तथा राष्ट्र को स्नेह कर आत्म-विस्तार कर लेती हैं । 'कामायनी' में श्रद्धा का पूरा प्रयास इसी आदर्श-व्यवस्था के लिए होता है ।

विस्तार की दृष्टि से पारिवारिक व्यवस्था की दो कोटियाँ हो जाती हैं -- (१) आणविक परिवार और (२) संयुक्त परिवार । आणविक परिवार पति-पत्नी तथा अल्पवयस्क बच्चों तक सीमित रहता है । संयुक्त परिवार में पति-पत्नी, माना-पिता, बचा-चाची, भाई-भतीजे आदि सम्बन्धियों का समुदाय आ जाता है । इस सन्दर्भ में यद्यपि 'कामायनी' में आणविक परिवार की दाम्पत्य समस्या को ही उठाया गया है, लेकिन उसके समाधान के लिए जो हल प्रस्तुत किए गए हैं, वे अपने व्यापक सन्दर्भ में शेष सामाजिक सम्बन्धों का भी समाधान करने में पूर्ण समर्थ हैं । दाम्पत्य जीवन का प्रण प्रेम होता है और प्रेम का प्रसार स्वस्थ सामाजिक सम्बन्धों का आधार । इसका स्वस्थ विकास एकान्त स्वार्थ से ऊपर उत्सर्ग की उदात्त भाव-भूमि पर होता है । रुचि-वैभिन्य को दृष्टि में रखकर स्वस्थ पारिवारिक सम्बन्धों के लिए इसी स्तर का प्रेम उपयोगी होता है जो स्मरस होकर सुख-शान्ति की पीठिका पर आनन्द को प्रतिष्ठा व कर सके । समन्वयमूलक प्रेम के अभाव में पारिवारिक एकता की कड़ी टूटने लगती है । जब परिवार का प्रत्येक व्यक्ति एकान्त स्वार्थ में डूब कर अपनी व्यक्तिगत रुचियों को प्राथमिकता तथा शेष सदस्यों की रुचियों को गौणता प्रदान कर, उनकी उपेक्षा करने लगा है, तब पारिवारिक सद्भावना समाप्त हो जाती है । जीवन का मधुमय झोत विषाक्त हो जाता है ।

जीवन में कटुता तब आती है, जब व्यक्ति स्मरसता के स्थान पर विषमता को अपना लेता है और जीवन में विषमता तब आती है, जब व्यक्ति का विवेक असंयत होकर बुद्धि के साथ बलात्कार करने लगता है, इस प्रकार उसका अतिचार भेद-विस्तार का कारण बन जाता है ।

विकास-स्तर पर वृत्तियों के सन्दर्भ में बुद्धि के दो भेद हो जाते हैं--

(१) रागमूलक और (२) विरागमूलक । बुद्धि का रागात्मक पक्ष सकाम कर्म--स्कान्त स्वार्थ सम्पृक्त भोगवाद की प्रेरणा प्रदान करता है, जिसका साध्य भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति होता है । इसमें संघर्ष और भेद-भावना की प्रधानता होती है । विरागमूलक बुद्धि जीवन के प्रति उदासीन होकर अपनी दुर्बलता में पलायन कर जाती है । सूक्ष्मस्तर पर, कामायनी में वर्णित कर्म और ज्ञानलोक को बुद्धि के रागात्मक और विरागात्मक पक्ष की अपूर्णताओं का प्रतिनिधि माना जा सकता है । एक में आसक्ति और अनियंत्रित भोग की अबाध धारा का प्राबल्य है और दूसरे में आवश्यकता से अधिक विधि-निषेधों का घेरा । इस प्रकार बुद्धि के दोनों स्वरूप-- कर्म और ज्ञान, अपने अतिवादों में जीवन के लिए अवांछनीय बन जाते हैं । मनु की आसक्तिमूलक भौतिक उपासना और निर्वेदमूलक पलायनवाद बुद्धि की विकृतियों के ही परिणाम हैं । स्मरसता के अभाव में यही बौद्धिक विषमता और विचारों की संकीर्णता सामाजिक सम्बन्धों में कटुता लाकर उसमें विष धोल देती है । कर्मलोक की अन्य उपासना अतिभौतिकता के कर्दम में डाल देती है, जिसमें व्यक्ति संघर्ष, कौलाहल, कलह के वात्याचक्र में अपनी दिशा भूल जाता है । ज्ञान का अतिरेक अति बौद्धिकता की उस परुमसीचिका में भटका देता है, जहाँ जीवन आनन्द की एक छूट के लिए तरसता रह जाता है । ऋद्धा और मनु का सम्बन्ध विच्छेद, इड़ा-मनु का वैचारिक-विरोध, सारस्वत प्रदेश का जन-विद्रोह, आदि घटनाएँ, इन्हीं असंयत, अतिवादी दृष्टिकोणों को दुष्परिणाम की ओर संकेत करती हैं । इसी सन्दर्भ में वैचारिक विरोध और जन-विद्रोह के समाधान के लिए इड़ा ने अबाध अधिकार-भोग का विरोध करते हुए मनु को शान्त और संयतपूर्ण ढंग से शासन-संचालन का सुझाव दिया था --

‘मनु सब शासन स्वत्त्व तुम्हारा सतत निबाहें-

दृष्टि चेतना का दाण अपना अन्य न चाहें ।

आह प्रजापति ! यह न हुआ है कभी न होगा,
निर्वाधित अधिकार आज तक किसने मोगा ?

+ + +

यह जीवन उपयोग, यही है बुद्धि-साधना,
अपना जिसमें श्रेय यही सुख की अराधना ।
लोकसुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में,
प्राण-सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में^१ ।

श्रद्धा भी समय-समय पर मनु को संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठकर आत्म-सुख का विस्तार करने की सीढ़ देती है । अन्त में परिस्थितियों की मार से अन्तर्मुखी हो कर मनु भी इस शाश्वतसत्य को स्वीकार कर लेते हैं कि यह मानव उसी विराट-सत्ता की शक्ति का साक्षी-स्वरूप है । अतः निर्विकार भाव से स्व-दूसरे के हृदय में इस प्रकार स्थान बना लेना चाहिये, जिस प्रकार कोई छोटी नदी सरोवर में प्रवेश कर उसे आत्मसात् कर लेती है --

चेतन का साक्षी मानव
हो निर्विकार हंसता सा;
मानस के मधुर मिलन में
गहरे गहरे घंस्तता था ।
सब भेद-भाव मुलवा कर
दुःख-सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे ! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता^३ ।

अन्ततः आत्मनिरीक्षण द्वारा जीवन की असंगतियों को दूर हटा कर, मनु संयम, सन्तुलन और सहिष्णुता से सम्पन्न होता कर, स्मरसत्ता की उस स्थिति में पहुँच जाते हैं, जहाँ आनन्द की अजग्न वर्षा होती रहती है ।

१- कामायनी, पृ० १६२, १६३

२- वही, पृ० १३२

३- वही,

जिस प्रकार नीले और पीले रंग के सम्मिश्रण से हर रंग का निर्माण होता है, उसी प्रकार राग-रंजित इच्छालोक के सुनहले स्वप्नों और श्यामल कर्मलोक की कर्मठता के समन्वय पर उस आनन्द-लोक की सृष्टि होती है, जो अपने हर्षोल्लास की हकीतिमा में सारे विष-विषाद को पी जाती है। आनन्द का स्वभाव ही उल्लास है और उल्लास का व्यक्तस्व सक्रियता। यही सक्रियता सन्तुलित होकर समृद्धि का आधार बन जाती है और संयम के अभाव में परामव का कारण। जिस प्रकार लय पर आधारित नृत्य लय से स्थलित होकर अपना प्रभाव खो देता है, उसी प्रकार संयम के अभाव में जीवन की स्वाभाविक क्षमता नष्ट हो जाती है। नृत्य का आनन्द तभी प्राप्त होता है, जब प्रत्येक लय और ताल के साथ उसका संचलन हो, उसके पाद-विक्षेप में एक सधा हुआ क्रम हो। यह सारी की सारी प्रक्रिया सन्तुलन-साधना पर आधारित रहती है। यही सन्तुलन हमारे जीवन में आनन्द की सृष्टि करता है। आनन्द स्वल्प नटराज का ताण्डवनृत्य इसी सन्तुलन-साधना का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें स्थूल की कल्पना सूक्ष्म में विलीन हो जाती है--देश काल में, काल चेतना में और चेतना महाचेतना--शिव में, तिरोहित हो जाते हैं--

‘देश कल्पना काल परिधि में होती लय है,
काल खोजता महाचेतना में निज जाय है।’

आनन्दसागर स्वल्प ‘परमशिव’ के नृत्य का आनन्द प्राप्त करने के लिए उस विश्वनृत्य के लय का अनुसरण आवश्यक है। इसीलिए इड़ा मनु को उस लय का निर्वाह करने और उसके ताल-ताल पर चलने का परामर्श देती है --

‘ताल ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।’

इस प्रकार ‘प्रसाद’ का आनन्दवाद संयम, सन्तुलन तथा जीवन की सभी असंगतियों और विकृतियों के सुधार तथा परिष्कार पर प्रतिष्ठित है, और उनका दार्शनिक चिन्तन सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों स्तरों पर जीवन से सम्पृक्त होकर गतिशील हुआ है।

१- कामायनी, पृ० १६३

२- कामायनी, पृ० १६३

नियतिवाद

प्रसाद-साहित्य में उक्त दार्शनिक तथ्यों के अतिरिक्त नियतिवाद की भी विशेष चर्चा हुई है। नियति-कल्पना भी दार्शनिक चेतना का एक अंग रही है। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में इसे चिन्तन का विषय बनाया गया है। व्यक्ति की सीमित शक्ति और सामर्थ्य की विवशताजन्य अनुभूति ने नियति सम्बन्धी विचारों को जन्म दिया है। प्रसाद का नियतिवाद भी उनके संघर्ष-संकुल जीवन की विषम परिस्थितियों और उसके उत्थान-पतन की अनुभूतियों का प्रतिफल है, जिसमें उनके चिन्तन की गम्भीरता ने और गहराई ला दी है। प्रसाद ने प्रायः अपनी सभी कृतियों में नियति की चर्चा की है।

प्रसाद के नियतिवाद का प्रेरणा-स्रोत प्रत्यभिज्ञादर्शन है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में नियति को छठीस तत्त्वों के विकासक्रम में सकलप्रभुत्व माना गया है और इसकी उत्पत्ति कला से मानी गई है। तंत्रालोक में इसे कार्य-कारण व्यवस्थापिका शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है^१। किस कारण से किस कार्य की निष्पत्ति होगी, इसका निर्धारण नियति द्वारा ही होता है। यही नियति प्रत्येक जीव को उसके कर्मों में संलग्न करती है^२। इस प्रकार शैवचिन्तन में नियति एक नियामिका तथा कार्य-निष्पादन करने वाली शक्ति के रूप में गृहीत है^३।

चिन्तन-स्तर की दृष्टि से प्रसाद के नियति सम्बन्धी विचारों के दो स्तर मिलते हैं, प्रारम्भिक स्तर पर उन्होंने नियति को निष्ठुर, निर्दय, निर्मोही, और अभिशापों की जननी माना है। लेकिन ज्यों-ज्यों उनके चिन्तन में प्रौढ़ता आती गई है, त्यों-त्यों उनके नियति सम्बन्धी विचारों में भी गम्भीरता आती गई है और कामायनी तक आते-आते उनका नियतिवाद पूर्णतया दार्शनिक हो गया है, जिसे उन्होंने एक नियामिका शक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया है।

१- तंत्रालोक भाग ६, पृ० १६०-१६१

२- मालिनी विजयौत्तर तंत्र, पृ० ४

३- मृगेन्द्र तंत्र १।१०।१७

प्रसाद जी के सम्पूर्ण साहित्य में नियति की इसी दार्शनिक मान्यता का निरूपण हुआ है। उन्होंने नियति को परमब्रह्म और कर्म-चक्र को नियमन शक्ति के रूप में अभिव्यक्त किया है^१। नियति ही सारे क्रिया-कलापों की संचालिका बनकर कर्म-फल का विधान करती हुई, प्रकृति, समाज, राष्ट्र और विश्व के समूचे कार्य-व्यापारों का नियंत्रण करती है। सारे मनोविकार और उनसे सम्बद्ध संवेगों की प्रतिक्रियाओं का नियमन भी इसी के द्वारा होता है। इसी की प्रेरणा से सभी प्रकार के परिवर्तन सम्भव होते हैं। इसके प्रभाव से कोई प्राणी अछूता नहीं रहता।

कामायनी की नियति एक अव्यक्त सत्ता के रूप में समूची विश्वात्मक शक्तियों को अपने आप में सँभल कर सृष्टि के उद्भव, स्थिति, विकास एवं संहार की जननी बन गई है। उसी की प्रेरणा से जल-प्लावन में मनु का जीवन सुरक्षित रह सका था और वे उसके अनुशासन में तट का स्पर्श करने वाली लहरों की भाँति धीरे-धीरे जीवन-पथ पर चल पड़े थे --

‘उस स्कान्त नियति-शासन में चले विवश धीरे धीरे,
एक शान्त स्पन्दन लहरों का होता ज्याँ सागर तीरे’^२

श्रद्धा और मनु का परिचय, उनका प्रणय-सम्बन्ध भी नियति की प्रेरणा से सम्भव हुआ है --

‘चल रहा था विजन-पथ पर मधुर जीवन-खेल,^३
दो अपरिचित थे नियति अब चाहती थी मेल।’^४

इस प्रकार सारी सृष्टि की नियामिका शक्ति-नियति प्राणीमात्र के जीवन और उसके बहुविध सम्बन्धों, कार्य-कलापों तथा कर्म-फलों का नियंत्रण किया करती है। यहाँ यह तथ्य विचारणीय है कि प्रसाद की नियति अपने नियंत्रण द्वारा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अपहरण कर उसे कुंठित नहीं बनाती बल्कि उसकी

१-डा० चक्रवर्ती : प्रसाद की दार्शनिक चेतना, पृ० १३६

२-डा० रामलाल सिंह : कामायनी अनुशीलन, पृ० २५३

३- कामायनी, पृ० ३४

४- वही, पृ० ८१

अतिशयता को अनुशासित कर व्यक्ति की कार्य-क्षमता को बढ़ाती और उसे विकास की दिशा प्रदान करती है । वह जीवन के प्रति आस्था और अविरोध उत्पन्न करती तथा मानव के अतिचारों को रोक कर विश्व को अबाध प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है..... वह मनुष्य को सामाजिक न्याय की पूरी छूट देती है और कहीं भी लौकिक न्याय की प्राप्ति में बाधक नहीं बनती । इसके अनुशासन में रह कर व्यक्ति अपने संयत जीवन को उठाता हुआ साध्य को प्राप्त कर लेता है और इसकी अवहेलना करने पर उसका पराभव हो जाता है ।

आलोचकों ने प्रायः प्रभवशात प्रसाद के नियतिवाद को भाग्यवाद का पर्याय मान लिया है । लेकिन प्रसादका नियतिवाद भाग्यवाद से भिन्न एक स्वतंत्र सत्ता की स्थिति रखता है । भाग्यवाद का प्रभाव-क्षेत्र सीमित और पूर्णतया वैयक्तिक होता है उसका सम्बन्ध कर्म-फल-भोग है । ये कर्म तीन प्रकार के होते हैं-- १- प्रारब्ध, २- संचित, ३- क्रियमाण । भाग्य कर्म को प्रारब्ध कहते हैं । इसे भोगने के लिए एक निश्चित अवधि (आयु) निर्धारित रहती है । पूर्वजन्म कृत कर्मों का वह शेष अंश जो अमुक्त रह कर अन्य जीवन के लिए सुरक्षित रहता है, संचित कर्म कहा जाता है । क्रियमाण कर्म उसे कहते हैं, जो इस जन्म में किया जाता है और जिसका प्रेरणा स्रोत प्रारब्ध होता है । प्रारब्ध के अनुसार ही क्रियमाण कर्म की प्राप्ति होती है । इस प्रकार भाग्यवाद का स्वरूप बिल्कुल सीमित और वैयक्तिक हो जाता है । प्रसाद के नियतिवाद का स्वरूप इससे भिन्न अस्तित्व रखता है । प्रसाद का यह नियति सिद्धान्त साधारण भाग्यवाद या प्रारब्ध से भिन्न है । नियति सिद्धान्त साधारण भाग्यवाद या प्रारब्ध से भिन्न है । नियति एक अज्ञेय शक्ति है । किन्तु वह जड़ और अज्ञानमूलक नहीं है । उसका प्रवाह मानवता और सृष्टि के कल्याण के लिए है ।..... इसे भाग्यवाद नहीं कहा जा सकता । प्रारब्ध या पूर्वजन्मों के कर्म-फल-सिद्धान्त से भी यह भिन्न है ।^१

इस प्रकार प्रसादका नियतिवाद -- विशेषरूप से कामायनी में वैयक्तिक कर्म-फल से परे एक स्वतंत्र और सर्वातिशायी सत्ता का प्रतीक है, जिसकी पैठ जीवन

१- आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृ० १०७

२- वही, पृ० १०७

के हर क्षेत्र में है ।

प्रत्यभिज्ञादर्शन के अतिरिक्त प्रसाद की दार्शनिक चेतना जिन अन्य दार्शनिक प्रोतों से प्रभावित हुई है, उनमें वैदिक, बौद्ध और गान्धी-दर्शन प्रमुख हैं । कामायनी में इनका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है । इस सन्दर्भ में उक्त प्रोतों की संक्षिप्त चर्चा अधिक उपयुक्त होगी ।

वैदिक कर्मवाद

कामायनी के स्वरूप-संगठन और चिन्तन में वैदिक दर्शन का भी एक विशिष्ट स्थान है । कामायनी की रूप-रेखा उसका वस्तु-विन्यास, उसके पात्रों के चरित्र का आधार वैदिक-साहित्य ही है । जलप्लावन की कथा, मनु-श्रद्धा, इडा, बाकुलि-किलात, सब वैदिक साहित्य के पात्र हैं । इसके अतिरिक्त मनु का कर्मकाण्डी और हिसक यजमान का रूप, देव-सृष्टि की विलासी संस्कृति, सोम तथा सुरा-पान आदि प्रसंगों का आधार भी वैदिक साहित्य ही है । दार्शनिक स्तर पर प्रसाद का चिन्तन वैदिक कर्मवाद से विशेष प्रभावित हुआ है ।

‘कर्म’ जीवन का अनिवार्यपक्ष और उसके विकास का आधार है । कर्म जीवन से इतना सम्पृक्त है कि उसे जीवन से पृथक् करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती । यही कारण है कि सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने इसकी अनिवार्यता को स्वीकार कर इसके स्वरूप को व्याख्या की है । भारतीय दर्शनों में भी इसकी विशेष चर्चा हुई है । भारतीय दर्शन में कर्मवाद का बीजस्म वैदिककाल से ही मिलने लगता है और उसका दार्शनिक विवेचन उपनिषदों में हुआ है ।

व्यावहारिक स्तर पर कर्म के दो पक्ष हो जाते हैं-- १- सत्पक्ष, २- अशुभ पक्ष । गीता में इसी को निष्काम कर्म और सकाम कर्म कहा गया है । निष्काम कर्म निर्लिप्तभाव से कर्तव्यपालन की ओर संकेत करता है और सकाम कर्म स्वार्थ-सम्पृक्त भोगवाद का परिचायक है । कर्म का यह पक्ष संकुचित स्वार्थ की सीमा में सिमट कर जीवन में अनेक विकृतियों को जन्म दे देता है जिससे जीवन में मौक्तिका प्रधान हो जाती है ।

१- डा० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएं

प्रसाद ने कर्म-सिद्धान्त पर नये दृष्टिकोण से विचार किया है । कामायनी में उन्होंने कर्म के असत् और सत् दोनों पक्षों को दिखा कर, असत् पक्ष की विगर्हणा और सत्पक्ष की अभ्यर्थना करते हुए सत् पक्ष की वरीयता को स्वीकार किया है । सकाम कर्मों के कर्म में लिपटी हुई देव-सृष्टि का पतन दिखा कर उन्होंने उसके प्रति अपना विरोध-भाव प्रकट किया है । कामायनी में वर्णित इस विलासी देव-सृष्टि का आधार वैदिक-साहित्य है -- 'देवसम्यता का यह चित्र मूलतः वैदिक कहा जा सकता है । कवि को कलात्मक प्रज्ञा का जो चमत्कार यहां दिखाई पड़ता है, उसकी आधार-भूमि वेद अथवा पुराणों में विकसित वैदिक परंपरा है ।'^१

प्रसाद ने कर्म के प्रवृत्तिमूलक पक्ष पर बल देते हुए उसके संयत और संतुलित भोग को व्यवहार्य माना है । कर्म के सत् पक्ष का प्रतिनिधित्व करने वाली श्रद्धा मनु को प्रवृत्तिमूलक जीवन का सन्देश देती हुई उन्हें इस तथ्य से अवगत करती है कि 'केवल तप ही जीवन का सत्य नहीं है, उसके साथ आशा, आकांक्षा और हर्षोल्लास से पूर्ण प्रवृत्तिमूलक साधना भी उसका अनिवार्य अंग है'^२ । इसीलिए उसने कर्म और भोग के समन्वय पर विशेष बल दिया है --

'कर्म का भोग, भोग का कर्म यही जड़-चेतन का^३ आनंद'

चेतन-- आत्मा, जड़-- प्रकृति, का पूर्ण और स्वस्थ उपभोग तभी कर सकता है, जब वह अपने पौरुष से कर्म करे और उस संचित कर्म (श्रम) का संतुलित भोग कर उसी में से भावी जीवन-विकास के लिए पुनः कर्म का अनुष्ठान करे । इस प्रकार कर्म और भोग के सन्तुलन पर जीवन का स्वस्थ विकास हो सकता है और इसके अभाव में उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती । सुर-संस्कृति का पराभव इसीलिए हुआ कि उसने भोग को ही अपने सुख की सीमा बना ली थी ।

श्रद्धा द्वारा प्रेरित कर्म का भोग व्यष्टिमूलक न होकर समष्टिमूलक है । वह मनु के स्वार्थ-सम्पुक्त व्यक्तिवाद का घोर विरोध करती हुई, समष्टिमूलक लोक-संग्रह की प्रवृत्ति पर विशेष बल देती है --

१- डा० फतह सिंह? कामायनी सौन्दर्य, पृ० ५७

२- कामायनी, पृ० ५५

३- वही, पृ० ५६

‘अपने में सब कुछ मर कैसे, व्यक्ति विकाम करेगा ?

यह स्कान्त स्वार्थ मीषण है, अपना नाश करेगा ।

औरों को हंसते देखो मनु, हंसो और सुख पाओ ,^१

अपने सुख को विस्तृत कर लो, सब को सुखी बनाओ ।^१

इस प्रकार कामायनी का कर्म सिद्धान्त श्रद्धामूलक है । प्रसाद को न तो देवताओं का कर्म-काण्ड प्रधान कर्म कर्म स्वीकार्य था और न बुद्धि-प्रधान इडा द्वारा प्रेरित कर्म ग्राह्य था । इन दोनों से ऊपर, सन्तुलन और संयम पर आधारित उस परार्थ तथा प्रवृत्तिमूलक कर्म को उन्होंने अपनी साधना का साध्य बनाया था, जिसका लक्ष्य संसृति-सेवा के मन्दर्भ में यज्ञपुरुष की रचनामूलक सृष्टि का विस्तार करना था । इसी कर्म को अंगीकार कर श्रद्धा शक्ति-स्वरूपा होकर विश्व-मित्र और मातृभूति की प्रतिमा के रूप में लोक-संग्रह करती हुई अबाध गति से आनन्द-लोक तक बढ़ती गई, और इसके अभाव में मनु का पतन होता गया ।

बौद्ध दर्शन

प्रसाद साहित्य में बौद्ध दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों की भी चर्चा मिल जाती है । बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धान्त इस प्रकार हैं -- (१) दुःखवाद, (२) ज्ञानिक वाद, (३) करुणावाद । दुःखवाद बौद्धदर्शन का आधारभूत तत्त्व है । बुद्ध ने इसे अपने चार आर्यसत्यां -- (दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध, उपाय) में प्रथम स्थान दिया है । बुद्ध की यह मान्यता है कि संसार के प्रत्येक कार्य और क्रिया-कलाप के मूल में दुःख की स्थिति रहती है। उन्होंने दुःख को ही सारे कार्य-व्यापारों का आधार और उसकी समाप्ति पर ‘निर्वाण’ की स्थिति मानी है । प्रसाद साहित्य में हमें अजातशत्रु,^१ स्कन्दगुप्त,^२ आसू,^३ चन्द्रगुप्त^४ आदि कृतियों में इस दुःखवाद की चर्चा मिल

१- कामायनी, पृ० १३२

२- वही, पृ० १३२

३- अजातशत्रु, पृ० ६३

४- स्कन्दगुप्त, पृ० ४१

५- आसू, पृ० ५५

६- चन्द्रगुप्त, पृ० ७१

जाता है । कामायनी में भी दुःखवादी विचार-धारा का उल्लेख किया गया है^१।

बौद्ध दर्शन का दूसरा प्रमुख तत्त्व जाणिकवाद है । जाणिकवाद में संसार की सभी वस्तुओं को 'जाणिक' तथा परिवर्तनशील माना गया है। इस संदर्भ में दीपशिक्षा का दृष्टान्त देकर इस तथ्य का विवेचन किया गया है कि जिस प्रकार एक जलते हुए दीपक की लौ सदैव परिवर्तित होती रहती है -- एक जाण में जो लौ उठती है दूसरे जाण में उसका अभाव हो जाता है । उगी प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु भी जाण जाण बदलती रहती है । जिस प्रकार दीपक की अन्तिम लौ दूसरे दीपक की प्रथम लौ को जन्म दे देती है, उसी प्रकार चेतना-प्रवाह की अन्तिम लहर दूसरी चेतना-प्रवाह की प्रथम लहर को जन्म दे देती है । इस प्रकार जीवन का प्रवाह अपने मूल में परिवर्तित होता हुआ निरन्तर प्रवहमान होता रहता है । अज्ञातशत्रु^२ स्कन्दगुप्त, आंसू^३ आदि कृतियों में जाणिकवाद को भी चर्चा मिल जाती है । कामायनी में भी स्थान-स्थान पर इसका उल्लेख हुआ है +-

जीवन तेरा दुःख अंश है, व्यक्त नील घन-माला में,
मौदाभिनी-सन्धि-सा सुन्दर, जाणभर रहे उजाला में^४ ।

... ..
+ + + + +

कुछ नहीं है अपना सुख भी श्रद्धा । वह भी कुछ है ।
दो दिन के इस जीवन का तो वही चरम सब कुछ है ।

... ..
विश्व एक बन्धन-विहीन परिवर्तन तो है ।^५

१- कामायनी, पृ० ८, ५४, १५८, २२१, २२३

२- अज्ञातशत्रु, पृ० ४८

३- स्कन्दगुप्त, पृ० १२६

४- आंसू, पृ० ४५

५- कामायनी, पृ० १६

६- वही, पृ० १३०

७- वही, पृ० १६०

इस प्रकार प्रसाद-साहित्य में हमें स्थान-स्थान पर दुःखवाद और क्षाणिकवाद की चर्चा मिल जाती है, लेकिन इनकी चर्चा केवल प्रासंगिक है, सैद्धान्तिक नहीं। सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रसाद आनंदवादी थे, और जीवन को क्षाणिक मानते हुए उसे आनंदमय बनाने के पक्ष में थे --^१ में इस क्षाणिक जीवन को घट्टियों को सुती बनाने का पक्षपाती हूँ।^२ कामायनी में उन्होंने जगत को सतत, चिर सुन्दर माना है।

बौद्ध दर्शन का तीसरा तत्त्व 'करुणा' है। सैद्धान्तिक स्तर पर प्रसाद ने बौद्ध दर्शन से इसी को ग्रहण किया है। प्रसाद की दार्शनिक विचार-धारा में करुणा का विशेष स्थान है। करुणा को इस विचार-धारा का प्रभाव प्रसाद जी पर बौद्ध एवं वैष्णव दोनों दर्शनों से पड़ा है।^३

श्रद्धा स्वयं करुणा-कामना-मूर्ति है और जीव-दया उसके जीवन का अभिन्न अंग है।

गांधीवाद

गांधीवाद समाजवाद का एक परिष्कृत और परिवर्द्धित भारतीय संस्करण है।^४ इसने भारतीय जीवन को सबसे अधिक प्रभावित किया है। दर्शन, शिक्षा-मनोविज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा साहित्य की सभी विधाओं पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। प्रसाद-साहित्य भी इसका अपवाद नहीं।

दार्शनिक स्तर पर गांधीवाद के दो प्रमुख तत्त्व हैं-- (१) सत्य और (२) अहिंसा। अभावों के पक्ष जो शाश्वत अंश शेष रह जाता है उसे सत्य कहते हैं। यही सत्य गांधीवाद के तत्त्वज्ञान का केन्द्रविन्दु है। गांधी जी ने स्वयं सत्य को ईश्वर का पर्याय मान कर उसे अपनी साधना का साध्य स्वीकार किया था --

१- चन्द्रगुप्त, पृ० ७१

२- कामायनी, पृ०

३- डा० द्वारिका प्रसाद? कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन

४- रामनाथ सुमन: गांधीवाद की रूप-रेखा, पृ० १०७

“सत्य ईश्वर की जीती-जागती मूर्ति है । केवल वही जीवन है । मैं पूर्णतम जीवन के माग सत्य को स्वरूप मानता हूँ और इसी तरह सत्य साकार रूप धारण करता है । ईश्वर की सम्पूर्ण सृष्टि -- सत्य की, सेवा ही ईश्वर की सेवा है^१।”

सत्य का ही अभिन्न अंग अहिंसा है -- दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं । गांधीवाद में अहिंसा का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है । इसे कायरता का पर्याय नहीं शक्ति का स्रोत माना गया है । गांधी ने अहिंसा को ‘सक्रिय’ और ‘तेजस्वी शक्ति’ की संज्ञा दी है -- ‘मेरा अहिंसा धर्म अत्यन्त तेजस्वी और सक्रिय शक्ति है । उसमें कायरता और कमजोरी के लिए कोई स्थान नहीं है^२।’ इसका सम्बन्ध जीव-दया से लेकर नैतिकता की उन समस्त उपलब्धियों से है, जो व्यक्ति के द्वारा ‘अहं’ को विस्तार दे कर उसे विराट् स्वरूप के उस धरातल पर पहुँचा देती हैं, जहाँ धृणा प्रेम में, स्वार्थ परार्थ में, प्रतिशोध शान्ति में और अपकार उपकार में पर्यवसित होकर सर्वात्मा के प्रति अमर अनुभूति का आधार बन जाता है । इस प्रकार व्यक्ति का वैयक्तिक स्तर विस्तार पाकर समष्टि-साधना की सीमा में फैल जाता है । दूसरों के प्रति उसके सारे वैर-विरोध का शून्य हो जाता है । अस्तेय, अपरिग्रह, तथा ब्रह्मचर्य उसके मूलमूल अंग हो जाते हैं और इन्हीं की समष्टिगत चेतना पर उस प्रातिमजान का आविर्भाव होता है, जिसके प्रकाश में सत्य के समग्र स्वरूप का साक्षात्कार सम्भव हो पाता है । साधना की इस स्थिति को, रहस्यवाद को भाषा में आत्मा में परमात्मा की अनुभूति कहा जाता है, जिसको प्राप्ति तर्क-वितर्क से नहीं, हृदय की सहज सरलता और सात्त्विकता से होता है ।

“रहस्यवाद आध्यात्मिक क्रिया है । उसका उद्देश्य भी आध्यात्मिक है । रहस्यवादी में अपरिवर्तनशील एक ब्रह्म से साक्षात्कार की उत्कट इच्छा रहती है । रहस्यवादी उसे तर्क या विवाद के द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता । जहाँ पर दार्शनिक तर्क या कल्पना करता है, वहाँ पर रहस्यवादी प्रेम करता है । इसी से रहस्यवादी का ब्रह्म प्रिय और प्राप्य है । रहस्यवाद में मनुष्य का

१- गांधी : हरिजन, २५-५-३५, पृ० ११५

२- गांधी : यंगइण्डिया, १६-६-२७, पृ० १६६

रागात्मक पक्ष अधिक विकसित और उन्नत रहता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य के प्रातिभिज्ञान का प्रवेश चेतन जीवन में होता जाता है, त्यों त्यों मनुष्य रहस्यवादी होता जाता है।^१ प्रातिभिज्ञान की इसी स्थिति दो गांधी जी ने आत्मा का आवाज कहा करते थे। गांधीवाद में इसे विशेष महत्व दिया गया है।

प्रसाद के चिन्तन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सारी दार्शनिक पद्धति को रहस्यवाद के रूप में देखने का प्रयत्न किया है, और उसे आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति माना है।^२ कामायनी में तर्क प्रधान इडा की तुलना में हृदय प्रधान श्रद्धा को प्रधानता देकर उन्होंने अन्तःकरण (प्रातिभिज्ञान) की श्रेष्ठता को ही स्वीकार किया है। कामायनी का श्रद्धा प्रातिभिज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है। वह सत्य और अहिंसा के गहरे भाव-बोधों से अनुग्राहित आध्यात्मिक अनुभूतियों को श्रेष्ठतम उपलब्धि है। उसमें हमें उन सभी गुणों की समष्टि मिल जाती है, जिसे जाना कर एक सत्यनिष्ठ, अहिंसक साधक साधना-पथ पर अग्रसर होता जाता है। सरलता, सहानुभूति, सहनशीलता, उदारता और जीव-दया उसके जीवन के अभिन्न अंग हैं। वह सरलता और सहानुभूति से प्रेरित होकर एक निष्ठभाव से मनु को आत्मसमर्पण कर देती है।^३ अहिंसी और अहिंसक मनु द्वारा जीव-हिंसा पर उसका उदार हृदय कराह उठता है और वह एक सच्चे मत्याग्रही की भांति उसका विरोध भी करती है।^४ लेकिन उसका विरोध घृणा के विष प्रभाव से प्रभावित नहीं होने पाता। जिस समय स्वार्थी सुख-लोलुप और विलासी मनु आपन्न सत्त्वा श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं, उस समय भी श्रद्धा मनु के प्रति किसी प्रकार का आक्रोश व्यक्त नहीं करती, उसका सहनशील स्वभाव मनु पर अविश्वास भी नहीं करता, -- वह मोला इतना नहीं छली।^५ अन्त में वह अपनी सहनशीलता, निश्कल प्रेम, औदार्य और शान्त स्वभाव से हिंसक, विलासी और स्वेच्छाचारी मनु का हृदय-परिवर्तन कर उन्हें उस उदात्त भाव-भूमि पर पहुँचा देती है, जहाँ उनका सारा कलुष धुल जाता है और वे सब को अपना अवयव समझने लगते हैं।^६

१- डा० केशरीनारायण शुक्लः आधुनिक काव्य धारा, पृ० २३६-२३७

२- काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।

-- काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४६

३- कामायनी, पृ० ५६, ५७

४- वही, पृ० १२६, १३०, १४६, १४७

५- वही०, पृ० २४३

६- वही, पृ० २८७

गांधीवाद का आर्थिक पक्ष उसके नैतिक पक्ष का ही एक अंग है^१। इन्द्रजित में गांधी जी को स्पष्ट घोषणा थी -- "सच्चा अर्थशास्त्र कभी उच्चतम नैतिक मूल्यों का विरोध नहीं करता..... जो अर्थशास्त्र मनुष्य को धन की पूजा सिखाता है और निर्बल को हानि पहुंचा कर बलवान को धन एकदटा करने की क्षमता प्रदान करता है, वह झूठा और भयंकर शास्त्र है, वह मृत्यु का अर्थशास्त्र है^२।" इसीलिए उन्होंने साध्य और साधन की पवित्रता पर विशेष बल दिया है-- यद्यपि उनका साध्य है और अहिंसा उसका साधन। उनको स्पष्ट मान्यता है -- "जैसे हमारे साधन होंगे वैसा ही हमारा साध्य होगा। साध्य और साधन के बीच दोनों को अलग करने वाली कोई दीवार नहीं है।"^३

गांधीजी ने नैतिक मान्यताओं के आधार पर अपने आर्थिक सिद्धान्तों की व्याख्या की है और शोषण पर आधारित, पूंजीवाद को जन्म देने वाले यान्त्रिक सम्पत्ता की अतिशयता का विरोध किया है। यान्त्रिक सम्पत्ता का आधार मशीनों का यान्त्रिक ज्ञान और उत्पादन का एकान्त भोग-विस्तार है। अधिक व्यय-साध्य और साधन-सापेक्ष होने के कारण सभी को मशीनों के यान्त्रिक ज्ञान तथा उत्पादन उपभोग का समान अवसर नहीं मिल पाता। साधन सम्पन्न कुछ मुट्ठी भर लोगों के हाथों में सारी शक्ति सिकटती जाती है और वे उत्पादन के सभी साधनों को स्वायत्त कर समाज के शोषक बन जाते हैं। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों के माध्यम से उनके शोषण की प्रक्रिया सुरसा की भांति अपना विस्तार करती जाती है। समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग जीवन की आवश्यक आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं कर पाता और उसके शोषण पर फलने-फूलने वाला पूंजीपतियों का अल्पसंख्यक वर्ग भोग-विलास का जीवन बिताता है। इस प्रकार यान्त्रिक सम्पत्ता का अतिवादो रूप व्यक्ति को मात्र मशीन बनाकर रख देता है। उसमें श्रमिक वर्ग का मूल्य बहुत कम हो जाता है। ग्रामीण उद्योगधन्धे नष्ट हो जाते हैं, ग्रामीण जीवन जर्जर हो जाता है, और उसकी अर्थ-व्यवस्था किलकुल बिखर जाती है। जिसके फलस्वरूप सामाजिक

१-गांधी का अर्थशास्त्र नीति से रहित नहीं है वह नीति पर आश्रित है।

--रामनाथ सुमन:गांधीवाद को स्प-रेखा, पृ०१६६

२- गांधी: हरिजन ६-१०-३७, पृ०२६२

३- यंग इंडिया: १७-७-२४, पृ०२३६-२३७, गांधी जी।

४- "मैं यंत्र का विरोधी नहीं हूँ, परन्तु जब वह हमारा स्वामी बन जाता है, तब मैं उसका पूरा विरोध करता हूँ।" गांधी: हरिजन २७-२-३७ पृ०१८

अंगठन टूटने लगता है, अर्थ और अधिकार की होड़ में अवांछित संघर्षों की सृष्टि होने लगती है। समाज में स्वार्थ प्रधान हो जाता है। उसके पैतृक कला-कौशल की योग्यता का अन्त हो जाता है। यान्त्रिक सम्यता की इन्हां असंगतियों और द्वष्टियों का दृष्टि में रखकर गांधी जी ने उस ग्रामोण अर्थ-व्यवस्था का कल्पना की थी जो शोषण के अमिश्रण से मुक्त थी^१। उसमें कुटीर उद्योगधन्वों पर विशेष बल दिया गया था। इसी सन्दर्भ में उन्होंने स्वदेशी वस्त्रों के प्रयोग, चरखा-तकली पर सत कातने, हाथ से कपड़ा बुनने, तथा घरेलू उद्योग धन्वों को पुनर्जीवित करने का आन्दोलन चलाया था।

कामायनी में हमें गांधीवाद की अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित सिद्धांतों का समर्थन मिल जाता है। बुद्धिप्रधान इड़ा के सहयोग से निर्मित पारस्वत प्रदेश की यान्त्रिक सम्यता का विरोध, श्रद्धा द्वारा तकली पर ऊन कातना, हाथ से वस्त्र बुनना, कुटीर - उद्योग को प्रश्रय देना, आदि प्रसंग^२ गांधीवाद के प्रभाव को सूचित करते हैं।

इस प्रकार प्रसाद जी ने प्रत्यभिज्ञादर्शन के अतिरिक्त वैदिक, बौद्ध और गांधीवाद आदि दर्शनों के मौलिक सिद्धान्तों की उदात्त गांधीकृतिक भावनाओं को आत्मसात कर, अपने ढंग से उनकी जीवन-सापेक्षा--व्यावहारिक व्याख्या की है।

जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष मनोविज्ञान भी है। जिस प्रकार दार्शनिक चिन्तन जीवन का अभिन्न अंग है, उसी प्रकार मनोविज्ञान भी। इस दृष्टि से कामायनी जीवन के दोनों पक्षों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। उसका दार्शनिक चिन्तन जितना प्रौढ़ है, उतना ही प्रौढ़ मनोवैज्ञानिक विवेचन भी।

आधुनिक मनोविज्ञान चेतना को सत्य मानता है, कामायनी इसी 'मानव-चेतना के विकास का महाकाव्य है'^३। चेतना की चरम उपलब्धि--भावों, को शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार कर उसके उज्ज्वल इतिहास को विश्व के हृदय-पटल पर अंकित करना ही कामायनी का मुख्य लक्ष्य है। --

१- गांधी : हरिजन ४-११-३६, पृ०३३९

२- कामायनी, पृ०१४२, १४३, १४६, १५०, १५१

३- डा० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएं, पृ०६

चेतना का उज्ज्वल इतिहास

अखिल मानव भावों का मत्स्य है,

विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य

अक्षरों से अंकित हो नित्य ।^१

आधुनिक मनोविज्ञान में चित्तवृत्तियों के क्रमिक विकास का अध्ययन विश्लेषणात्मक पद्धति से किया जाता है ।

कामायनी में चित्तवृत्तियों के आधार पर सगों का नामकरण और वृत्तियों के क्रमिक विकास का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विवेचन इस तथ्य का परिचायक है कि प्रसाद का चिन्तन दर्शन के साथ-साथ मनोविज्ञान की मूल संवेदनाओं से पूर्णतया सम्पृक्त है । आधुनिक मनोविज्ञान के प्रमुख आचार्य फ्रायड ने काम (लिविडो) को सारी शक्तियों और क्रिया-कलापों का प्रेरणा-प्रोत माना है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सूक्ष्म निरीक्षण करने पर कामायनी में भी हमें 'काम' की मंगल --अमंगल धाराओं की संगतियों एवं विकृतियों के विविध स्वरूपों को भाँकी मिल जाता है । कामायनी के मनोवैज्ञानिक चिन्तन का केन्द्रबिन्दु काम के विकृत और परिष्कृत पक्षों का उद्घाटन ही है ।

कामायनी में काम को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है जिसमें सारी मनोवृत्तियाँ सिमट कर जीवन का सूत्राधार बन गयी हैं । मनु, श्रद्धा, इडा की मनोवृत्तियों का विकास काम को ही विविध विधाओं का विकास है । मनु का जीवन चिन्ता से निर्वेद तक काम की असंगतियों और विकृतियों तथा दर्शन से आनन्द तक उसके उदात्तीकरण की कहानी है, जिसमें प्रकृति इच्छाओं को दबाने के स्थान पर उन्हें उच्च धरातल पर लेकर उनका परिष्कार कर दिया गया है । श्रद्धा का जीवन काम भावना (प्रकृति इच्छाओं) के स्वाभाविक विकास का प्रतिनिधित्व करता है । और भोगप्रधान सारस्वत प्रदेश की रानी इडा का जीवन कामजन्य अविकार भोग का ।

आधुनिक मनोविज्ञान में चित्तवृत्तियों के स्वरूप-भेद और विकासक्रम के संदर्भ में मनु के तीन स्तर माने गये हैं -- (१) चेतन, (२) अर्द्ध चेतन, (३) अचेतन ।

जो इच्छाएं हमारे वैयक्तिक चेतना के साथ-साथ सामाजिक भावना से मेल खाती हैं, उन्हें तो हमारा चेतन मन ग्रहण कर लेता है, लेकिन वे इच्छाएं जो सामाजिक मान्यताओं से मेल नहीं खाती, उन्हें हमारा चेतन मन बर्बाद देता है। यही वही हुई इच्छाएं अचेतन मन में जाकर संस्कार रूप में जमायी हो जाती हैं और समय-समय पर जाने अनजाने अवसर पाने पर उसी प्रकार ऊपर जाने लगता हैं जिरा प्रद्वार नदी के अन्तिम तल में बैठी हुई बालुका-राशि बाढ़ के आगोढ़न-विलोढ़न से ऊपर आ जाती हैं । प्रसाद ने मनु, ऋद्धा और वृद्धा के संस्कारगत स्वभावों की प्रतिक्रियाओं के माध्यम से इस मनोवैज्ञानिक रस्य का निरूपण बड़े सुन्दर ढंग से किया है । मनोविज्ञान में जिज्ञासा नामक मूल प्रवृत्ति का एक विशेष स्थान है । मनु और ऋद्धा के सक्रिय जीवन का प्रारम्भ इसी जिज्ञासा नामक मूल प्रवृत्ति से होता है । जिज्ञासा हमारे मानसिक शक्तियों के मूल में काम करने वाली प्रवृत्तियों में से एक है जो मानवीय आकांक्षाओं और क्रिया-कलापों को प्रेरणा प्रदान करती है^१ । विकास-क्रम के संदर्भ में ऋद्धा और मनु की इस मूल प्रवृत्ति में अंतरभेद हो जाता है । मनु की जिज्ञासा का प्रारम्भ दार्शनिक चेतना के तत्त्व-चिन्तन पक्ष से होता है और ऋद्धा को जिज्ञासा का जन्म जीवन के व्यावहारिक पक्ष से ।

अतिवादी देवसृष्टि के विनाश पर मनु की वाह्यवृत्ति अन्तर्मुखी होकर आदि सत्ता के विषय में चिन्तन करने लगती है । वे आदि सत्ता के विषय में विचार करते हुए बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर बढ़ने लगते हैं । उन्हें सविता, पूषा, सोम, मरुत, वरुण आदि देवताओं के ऊपर नियन्त्रण करने वाली मूल सत्ता की अनुभूति होने लगती है^२ । दूसरी ओर ऋद्धा की जिज्ञासा उसकी उल्लिखित कला सीखने की

१- "All instances of human activity (even the most truly volitional and self consciously directed) imply the operation of special disposition through which the conative energy, the will to live, is directed to prompt and sustain particular modes of action."

— W. Mc Dougall - Psychology (The study of Behaviour)

P. 152

प्रेरणा से सम्बद्ध है^१। यहां से पुरुष और नारा मनोविज्ञान का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। स्क में विचारों की प्रधानता हो जाता है, दूसरे में भावों का। चिन्ता का आवेग रुक जाने और अवसाद की बेला बीत जाने पर मनु का अन्तः उत्साह से भर जाता है। मधुर स्वप्न के समान मिलमिलाने वाली आशा की निगंध किरणें, रागात्मक भाव-बोध को जगाकर उनके जीवन को राग रंजित बना देती हैं और उनका हृदय शीतल दाह से आकुल हो उठता है। --

जीवन जीवन की पुकार है, खिल रहा है शीतल दाह,

किसके चरणों में नत होता, नव प्रभात का शुभ उत्साह।^२

जीवन की विलासमयी लालसा प्रकृति के उन्मद और आकर्षक वातावरण के बीच उनकी आसक्ति को और तीव्र बना देती है, और अनादिवासना प्राकृत मूल के समान जाग्रत होकर आन्तरिक अभावों का ज्वार उठा देती है, मनु का स्काकी जीवन साहचर्य सुख के लिए अधीर हो उठता है। साहचर्य सुख-लालसा को यही तीखी अनुभूति मनु को संवेदनशील बना देती है। संवेदना का सम्बन्ध हमारे ऐन्द्रिक अनुभूतियों से होता है। चैतन्य मन का सर्वप्रथम और सरल ज्ञान संवेदन है संवेदन इन्द्रियों के बाह्य पदार्थ के स्पर्श से होता है। अतः स्पर्श ही संवेदना का समीपवर्ती कारण है। इस स्पर्श की सम्भावना मन और इन्द्रियों से होती है।^४ बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क में आने पर इन्द्रियों की प्रतिक्रिया स्वरूप हमारा मानसिक जगत प्रभावित होकर अनुकूल विषयों के प्रति अनुरक्ति और प्रतिकूल विषयों के प्रति विरक्ति भाव से अभिभूत हो उठता है। प्रौढ़ व्यक्तियों की संवेदन शक्ति चिन्तन प्रधान होती है। प्रौढ़ व्यक्ति अपने साथ-साथ औरों के विषय में सोचता और उनके साथ अपनी अनुभूतियों का सामंजस्य बैठाता है। व्यक्ति की यही प्रवृत्ति उसमें सामाजिकता की भावना जगाती है। मनु भी इसी प्रवृत्ति से

१- कामायनी, पृ० ५१

२- वही, पृ० २७

३- वही, पृ० ३५, ३७

४- लालजीराम शुक्ल : सरल मनोविज्ञान, पृ० १५४

प्रभावित होकर यज्ञ का अवशिष्ट अन्न, दूसरे को प्राणरक्षा की दृष्टि से, दूर रख जाते हैं । यहीं से उनके अचेतन मन में स्थित सुरसंस्कृति का संस्कार उभरने लगता है --

‘सजग हुई फिर से सुर संस्कृति, देवयजन की दस्माया,
उन पर लगी डालने अपनी, कर्मयी गीतल छाया ।’

देवसंस्कृति का पूर्वपक्ष तप-प्रधान और उत्तरपक्ष भोगप्रधान था । मनु के जीवन में भी उनके संस्कारों का विकास इसी क्रम से होता है । उनके जीवन के प्रारम्भिक विकास में देवसंस्कृति के पूर्वपक्ष के संस्कार उभरते हैं और उत्तरपक्ष में देव-सृष्टि के उत्तरपक्ष के संस्कार । प्रारम्भ में मनु तप-प्रधान यज्ञमूलक संस्कारों से अविभूत होकर यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं । उन्हें उनके हृदय में परार्थ भावना और सहानुभूति का उदय होता है । वे स्वस्थ होकर प्रकृति के शान्त वातावरण में मनन, चिन्तन और यज्ञ-अनुष्ठान के साथ तपस्वी जीवन का प्रारम्भ करते हैं^१ । यह स्थिति आशा सर्ग तक चलती है । इसके बाद भोग-विलास प्रधान देवसृष्टि के संविन संस्कारों का ज्वार आता है, जिसकी विकृतियों का उफान मनु के जीवन को दुःख और अशान्त बना देता है । इसका दौर श्रद्धा सर्ग से निर्वेद तक चलता है । श्रद्धासर्ग में मनु का काम अन्तर्मुखी होकर अवसाद और निराशा के बोझ से दबकर निष्क्रिय हो जाता है । हतास मनु आनन्द और उल्लास से शुन्य अभावपूर्ण जीवन को चेतनाहीन स्तूप की भांति निरर्थक और निष्फल मानने लगते हैं । उन्हें जीवन जड़ता का जीता-जागता ढेर दिखायी पड़ने लगता है^२ । इसी अवसर पर श्रद्धा का आगमन होता है । उसके सम्पर्क और प्रवृत्ति मूलक जीवनदर्शन से प्रभावित होकर मनु की सुप्त वासना पुनः जाग्रत हो जाती है । जिस प्रकार अवरुद्ध धारा अवरोध हट जाने पर दूने वेग से बहने लगती है, उसी प्रकार मनु का अवरुद्ध काम अवसाद और प्रमाद का अवरोध हट जाने पर अपनी पूरी प्रबलता के साथ उभार पर आकर विषयों का चिन्तन करने लगता है । इसका आवेग इतना बढ़ जाता है कि संयमशील मनु दम-संयम को बाधास्वरूप समझने लगते हैं^३ । उनके विवेक का उज्ज्वल प्रकाश विषयों के अन्धकार में तिरोहित

१- कामायनी, पृ० ३१

२- वही, पृ० ३३

३- वही, पृ० ४६

४- वही, पृ० ६६

हो जाता है । जिस प्रकार तीव्र भंफावात में अधीर होकर बेतहाशा भागता हुआ हरिण शिकारी के जाल में फँस जाता है, उसी प्रकार उदाम वासना के वात्याचक्र में चक्कर लगानो हुई मनु की पूर्व माधना शिथिल होकर व्यं को उत्तरपदा के भोग-प्रधान संस्कार के अंक में डाल देती है । भोगेच्छा और काम प्रेरणा का सम्मिलित प्रभाव मनु को कर्म की दिशा में अग्रसर कर देता है --

‘कर्मयज्ञ से जीवन के सपनों का स्पर्ग मिलेगा,

इसी विपिन में मानस को आशा का कुसुम खिलेगा ।’^१

यहाँ पर मनु का यज्ञ-विधान परार्थमूलक न होकर स्वार्थमूलक हो जाता है । आशा सर्ग के यज्ञविधान का आधार मनु की सामाजिक भावना थी, और वह यज्ञ पाक यज्ञ था, लेकिन कर्म सर्ग में आकर वही यज्ञ विधान गृहित भोगवाद पर आधारित होकर कोरा कर्मकाण्ड बन जाता है, तथा पाक-यज्ञ का स्थान पशु-बलि ले लेती है । इस प्रकार मनु के अचेतन मन में स्थित वह संस्कार प्रकट हो जाता है जिसका आधार देवसृष्टि का वह उत्तरपदा है, जो अपनी विकृतियों को अन्तिम अवस्था में असुर सस्कृति के समकक्ष आ चुका था । इसी संस्कार की प्रेरणा-स्वप्न मनु असुर पुरोहितों के साथ काम्य कर्मों के लिए पशु-यज्ञ का आयोजन कर श्रद्धा के पालित पशु की बलि चढ़ा देते हैं । यहीं में उनका स्थूल भोगवाद संकीर्ण स्वार्थ से प्रेरित होकर, ईर्ष्या को गले लगा लेता है । ईर्ष्या के प्रभाव से मनु के भोगवाद की विकृतियाँ अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं । वे अपने को ही सारी कृतियों का केन्द्र मानकर सब कुछ अपने आप में गँट लेना चाहते हैं । उनका ‘अहं’ हुंकार कर उठता है--

‘कर्म-यज्ञ-से-जीवन

‘यह जलन नहीं सह सकता मैं, चाहिए मुझे मेरा ममत्व ,

इस पंचभूत की रचना में, मैं समण कर बन सकूँ तत्त्व ।’^२

अन्त में वे अपनी भावी संतान के प्रति ईर्ष्याग्नि से दग्ध हो, ज्वलनशील अन्तर लेकर ममतामयी श्रद्धा से लूठ कर चले जाते हैं, और उस अबला का करुण स्वर शून्य में बाँपता रह जाता है --

१- कामायनी, पृ० ११३

२- वही, पृ० १५३

रुक् जा, सुन ले ओ निरमोही,

वह कहती रही अधीर श्रान्त^१ ।

श्रद्धा को छोड़कर चले जाने के बाद मनु सारस्वत प्रदेश को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर इंडा के सहयोग से भौतिक भोगवादी संस्कृति की वर्धना में अपनी समूची शक्ति लगा देते हैं । सारस्वत प्रदेश की संस्कृति का डांचा वही है जो पुर संस्कृति के उत्तर पक्षा का था जिसमें वासना, विलास का धारा अबाध गति से बह रही थी । यहां पर मनु का दमित संस्कार प्रकल होकर श्रद्धा द्वारा समर्थित पुराणमूलक आत्मवाद को उपेक्षा कर उसके विरोधी अहंमूलक विज्ञानवाद का स्थापना में सक्रिय हो जाता है । देवसृष्टि की संग्रह-वृत्ति और सब कुछ स्वायत्त कर लेने की प्रवृत्ति का संस्कार मनु को अभिकारलिप्सा को बढ़ाकर उनके जीवन को अनियंत्रित कर देता है । और वे इंडा को बलात् अपनी बशानुवर्तिनी बनाने का हठ ठान लेते हैं, जिसके विरोध में वहां की जनता विद्रोह कर देती है । प्रजापति मनु का उनकी पालित प्रजा से ही घोर संघर्ष होता है, जिसमें मनु की पराजय होती है और वे मुमूर्ष होकर गिर पड़ते हैं । पुनः श्रद्धा को सेवा-सुश्रूषा और उसका उदारता से प्रभावित होकर वे अपने अतीत कामूल्यांकन करने लगते हैं । भोगजन्य सिन्नता और खोभ से भरा हुआ संस्कार पुनः उभरने लगता है और उनका तम विराग उन्हें निर्वेद की दिशा में खींच ले जाता है । इस प्रकार श्रद्धा से निर्वेद तक मनु की मानसिक प्रक्रिया का परिचालन उनके दमित संस्कारों तथा तज्जन्य विकृतियों द्वारा होता है । उनका जीवन राग-विराग के आवर्त में चक्कर लगाता हुआ अन्त में दर्शन की दिशा में मुड़ जाता है, जहां वे आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने आप को पहचानने का प्रयास करते हैं । यहीं से उनकी मूल प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण प्रारम्भ हो जाता है । आनन्द सर्ग में पहुँच कर मनु की काम भावना उदान होकर अपना परिष्कार कर लेती है, उसकी सारी विकृतियाँ दूर हो जाती हैं । मनु धीरे-धीरे सारी संकीर्णताओं से ऊपर उठकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से जोत प्रोत हो जाते हैं ।

जिस प्रकार मनु के अचेतन मन में स्थित संस्कार समय-समय पर उभर कर उनके जीवन को प्रभावित करते रहते हैं उन्ही प्रकार श्रद्धा के अचेतन मन में स्थित

संस्कार भी यथावसर उभर कर उसके जीवन को प्रभावित करता चलता है । श्रद्धा की रति-भावना तथा लज्जा उसके पूर्ववर्ती संस्कारों की उत्पत्ति है । रति और लज्जा नारी जाति की स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं जिनके संस्कारों को उसने युगों से संजो रखा है । ये दोनों वृत्तियाँ एक-दूसरे की गहनामिनो हैं । जिस समय पुरुष के सान्निध्य से उद्बुद्ध रति-भावना के आवेग में नारी का संयम ढीला होने लगता है, उस समय उसकी लज्जा उभर कर उस पर एक अंकुश लगा ख देती है । यही अंकुश नारी के शील स्वभाव की रक्षा करता है । जिस समय श्रद्धा मनु के निकट सम्पर्क में आती है, उस ^{उसके} समय अवैतन मन में स्थित रति-भावना उभर कर उसके मन को नीला कर देती है । उसके अंगों में शिथिलता आ जाती है, नेत्र प्रेमाक्षुओं से गीले हो जाते हैं, और हृदय में पुरुष के विश्वासस्त्री तरवार की नाया में अपना सर्वस्व समर्पण कर चुपचाप पड़े रहने की ममता जाग पड़ती है^१ । उसी समय लज्जा का संस्कार उभर आता है, और वह संकोच के बोझ से दब कर अपने आप में गिपट जाती है । श्रद्धा को काम भावना--रति का वि कारण सहज स्वाभाविक, और संयमित ढंग से हुआ है । ललित बला सीखने और और साहचर्य-सुख की लालसा जगने पर वह मनु की तरह भीतर ही भीतर छुटती नहीं, बल्कि बड़े ही सहज और सात्त्विक भाव से मनु की आत्मसमर्पण कर मानसिक तनावों से मुक्त हो जाती है । आत्म समर्पण के बाद कभी वह अपनी ओर से सौह-सम्बन्ध में कोई कमी नहीं आने देती । मनु द्वारा वि वासघात किये जाने पर भी उसकी कर्तव्य भावना और आस्था में कोई कमी नहीं आती । श्रद्धा की यही सरलता उनमें कोई मानसिक ग्रन्थि नहीं बने देती । वह जीवन की विषम परिस्थितियों से समझौता करती हुई सहज ढंग से अपने गन्तव्य तक पहुँच जाती है ।

श्रद्धा की सरलता, उदारता और परदुःख कातरता उसके पूर्व जीवन के संस्कारगत स्वभाव का परिणाम है । जो उसको रति भावना का नियमन करता है । जहाँ मनु के स्वार्थ सम्पृक्त वासनात्मक संस्कार के प्रभाव से उनका काम उनमें वासना की लहर उठाकर उनके जीवन को अमर्यादित कर देता है, वहाँ श्रद्धा के संयमपूर्ण जीवन का संस्कार उसकी रति भावना को लज्जा की परिधि में मर्यादित कर देता है । संस्कारों का यह भिन्न धरातल श्रद्धा और मनु के बीच वैचारिक विरोध की

जो वार सड़ी कर देता है । मनु की संकोर्ण म्यार्थ के उस घरातल पर उतर आते हैं जहां व्यक्ति के गह्रित भोग भावना दूसरों की हंणी कीन कर कर अट्टहास कर उठती है, और अट्टा सेवा, सहानुभूति के उस उच्च घरातल पर पहुँच जातो है, वहां वह औरों को हसता हुई, उनके सुख से अपने सुख को मिलाकर अपने सुख की सीमा का विस्तार कर लेती है । उसका संस्कृत संस्कार सब को सुखी बनाने का संकल्प ले लेता है^१ ।

अट्टा में परार्थमूलक आत्मवाद के का स्वस्थ संस्कार, जिसमें माया, ममता और अगाध विश्वास के साथ-साथ आशा का उदाय मण्डार पुरक्षित है, उस समय उभर आता है जब वह जलप्लावन के बाद निराश मनु को जीवन से हताश देखती है । उस समय वह मनु को उसी आत्मवाद के स्वस्थ और सक्रिय पक्ष के प्रति प्रेरित करती हुई एक आत्मविश्वासी सेनानायक की भांति जाह्वान करता हुई कहती है--

शक्तिशाली हो विजयी बनो

विश्व में गुंज रहा जगान ।

डरो मत और अमृत सन्तान ।

अग्रसर है मंगलमय पृथ्वि ,

पूर्ण आकर्षण जीवनकेन्द्र,

खिंची आवेगी सकल म्मृद्धि^२ ।

मनु का संस्कार उस दम्भ जर्जर देवसृष्टि का शेष है, जो स्थूल यौन-गम्बन्धों में अपनी स्वभाविक क्षमता खो चुकी थी । भोग से दबकर निर्माण को दिशा में उसके पग पंगु हो गये थे । उसी संस्कार के प्रभाव से मनु का दृष्टिकोण कांगी और अतिवादी हो गया है । उनको मानसिक स्थिति द्विग-द्विग उभरने और दबने वाले उफान की भांति अस्थिर हो जाती है । उनमें कभी आसक्ति की प्रधानता हो जाती है, और कभी विरक्ति की । वे भोग और निर्माण वृत्ति में सन्तुलन नहीं बैठा पाते । अट्टा का संस्कार बिलकुल इससे भिन्न प्रकार का है । वह सृष्टि-विकास के लिए यौन-भोग और रचनात्मक कार्य का संयमपूर्ण सामंजस्य आवश्यक

१-आमन्यनी, पृ० १३२, १३३

२- वही, पृ० ५७, ५८ ।

स भगती है। उसके लिए जैसे भोग का अतिरेक अव्यवहार्य है, उसी प्रकार तप का अतिवाद भी। इसी क्रान्ति संस्कार के फलस्वरूप वह आत्मविश्वास के साथ जीवन में प्रवेश कर जीवन के प्रति मनु के अतिवादी दृष्टिकोण का प्रत्याख्यान करती हुई उन्हें इस तथ्य से अवगत कराती है कि केवल ^{तप} ~~सत्य~~ ही जीवन का सत्य नहीं। तप के साथ ~~क~~ साथ जीवन का सहज भोग भी अपेक्षित है। दोनों के सन्तुलन और समन्वय से ही जीवन का पूर्ण विकास सम्भव है। कोरा तप जीवन को सहज अनुभूतियों को कुचल कर दम्भ का टीला बन जाता है, और तप से अछूता जीवन भोगवाद की विकृतियों तथा कुंठा के कीटाणुओं से दुष्पिन हो जाता है इसलिए वह मनु को दानता से भरी हुई वाणिक उदात्ती को दूर हटाकर उग प्रवृत्तिमूलक जीवन को अपनाने का परामर्श देती है, जिसमें तल आकांक्षा और आशा का आइलाद हिलोरेँ लेता रहता है।

श्रद्धा की कलाप्रियता उसकी सौन्दर्य चेतना को जगा कर उसमें जीवन के प्रति अनुरक्ति उत्पन्न कर देती है, जिसके फलस्वरूप वह जीवन के साथ-साथ जगत को भी सत्य और सत्त्व सुन्दर मान कर उसके आनन्दमूलक पक्ष को अपने जीवन का केन्द्रबिन्दु बना लेती है। ललित कला सीरने का प्रेरणा से हिमालय की उपत्यकाओं में छूमने वाली श्रद्धा स्वयं सौन्दर्य की प्रतिमा है। वह सै फूलों को टाला है जिससे रंगों ने खेला, और प्रकृति के कोमल करों ने न जाने कितनी छायाओं को उभारा है। श्रद्धा के समूचे जीवन में इन रंगों की संगति एक-सी बनी रहती है। कहीं भी किसी रंग की रेखा अनियंत्रित होकर उसके जीवन-चित्र को विकृत नहीं बना पाती।

श्रद्धा (हृदयपक्ष) का ही पूरक पक्ष इड़ा (बुद्धि) है। कामायनी में प्रसाद ने इड़ा को बुद्धि का प्रतीक माना है। बुद्धि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में समायोजन लेने वाली वह शक्ति है, जिसके सहयोग से व्यक्ति जीवन के बौद्धिक तथा भावात्मक पक्षों का नियमन कर स्वस्थ सामाजिक वातावरण के निर्माण में समर्थ होता है। बुद्धि अधिकार के संस्कार से प्रभावित रहती है। शासन करना इसकी

१-कामायनी, पृ० ५५

२-वही, पृ० ७७

३-वही, पृ० (आमुख)

४- Psychology by E.G. Boring, H.S. Langfeld, H.P. Weld, P.503

स्वाभाविक प्रक्रिया है। इड़ा की क्रियाशक्ति का संचालन, उसके अधिकार जन्य-संस्कारों द्वारा होता है। वह स्वयं सारस्वत प्रदेश की शासिका रह चुकी है। अतः उसमें शासन के करने के संस्कार सुरक्षित हैं।

शासन की स्पृहा और अधिकार-सुख को मायकता व्यक्ति को कठोर तथा निष्करण बना देती है। तर्क जाल में उलझ कर उसके स्नेह और सहानुभूति की भावना अपना दम तोड़ देती है। उसमें अहं का प्राबल्य हो जाता है, जो किसी के सामने मुकना नहीं चाहता। इड़ा में हमें उन सब संस्कारों का समवाय मिल जाता है। सारस्वत प्रदेश उजड़ जाने पर जब मनु ने उसका प्रथम साक्षात्कार होता है, तब वह श्रद्धा को मांति मनु के प्रतिस्वयं होकर आत्मसमर्पण नहीं कर देती बल्कि एक महत्वाकांक्षिणी शासिका की भांति उन्हें अपने उजड़े प्रदेश को बचाने के लिए सहयोग देने का आग्रह करती है --

स्वागत ! पर देख रहे हो तुम यह उजड़ा सारस्वत प्रदेश
भौतिक हलचल में यह चंचल हो उठा देश कब ही था मेरा
इसमें अब तक हूं पड़ी इसी भाशा से आये दिन मेरा ।

+ + +

यह प्रकृति परम स्मरणोय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलोन ।

अन्त में जब मनु उसके अधिकार पर हावी होना चाहते हैं तब वह खुलकर उनका विरोध करती है। उसका अधिकारलिप्सु संस्कार मनु की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता।

इस प्रकार प्रसाद ने मनु, श्रद्धा, और इड़ा के अकेले मन में पड़े हुए संस्कारों तथा उनकी प्रतिक्रियाओं के परिवेश में चित्तवृत्तियों के उद्भव-विकास और विस्तार का सूक्ष्म विवेचन किया है। चित्तवृत्तियों के संसर्ग से हमारी क्रियात्मक मनोवृत्तियां प्रभावित होती रहती हैं।

मैकडूगल ने प्रमुख प्रवृत्तियों को चुनकर उन्हें मूल प्रवृत्तियों की संज्ञा दी है, जो हमें कार्य-विशेष या वस्तु-विशेष की ओर प्रेरित करती^१ है। मैकडूगल ने मूल प्रवृत्तियों की संख्या १४ मानी है जिनमें जिज्ञासा, सामाजिकता, दुःखा तृप्ति, निर्माण, आत्मप्रकाशन, अपत्यस्नेह, संघर्ष और युयुत्सा आदि प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं। प्रसंगानुसार कामायनी में इन मूल प्रवृत्तियों के विकास पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना अधिक उपयुक्त होगा।

कामायनी का प्रारम्भ जिज्ञासा नामक मूल प्रवृत्ति से हुआ है। मनु और श्रद्धा दोनों में यह प्रवृत्ति पायी जाती है। इसी के विस्तार ने सामाजिक भावना को जन्म दिया है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति की जिज्ञासा बढ़ती जाती है त्यों-त्यों वह चिन्तित विषयों के अधिक समीप होता जाता है। यही समीपता व्यक्ति में सामाजिकता को जन्म देती है। प्रारम्भ में मनु इसी सामाजिक भावना से प्रेरित होकर यज्ञ का अवशिष्ट अन्न दूर पर रख लाते हैं और यह सोच-सोच कर सहज सुख का अनुभव करते हैं कि यदि मेरी ही तरह कोई बचा होगा तो उसे इससे तृप्ति मिलेगी यद्यपि बाद में उनकी इस सामाजिकता पर संस्कारजन्य स्वार्थपरता का आवरण पड़ जाता है।

श्रद्धा अपनी सामाजिकता की सात्त्विकता में बहुत ऊँची उठ जाती है। वह स्वार्थान्ध मनु को सामाजिकता का सन्देश देती हुई कहती है --

“औरों को हंसते देखो मनु, हंसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो, सब को सुखी बनाओ।”^२

श्रद्धा की सामाजिक भावना बहुत ऊँचे स्तर की है। वह इस भावना को स्थायित्व प्रदान कर उसे स्थिर और सुदृढ़ बनाने तथा राष्ट्र नीति का संचालन करने के लिए अपने प्रिय पुत्र तक को इड़ा के हाथों में सौंप देती है। उसकी सामाजिकता अपने व्यापक परिवेश में प्राणिमात्र को समेट लेती है वह निरीह पशुओं के प्रति सदय होकर मनु को उनकी हत्या से विरत करने का अथक प्रयास करती है। इड़ा में भी

१- "We may therefore, define instinct as an innate disposition which determines the organism to perceive, to pay attention to any object of a certain class, and to experience in its presence a certain emotional excitement and an impulse to action which finds expression in a specific mode of behaviour in relation to that object"

— W. Mc.Dougall : An out line of Psychology, P. 110

२-कामायनी, पृ० १३२। ३-वही, पृ० २४२-२४३

हमें सामाजिकता की यह भावना मिल जाती है । निर्दय मनु के नर-संहार पर वह चीत्कार^{कर} उठती है --

‘ क्यों इतना आतंक ठहर जाओ गवीलि,
जीने दे सब को, फिर तू भी सुख से जीले ।’

झुधा-तृप्ति जीवन को एक प्रमुख मूल प्रवृत्ति है । इसी की प्रेरणा से व्यक्ति अन्न संग्रह तथा सुख-सम्पादन की दिशा में अग्रसर होता है । मनु और श्रद्धा में हमें यह प्रवृत्ति मिल जाती है । श्रद्धा के उद्बोधन और काम-कथन की प्रेरणा से प्रेरित मनु कर्म-क्षेत्र में प्रवेश कर सर्वप्रथम झुधा-निवारण की दिशा में कदम बढ़ाते हैं -- काम-बुभुक्षा उन्हें श्रद्धा की ओर खींचता है, और पेट की झुधा शान्ति करने के लिए वे शिकार खेलते तथा अन्न-संग्रह करते हैं ।^१ इधर श्रद्धा भी जीवन की आवश्यकताओं के संग्रह में प्रवृत्त हो जाती है --

‘ इधर गृह में आ जुटे थे , उपकरण अधिकार,
शस्य, पशु या धान्य का होने लगा संचार ।’

+ + +

जब देखो बैठी हुई वही शालियां बीन कर नहीं आन्ति,
या अन्न छकट्टे करती है, होती न तनिक-सी वहाँ क्लान्त ।
बीजों का संग्रह और उबर चलती है तकली भरी गीत ।^३

मूल प्रवृत्तियों में निर्माण प्रवृत्ति का विशेष स्थान है । मिट्टी के सामान्य घरोँद से लेकर दार्शनिक चिन्तन और धर्म संहिताओं तक की मूल सर्जनात्मक शक्ति इसी प्रवृत्तिका परिणाम है । मनु , श्रद्धा और इड़ा तीनों में यह प्रवृत्ति पायी जाती है । मनु इड़ा के सहयोग से नवनगर (सारस्वत प्रदेश) का निर्माण

१- कामायनी, पृ० २०६

२- वही, पृ० १३६

३- वही, पृ० १४१

४- "The simple desire to make some thing rooted in this instinct, is probably a contributing motive to all human constructions from a mud pie to a — metaphysical system or a code of law."

— W. Mc Dougall : Social Psychology.

करते हैं^१ और शिष्ट के कुटीर का निर्माण करती है^२। इड़ा भी मनु के सहयोग से सारस्वत प्रदेश के भौतिक उत्कर्ष को बढ़ाकर अपना सर्जनात्मक शक्ति का परिचय देती है^३।

आत्म प्रतिष्ठा की मूल प्रवृत्ति में अहं की प्रधानता होती है। इसकी उग्रता व्यक्ति को असामाजिक बना देती है और इसका संयुक्त पक्ष स्वामिमान को संरक्षण प्रदान करता है। इसके विकृत पक्ष का संशालन गर्व, अहंकार और दम्भ के मनोवेग से होता है। मनु की आत्मप्रतिष्ठा के मूल में इस प्रवृत्ति के विकृत पक्ष का प्राबल्य है। उनका अहं सब कुछ अपने-आप में समेट कर अबाध सुख-भोग के लिए हुंकार कर उठता है^४।

अपत्य-स्नेह (संतान-प्रेम) का सम्बन्ध हृदय को उन रागात्मक अनुभूतियों से है जो दानव को पिघला कर मानव और मानव को उठाकर देवता बना देती हैं। इसमें व्यक्ति की कठोरता का हिमलण्ड पिघल-पिघल कर आत्मीयता के सागर में समा जाता है। स्त्रियों में इस प्रवृत्ति की प्रधानता पायी जाती है^५। इसका विस्तार

१- कामायनी, पृ० १८६, १६०

२- वही, पृ० १४६

३- वही, पृ० १८६

४- "The instinct (i.e., of assertion) may find expression in

the boasting and swaggering of boys, vanity of girls, while with almost all of us, it becomes the most important and constituent of the self regarding sentiment and plays an important part in the volitional control of our conduct. "

— W. Mc Dougall : Social Psychology, P. 54

५- कामायनी, पृ० ८५

६- "This instinct (i.e., Parental) and its emotion are in the main decidedly weaker in men than in women."

— W. Mc Dougall : Social Psychology, P. 62

अपने आलम्बन की सुर-सुविधा और संरक्षण की व्यवस्था के लिए अनेक उपकरण जुटाने की प्रेरणा प्रदान करता है । इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ऋद्धा अपनी भावी सन्तान के लिए पर्णकुटीर बनाती और पालने का निर्माण करती है^१ ।

वासना की बाढ़ दब जाने पर मनु के मानस में भी पुत्र-प्रेम की लहरें हिलोरें लेने लगती हैं । प्रिय पुत्र की स्मृति उन्हें भाव विह्वल बना देती है --

‘यह कुमार मेरे जीवन का उच्च अंश कल्याण कला,
कितना बड़ा प्रलोभन मेरा हृदय सैह बन जहां उला ।’^२

अन्त में यह मालूम होने पर कि ऋद्धा ने मानव को इड़ा तथा सारस्वत प्रदेश के निवासियों के हाथ में सौंप दिया है, मनु का पितृ-हृदय व्याकुल हो उठता है --

‘ये श्वापद से हिंसक अधोर,
कोमल शावक वह बालवीर,
सुनता था वह वाणी शीतल,
कितना डुलार कितना निर्मल?
कैसा कठोर है तब हृत्तल ?
वह इड़ा कर गयी फिर भी हल ,
तुम बनो रहो^३ अभी धीर,
छूट गया हाथ से आह । तीर^३ ’

संघर्ष नामक मूल प्रवृत्ति का आधार अधिकार और आत्मरक्षा का भाव है । जब व्यक्ति अपने अधिकार को खिन्नता, या अपने को प्राण-संकट में पड़ा हुआ देखता है, तब वह अपने अधिकार को बचाने और आत्मरक्षा करने के लिए संघर्ष का सहारा लेता है । जो शारीरिक स्तर का भी हो सकता है, और मानसिक स्तर का भी । मनु में यह प्रवृत्ति विशेषरूप से उभर^{कर} आयी है । जब सारस्वत प्रदेश का जन-विद्रोह उनके अधिकार को चुनौती देता है तब वे अपनी समूची शक्ति के साथ संघर्ष पर उतर

१- कामायनी, पृ० १५१, १५२

२- वही, पृ० २२८

३- वही, पृ० २४८

आते हैं^१।

संपर्क से हो मिलती-जुलती प्रवृत्ति युयुत्सा है। यह प्रवृत्ति सामाजिकता की प्रवृत्ति से बिलकुल विपरीत है। सामाजिकता को प्रवृत्ति व्यक्ति को समाज के प्रति सदैव बना देती है। वह अपने साथ-साथ समाज की कल्याण-कामना करता है और उससे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इसके विपरीत युयुत्सा की प्रवृत्ति से प्रभावित व्यक्ति को समाज के प्रति वितृष्णा हो जाती है। वह खिन्न होकर समाज से दूर हो जाना चाहता है। निर्वेद में मनु का पलायन इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। उस प्रकार कामायनी में हमें मुख्य मूल प्रवृत्तियों के विकास का क्रम भी मिल जाता है।

कामायनी में हमें संस्कारगत विशिष्टताओं, वृत्तियों और मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त आधुनिक मनोविज्ञान के प्रमुख प्रतीक, भीष्मनोविज्ञान पशु मनोविज्ञान और बाल मनोविज्ञान के प्रसंग भी मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए यहां पर कुछ सन्दर्भ दिये जा सकते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान में मनोविश्लेषण के जन्मदाता फ्रायड ने स्वप्न विश्लेषण के प्रसंग में प्रतीकों का एक लम्बी तालिका दी है जिसका विशेष सम्बन्ध व्यक्ति की काम-भावना से है। उन प्रतीकों में एक प्रमुख प्रतीक अग्निशिखा का है, जिस उससे मैथुन का प्रतीक माना है। कामायनी में हमें इस प्रतीक का संकेत मनु, श्रद्धा के यौन-सम्बन्ध में मिल जाता है--

दो काठों की गन्धि बीच उस
निमृत् गुफा में अपने ,
अग्निशिखा बुझ गयी, जागने
पर जैसे सुख सपने ।^३

भीड़-मनोविज्ञान का चित्र हमें सारस्वत प्रदेश के जन-विद्रोह में मिलता है।

१- कामायनी, पृ० २००-२०१

२- आग जलना और इससे जुड़ी हुई हर बात मैथुन सम्बन्धी प्रतीकों की सूचक है।

ज्वाला सदा पुरुषेन्द्रिय की प्रतीक होती है, और अंगीठी स्त्री के गर्भ की।

-- फ्रायड: मनोविश्लेषण, अनुवाद-देवेन्द्रकुमार, पृ० १४८

३- कामायनी, पृ० १३६

भीड़ सामाजिक समूह का एक भाग है । सामाजिक समूह को दो भागों में रखा जा सकता है -- १- संगठित समूह जिसमें कुल, परिवार, स्कूल, दलों के संगठन आदि आ जाते हैं । २- असंगठित समूह । भीड़ का सम्बन्ध असंगठित समूह से है । जब असंगठित समूह में शारीरिक निकटता की बहुलता हो जाती है, जिसमें बहुत से लोग एक स्थान पर अनियंत्रित ढंग से इकट्ठे हो जाते हैं, तब उस असंगठित समूह को भीड़ की संज्ञा दे दी जाती है ।

रुचि-भेद से यह भीड़ दो प्रकार की हो जाती है । एक तो वह भीड़ होती है जो 'एक ही रुचि से संचालित होती है, उसमें इकट्ठा होने वाले लोगों का लक्ष्य 'एक ही' होता है । दूसरे प्रकार की भीड़ वह होती है जिसमें भाग लेने वालों की रुचि एक ही न होकर एक सी होती है । केन्द्रित और एक ही रुचि वाली भीड़ का संगठन घटना-विशेष से जन्म लेता है । सारस्वत प्रदेश की भीड़ का संगठन इसी कोटि का है । इला के प्रति मनु के बलात्कार का प्रयास इस संगठन का आधार बन जाता है --

‘आज बन्दिनी मेरी रानी इड़ा यहां है ?

ओ यायावर ! अब तेरा निस्तार कहाँ है ?’

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भीड़ में विवेक का अभाव होता है , क्योंकि उसमें सम्मिलित होने वाले अधिकांश व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनका मानसिक स्तर निम्न कोटि का होता है और भीड़ में सम्मिलित हो जाने पर उनमें शक्ति तथा सुरक्षा की भावना आ जाती है, जिससे वे निडर हो जाते हैं । भीड़ में बुद्धि के स्थान पर उद्देश की प्रधानता होती है । व्यक्ति का विवेक शिथिल हो जाता है जिसके फलस्वरूप भीड़ में विचारशक्ति का ह्रास अस्थिरता, आवेग तथा दायित्वहीनता की भावना प्रधान हो जाती है जिससे भीड़ में व्यक्ति का व्यवहार असाधारण हो जाता है । सारस्वत प्रदेश के जन-विद्रोह में भीड़ मनोविज्ञान की उक्त सभी विशेषताएं मिल जाती हैं । पशु मनोविज्ञान और बाल मनोविज्ञान को हम क्रमशः श्रद्धा के पालित पशु तथा मानव की बालक्रीड़ाओं में देख सकते हैं ।

इस प्रकार दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में कामायनी की परख करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कामायनी में दर्शन और मनोविज्ञान की प्रौढ़तम अभिव्यक्ति हुई है, जिसमें सूत्रा जीवन समेट लिया गया है। जिस प्रकार एक वृत्त अपने व्यास में विभिन्न कौणों को समाविष्ट कर लेता है, उसी प्रकार कामायनी के व्यापक परिवेश ने भी जीवन के विविध पक्षों को अपने-आप में समेट लिया है।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थों की सूची
 ~~~~~

(क)

प्रसाद-साहित्य

कविता--  
 -----

|                  |               |                |
|------------------|---------------|----------------|
| कामायनी          | जयशंकर प्रसाद | दशम संस्करण    |
| आंसू             | ,, ,,         | प्रथम संस्करण  |
| लहर              | ,, ,,         | षष्ठम संस्करण  |
| फरना             | ,, ,,         | अष्टम संस्करण  |
| महाराणा का महत्व | ,, ,,         | तृतीय संस्करण  |
| प्रेम पथिक       | ,, ,,         | चतुर्थ संस्करण |
| करुणालय          | ,, ,,         | तृतीय संस्करण  |
| कानन कुसुम       | ,, ,,         | तृतीय संस्करण  |

नाटक--  
 -----

|                   |               |                   |
|-------------------|---------------|-------------------|
| स्कन्दगुप्त       | जयशंकर प्रसाद | बारहवां संस्करण   |
| अज्ञात शत्रु      | ,, ,,         | ग्यारहवां संस्करण |
| चन्द्रगुप्त       | ,, ,,         | ग्यारहवां संस्करण |
| ध्रुव स्वामिनी    | ,, ,,         | सत्रहवां संस्करण  |
| विशाख             | ,, ,,         | सप्तम संस्करण     |
| कामना             | ,, ,,         | सप्तम संस्करण     |
| जनमेजय का नागयज्ञ | ,, ,,         | अष्टम संस्करण     |
| राज्यश्री         | ,, ,,         | दसवां संस्करण     |
| एक घूंट           | ,, ,,         | चतुर्थ संस्करण    |

उपन्यास--  
 -----

|        |               |               |
|--------|---------------|---------------|
| कंकाल  | जयशंकर प्रसाद | दसवां संस्करण |
| तितली  | ,, ,,         | नवां संस्करण  |
| इरावली | ,, ,,         | पंचम संस्करण  |

(ख)

कहानी-संग्रह

|            |               |               |
|------------|---------------|---------------|
| आकाश दीप   | जयशंकर प्रसाद | सप्तम संस्करण |
| इन्द्रजाल  | “ ”           | पंचम संस्करण  |
| प्रतिध्वनि | “ ”           | षष्ठम संस्करण |
| आंधी       | “ ”           | षष्ठम संस्करण |
| झाया       | “ ”           | पंचम संस्करण  |

विविध विषय

|                             |     |                |
|-----------------------------|-----|----------------|
| काव्य और कला तथा अन्य निबंध | “ ” | चतुर्थ संस्करण |
| चित्राधार                   | “ ” | “ ”            |

(ख)

प्रसाद-साहित्य से सम्बन्धित आलोचना-ग्रन्थ

|                                      |                                           |
|--------------------------------------|-------------------------------------------|
| कवि प्रसाद : आँसू तथा अन्य कृतियाँ   | विनय मोहन शर्मा                           |
| कामायनी                              | योगेन्द्र                                 |
| कामायनी का प्रवृत्ति मूलक अध्ययन     | डा० कामेश्वर प्रसाद सिंह                  |
| कामायनी की टीका                      | विश्वम्भर मानव                            |
| कामायनी की व्याख्यात्मक आलोचना       | विश्वनाथ शंदा                             |
| कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ        | डा० नगेन्द्र                              |
| कामायनी-चिन्तन                       | डा० विमल कुमार जैन                        |
| कामायनी-दर्शन                        | कन्हैयालाल सहगल तथा विजयेन्द्र-<br>स्नातक |
| कामायनी दीपिका                       | नगीन्द्रचन्द्र सहगल                       |
| कामायनी रहस्य                        | विजयबहादुर सिंह राठौर                     |
| कामायनी विमर्श                       | भगीरथ मिश्र                               |
| कामायनी : वस्तु और शिल्प             | विश्वप्रकाश दीक्षित                       |
| कामायनी : एक पुनर्विचार              | मन्नन गजानन मधव मुक्तिबोध                 |
| कामायनी-माध्य                        | डा० द्वारिका प्रसाद                       |
| कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन | डा० द्वारिका प्रसाद                       |

(ग)

कामायनी -- अनुशीलन--  
कामायनी -- सौन्दर्य --  
कामायनी और प्रसाद की कविता-गंगा  
जयशंकर प्रसाद  
जयशंकर प्रसाद  
ध्रुवस्वामिनी  
प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन  
प्रसाद के नाटकीय पात्र  
प्रसाद के नाटक  
प्रसाद  
प्रसाद -- चिन्तन और कला  
प्रसाद का साहित्य  
प्रसाद का विकास-आत्मिक अध्ययन  
प्रसाद का कथा-साहित्य  
प्रसाद का अज्ञातशत्रु  
प्रसाद का कथा-साहित्य  
प्रसाद की कला  
प्रसाद की दार्शनिक चेतना  
प्रसाद की साहित्य-साधना  
प्रसाद साहित्य और समीक्षा  
प्रसाद और उनका साहित्य  
प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक  
प्रसाद की काव्य प्रवृत्ति  
प्रसाद-काव्य-कौशल  
प्रसाद-काव्य-विवेचन  
प्रसाद की कवितारं  
प्रसाद का काव्य  
प्रसाद की कहानियाँ  
प्रसाद की नाट्यकला  
प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक

डा० रामलाल सिंह  
डा० फतेह सिंह  
शिवकुमार मिश्र  
सम्पादक--महावीर अधिकारी  
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी  
मुरलीधर श्रीवास्तव  
डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा  
डा० जगदीश नारायण दीक्षित  
डा० रामरतन भटनागर  
संपादिका--श्रीमती निर्मल तालवार  
डा० इन्द्रनाथ मदान  
सं० कृष्णदेव प्रसाद गौड़  
श्री किशोरीलाल गुप्त  
श्री मारकण्डेय सिंह  
श्री कृष्णकुमार सिन्हा  
डा० रामरतन भटनागर  
गुलाब राय  
डा० चक्रवर्ती  
डा० शम्भूनाथ सिंह  
डा० रामरतन भटनागर  
विनोद शंकर व्यास  
राजेश्वर प्रसाद अर्गल  
डा० कामेश्वर प्रसाद सिंह  
सुधाकर पाण्डेय  
डा० हरदेव बाहरी  
सुधाकर पाण्डेय  
डा० प्रेमशंकर  
केदारनाथ गुप्त  
रामसेवक पाण्डेय  
जगदीशचन्द्र जोशी

(घ)

|                                 |                    |
|---------------------------------|--------------------|
| प्रसाद के नाटक                  | परमेश्वरीलाल गुप्त |
| प्रसाद के प्रगीत                | गणेश खरे           |
| प्रसाद के तीन नाटक              | प्रेमनारायण टण्डन  |
| प्रसाद जी के दो नाटक            | कृष्णानन्द गुप्त   |
| प्रसाद के नारी चरित्र           | डा० देवेश ठाकुर    |
| प्रसाद साहित्य                  | परमानन्द शर्मा     |
| पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त | दिनकर              |
| महाकवि प्रसाद                   | विजयेन्द्र सातक    |
| महाकवि प्रसाद                   | डा० सत्यकाम वर्मा  |

(ग)

अन्य सहायक ग्रन्थ

हिन्दी--

|                                            |                           |
|--------------------------------------------|---------------------------|
| अनासक्ति योग                               | महात्मा गांधी             |
| अनुसंधान और आलोचना                         | डा० नगेन्द्र              |
| असामान्य मनोविज्ञान                        | प्रो० जगदानन्द पाण्डेय    |
| आधुनिक काव्य-धारा                          | डा० केशरी नारायण शुक्ल    |
| आधुनिक काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत      | डा० केशरी नारायण शुक्ल    |
| आधुनिक हिन्दी साहित्य                      | नन्ददुलारे वाजपेयी        |
| आधुनिक हिन्दी साहित्य                      | डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय   |
| आधुनिक हिन्दी साहित्य                      | डा० श्रीकृष्णलाल          |
| आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य  | डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल |
| आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ | डा० नगेन्द्र              |
| आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-भावना         | डा० शैलकुमारी             |
| आधुनिक हिन्दी कविता में मनोविज्ञान         | डा० सुरती                 |
| आधुनिक हिन्दी नाटक                         | डा० नगेन्द्र              |
| आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान-   | देवराज उपाध्याय           |
| आधुनिक साहित्य और कला                      | महेन्द्र भटनागर           |
| आधुनिक समीक्षा                             | डा० देवराज                |
| आधुनिक काव्य-रचना और विचार                 | नन्ददुलारे वाजपेयी        |

आनन्द निकेतन  
 आधुनिक नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन  
 आर्यों का आदि देश  
 काव्य के रूप  
 कला और संस्कृति  
 काव्य-चिन्तन  
 कौशोत्सव स्मारक संग्रह  
 गीता-दर्शन  
 गीता रहस्य  
 गांधीवाद की रूप रेखा  
 चिन्तामणि (प्रथम भाग)  
 चिद्विलास  
 छायावाद : विश्लेषण और मूल्यांकन  
 छायावाद युग  
 छायावाद और रहस्यवाद  
 छायावाद और रहस्यवाद का रहस्य  
 छायावाद और प्रगतिवाद  
 छायावाद की काव्य-साधना  
 छायावाद  
 जीवात्मा  
 दर्शन-दिग्दर्शन  
 दैनिक जीवन और मनोविज्ञान  
 नया साहित्य : नए प्रश्न  
 नारी  
 प्राचीन भारत का इतिहास  
 पारिवारिक समाजशास्त्र  
 भारतीय संस्कृति और इतिहास  
 भारतीय संस्कृति की रूपरेखा  
 भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका  
 भारतीय संस्कृति

रामनाथ सुमन  
 डा० गणेशदत्त  
 डा० सम्पूर्णानन्द  
 गुलाबराय  
 वासुदेवशरण अग्रवाल  
 डा० नगेन्द्र  
 नागरी प्रचारिणी सभा  
 कन्नौज स्म० २०  
 बाल गंगाधर तिलक  
 रामनाथ सुमन  
 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल  
 डा० सम्पूर्णानन्द  
 श्री दीनानाथ शरण  
 डा० शम्भूनाथ सिंह  
 गंगाप्रसाद पाण्डेय  
 डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी  
 देवेन्द्रनाथ शर्मा  
 प्रो० चौधरी  
 डा० नामवर सिंह  
 गंगाप्रसाद उपाध्याय  
 राहुल सांकृत्यायन  
 इलाचन्द्र जोशी  
 नन्ददुलारे वाजपेयी  
 रामनाथ सुमन  
 भगवतशरण उपाध्याय  
 कैलाशनाथ शर्मा  
 डा० बैजपुरी  
 गुलाबराय  
 डा० नगेन्द्र  
 डा० देवराज

(च)

|                                           |                                   |
|-------------------------------------------|-----------------------------------|
| भारतीय संस्कृति का विकास                  | डा० मंगलदेव शास्त्री              |
| भारतीय दर्शन                              | कलदेव उपाध्याय                    |
| भारतीय दर्शन-परिचय                        | हरिमोहन फा                        |
| भारतीय दर्शन                              | डा० उमेश मिश्र                    |
| भारतीय दर्शन -- चटर्जी दत्त हिन्दी रूपकार | फा मिश्र                          |
| भारतीय संस्कृति                           | शिवदत्त ज्ञानी                    |
| भारत का सांस्कृतिक विकास                  | हरिदत्त वेदालंकार                 |
| भारत में सामाजिक कल्याण और सुरक्षा        | रघुराज गुप्त                      |
| भारतीय समाज: संस्कृति तथा संस्थाएं        | कैलाशनाथ शर्मा                    |
| भारतीय समाज शास्त्र                       | डा० फतह सिंह                      |
| भारतीय तत्त्व चिन्तन                      | जगदीशचन्द्र जैन                   |
| भाषा और संवेदना                           | डा० राम स्वरूप चतुर्वेदी          |
| मध्यकालीन भारतीय संस्कृति                 | गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा           |
| मध्यदेश                                   | धीरेन्द्र वर्मा                   |
| महाभारत (अनुशासन पर्व)                    | भूपेन्द्र सान्याल                 |
| मार्क्स का दर्शन                          | गुलाबराय                          |
| मन की बात                                 | डा० शम्भूनाथ सिंह                 |
| मूल्य और उपलब्धि                          | डा० यदुनाथ सिन्हा                 |
| मनोविज्ञान                                | जगदानन्द                          |
| मनोविज्ञान                                | उद्भवर्ध अनुवादक उमापतिराय चन्देल |
| मनोविज्ञान                                | सरयूप्रसाद चौबे                   |
| मनोविज्ञान और जीवन                        | लालजी राम शुक्ल                   |
| मनोविश्लेषण और मानसिक प्रक्रियाएं         | डा० पद्मा अग्रवाल                 |
| मनोविश्लेषण -- फ्रायड                     | अनुवादक देवेन्द्र कुमार           |
| मानसिक चिकित्सा                           | लालजीराम शुक्ल                    |
| यौन मनोविज्ञान                            | एलिस, अनु० मन्मथनाथ गुप्त         |
| रीतिकालीन कविता एवं शृंगाररस का विवेचन    | राजेश्वर प्रसाद                   |
| रस मीमांसा                                | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल            |
| रस-सिद्धान्त: स्वरूप विश्लेषण             | आनन्द प्रकाश                      |

रस सिद्धान्त  
 रामचरित मानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन  
 लोक- व्यवहार  
 विचार और निष्कर्ष  
 विचार और अनुभूति  
 विचार और विश्लेषण  
 विनयपत्रिका  
 विवाह और विवाहित जीवन  
 वैदिक साहित्य  
 वैदिक दर्शन  
 शैव और शाक्त सम्प्रदाय  
 साहित्य की शैली  
 सरल मनोविज्ञान  
 संस्कृति के चार अध्याय  
 समाज कल्याण तथा सुरक्षा  
 समाज मनोविज्ञान  
 सम्यता और संस्कृति  
 समाज शास्त्र के मूल तत्त्व  
 समाज विज्ञान  
 समाजवाद  
 समाजवाद : लक्ष्य तथा साधन  
 समाजशास्त्र की रूप रेखा  
 समाज शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त  
 समाज का शास्त्रीय विवेचन  
 समाज और संस्कृति  
 साहित्य - समालोचना  
 साहित्य और सौन्दर्य  
 साहित्यकार की वास्था तथा अन्य निबन्ध  
 साहित्यालोचन  
 सिद्धान्त और अध्ययन

डा० नगेन्द्र  
 डा० जगदीश प्रसाद शर्मा  
 सन्तराम बी०९०  
 डा० वासुदेव शरण अग्रवाल  
 डा० नगेन्द्र  
 डा० नगेन्द्र  
 तुलसीदास  
 गंगाप्रसाद उपाध्याय  
 रामगोविन्द त्रिवेदी  
 डा० फतह सिंह  
 डा० देवराज  
 डा० गणपति चन्द्र गुप्त  
 लाल जी राम शुक्ल  
 रामधारी सिंह दिनकर  
 सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार  
 प्रो० नगीना प्रसाद  
 डा० हजारी प्रसाद त्रिवेदी  
 प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार  
 चन्द्र राज मंडारी  
 डा० सम्पूर्णानन्द  
 नरेन्द्र देव  
 रामविहारी सिंह तोमर  
 बुद्धसैन शर्मा चतुर्वेदी  
 रामगुलाम गुप्त  
 प्रो० राजाराम शास्त्री  
 डा० रामकुमार वर्मा  
 डा० फतह सिंह  
 महादेवी वर्मा  
 डा० श्यामसुन्दरदास  
 गुलाबराय



स्थित प्रज्ञ दर्शन

हिन्दी साहित्य का इतिहास

हिन्दी साहित्य

हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास

हिन्दी कविता में युगान्तर

हिन्दी कवियों की काव्य-कला

हिन्दी-साहित्य में प्रमुखवाद और उनके प्रवर्तक

हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि

हिन्दी काव्य : विश्लेषण और मूल्यांकन

हिन्दी नव लेखन

हिमालय : दीपावली विशेषांक सं० २००३

संस्कृत

अमरकोष

ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग १

ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २

ऐतरेय ब्राह्मण

ऐतरेयोपनिषद्

कठोपनिषद्

काम-कला-विलास

काम-सूत्र

केनोपनिषद्

चरक संहिता

छान्दोग्योपनिषद्

तत्त्वार्थप्रणिर्णय सूत्र

तत्त्वार्थ वार्तिक

तंत्र सार

तंत्रा लोक

तैत्तिरीय ब्राह्मण

तैत्तिरीयोपनिषद्

आचार्य बिनोबा भावे

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

डा० लक्ष्मीनारायण लाल

डा० सुषोम्न

डा० प्रेमनारायण टण्डन

विश्वम्भर उपाध्याय

,, ,,

डा० कैशरी नारायण शुक्ल

डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी

रायकृष्णदास

अमर सिंह

अभिनव गुप्त

,,

आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पुना

गीता प्रेस, गोरखपुर

,, ,,

पुण्यानन्द

वात्स्यायन

गीता प्रेस, गोरखपुर

चरक

गीता प्रेस, गोरखपुर

आचार्य उमा स्वामी

भारतीय ज्ञान पीठ काशी

अभिनव गुप्त

,,

आनंदाश्रम, संस्कृत सीरीज, पुना

गीता प्रेस, गोरखपुर

दशःपक

न्याय कुसुमांजलि (परिशिष्ट)

न्याय सूत्र वृत्ति

प्रश्नोपनिषद्

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

पातंजलि योग-दर्शन

मुण्डकोपनिषद्

मनुस्मृति

योगिनी हृदयम् दीपिका

योगवाशिष्ट

योग वार्तिक

ऋग्वेद संहिता -- हिन्दी टीका

वृहदारण्यक उपनिषद्

वेदान्त सार

वैशेषिक सूत्र

शिवदृष्टि

शिवमहिम्न

शिवसूत्र विमर्शिनी

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमेव भाग १, २

ब्रह्मसूत्रः शांकरभाष्य

श्लोक वार्तिक

षडदर्शन स्मृच्चय

स्यन्द कारिका

सांख्य सूत्र और वृत्ति

सांख्य दर्शन

सांख्य कारिका

सौन्दर्य लहरी

सर्वदर्शन संग्रह

त्रिपुरा रहस्य

धनन्जय

उदयनाचार्य

श्री विश्वनाथ मट्टाचार्य

गीता प्रेस, गोरखपुर

रिसर्च डिपार्टमेंट, जम्मू-काश्मीर स्टेट

पातंजलि

गीता प्रेस गोरखपुर

मनु

सं० डा० गंगानाथ क,ा

बाल्मोकि मुनि

विज्ञान भिड्डा

अनु० पं० देवानन्द क,ा

गीता प्रेस, गोरखपुर

सदानन्द

कणाद

उत्पल देव

पुष्पदन्ताचार्य

रिसर्च डिपार्टमेंट, जम्मू-काश्मीर स्टेट

गीता प्रेस गोरखपुर

रिसर्च डिपार्टमेंट, जम्मू-काश्मीर स्टेट

शंकराचार्य

चौखम्भा संस्करण

गुण रत्न (टीका)

दामराज

श्री आशुबोध विद्याभूषण

कपिल

ईश्वर कृष्ण

शंकराचार्य

सायण माधव

सं० पं० गोपीनाथ कविराज

- A History of Indian Philosophy. Das Gupta.  
 A Manual of Psychology. G.F. Stout.  
 An approach to Philosophy and History of Philosophy. N.K. Devaraj.  
 An outline of Psychology -- W. Mc Dougall.  
 Eastern Religions and western thoughts. S. Radha Krishnan  
 Ends and means -- Aldous Huxley.  
 Glimpses of the great -- G.S. Vierech.  
 Fundamentals of Marxism - Leninism --- Manual.  
 New Introductionary Lecture -- Freud.  
 Philosophic Basis of Moral Obligation -- Turner.  
 Position of Women in Hindu civilization -- J.S. Altker.  
 Principles of Moral Judgment -- Lamont.  
 Psychology -- E. G. Boring.  
 Social Psychology -- W. Mc. Dougall.  
 The Analysis of Mind -- B. Russel.  
 The Nature of Culture -- A.L. Kroeber.  
 The Principle of Psychology -- William James.  
 The Science of the Emotions -- Dr. Bhagwan Das.

(घ)

पत्र-पत्रिकारं --

आलोचना

कल्पना

कल्याण

कादम्बिनी

धर्मयुग

नवनीत

परिषद् पत्रिका

भारतीय साहित्य

माध्यम

यंग इंडिया

सम्मेलन पत्रिका

(ठ)

साप्ताहिक हिन्दुस्तान  
हिन्दी अनुशीलन

(ड०)

कौश--

हिन्दी साहित्य कौश  
हिन्दी शब्द सागर